दीप त्रिवेदी
बेस्टसेलर 'मैं मन हूँ' के लेखक द्वारा लिखित
मैं कृष्ण हूँ
3
कृष्ण की आत्मकथा
द्वारका – सपनों से हकीकत का सफर

अनुक्रमणिका

मैं कृष्ण हूँ

भाग-3

कृष्ण की आत्मकथा

द्वारका – सपनों से हकीकत का सफर

नं. विषय

लेखक का परिचय

दीप त्रिवेदी एक प्रसिद्ध लेखक, वक्ता और स्पीरिच्युअल सायको-डाइनैमिक्स के पायनियर हैं जो एक व्यापक दृष्टिकोण से ना सिर्फ लिखते हैं, बल्कि विभिन्न विषयों पर लेक्चर्स और वर्कशॉप्स भी कंडक्ट करते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्हें पढ़ने व सुनने-मात्र से मनुष्य में आमूल सकारात्मक परिवर्तन आ जाता है। वे अपने कार्यों द्वारा आजतक हजारों लोगों को सुख और सफलता के मार्ग पर लगा चुके हैं।

दीप त्रिवेदी ने अपने इन कार्यों द्वारा प्रकृति, उसके नियम, उसका आचरण, उसकी सायकोलॉजी और उसके मनुष्यजीवन पर पड़नेवाले प्रभाव को बड़ी ही गहराई से समझाया है। जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिसे उन्होंने न छूआ हो। वे कहते हैं कि सायकोलॉजी के बाबत कम ज्ञान और कम समझ होना ही मनुष्यजीवन के तमाम दुःखों और असफलताओं का मूल कारण है।

वे बेस्टसेलर्स 'मैं मन हूँ' और 'मैं कृष्ण हूँ' समेत कई अन्य किताबें लिख चुके हैं। उनके द्वारा लिखी गई बेस्टसेलिंग किताब, 'मैं मन हूँ' कई राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और 'मैं कृष्ण हूँ' को साल 2018 के Crossword Book Awards के 'Best Popular Non-Fiction' कैटेगरी के लिए नामांकित भी किया गया है। समाज में उनके असीमित योगदान के लिए दीप त्रिवेदी को साल 2018 के Times Power Men Award से सम्मानित किया गया है।

मनुष्यजीवन की गहरे-से-गहरी सायकोलॉजी पर उनकी पकड़ का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि मनुष्यजीवन पर सर्वाधिक लेक्चर्स और 'भगवद्गीता' पर सर्वाधिक लेक्चर्स देने का रेकॉर्ड उन्हीं के नाम पर है जिसमें उन्होंने 58 दिनों में गीता पर 168 घंटे, 28 मिनट और 50 सेकंड तक एक लंबी चर्चा करी है। इसके अलावा अष्टावक्र गीता और ताओ-ते-चिंग पर भी सर्वाधिक लेक्चर्स देने का रेकॉर्ड उन्हीं के नाम पर दर्ज है। ये सारे रेकॉड्र्स राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय रेकॉर्ड बुक्स में दर्ज है। साथ ही मनुष्य के जीवन, सायकोलॉजी, आत्मा, प्रकृति के नियम, भाग्य तथा अन्य विषयों पर सर्वाधिक (लगभग 12038) कोटेशन लिखने का रेकॉर्ड भी उन्हीं के नाम दर्ज है। भगवद्गीता पर उन्हें उनके सायकोलॉजिकल कार्यों के लिए ऑनरेरी डॉक्टरेट की उपाधि भी प्रदान की गई है। उनके द्वारा लोगों के रोजमर्रा के जीवन की समस्याओं पर करी गई इंटरैक्टिव वर्कशॉप्स ने सभी के जीवन में क्रांतिकारी ट्रांसफॉर्मेशन लाया है। ये तमाम लेक्चर्स और वर्कशॉप्स भारत में लाइव ऑडियन्स के सामने दिये गए हैं।

दीप त्रिवेदी की खास बात यह है कि वे जीवन के गहरे-से-गहरे पहलुओं को छूते हैं और उन्हें सरलतम भाषा में लोगों के सामने प्रस्तुत करते हैं जिससे कन्फ्यूजन की कहीं कोई गुंजाइश ही नहीं बचती है। वे अपने किताब, लेक्चर्स और वर्कशॉप्स में जिस अनोखी स्पीरिच्युअल-सायकोलॉजिकल भाषा और एक्सप्रेशन का इस्तेमाल करते हैं उससे उन्हें पढ़ने तथा सुनने वालों में उसका तात्कालिक प्रभाव भी होने लगता है और यही बात उन्हें इस क्षेत्र का पायनियर बनाती है।

दीप त्रिवेदी - मशहूर वक्ता

दीप त्रिवेदी सायको-स्पीरिच्युअल कॉन्टेंट, आवाज, भाषा और एक्सप्रेशन का ऐसा मिश्रण प्रस्तुत करते हैं जिससे उन्हें देखने और सुनने वालों में तत्काल परिवर्तन आता है। सैकड़ों लोग सिर्फ उन्हें सुनने-मात्र से परिवर्तित हो चुके हैं। इसी वजह से उन्हें स्पीरिच्युअल सायको-डाइनैमिक्स का पायनियर भी कहा जाता है।

दीप त्रिवेदी जीवन से जुड़े हर विषय पर प्रकाश डालते हैं। उनके द्वारा लोगों के रोजमर्रा के जीवन की समस्याओं पर करी गई इंटरैक्टिव वर्कशॉप्स ने सभी के जीवन में क्रांतिकारी ट्रांसफॉर्मेशन लाया है। जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिसे उन्होंने न छूआ हो। वे विभिन्न विषयों पर बोल चुके हैं जैसे भगवद्गीता, ताओ-ते-चिंग, अष्टावक्र गीता, कुदरत के रहस्य, मन के रहस्य, आत्मा के रहस्य, भाग्य के रहस्य, इत्यादि, और:

- प्रकृति के नियम
- टाइम एण्ड स्पेस
- धर्म
- डीएनए-जीन्स
- जीवन की राह
- डे-स्लीप
- मन और बुद्धि
- व्यक्तित्व
- हीनता
- डर
- गिल्ट
- इन्वोल्वमेंट
- पक्षपात
- अपेक्षा
- स्वीकार्यशक्ति
- नेचरल इंटेलिजेंस
- ट्रान्स्फर्मेशन
- विवाह
- स्वतंत्रता
- भविष्य
- हिपोक्रेसी
- क्रिएटिविटी
- कोन्सन्ट्रेशन
- सुख और सफलता
- समृद्धि
- अच्छा-बुरा

- भगवान
- अहंकार
- क्रोध
- सेल्फ-कॉन्फिडेंस
- प्रेम
- कन्फ्यूजन

लेखक की कलम से...

'कृष्ण' एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसके बारे में हरकोई जानना और समझना चाहता है। लेकिन उन्हें पूरा-का-पूरा शायद ही किसी ने कभी जाना या समझा हो। जो शायद कभी किसी की समझ में नहीं आया। इतनी तो उनके व्यक्तित्व की भिन्नताएं थीं कि वे पूरे-के-पूरे कभी किसी की पकड़ में नहीं आए। फिर भी जितना प्यार कृष्ण को मिला और जिस कदर लोगों ने उन्हें दिलों में बिठाया, वह अपने-आप में एक मिसाल है। उनके व्यक्तित्व का कमाल तो यह कि कोई उन्हें प्रेमी मानता है तो कोई ध्यानी, कोई योगी मानता है तो कोई कर्मवीर। और मजा यह कि जो उनके जिस रूप को जानता या मानता है, वह उनके उस रूप का दीवाना हो जाता है। हालांकि चारों ओर हरकोई उनका दीवाना ही है, ऐसा भी नहीं है। उनके व्यक्तित्व का विरोधाभासी प्रभाव यह भी है कि जहां हिन्दू धर्म के कुछ ज्ञानियों ने उन्हें एकमात्र "पूर्ण-अवतार" माना, वहीं जैन शास्त्रकारों ने अपनी ही समझ, अपनी ही वजहों और अपने ही कारणों से उन्हें नरक में स्थान दिया। लेकिन कृष्ण का व्यक्तित्व इनमें से किसी की भी सोच का मोहताज कहां?

अब उनका व्यक्तित्व भले ही किसी अन्य की किसी सोच का मोहताज नहीं, परंतु उनका वास्तविक व्यक्तित्व समझना तो है ही। उनका जीवन जानना तो है ही। हमें यह तो जानना ही है कि कारागृह में पैदा होने व मौत के साए में पलने के बाद भी कैसे उन्होंने द्वारकाधीश की ऊंचाई पाई? यह जानना भी रोचक है ही कि राधा और उनका प्यार क्या था? क्यों राधा को उन्होंने छोड़ा? क्यों राधा जीवनभर उनकी याद में बृज की गलियों में बावरी घूमती रही? यह तो समझना ही पड़ेगा कि यह व्यक्ति क्या है जिनपर एकतरफ महाभारत जैसा विनाशकारी युद्ध कराने का इल्जाम है, और वहीं दूसरी तरफ जिन्हें भगवद्गीता जैसा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान देनेवाले का गुमान भी उपलब्ध है। कृष्ण ऐसा तो कैसा विरोधाभासी व्यक्तित्व है कि जिन्हें चोर, कपटी, झूठा और छलिया कहनेवालों की भी जीवनभर कभी कोई कमी नहीं रही, तो वहीं उनके जीवन में वासुदेव, मधुसूदन, कान्हा, परमात्मा व ज्ञानी कहनेवालों की भी कभी कोई अछत नहीं रही। यही क्यों, कृष्ण ने कितने विवाह किए, उनकी कितनी संतानें थी, यह यादवस्थली क्या है, जैसे अनेक सवाल भी उनके बाबत जानने की जिज्ञासा जगाते ही हैं।

परंतु जिज्ञासा जागने के बावजूद उनके जीवन बाबत जानते कितने लोग हैं? कृष्ण के जीवन बाबत तमाम सवालों के उत्तर उपलब्ध कहां है? सो यह वर्तमान पुस्तक मैंने इसी उद्देश्य से लिखी है ताकि उनके जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं से सबको अवगत करवा सकूं। इस हेतु मैंने कृष्ण के बाबत उपलब्ध तमाम पौराणिक ग्रंथों जैसे हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, शिव पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, मार्कण्डेय पुराण, कूर्म पुराण, भविष्य पुराण, महाभारत व अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और तत्पश्चात उनमें उल्लिखित तमाम संवादों और कथा-प्रसंगों के व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक पहलू को समझने के बाद ही यह पुस्तक लिखी है। इसमें मैंने ना सिर्फ कृष्ण के 108 वर्ष के सम्पूर्ण जीवन तथा उसकी तमाम महत्वपूर्ण घटनाओं को समेटा है, बल्कि साथ ही इसमें मैंने कृष्ण के व्यक्तित्व को उनकी वास्तविक सायकोलॉजी के अधिकतम निकट रखने की कोशिश भी करी है। साथ ही उनकी जीवन-यात्रा को रोचकता प्रदान करने हेतु इसे मैंने एक कहानी का स्वरूप दिया है। और कहने की जरूरत नहीं कि जब कहानी है तो कई किस्सों को साहित्यिक जरूरत के मद्देनजर यथासाध्य विस्तार भी देना पड़ा है।

दरअसल मैं एक सायकोलॉजिस्ट हूँ। और एक सायकोलॉजिस्ट की निगाह से समझें तो व्यक्ति

हो, उसका जीवन हो या उसके जीवन में घटनेवाली कोई भी व कैसी भी घटना हो, अंत में तो सबकुछ एक सायकोलॉजिकल शृंखला का ही अंग है। और कृष्ण का व्यक्तित्व भी अपनी तमाम महानताओं तथा जटिलताओं के बावजूद इसमें अपवाद नहीं। माना मानसिक तौर पर उन्होंने आसमान की ऊंचाइयां छूई हैं, पर फिर भी उनकी मनोदशा समझ से परे कतई नहीं है। और मेरा यह मानना है कि किसी भी घटनेवाली घटना से उसके घटित होने के कारण ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। मनुष्य ने "क्या किया" यह जानने से ज्यादा महत्वपूर्ण उसने यह "क्यों किया" है। अत: इस पुस्तक में मैंने जितना महत्व कृष्ण के जीवन को दिया है, उतना ही महत्व उनकी मनोदशा को भी दिया है। सो मुझे यकीन है कि यह पुस्तक आपको ना सिर्फ कृष्ण के जीवन से अवगत कराएगी बल्कि उनके वास्तविक व्यक्तित्व से भी आपको रूबरू करवाएगी।

जहां तक मेरा सवाल है, तो मेरा तो जीवन ही भगवद्गीता ने बनाया है तथा कृष्ण व भगवद्गीता पूरी तरह मेरे दिल में अपनी पूरी सच्चाई के साथ स्थित हैं। लेकिन आम धारणा से अलग मेरा यह स्पष्ट मानना है कि किसी को भी भगवान बना देना उन्हें हमसे दूर कर देता है। यह कहना कि वे भगवान ही पैदा हुए थे, यह तो उनके द्वारा अपनी प्रतिभा निखारने हेतु की गई मेहनत, उनकी प्रज्ञा, उनकी क्षमता व उनकी जिज्ञासा का सरासर अपमान है। क्योंकि सच तो यह है कि यहां जो भी व्यक्ति जो कुछ भी बना है, उसमें उसकी प्रज्ञा, उसकी क्षमता व उसकी मेहनत लगी ही हुई है। बाकी तो यह कह देना बड़ा आसान है कि यह महान बना, क्योंकि उसके भाग्य में लिखा था। हो सकता है कि यह शायद आपको अपने महान न बन पाने का एक पुख्ता बहाना प्रदान कर देता हो, लेकिन सच यह है कि व्यक्ति की महानता को उसके भाग्य से जोड़कर हम उसकी प्रतिभा व मेहनत का अपमान करते हैं। इसीलिए मैंने इस किताब में कृष्ण की सीखने की कला से लेकर उनके हर एक गुण को पूरे विस्तार से प्रकट करने का प्रयास किया है। और उन्हें यथा-तथ जानना व पहचानना ही हमें उनके वे गुण सीखने में सहायता करता है। कृष्ण ने भी हर घटना और हर व्यक्ति से जीवन में सीखा है। प्रेम, ध्यान, कर्म व ज्ञान के हर शिखर उन्होंने अपनी जिज्ञासा व कटिबद्धता के सहारे ही सर किए हैं। और... यही उनके जीवन से सीखने जैसा है। ...दरअसल यह पुस्तक उनके सम्पूर्ण जीवन के साथ-साथ उनके 'कृष्ण' से 'जय श्री कृष्ण' बनने की पूर्ण दास्तान भी अपने में समेटे हुए है। और मैं यह दावे से कहता हूँ कि हां, कृष्ण मनुष्यजाति के इतिहास के एकमात्र सम्पूर्ण व्यक्तित्व के मालिक हैं, परंतु उससे भी ज्यादा दृढ़ता से मैं यह कहता हूँ कि उन्होंने यह मुकाम अपनी लगन व प्रतिभा से पाया है। अत: मैं उनके साथ-साथ उनकी लगन और प्रतिभा को भी सलाम करता हूँ।

और जहां तक मेरा प्रश्न है, तो मैं तो उनके गुणों को अपने जीवन में उतारकर उनकी सायकोलॉजी से अपना फासला कम करने हेतु कटिबद्ध हूँ, ताकि उनकी ही तरह मुझे भी जीवन के हर मोड़ पर सिर्फ विजय हाथ लगे। मैं भी ना सिर्फ अपना जीवन उनकी तरह हंसते-गाते बिता सकूं, बल्कि उनकी ही तरह मेरा भी यह जीवन मनुष्यता के काम आए; इस बात की उनसे प्रेरणा भी ले सकूं। और मुझे यकीन है कि कृष्ण के जीवन तथा व्यक्तित्व पर आधारित यह पुस्तक आपको भी बहुत कुछ सीखने और समझने की प्रेरणा देगी। ...बस इसी उम्मीद के साथ कृष्ण की यह रोचक कहानी मैं आपको समर्पित कर रहा हूँ।

दीप त्रिवेदी

कृष्ण पर रिसर्च की पूरी दास्तां -

इसमें कोई दो राय नहीं कि कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं, क्योंकि इतिहास के अनगिनत पन्नों में वे दर्ज हैं। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि कई बुद्धिमान लोग ऐसे अनेक महापुरुषों के जीवन व अस्तित्व को एक खूबसूरत कहानी से ज्यादा कुछ नहीं मानते। भले ही अन्य अनेकों के मामले में यह बात सही भी है, परंतु कृष्ण के बाबत ऐसा नहीं है। सायकोलॉजिकली कहूं तो जब कहानी के सिरे व मनुष्य के व्यक्तित्व की शृंखला मिल जाए, तो फिर उस व्यक्ति तथा उसके जीवन को महज कोरी-कहानी नहीं माना जा सकता है।

तीन बातें कृष्ण के जीवन के वास्तविक अस्तित्व की गवाही पूरे जोर से देती हैं। एक, जो कहानी होती है, उसका कहानीकार एक ही होता है। ...यानी उसका सम्पूर्ण जीवन उस कहानी में ही आ जाता है। लेकिन कोई ऐसा ग्रंथ नहीं, जिसमें कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का वर्णन हो। कृष्ण के बाबत सबसे चर्चित, पुराना तथा लोकप्रिय ग्रंथ महाभारत है। लेकिन यह ग्रंथ हस्तिनापुर-केन्द्रित है, अत: इसकी पूरी कहानी कौरवों और पांडवों के इर्द-गिर्द घूमती है। इसमें प्राय: कृष्ण का जिक्र तभी आता है जब कृष्ण कौरवों, पांडवों या हस्तिनापुर के संपर्क में आते हैं। अत: महाभारत में ना तो कृष्ण के जन्म या बचपन की ही कोई चर्चा है, और ना ही उनके जीवन के अंतिम 36 वर्षों की कोई चर्चा ही है। परंतु उसके बावजूद यह मानना पड़ेगा कि कृष्ण का सम्पूर्ण सायकोलॉजिकल व्यक्तित्व सिर्फ महाभारत में उपलब्ध है। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि भगवद्गीता महाभारत का ही अंश है, जो कि कृष्ण-अर्जुन के बीच संवाद के रूप में संकलित है। और इसमें कृष्ण अर्जुन को जो समझाते हैं, वह ना सिर्फ उनके जीवन का अनुभव है, बल्कि वे तमाम बातें उनके व्यक्तित्व का हिस्सा भी हैं।

इसके अलावा कहूं तो टुकड़े-टुकड़े में कृष्ण का जीवन कई ग्रंथों में उपलब्ध है, और यदि उन सबके सिरे मिला लिए जाएं तो करीब-करीब उनका सम्पूर्ण जीवन मिल जाता है। यहां यह बात विशेष रूप से समझने की है कि महाभारत के भी करीब एक लाख श्लोकों में से सिर्फ 8800 श्लोक जिसे ''जय-खंड'' के रूप में जाना जाता है, की रचना ही 3000 ई. पूर्व हुई है। ...बाकी के सारे श्लोक महाभारत में चौथी से दूसरी सदी ई. पूर्व में जोड़े गए हैं। अर्थात् कहने की जरूरत नहीं कि नब्बे प्रतिशत महाभारत भी काफी पीछे से भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा लिखी गई है।

खैर, उसके पश्चात की बात की जाए तो महाभारत के बाद के करीब 1000 वर्षों में 15 अन्य प्रमुख ग्रंथ हैं, जिनमें कृष्ण के जीवन का उल्लेख है। लेकिन उनमें प्रमुखरूप से हरिवंश पुराण व विष्णु पुराण ही हैं, जिनमें कृष्ण के जीवन का सम्पूर्ण उल्लेख है। और यदि कृष्ण के जीवन बाबत कुछ भी लिखना या बोलना है तो ये दो ग्रंथ ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण व विश्वसनीय कहे जा सकते हैं। ...फिर भी मैं आपको यहां महाभारत के अलावा पंद्रह ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ग्रंथ का नाम	सर्वमान्य रचनाकाल
1. महाभारत	संपूर्ण एक लाख श्लोक में से मूल 8,800 श्लोक (जिसे जय खंड के नाम से भी जाना जाता है) की रचना लगभग 3000 ईस्वी पूर्व हुई तथा शेष की रचना चौथी से दूसरी सदी ईस्वी पूर्व हुई।
2. शतपथ ब्राह्मण	लगभग नवीं सदी ईस्वी पूर्व में रचित यजुर्वेद की शाखा के इस ब्राह्मण ग्रंथ में कृष्ण का वर्णन वृष्णिवंशियों के एक संघर्षशील योद्धा के रूप में हुआ है।
3. ऐतरेय आरण्यक	लगभग नवीं सदी ईस्वी पूर्व में रचित ऋग्वेद की शाखा के इस आरण्यक ग्रंथ में भी कृष्ण का वर्णन वृष्णिवंशियों के एक संघर्षशील योद्धा के रूप में हुआ है।
4. निरुक्त	महर्षि यास्क द्वारा छठी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस ग्रंथ में स्यमन्तक मणि का वर्णन मिलता है जो कृष्ण-कथा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।
5. अष्टाध्यायी	पाणिनि ने इस ग्रंथ की रचना छठी सदी ईस्वी पूर्व में की। इस व्याकरण ग्रंथ में कृष्ण तथा उसके जीवन से जुड़े कुछ शब्दों की परिभाषा दी गई है।
6. गर्ग संहिता	चौथी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस ग्रंथ में कृष्ण के जन्म और बाल्य-काल का विवरण मिलता

है। परन्तु पंद्रहवीं शताब्दी में आकर ब्राह्मणवाद, अवतारवाद तथा पूजापाठ व कर्मकांड से जुड़ी सामग्री बड़े पैमाने पर इसमें घुसेड़कर इसे विकृत कर दिया गया। इसलिए इस ग्रन्थ के अध्ययन में सावधानी की जरूरत है।

7. जातक कथा — लगभग चौथी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस बौद्ध ग्रंथ के घट पंडित जातक कथा में कृष्ण का उल्लेख किया गया है।

8. अर्थशास्त्र — चौथी सदी ईस्वी पूर्व में कौटिल्य ने अपने इस प्रसिद्ध ग्रंथ में वसुदेव के पुत्र वासुदेव के रूप में कृष्ण का वर्णन किया है।

9. इंडिका — चौथी से तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में यूनानी विद्वान मेगस्थेनिस द्वारा रचित इस ग्रंथ में सौर्सैनी जनजाति के हेराक्लिस के रूप में कृष्ण का ही वर्णन किया गया है।

10. हरिवंश पुराण — दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में उग्रश्रवा द्वारा रचित इस ग्रंथ में कृष्ण के जन्म से लेकर उसके लगभग सभी पराक्रमों का वर्णन है।

11. विष्णु पुराण — दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा रचित यही सबसे पुराना ग्रंथ है जिसमें सर्वप्रथम कृष्ण के जन्म से लेकर मृत्यु तक का पूरा विवरण समेटा गया है।

12. महाभाष्य — दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में पतंजलि ने इस ग्रंथ में कृष्ण का यशोगान किया है।

13. पद्म पुराण — दूसरी सदी ईस्वी पूर्व में रचित इस ग्रंथ में पाताल खंड के अंतर्गत राम के साथ-साथ प्रसंगवश कृष्ण-जन्म तथा उसकी बाललीला का वर्णन मिलता है।

14. मार्कंडेय पुराण — ईस्वी सन दूसरी से चौथी सदी में रचित इस पुराण में भी कई जगहों पर प्रसंगवश कृष्ण का नाम उल्लिखित है।

15. कूर्म पुराण — ईस्वी सन दूसरी से चौथी सदी में ही रचित इस पुराण में भी कृष्ण-बलराम सहित यदुवंशियों का वर्णन मिलता है।

अब इसमें महत्वपूर्ण बात यह कि इन ग्रंथों में भी कृष्ण के जीवन से संबंधित कई बातों में विरोधाभास है। लेकिन मैंने यह विशाल कहानी लिखते वक्त उनके जीवन की जो बातें या किस्से उनके व्यक्तित्व से मेल खाते हैं, उन्हें ही चुना है। मैं यह स्पष्ट कर दूं कि मैं एक सायकोलॉजिस्ट हूँ तथा स्पीरीच्युअल सायकोलॉजी लिखता, बोलता व जानता हूँ और स्पीरीच्युअल सायकोलॉजी का अर्थ है कि संसार में कुछ भी रहस्य नहीं, यानी कोई ऐसी बात नहीं जो जानी व कही न जा सके।

इस बात को आगे बढ़ाऊं तो भगवद्गीता एक ऐसा ग्रंथ है जिसे पढ़ते ही समझ में आ जाता है कि ये बातें किसी चेतना के शिखर पर बैठे व्यक्ति ने कही है। कोई भी स्पीरीच्युअल सायकोलॉजी का जानकार इस बात की गवाही दे देगा। और जब गीता कहनेवाला व्यक्ति इतना ज्ञाता हो तो उसका अनुभव भी तगड़ा होना ही चाहिए। क्योंकि यह स्पष्ट समझ लेना कि सायकोलॉजिकली जो कोई, जो कुछ भी कह रहा है वह उसका अनुभव है, और कहने की जरूरत नहीं कि वह अनुभव उसे जीवन से हुआ है। अर्थात् जो कोई जो कुछ भी कह रहा है, वह उसके जीवन का सार है, वही उसका व्यक्तित्व है जिसके आसपास उसका जीवन गुजरा है। सो, मैं यहां स्पष्ट कर दूं कि कृष्ण के जीवन की तमाम रिसर्च के अलावा मैंने उनके जीवन पर आधारित यह कहानी लिखते वक्त भगवद्गीता में उनके स्वयं के शब्दों में वर्णित अपने स्वभाव को ज्यादा महत्व दिया है। क्योंकि मनुष्यजीवन में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण उसकी स्वयं की सायकोलॉजी है, और वही यह तय करती है कि किन परिस्थितियों में कौन-सा मनुष्य क्या करेगा या उसने क्या किया होगा। अत: किन परिस्थितियों में कृष्ण ने क्या सोचकर क्या व क्यों किया होगा, यही उनके जीवन में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। सच कहूं तो जिसके भीतर स्पीरीच्युअल सायकोलॉजी की रोशनी जल रही हो, उसके लिए तो कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन भगवद्गीता में वर्णित ही है, बाकी तो उसे सिर्फ जीवन के सिरे मिलाने हैं। तथा यही कारण है कि मैंने इस पूरी किताब में जब भी कृष्ण ने जो अनुभव किया तथा अपना वह अनुभव उन्होंने गीता कहते वक्त अर्जुन को कहा, वे सारे श्लोक उन किस्सों के साथ जोड़ दिए हैं।

इस किताब को रिसर्च करने व लिखने में मुझे पूरे पांच वर्ष लगे, और निश्चित ही उन पांच वर्षों में मैंने और

कुछ नहीं किया। सीधा कहूं तो वे पांच वर्ष मैंने सिर्फ कृष्ण व उनकी कही भगवद्गीता के साथ बिताए। ...या कहूं कि उस दरम्यान मैंने अपनी पूरी चेतना कृष्णमय कर दी थी, तो गलत नहीं होगा।

खैर, कृष्ण के जीवन बाबत ग्रंथों में की गई चर्चाओं को यदि मैं दो भागों में विभाजित करूं तो एक वे ग्रंथ हैं, जो ईस्वी सन् पूर्व में लिखे गए और जिनमें कृष्ण को एक कुशल योद्धा व एक महामानव के तौर पर वर्णित किया गया है, लेकिन तत्पश्चात् अनेक ग्रंथ ईस्वी सन् के पश्चात लिखे गए जिनमें सूरदास द्वारा रचित सूरसागर तथा प्रसिद्ध ग्रंथ भागवत् पुराण भी हैं।

तथा स्पष्ट तौर पर इन तमाम ग्रंथों के आगमन के बाद ही कृष्ण के जीवन में शृंगाररस व चमत्कारों का आगमन हुआ। होगा, मैंने तो कृष्ण को एक गुणी महामानव के तौर पर ही जाना है। सो, मैंने इस किताब की रिसर्च में पुराने व प्रामाणिक ग्रंथों का ही सहारा लिया है। हां, बीच में जहां सिरा नहीं मिला वहां सायकोलॉजिकली जो शृंखला में होना चाहिए वह किस्सा चित्रित किया है। बाद के ग्रंथ तथा उनका सर्वमान्य रचनाकाल:

ग्रंथ का नाम	सर्वमान्य रचनाकाल
1. भागवत पुराण	ईस्वी सन पांचवीं से दसवीं सदी के बीच रचित इस ग्रंथ के संपूर्ण दशम स्कंध तथा प्रारम्भिक ग्यारहवें स्कंध में कृष्ण-जन्म से लेकर यादवस्थली के लिए प्रस्थान करने तक की कथा का विस्तृत वर्णन मिलता है।
2. जैनियों का हरिवंश पुराण	ईस्वी सन सातवीं से आठवीं सदी में एक जैन संत आचार्य जिनसेन द्वारा रचित इस ग्रंथ में भी पूरी कृष्ण-कथा का विवरण उपलब्ध है।
3. गीत गोविन्द	तेरहवीं शताब्दी में जयदेव द्वारा लिखित इस संस्कृत ग्रंथ में कृष्ण-राधा के प्रेम को अलौकिक बताते हुए उनकी विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया गया है।
4. पदावली	तेरहवीं-चौदहवीं सदी में बिहार के विद्यापति ने भागवत पुराण और जयदेव के गीत गोविन्द को आधार बनाकर राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया है।
5. सूर सागर	पंद्रहवीं शताब्दी में पुष्टिमार्ग के कवि सूरदास द्वारा रचित इस ग्रंथ में मुख्यत: कृष्ण की बाललीला का वर्णन है।
6. गुरु ग्रंथ साहेब	1469 से 1708 ई. के दरम्यान विभिन्न सिख गुरुओं द्वारा संकलित पदों में से 2492 दोहे कृष्ण की विभिन्न लीलाओं से सम्बंधित हैं।
7. प्रेम सागर	विष्णु पुराण और भागवत पुराण की कथाओं के आधार पर 1810 ई. में लल्लू लाल ने इस ग्रंथ की रचना की. इसमें कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है।
8. श्री प्रेम सुधा सागर	गीताप्रेस द्वारा भागवत पुराण के दशम स्कंध को हिन्दी में अनुवाद कर इस नाम से ग्रंथ का प्रकाशन किया गया है।
9. सुख सागर	भागवत पुराण की कथा को सरल हिन्दी भाषा में माखनलाल खत्री द्वारा इस पुस्तक की रचना की गई है।

इसके अलावा कृष्ण पर लिखी एक कहानी 'मेरी आत्मकथा' से भी कुछ किस्से इसमें लिए गए हैं।

नोट: साथ ही पाठकों की सुविधा के लिए कृष्ण के जीवन का जो किस्सा मैंने अपनी किताब में वर्णित किया है, उसे किन-किन ग्रंथों से लिया गया है वह एक फूटनोट के तौर पर उसी पेज में वर्णित भी कर दिया है। मैं उम्मीद करता हूँ कि मेरा यह प्रयास तथा मेरे द्वारा लिखी गई यह रोचक कहानी आपको पसंद आएगी। और उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण यह कि कृष्ण के चैतन्य की ऊंचाई व उनके जीने की कला, हम सबको अपने जीवन को नई ऊंचाइयों पर पहुंचाने में सहायक सिद्ध होगी। ...बस इस उम्मीद के साथ मैं यह किताब आप लोगों को समर्पित करता हूँ।

मैं कृष्ण हूँ
पार्ट – 3

कहानी अबतक...
हार और जीत; दोनों में झूमनेवाले बहुत ही कम हुए हैं... मैं उन्हीं में से था...!

मैं 'कृष्ण' पैदा तो मथुरा के कारागृह में हुआ था पर मेरा लालन-पालन गोकुल में नंद-यशोदा के घर हुआ। बचपन में मुझे अपने माता-पिता का भरपूर प्यार भी मिला। गोकुल में मेरी शरारतों से गोपियां परेशान रहती थीं लेकिन मेरे प्रति उनके प्यार-दुलार में रत्तीभर कमी नहीं आती थी। यहां मामा कंस के भेजे पूतना, तृणावर्त, शटक जैसे दूतों से मैं निपट ही रहा था कि भेड़ियों के आतंक ने गोकुलवासियों को स्थानांतरण हेतु विवश कर दिया और परिणामस्वरूप पूरे गोकुल को स्थानांतरित होकर यमुना किनारे वृंदावन में आसरा लेना पड़ा। यह वृंदावन मेरे कई खासियतों की आधारभूमि थी। यहां मैंने इन्द्रपूजा के लिए अड़े लोगों का दृढ़तापूर्वक विरोध किया और इसके स्थान पर सारे गोपों को गोवर्धन-उत्सव के लिए प्रेरित किया। मैंने वृंदावन में ही वंशी बजाना सीखा था और राधा भी मुझे वृंदावन में ही मिली थी जो मेरे प्यार की प्रतिमूर्ति थी। वह मेरी ऐसी मार्गदर्शिका, मेरी प्रेरणा और दोस्त थी, जो हमेशा के लिए मेरे अस्तित्व का एक अंग बन गई। मेरा जीवन ऐसे ही उतार-चढ़ावों के साथ आगे बढ़ता जा रहा था कि अचानक समय ने करवट ली और मैं अपने मामा कंस के आमंत्रण पर मथुरा पहुंच गया।

यहां मामा ने मुझे मारने के लिए अनेकों षडयंत्र रचे, परंतु मैंने सभी षडयंत्रों पर विजय प्राप्त कर ली और अंततः मामा कंस का भी वध कर दिया। फिर मेरी आशंकाओं के विपरीत मेरे नानाजी यानी राजा उग्रसेन ने अप्रत्याशित रूप से मथुरा का राज मुझे भेंट कर दिया। परंतु मैंने राजगद्दी के लिए थोड़े ही अपने मामा का वध किया था, सो, पलटकर नानाजी को ही राजा बनाने का प्रस्ताव रख दिया और सारे लोग खुशी-खुशी इससे सहमत भी हो गए। वैसे राजगद्दी को ठुकराना मेरे लिए कोई घाटे का सौदा नहीं था, क्योंकि उसके बाद तो मैं पूरी मथुरा का सम्मानित व्यक्ति बन गया था। मेरे मामा के ससुर जरासंध ने जब मथुरा पर आक्रमण किया तो मथुरा की सेना आमने-सामने की लड़ाई के लिए तैयार न थी। परंतु सीमित संसाधन और छोटी सेना के बावजूद मैंने छलनीति के बूते जरासंध जैसे अजेय योद्धा को पंद्रह दिनों तक उलझाए रखा था। और अंततः धन-बल की भारी क्षति के बाद भी उसे बिना किसी निर्णय के लौट जाना पड़ा था। थोड़े ही दिनों बाद गुप्तचरों ने जरासंध के दूसरे आक्रमण की सूचना दी। परंतु इस बार कुदरत को कुछ और ही मंजूर था। क्योंकि अचानक आचार्य सांदीपनि मथुरा पधारे और नानाजी को मुझे बचाने का एक मौका हाथ लग गया। उन्होंने मुझे और भैया को उनका शिष्य बनाकर उज्जयिनी भेज दिया। और इसी बहाने वृंदावन के एक सामान्य ग्वाले को आर्यावर्त के एक अत्यंत ही प्रतिष्ठित गुरुकुल से शिक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शिक्षा की समाप्ति के बाद गुरुदक्षिणा के रूप में आचार्य का पुत्र वापस लाने हेतु मैं प्रभास में पंचजन के राज्य में घुसा और उसे मारकर प्रचुर धन-धान्य के साथ गुरुपुत्र को वापस लाया। फिर गुरुपुत्र को उनके माता-पिता को सौंपकर हम दोनों भाई मथुरा आ गए। गुप्तचरों ने पुनः जरासंध के आक्रमण की सूचना दी। अबकी अन्य उपाय न देख हम दोनों भाइयों को मथुरा छोड़कर सुदूर गोमंत की टेकड़ी पर जाकर शरण लेनी पड़ी। जरासंध ने वहां भी आक्रमण किया, परंतु उसे फिर मुंह की खानी पड़ी। हम दोनों भाइयों ने स्थानीय जनजातियों की मदद से जिद्दी जरासंध की सेना में भगदड़ मचा दिया था।

फिर उद्धव को कैद से आजाद करवाने के लिए मैंने करवीरपुर के राजा शृंगलव का वध किया और भैया तथा

उद्धव के साथ मथुरा लौट आया। एकदिन नानाजी ने जब बताया कि कुंडिनपुर की राजकुमारी के स्वयंवर में मथुरा को नहीं आमंत्रित किया गया था जो कि एक तरह से राजनैतिक अवहेलना थी, तो रुक्मिणी के स्वयंवर की बात सुनते ही मैं सुन्न हो गया था। नानाजी के अनुसार इस स्वयंवर का सर्वेसर्वा जरासंध था और उसी ने अपने पिछल्लू तथा रुक्मिणी के भाई रुक्मी को मथुरा को आमंत्रित न करने का आदेश दिया था। लेकिन मैं बिना निमंत्रण के भी मथुरा की आन और नकली स्वयंवर से अपनी जान की रक्षा करने हेतु कुंडिनपुर गया। वहां जरासंध की सारी योजना को तहस-नहस करके मैं इस स्वयंवर को निरस्त करवाने में सफल हो गया था। अतः कुंडिनपुर में उसके बाद रुके रहना मेरे लिए सुरक्षित न था। मैंने तत्क्षण लौटने का निर्णय किया, परंतु हां, घायल जरासंध को छेड़ना न भूला। तो क्या, जरासंध ने ज्यादा बड़ी तैयारी के साथ हमला किया? फिर कैसे मैं जरासंध के होते-सोते अपनी रुक्मिणी को षडयंत्रों से बचा पाया? सत्राजित के चक्रव्यूह में फंसी मथुरा क्या चैन से रह पा रही थी? जानने के लिए आगे पढ़ें...

स्यमंतक मणि की चोरी का राज

मेरी विजय-यात्रा मथुरा की ओर बढ़ी जा रही थी। मथुरा द्वारा एकबार फिर मेरे भव्य स्वागत की उम्मीद थी। कमाल था, जब भी मुझे मथुरा से भगाने की योजना बनायी जाती मुझसे कुछ-न-कुछ ऐसा हो जाता कि पलटकर मथुरा को मेरे स्वागत की तैयारी करनी ही पड़ जाती। बस इन्हीं सब ख्यालों व रुक्मिणी के सपनों में यात्रा कटते क्या देर लगनी थी? हमारे काफिले ने मथुरा में दस्तक दी। घनघनाते हुए हमारे रथ मुख्य मार्ग पर पहुंच गए। बस यह खबर आग की तरह फैल गई। फिर क्या था, मथुरा ने उम्मीद के मुताबिक हमारा भव्य स्वागत किया। स्वाभाविक रूप से मथुरा अपना राजकीय अस्तित्व टिके रहने की खुशी मना रही थी। ...हालांकि भीड़ को चीरता हुआ हमारा काफिला राजमहल जा पहुंचा था। स्वाभाविक तौर पर मैं जल्द-से-जल्द यह खबर नानाजी को देने को बेताब था। नानाजी को तो विश्वास ही नहीं हो रहा था कि मैं अकेले हाथों ऐसा कुछ कर भी सकता हूँ। खुश-खुश नानाजी ने तो तत्काल आज रात्रि मेरे सम्मान में एक भोज आयोजित भी कर दिया। उसमें सभी संभ्रांत-यादवों के साथ-साथ पूरी मंत्रिपरिषद भी आमंत्रित की गई। उधर मथुरा में खबर फैलते ही लोग सड़कों पर उतर आए थे। चारों ओर मेरी जयकार हो रही थी। जिसे देखो वह जश्न में डूब गया था। फिर भी सबसे ज्यादा प्रसन्न नानाजी ही थे। एक तो बृहद्दल नामक बला हमेशा के लिए उनके सर से टल गई थी, दूसरा स्वयंवर रुकने से मथुरा के आन की रक्षा भी हो चुकी थी। कुल-मिलाकर नानाजी को अब अपने राजा होने से संतोष था। चलो नानाजी की तो समझ में आती है पर मथुरा इतना क्यों पगला रही है? यूं देखा जाए तो रुक्मिणी का स्वयंवर रुकने से मथुरा की परिस्थिति में क्या फर्क पड़ना था? राजकोष को खाली-का-खाली ही रहना था। प्रजा को भुखमरी में ही जीवन गुजारना था। यादव-प्रमुखों को कुत्ते-बिल्लियों की तरह आपस में झगड़ते ही रहना था। लेकिन कहते हैं न कि पागलों के दिल पागलपन से बहल ही जाते हैं। होगा, मैं अपनी सोचूं तो मेरी तो चौ-तरफा उड़ के लग गई थी। ना सिर्फ रुक्मिणी के करीब आ गया था, बल्कि अब मथुरा से मुझे कोई हिला सके, ऐसा भी नहीं लग रहा था। साफ तौर पर अब मथुरा मुझे व मैं मथुरा को पूरी तरह अपना चुका था। और सबूत के तौर पर रात्रि-भोज पर भी मुझे भरपूर सम्मान मिला था। कई यादव-प्रमुखों ने भी मेरी तारीफ की थी। हां, सत्राजित व उसके पिछल्लू इस भोज से दूर ही रहे थे। तो आते भी किस मुंह से?

खैर! रात्रि-भोज निपटते ही मैं घर आया। यात्रा की थकान थी ही, सो जल्द ही सोने भी चला गया, परंतु सो नहीं पाया। रातभर बस इस पूरे वाकये पर सोचता रहा। वाकई रुक्मिणी का स्वयंवर रुकवाने से मुझे कई व्यक्तिगत फायदे हुए थे, ...हालांकि फिर भी मैं इन मूर्खों की तरह पगलाया नहीं था। अब पगलाया भले ही नहीं था, पर मन-ही-मन हजारों लड्डू तो फूट ही रहे थे। ...और जिसके एक नहीं अनेक कारण मौजूद थे। सबसे पहली बात तो यह कि मैं अब रुक्मिणी का "तारणहार" हो चुका था। मैंने उसका जीवन बर्बाद होने से बचाया था।निश्चित ही इससे अबतक जो आकर्षण एकतरफा था, उसके मेरी वीरता का बखान सुन-सुनकर रुक्मिणी के मन में भी भड़कने के आसार जागृत हो गए थे। और आप तो जानते ही हैं कि मैं तो यूं ही सकारात्मक विचारों वाला व्यक्ति था। ऐसे में रुक्मिणी के बाबत मेरी सोच कुछ ज्यादा ही सकारात्मक होना स्वाभाविक भी था। चलो एक क्षण को रुक्मिणी के अलावा भी सोचूं तो भी मुझे यह स्वयंवर रुकवाने से क्या कुछ हासिल नहीं हुआ था? मथुरा जिस बृहद्दल को मोहरा बनाकर मुझे मिटाने चली थी, वही आज मेरे स्वागत पर उतर आई थी। अर्थात् कम-से-कम हाल-फिलहाल तो यादव-प्रमुखों पर भारी पड़ ही गया था। ...और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि इस एक यात्रा से मुझे आर्यावर्त में राजा-सी शान व इज्जत प्राप्त हुई थी। राजा न होते हुए भी अब मैं किसी राजा से कम नहीं था। वर्तमान हालात में एक ग्वाले के लिए इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती थी? और जब एक साथ इतनी चौ-तरफा उपलब्धियां हासिल हुई हो तो एक रात अपने मन के साथ जश्न मनाना भी बनता ही था। सो, पूरी रात इन्हीं खयालों में बिता दी।

चलो यह तो बनता ही था, लेकिन बात यहीं नहीं रुकी। मथुरा आए दस दिन बीत गए थे लेकिन मैं अब भी रुक्मिणी के सपनों से बाहर नहीं आ पा रहा था। उसका सुंदर मुखड़ा मेरी आंखों से ओझल ही नहीं हो रहा था। सच कहूं तो मैं रुक्मिणी को पाने हेतु बुरी तरह मचल उठा था। मेरे जीवन की तमाम उपलब्धियां एक उसको पाने के सामने गौण नजर आने लगी थी। लेकिन वर्तमान परिस्थिति पर गौर करते ही मेरा सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता था। क्योंकि उसको लाकर रखा कहां जाए, यह सवाल अब भी अपनी जगह यथावत था। मथुरा ना तो मेरा स्थायी निवास था, ना ही हो सकता था। आज नहीं तो कल जरासंध का क्रोध मुझे दुबारा मथुरा छोड़ने पर मजबूर करने ही वाला

था। ऐसे में रुक्मिणी को दर-दर की ठोकरें तो खिला नहीं सकता था। बस जब कुछ और नहीं सोच पाता तो रह-रहकर मेरी यह हताशा क्रोध के रूप में जरासंध पर निकलती रहती थी। वो मेरी जान व मेरी शांति, दोनों का दुश्मन तो पहले से था, अब उसके कारण मेरे प्यार में भी हर तरह से बाधा पहुंच रही थी। ...अब ऐसे में उस पर प्यार तो आने से रहा। वैसे अकेले जरासंध को क्यों कोसूं? मैं आम-प्रजा के उत्साह व उनकी औकात दोनों भी अच्छे से पहचानता था। मैं जानता था कि आज मथुरावासी जोश में हैं इसलिए मेरे साथ हैं, लेकिन कल जब जरासंध के हमले की खबर सुनेंगे तो यही मुझे फिर भगाने से बाज नहीं आएंगे। यानी, भले ही वर्तमान परिस्थिति में मैं मथुरा का लाड़ला हो चुका था, लेकिन यह भी तय था कि परिस्थिति बदलते देर नहीं लगने वाली। और फिर जब सब को कोस रहा हूँ तो स्वयं को भी क्यों बख्शूं? ...यदि रुक्मिणी को लाने हेतु जी इतना ही मचल रहा हैं तो उसकी स्थायी व्यवस्था क्यों नहीं कर लेते? ...यह क्या बात कह दी? जरासंध के आतंक से स्थायी छुटकारा तो मैं रुक्मिणी न हो तो भी चाहता हूँ। ...पर कोई उपाय तो सूझे। तो, उपाय तो कर्म से ही निकलेगा। हां, यह भी ठीक है। तो चलो, मथुरा में जड़ें मजबूत करने से इस कर्म का शुभारंभ कर देते हैं। बस और इस संदर्भ में मैंने वर्तमान परिस्थिति का पूरी तरह से फायदा उठाना तय कर लिया।

...अब एकबार तय कर लिया तो योजना भी जहन में उतर आई। मैंने हाथोंहाथ नानाजी से यादव-प्रमुख चुनने के लिए एक सभा बुलवाने को कहा। इसमें सभी यादव प्रमुखों के साथ-साथ आम प्रजा को भी आमंत्रित किया जाना था। नानाजी का क्या था? उन्हें तो बस मेरे कहने भर की देर थी। मेरे सामने ही उन्होंने महामंत्री को सारी जिम्मेदारी भी सौंप दी। निश्चित ही अबकी मेरी योजना यादव-प्रमुख बनने की थी। क्योंकि मथुरा के लिए मुझे भगाना आसान है, परंतु उसके लिए अपने यादव-प्रमुख का निष्कासन आसान नहीं होगा। बस एकबार यादव-प्रमुख चुन लिया जाऊं तो मथुरा से चिंतामुक्त हो जाऊं। ...फिर जरासंध के बाबत भी सोच लिया जाएगा। चाहे जो करना पड़े, अबकी इस समस्या का स्थायी हल खोजना ही होगा। मेरी खातिर न सही तो रुक्मिणी की खातिर सही, लेकिन अब बहुत हो गया था। भला लगातार मौत रूपी लटकती तलवार के साये में कोई कैसे खुल के जी सकता है? यह तो मैं बेशरम था जो चल रहा था, वरना साधारण मनुष्य तो चिंता में ही मर जाए।

होगा! अभी तो इन्हीं सब चिंतनों व विचारों के बीच सभा का दिन भी आ गया। मैं भी पूरी तरह तैयार था। सुबह जल्द ही नानाजी के पास पहुंच गया था। सभा का प्रारंभ मैं उनके संबोधन से करवाना चाहता था। और उन्हें क्या कहना यह समझाने हेतु ही मैं इतनी सुबह-सुबह यहां आया हुआ था। और दोपहर तक नानाजी को क्या कहना है यह मैं उन्हें अच्छे से रटवा भी चुका था। तो नानाजी के इस संबोधन के बाद मुझे अपने यादव-प्रमुख चुने जाने में कोई बाधा नजर नहीं आ रही थी। बस संध्या होते ही मैं, भैया व नानाजी के साथ समय से ही सभा-स्थल पहुंच गया था। मेरे लिए खुशी की बात यह थी कि सभा में जोश भी था व उपस्थिति भी। आश्चर्य यह कि इतनी मार खाने के बाद भी सत्राजित खेमा कहीं से कम सक्रिय नजर नहीं आ रहा था। हुआ करे! आज सत्राजित की सक्रियता मेरे लिए कतई चिंता का विषय नहीं थी। रुक्मिणी-स्वयंवर रुकवाकर मेरा रुतबा आज उससे कहीं ऊपर था। और फिर मेरी कूटनीतिक चालों के सामने किस की क्या चलनी थी? नानाजी को तैयार ही ऐसा किया था कि आज सत्राजित का नाम लेवा कोई बचता नजर नहीं आ रहा था। लो, अभी मैं सत्राजित को देख यह सब सोच ही रहा था कि उधर नानाजी ने बिना किसी प्रस्तावना के सभा का प्रारंभ करते हुए संबोधित करना शुरू भी कर दिया। वे बड़े उदास होते हुए बोले- मेरी राय में मथुरा की वर्तमान परिस्थिति के लिए प्रमुख रूप से हमारे आपसी झगड़े ही जवाबदार हैं। अतः मैं चाहता हूँ हम सब मिलकर अपना एक यादव-प्रमुख चुन लें ताकि यह आपसी झगड़े हमेशा के लिए समाप्त हो जाएं।

...नानाजी के इतना कहते ही चारों ओर से हां...हां की आवाजें गुंजने लगी। यानी यादव-प्रमुख चुने जाने की प्रथम बाधा तो दूर हो गई। कम-से-कम यादव-प्रमुख चुनने के लिए सभी एकमत हो गए थे। अब रहा सवाल किसे, तो उसके लिए नानाजी ने मेरा रटवाया हुआ कूटनीतिक संबोधन दे डाला, जिसने मेरे यादव-प्रमुख बनने का मार्ग पूरी तरह साफ कर दिया। उन्होंने अपने संबोधन में कहा कि मेरी राय में यादव-प्रमुख परिस्थिति की मांग पर चुना जाए तो बेहतर है। अत: हमें ऐसा यादव-प्रमुख चुनना चाहिए जो वीर हो और जिस पर मथुरा को नाज भी हो, जिसकी ना सिर्फ आर्यावर्त में पहचान हो बल्कि जो मथुरा को एकबार फिर प्रगति की राह पर लगा भी सकता हो। जैसा कि अपेक्षित था, चारों ओर से मेरे नाम का प्रस्ताव आने लगा। चारों ओर मेरी ही जयकार गुंजने लगी। नानाजी से गुणों का बखान ही ऐसा करवाया था कि मेरे अलावा कोई नजर ही नहीं आ सकता था। हालांकि सत्राजित अवश्य अपने पिछल्लुओं के साथ एक कोने में बैठा मेरा विरोध करने का प्रयास कर रहा था। कुछ अन्य यादव-संभ्रांत भी मिमियाई हुई आवाज में उसका साथ दे रहे थे। लेकिन आज उनकी आवाज सुनने वाला कोई नहीं था। कल उनकी तो

आज मेरी बारी थी। कल इसी यादव-सभा में जहां मेरी आवाज दबी-दबी थी, वहीं आज सत्राजित को सुनने वाला कोई नहीं था। अब यह सब तो वक्त-वक्त की बात थी। और वक्त की ताजा बात यह कि मैं यादव-प्रमुख चुन लिया गया था। और उसके साथ ही आज की यह सभा समाप्त हुई।

अब मैं निश्चिंत था। मथुरा को झख मारकर मेरा साथ देना होगा। भला जरासंध के हमले से घबराकर कोई अपने प्रमुख को मथुरा छोड़ने के लिए थोड़े ही कह सकता है? मथुरा को न चाहते हुए भी हरहाल में अपने प्रमुख की रक्षा करनी ही होगी। वैसे यादव-प्रमुख चुने जाने का एक अन्य सीधा-सीधा फायदा भी साफ नजर आ रहा था, जब जरासंध तक यह खबर पहुंचेगी कि सत्राजित जैसे दिग्गज यादव-संभ्रांत की हजार कोशिशों के बावजूद मैं "यादव-प्रमुख" चुन लिया गया हूँ, तो निश्चित ही वह जल्दबाजी में कोई हमला करने की कोशिश नहीं करेगा। इससे मुझे मथुरा में शांति से विचरण करने के लिए कुछ समय और मिल जाएगा। कुल-मिलाकर वर्तमान परिस्थिति में जरासंध द्वारा कोई भी हमला साल-डेढ़ साल से पहले होने की संभावना खत्म हो गई थी। अब मुझ जैसे आदमी के लिए साल-दो साल बहुत लंबा समय होता है।

चलो ये सब उड़ानें तो घर पहुंचते-पहुंचते भर ली। पर अब आगे क्या? आप तो जानते ही हैं कि मेरी दुखती नस तो मेरा धड़कता दिल था, मेरे सपनों की रानी रुक्मिणी थी। वाकई जबसे उसे भोज पर देखा था, मेरी दीवानगी ने सारी सीमाएं लांघ दी थी। मुझे उसके अलावा कुछ सुझाई ही नहीं देता था। लेकिन यादव-प्रमुख बनने मात्र से तो रुक्मिणी को पाया नहीं जा सकता था। यानी कि दिल की मजबूरी अपनी जगह पूरी दृढ़ता से यथावत थी। बस आज की तारीख में यही मेरा गम था और यही मेरी समस्या थी। ...और उस पर सितम यह कि मैं अपने दिल का हाल किसी को सुना भी नहीं सकता था। कहने का तात्पर्य यह कि हाले-दिल सुनाने या बांटने से बेचैनी कम हो सकती थी, लेकिन मेरे पास तो उसका भी उपाय नहीं था। और इन सबसे ऊपर हकीकत यह कि रुक्मिणी के सपने देखना तो आसान था, परंतु उसे पाना बहुत दूर की कौड़ी थी। क्योंकि उसे पाने हेतु राजा बनना व अपना एक राज्य होना दोनों आवश्यक था। ...यानी कुल-मिलाकर परिस्थिति यह हो गई थी कि एक तरफ रुक्मिणी की दीवानगी सर चढ़कर बोलने लगी थी, वहीं दूसरी तरफ उसे पाने की कोई सूरत नजर नहीं आ रही थी। उस पर मजा यह कि भले ही रुक्मिणी इस ग्वाले के लिए सिवाय एक दु:स्वप्न के और कुछ नहीं, पर फिर भी यह ग्वाला उसके सपने देखे बगैर जी भी नहीं सकता था। अर्थात् नए-नए यादव प्रमुख के दिन रुक्मिणी को पाने की बेचैनी व न पा पाने के गम के बीच गुजर रहे थे। आप समझ ही रहें होंगे कि ऐसे यादव-प्रमुख के राज में मथुरा का क्या हाल होगा? अब एक दुखियारे आशिक को ऐसा भी ताना क्या मारते हो? यह तो अस्थायी दौर है; वरना उनका नया यादव-प्रमुख वाकई बड़ा जवाबदार व्यक्ति है।

खैर छोड़ो! यह सब तो चलता ही रहेगा, अभी तो खुशखबरी यह कि इस बेचैन आत्मा की बेचैनी दूर करने उद्धव मथुरा आ टपका था। उसके आने-मात्र से मुझे बड़ा सहारा महसूस हुआ। वाकई उससे मेरी आत्मीयता दिन-ब-दिन तेजी से बढ़ती जा रही थी। लेकिन दिक्कत यह कि वह वृन्दावन की खबर मुझ तक पहुंचाने व अपनी पुरानी रट दुहराने आ पधारा था। हां...हां, वही वृन्दावन जाने की रट। वैसे तो जिन हालातों से मैं गुजर रहा था वृन्दावन जाना मेरे लिए भी बेहतर था। लेकिन अभी नया-नया यादव-प्रमुख बना था। सिर पर मथुरा के पुनर्निर्माण की जिम्मेवारी थी। अभी वक्त की जरूरत रुक्मिणी के सपनों से निकलकर मथुरा के यथार्थ में डूबने की थी, ऐसे में उद्धव उल्टा वृन्दावनरूपी नए सपने दिखाने चला आया था। वैसे यह सपना भी यथार्थ में बदल जाए तो मजा आना ही था। ...पर सवाल यह कि मनुष्य का मन और दिल तो अक्सर बहुत कुछ कहता है, परंतु मनुष्य को जीना तो अपने कर्तव्यों के साथ ही पड़ता है। अतः कुल-मिलाकर तुरत-फुरत में वृन्दावन जाना शक्य नजर नहीं आ रहा था। सो खुद तो समझ ही चुका था और लगे हाथों उद्धव को भी समझा दिया था। अब समझाना अपनी जगह था, लेकिन एकबार बात छिड़ी थी तो वृन्दावन की याद तो सताने ही लगी थी। बस इस मजबूरी ने हालात और बिगाड़ के रख दिए थे। एक तो रुक्मिणी की यादों ने यूं ही परेशान कर रखा था, ऊपर से अब वृन्दावन न जा पाने का दर्द भी पकड़ लिया था। इन हालातों में दिल का मारा यह बेचारा कृष्ण सम्भले तो सम्भले कैसे...? बस एक वंशी ही थी जो उसे सम्भाल सकती थी, और सच कहूं तो वर्तमान में एक वही थी जो मुझे सम्भाले हुए भी थी। ...और हां, दूसरे प्रयासरूप मैंने स्वयं को दिन-रात मथुरा की समस्याओं में उलझा दिया था। रुक्मिणी नामक मीठे दर्द से व वृन्दावन की सुनहरी यादों से छुटकारा पाने का यही एक उपाय था। कभी मथुरावासियों को समझाता तो कभी व्यवसायियों से चर्चा करता। कभी यादव-प्रमुखों से समझता तो कभी नानाजी का मार्गदर्शन लेता। कहने का तात्पर्य मथुरा के उद्धार की कोई पक्की योजना की फिराक में दिनभर घूमता रहता था, यानी अब और कुछ नहीं तो यह पक्के में कहा जा सकता था कि इन दिनों यादव-प्रमुख होने का कर्तव्य अच्छे से निभा रहा था।

हालांकि सच तो यह है कि यह सब भी दिन पूरता ही था। रात्रि को तो परेशानी फिर सर पर आ खड़ी होती थी। चलो वृन्दावन से तो उद्धव के साथ ने छुटकारा दिलवा दिया था, परंतु रुक्मिणी का क्या...? वह महारानी तो रात्रि को अचूक सताने आ ही जाया करती थी। वैसे रात्रि भी किसी तरह उद्धव व वंशी के सहारे काट ही लिया करता था। लेकिन पता नहीं क्यों मैं थोड़ा थका-थका रहने लगा था। अब यह दिन-रात की भाग-दौड़ का असर था या लगातार चले आ रहे संघर्षों का प्रभाव था। यह भी हो सकता था कि यह संघर्षपूर्ण कर्म के साथ-साथ रुक्मिणी के देखे जाने वाले सपनों में मेरी ऊर्जा विभाजित होने का ही असर हो। ऐसा है तो चलेगा, मुझे थकान मंजूर है पर रुक्मिणी के सपने देखना नहीं छोड़ सकता था। लेकिन यह लगातार की थकान भी कोई अच्छी चीज तो थी नहीं। सो ...सोचा, इससे तो क्यों न वृन्दावन ही हो आऊं? वहां पहुंचते ही सारी थकान छू हो जाएगी। यदि मामला ऊर्जा का है तो वृन्दावन से बड़ा ऊर्जा का स्रोत मेरे जीवन में कौन-सा है? लेकिन इससे पहले कि मैं वृन्दावन के सपनों में खोऊं, तत्क्षण यह विचार त्यागना पड़ा। अभी नया-नया यादव-प्रमुख बना था। यदि वृन्दावन चला गया तो सत्राजित समेत सभी यादव-प्रमुखों को मौका मिल जाएगा कि देखो आपका यादव-प्रमुख समस्याओं से घबराकर फिर भाग गया। तो फिर इसका उपाय क्या...? उपाय है। वृन्दावन नहीं जा सकता कोई बात नहीं, परंतु यादव-प्रमुख राजकीय कारणों से बाहर तो जा ही सकता है। उसमें कोई भगोड़ा नहीं कह सकता। सौ बातों की एक बात मुझे इस समय ना सिर्फ मानसिक व शारीरिक विश्राम की, बल्कि किसी तगड़े परिवर्तन की भी सख्त आवश्यकता थी। विचार तो उत्तम था, पर समस्या यह थी कि जाऊं कहां?

...बस काफी सोच-विचार के बाद मैंने आचार्य सांदीपनिजी के आश्रम में कुछ दिन के लिए जाना तय किया। भैया व उद्धव तो मेरा प्रस्ताव सुनते ही खुशी से उछल पड़े। और आप तो जानते ही हैं कि आचार्यजी तो वैसे ही मेरी ऊर्जा व प्रेरणा के स्रोत थे। वे इस लिहाज से कतई वृन्दावन से कम न थे। सो वृन्दावन न सही, सांदीपनिजी का आश्रम ही सही। कमाल तो यह कि आचार्यजी के यहां जाने के नाम-मात्र से ही मेरी आधी मानसिक और शारीरिक थकान दूर हो गई थी। ...यहां तक कि मैं अभी से आश्रम के सपनों में खो गया था। एक तो अबकी उद्धव भी साथ चलने वाला था, सो मजा तो वैसे ही दोगुना हो जाना तय था। ऊपर से कई पुराने दोस्तों से मिलने का उत्साह भी बना ही हुआ था। लो, आश्रम के सपनों में क्या खोया... रुक्मिणी गायब हो गई। ...चलो जान छूटी। इसी बहाने एक हसीन दर्द से छुटकारा तो मिला। यह छुटकारा मुझे इतना अच्छा लगा कि मैं और तेजी से आश्रम के सपनों में डूब गया। सांदीपनिजी का सान्निध्य, सुदामा, पुनर्दत्त व विन्द-अनुविन्द जैसे मित्रों से मुलाकात। और हां, सुदामा के गान पर वंशी की तान बिठाने में तो मजा ही कुछ और आएगा। उत्साह इतना छा गया था कि मैं तत्क्षण यात्रा की तैयारियों में भिड़ गया। तैयारी का क्या था, वह तो एक ही दिन में निपट गई। अब हमें हर काम स्वयं कहां करना था, सेवकों की फौज लगी पड़ी थी। बस नानाजी से आज्ञा लेकर दो दिन बाद ही हम उज्जयिनी जाने के लिए रवाना हो गए। मैं तो खुश था ही था, भैया व उद्धव की प्रसन्नता का भी ठिकाना नथा।

जीवन की यह पहली यात्रा थी जो बगैर किसी प्रयोजन के सिर्फ विश्राम व परिवर्तन के लिए कर रहा था। सच कहा जाए तो आज पहली बार लीक से हटकर कृष्ण ''कृष्ण'' के लिए कुछ कर रहा था। और जब स्वयं के लिए कुछ करना ही है तो उसमें कंजूसी क्या करना? सो यात्रा की तैयारी संभ्रांतों वाली करवायी थी। आखिर ''यादव-प्रमुख'' के इज्जत का सवाल था। साथ ही आश्रम के युवराजों पर रुआब भी तो झाड़ना था। हम अपने साथ दस रथ व बीसियों सेवक-सैनिक लिए जा रहे थे। अब जीवन में इतनी प्रगति कर लेने के बाद रथ खोलना, फल तोड़ना, विश्राम की जगह खोजना या रात्रि पहरा देना कोई हमारा कार्य थोड़े ही था? और फिर बगैर कारण के ऐसे कार्य संभ्रांतों को शोभा भी नहीं देते। सो, कुल-मिलाकर इस यात्रा का आनंद ही कुछ और था। मैं, भैया व उद्धव। पहली दफा न तो किसी से डर कर भाग रहे थे, न किसी को खोजने जा रहे थे। हम तो आचार्यजी व मित्रों से मिलने जा रहे थे। यानी कि सिर्फ यात्रा के लिए यात्रा कर रहे थे। आज पहली दफा अनुभव हो रहा था कि बिना प्रयोजन की ऐसी यात्रा का आनंद कितना निराला होता है। उज्जयिनी तक की इस यात्रा में अधिकांश समय अपना रथ मैंने ही चलाया था। साथ में कभी भैया आगे बैठते तो कभी उद्धव। अब पकवान वगैरह तो बाजारों से सेवक ही खरीद लाते थे। वहीं बढ़ती उम्र व देखी हुई दुनिया के साथ अब बाजारों का भी इतना उत्साह नहीं बचा था। हां, उद्धव अवश्य पहली बार हमारे साथ इतनी लंबी यात्रा कर रहा था। सो, रास्ते में पड़ने वाले बाजारों से उसके हेतु कुछ पीताम्बर व गहने अवश्य खरीदे थे। अन्यथा तो आश्रम पहुंचने की जल्दी में नदी-सरोवरों पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था। कुल-मिलाकर पूरा ध्यान यात्रा काटने पर था। ऐसे में यात्रा कटने में क्या देर लगनी थी? कुल जमा सात दिनों की लगातार यात्रा के बाद हमने उज्जयिनी में प्रवेश कर लिया।

उज्जयिनी में दस्तक देते ही मैं चहक उठा था। हमारा कारवां जिन गलियों या चौबारों से गुजरता, मैं उन्हें

निहारना नहीं भूलता था। इतने वर्षों बाद उज्जयिनी आया था, पर मुझे तो कहीं कुछ बदलाव नजर नहीं आ रहा था। इधर यह सब करते-करते हमने पूरा शहर पार कर आश्रम के प्रमुख द्वार पर दस्तक भी दे डाली थी। दस्तक देते ही सेवक-सिपाही व रथों को वहीं आश्रम के बाहर छोड़ हमने भीतर की ओर दौड़ लगा दी। अच्छा यह कि वहां दोपहर-भोज चल रहा था। हमें देखते ही आचार्यजी व आचार्य-मां की खुशी का तो ठिकाना ही न रहा। ...और पुनर्दत्त; उसके लिए तो मानो साक्षात् ईश्वर ही प्रकट हो गए थे। आखिर उसका जीवन मेरे कर्म का ही तो परिणाम था।हां, एक दु:ख की बात थी कि सुदामा को छोड़कर सभी पुराने मित्र जा चुके थे। कोई बात नहीं; आचार्यजी ने हमें अपने सभी नए शिष्यों से मिलवाकर यह कमी पूरी कर दी। बाकी सब तो बराबर था, परंतु आश्रम में एक अद्‍भुत परिवर्तन आया था। आप विश्वास नहीं करेंगे, दो लड़कियां भी आश्रम में शिक्षित हो रही थीं। होगा, अभी तो हमें बहुत जोर भूख लगी थी; सो सीधे हाथ वगैरह धोकर हम भी सबके साथ डट गए। भोजन के पश्चात् सबके साथ कुछ यहां-वहां की बात कर हम विश्राम करने चले गए। आचार्यजी ने हम तीनों को सुदामा के साथ एक अलग ही कक्ष आवंटित कर दिया था। यह सब तो ठीक पर कक्ष में आते ही मैं आचार्यजी के विचारों में खो गया। वे वाकई कमाल थे। उनसे जब भी मिलो; किसी-न-किसी आश्चर्य में डाल ही देते थे। अब आर्यावर्त की प्रचलित परंपरा में शिष्याएं वर्जित थी। अत: इन शिष्याओं को लेकर मेरे मन में जिज्ञासा जाग रही थी। आचार्यजी ने यह कमाल क्यों और कैसे कर दिखाया था? और कहते ही हैं कि जिज्ञासा का समाधान जितनी जल्द हो जाए उतना अच्छा। सो विश्राम वगैरह छोड़ मैं सीधा आचार्यजी के पास जा पहुंचा और उन पर अपनी जिज्ञासा जाहिर की। मैंने कहा- जब आश्रम में स्त्री-शिक्षा पर प्रतिबंध है तो फिर यह कैसे संभव हो पाया?

आचार्यजी ने हंसते हुए कहा- कृष्ण! क्या वर्जित है और क्या अनिवार्य है ...इसका फैसला समय और परिस्थितियां करती हैं, नियम या परंपरा कभी नहीं।

मैं तो आचार्यजी की बात सुनते ही दंग रह गया। सचमुच उन्होंने क्या बात कही थी? यही कारण था कि मैं उज्जयिनी आना चाहता था। ये उनकी कातिल अदाएं ही तो थी, जिसका मैं दीवाना था। बात इतनी शानदार थी कि हमेशा के लिए मेरे जहन में उतर गई। वाकई आचार्यजी की वाणी, उनके हाव-भाव व उनकी शिक्षा मेरे भीतर एक नई ऊर्जा का संचार कर देती थी। वैसे आज की शिक्षा तो घोड़े को मदिरा पिलाने के समान थी। मैं, जो पहले ही नियम-परंपराओं का बेधड़क उल्लंघन करता आ रहा था, अब तो मानो मुझे खुला दौर मिल गया था। होगा, अभी तो मैं उछलता-कूदता अपने कक्ष में पहुंचा व वह सोया कि सीधा संध्या को ही उठा। संध्या को तो हमारे आने की खुशी में संध्या-सभा का आयोजन ही कर दिया गया था। आचार्यजी ने सभा के प्रारंभ में ही मेरी खूब तारीफ की। ...फिर सुदामा का गान व मेरे वंशी-वादन का तालमेल भी हुआ। यह सब तो ठीक पर रात्रि होते-होते तो अपने उद्धव महाराज की सुदामा व पुनर्दत्त से अच्छी मित्रता भी हो गई। यहां तक कि अब तो पुनर्दत्त भी हमारे साथ हमारे कक्ष में ही रहने आ गया। यानी आश्रम में कदम रखते ही हम तीन के पांच वैसे ही हो गए। यहां तक तो ठीक पर मजा दूसरे दिन से और भी बढ़ गया। एक तो हमारी यात्रा की थकान भी उतर चुकी थी व दूसरा अब तक सभी आपस में घुलमिल भी गए थे। और यह कम पड़ रहा था तो हमलोगों की खुशी में इजाफा करने हेतु आश्रम के कई अनुशासन भी उठा लिए गए थे। ...खासकर भोजन पर से तो सारे प्रतिबंध हटा दिए गए थे। उनका प्रिय पेटू शिष्य जो आश्रम आ पधारा था। कुल-मिलाकर खुशियों का वह दौर चल पड़ा था जो थमेनहीं थम रहा था। सब कोई खुश थे, फिर भी उद्धव की खुशी सबसे निराली थी। उसने वैसे भी ऐसी खुशियां व ऐसे साथ की जीवन में कभी कल्पना ही न की होगी। ...और मैं उसी की खुशी देख-देख खुश था। मुझे उसकी खुशी के सामने अपनी जाती खुशी नगण्य नजर आती थी। ...बस इसी तरह हसते-खेलते दिन कटते जा रहे थे। आचार्यजी भी मथुरा में हमारा बढ़ता वर्चस्व देख जरासंध बाबत काफी निश्चिंत हो चुके थे। वहीं रुक्मिणी-स्वयंवर रुकवाने के बाबत तो वे मुझे कितनी ही बार शाबाशी दे चुके थे।

...यह सब तो ठीक पर अचानक भैया की खुशियों को ग्रहण लग गया। ...ना ना, घबराइए नहीं, वे आश्रम में खुश तो बहुत थे पर साथ ही इन दिनों उन्हें एक हसीन दर्द भी पकड़ लिया था। और ऐसे हसीन दर्द से भैया की यह प्रथम मुलाकात थी। हां-हां बताता हूँ... दरअसल हुआ यूं कि आचार्यजी जब अपने नए शिष्यों से मिलवा रहे थे, तब उन्होंने हमारा परिचय "रेवती" नामक एक शिष्या से भी करवाया था। हम तो मिलकर आगे बढ़ गए थे, परंतु भैया ने रेवती को जो देखा तो देखते ही रह गए थे। सचमुच ऐसी हृष्ट-पुष्ट और सुगढ शरीरयष्टि की युवतियां प्राय: कम ही दिखती हैं। साथ ही उसकी कोमलता व सुंदरता भी अद्‍भुत थी। कुल-मिलाकर उसका व्यक्तित्व किसी राजघराने से होने का दम भर रहा था। उस समय तो मैंने भैया के प्रभावित होने को एक साधारण घटना के तौर पर ही लिया था। सो, मैं तो अपने मित्रों व आचार्यजी में खोया रह गया, और इधर भैया कब उस पर लट्टू हो गए पता ही न चला।

यहां तक भी ठीक, पर मजा यह कि आशिकी छाते ही उनमें आशिकों के गुण भी आ गए। अकेले रहना। गुमसुम घूमना। रात-रातभर करवटें बदलना। रेवती जहां जाए, उसके आस-पास मंडराते रहना। उसे टक-टकी लगाकर निहारते रहना। यानी हर वह गुण जो भैया को पक्का आशिक साबित करे, उनमें स्वत: ही प्रकट हो गए थे। मैं खुश था कि चलो भैया को किसी ने घायल तो किया। अच्छा है, अब बात-बात पर मुझे नहीं टोका करेंगे। ...अब मैं तो अपने मतलब की ही बात सोचूंगा। चलो, अभी भैया को भैया के हाल पर छोड़ूं व अन्य बातें बताऊं तो हर दृष्टिकोण से आश्रम में बड़ा मजा आ रहा था। हमारी आव-भगत में भी कोई कमी नहीं रखी जा रही थी। आचार्य-मां जानती थी कि मैं व भैया खाने के बड़े शौकीन हैं, अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए आश्रम के नियम तोड़कर रोज पकवान बनाये जा रहे थे। उधर हमारे आने की खबर पाकर विन्द-अनुविन्द भी हमसे मिलने चले आए थे। यही नहीं, उन्होंने दो-दिन हमारे साथ आश्रम में भी गुजारे। यानी खुशियों की चारों ओर से बौछार हो रही थी। मुझे तो अपने यहां आने के निर्णय पर बड़ा नाज हो रहा था।

यह सब तो ठीक, पर इधर एक अन्य कमाल भी हो गया था। जी हां, भैया ने मेरी सोच को पूरी तरह मात दे दी थी। जिसे मैं आशिकी का छोटा-मोटा मौसमी बुखार समझ रहा था; वह लाइलाज बीमारी बनकर उभर आया था। यानी भैया की दीवानगी दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही थी। जहां शुरू में मैं इसे सामान्य झटका मान रहा था वहीं हकीकत यह थी कि रेवती के आकर्षण ने धीरे-धीरे कर उन्हें अब किसी काम का नहीं छोड़ा था। सच कहूं तो नए आशिक की यह हालत देख मुझ अनुभवी को चिंता पकड़ ली थी। इसलिए नहीं कि भैया प्रेम में पड़े हैं, बल्कि इसलिए कि यह आग एकतरफा थी। रेवती भैया को बिल्कुल घास नहीं डाल रही थी। और इसका अंतिम परिणाम क्या आ सकता है, यह मैं अच्छे से जानता था। मुझे तो भैया ही हाथ से जाते हुए नजर आने लगे थे। वैसे हम दोनों के बीच इसको लेकर कोई बात नहीं हुई थी। यह सब तो मेरी अनुभवी आंखों ने अपने हिसाब से ही ताड़ा था। लेकिन अब ताड़ा था तो सहायता पर उतर आना भी जरूरी हो गया था। सो, सौ काम छोड़ मैं अब इस ताक में घूमने लगा कि कैसे दोनों को निकट लाया जा सके। इसमें भैया के साथ-साथ मेरा हित भी समाया ही हुआ था। अब भैया मेरी तरह कोई मजे हुए आशिक तो थे नहीं। पहला-पहला प्रेम था, और उसमें भी दिल टूट गया तो मेरी तो खैर नहीं। मुझे तो दिन-रात उनके साथ रहना था। अब एक घायल आशिक के साथ चौबीसों घंटे बिताना मजाक बात नहीं। दूसरी तरफ मैं यह भी जानता था कि भैया लट्टू होने से ज्यादा कुछ नहीं कर सकते, ...और लट्टू वे हो चुके थे। यानी आगे के सारे कार्य मुझ अनुभवी के ही कंधों पर आ पड़े थे। और वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह कार्य निपटाना मेरे अस्तित्व व भैया के मिजाज दोनों के लिए आवश्यक हो गया था। देखा आपने, आश्रम में आया था आराम करने और लग गया था कार्य में। ...हालांकि यह बात अलग है कि कार्य मेरी पसंद का भी था व अपने आप में रुचिकर भी। सो, भले ही अब भी दिनभर उधम-मस्ती चलती ही रहती थी; फिर भी ध्यान रेवती व भैया को निकट लाने हेतु किसी हसीन मौके की ताड़ में लगा ही रहता था। ...अभी कुछ दिन ही बीते होंगे कि यह मौका भी मिल गया। उस दिन संध्या को भोजन के बाद हम सब यूं ही बाहर बैठे हुए थे। बात-बात में आचार्यजी ने मुझसे कहा कि रेवती गदा-युद्ध सीखने की जिद पकड़े बैठी है। अब तुम्हीं इसे समझाओ। मैं युद्ध कला में इतना प्रवीण कहां? बस क्या था! जिस मौके की तलाश में था, मुझे मिल चुका था। अब मैं, और हाथ लगा मौका गंवाऊं? आचार्यजी मुझे रेवती को समझाने को कह रहे थे, मैंने उल्टा उनको ही समझा दिया। ...मैंने आचार्यजी से कहा- वैसे भी आपका आश्रम आर्यावर्त की तुच्छ परंपराओं का मोहताज तो है नहीं। और फिर आप हों या आप के शिष्य, क्या फर्क पड़ता है? अत: क्यों न भैया, रेवती को गदा-युद्ध सिखायें। इसी बहाने हम आपके किसी कार्य आ सकें तो यह हमारा अहोभाग्य होगा।

मैंने बात ही इस तरीके से रखी थी कि आचार्यजी ने खुशी-खुशी इस बात की इजाजत दे दी। भैया तो यह सुनते ही खुशी के मारे कांप उठे। रेवती की भी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। मैं भी खुश हुआ चलो, संवाद का एक रास्ता तो खुला। उधर दूसरे दिन से ही भैया ने रेवती को गदा-युद्ध सिखाना प्रारंभ कर दिया। स्वाभाविक रूप से गदा-युद्ध सीखते-सिखाते दोनों एक-दूसरे के काफी निकट आ गए। यह तो होना ही था। कृष्ण के होते-सोते दिलों का मेल न हो, यह तो हो ही नहीं सकता था। ...चलो एक बड़ा कार्य तो निपट रहा था, पर इधर सच कहूं तो रेवती को लेकर मेरे मन में काफी जिज्ञासाएं भी उठ रही थी। मैं स्वयं रेवती के बारे में जानने को काफी उत्सुक हो उठा था। और उसके "भैया" के अलावा भी कई कारण थे। एक तो वह काफी दुखी नजर आ रही थी। और आश्रम में शिक्षित होने आने वाला भला दुःखी क्यों रहने लगा? चलो यह छोड़ो तो भी उसके प्रभाव से यह सिद्ध हो ही रहा था कि उसका संबंध किसी राजपरिवार से अवश्य होना चाहिए। लेकिन ऐसा कुछ उसके व्यवहार से जाहिर नहीं होता था। और उसपर उसका गदा सीखने में इतना रस लेना तो बिल्कुल ही मेरी समझ के बाहर था। सौ बातों की एक बात यह कि इन सारी बातों का आपस में कोई तालमेल नहीं बैठ रहा था। और आप तो जानते ही हैं कि कोई बात मुझे समझ न

आए तो मैं बेचैन हो उठता था।

...वैसे रेवती अब हम लोगों से काफी घुल-मिल चुकी थी। सो, मैंने सोचा यहां-वहां टटोलने की बजाय क्यों न सीधा उससे ही पूछ लिया जाए? बस सुबह जब भैया उसे गदाभ्यास करवा रहे थे, मैं भी पहुंच गया। दोनों का जमकर उत्साह भी बढ़ाया। और गदाभ्यास निपटते ही दोनों को पकड़कर आश्रम के पिछवाड़े ले गया। वहां एक घने पेड़ के नीचे हम तीनों ने शरण ली व बहती क्षिप्रा देखने का आनंद लेने लगे। हालांकि यह सब तो मात्र दृश्य था, लाया तो रेवती को विशेष मकसद से ही था। बस मैंने उससे उसके बारे में जानने की जिज्ञासा जाहिर की। उसने तत्क्षण प्रतिसाद देते हुए सारी बातें खुलकर बताई। उसने कहा- मैं समुद्र किनारे बसे कुशस्थली राज्य की ‘‘राजकुमारी’’ हूँ। मेरे पिता ककुमदी वहां के राजा थे। हमारा राज्य धन-धान्य से संपन्न था। हमारे दिन खुशियों से कट रहे थे कि अचानक समय ने पलटा खाया। दुर्भाग्य यह कि हमारा राज्य पंचजन व पुण्यजन के राज्यों की सीमा के मध्य में पड़ता था। जब तक वे मित्र थे, हम सुरक्षित थे। लेकिन जब दोनों में दुश्मनी हुई तो हमारी शामत आ गई। ...फिर तो दोनों में एकदूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लग गई और उसका हर्जाना हमें भुगतना पड़ा। बस हम तो दो पाटों के बीच में पिस के रह गए। उनकी जब मर्जी आती, अपनी शक्ति बढ़ाने हेतु हमें लूटने चले आते। अब वे दोनों शक्तिशाली राक्षस थे, हम उनका मुकाबला क्या करते? परिणामस्वरूप लगातार के आक्रमण व लूटपाट ने धीरे-धीरे कुशस्थली को कमजोर बना दिया। और अंत में हालात इतने बिगड़ गए कि पुण्यजन ने हमारा राज्य ही हड़प लिया। यहां तक तो ठीक पर हमारी आंखों के सामने ही उसने मेरे दो छोटे भाइयों की हत्या तक कर दी। इस हादसे के बाद पिताजी विक्षिप्त हो गए। मैं उनकी सबसे बड़ी संतान हूँ। अत: मैं अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए ना सिर्फ पुण्यजन से बदला लेना चाहती हूँ, बल्कि अपना राज्य वापस पाने की मैंने प्रतिज्ञा भी ली है।

रेवती की दु:ख भरी दास्तान सुनकर मेरा तो ठीक पर भैया का खून बुरी तरह उबल पड़ा। वे क्रोध में लाल-पीले हो गए। निकाल ली अपनी गदा व चिल्लाये- पुण्यजन का तो सर ही फोड़ देता हूँ। ...अरे भाई, पुण्यजन का सर तो फोड़ना ही है, लेकिन उसके लिए इस समय हवा में गदा लहराने की या ताव खाने की क्या जरूरत है? कुछ सोच-विचार करते हैं, फिर गदा उठा लेंगे। सचमुच भैया के इस जोश का मेरे पास कोई इलाज नहीं था। ऊपर से इस बार के जोश के साथ तो दिल भी लगा हुआ था, यानी सम्भालना और भी मुश्किल था। वैसे भैया का जोश तो मैंने उन्हें समझा-बुझाकर ठंडा कर दिया। पर अच्छा यह हुआ कि भैया के जोश से रेवती को काफी दिलासा मिला। उसे यकीन हुआ कि वह अकेली नहीं। खैर, बाकी सब तो ठीक पर आचार्यजी ने रेवती को शिक्षित करना क्यों स्वीकारा, यह कम-से-कम अब मेरी समझ में आ चुका था। उनकी बात कितनी सही थी कि बाकी आश्रम समय के साथ चलते हैं जबकि मैं समय से आगे चलने का पक्षधर हूँ। ...तो इसी बात के लिए तो मुझे आचार्यजी पर गर्व था। वैसे गर्व तो मुझे स्वयं पर भी कम नहीं हो रहा था, क्योंकि रेवती के बाबत मेरा अंदाजा सही निकला था। ...वह राजकुमारी ही थी। चलो वह राजकुमारी थी, पर उसे राजकुमारी फिर से कैसे बनाया जाए यह तो सोचना था। सो, जहां भैया रेवती को ढाढ़स बंधाने में लगे हुए थे, वहीं मैं यह सब कैसे संभव किया जाए, इसके चिंतन में खो गया था। लेकिन मैं भी मैं था, समस्या पर सोचते-सोचते भैया पर ही सोचने लग गया। कमाल था, मैं तो राजकुमारी के सपने देखता रह गया और महाराज राजकुमारी के निकट भी आ गए। इसे ही कहते हैं गुरु गुड़ रह गया व चेला शक्कर हो गया। अब हो गया तो हो गया, अभी समस्या पर तो सोचो। वह तो सोच ही रहा हूँ पर यह कोई ऐसी समस्या नहीं जिसका कोई तात्कालिक हल खोजा जा सके। सो, वहां से उठकर हम वापस आश्रम लौट आए।

...लेकिन अब आश्रम में भी मन कहां लगना था। मन तो कुशस्थली के चिंतन में ही उलझा पड़ा था। दिन में तो कुछ खास सूझा नहीं पर रात्रि को चिंतन ने अपना रंग दिखाना शुरू किया। मुझे धुंधला-धुंधला सा याद आने लगा कि पुनर्दत्त को छुड़वाने जाते वक्त कुशस्थली रास्ते में पड़ा था। ...अरे हां। कुशस्थली ही था वह... रेवती ने कहा तो था कि यह पंचजन के राज्य की सीमा से लगा हुआ है। यदि ऐसा है तो अब तो वहां ‘‘चंडक’’ का राज है। वह तो मेरा मित्र है। वह मेरी मेहरबानियों से ही तो राजा बना है। फिर क्या था, देखते-ही-देखते मेरा चिंतन अपनी पूर्णता पर सक्रिय हो गया। हाथों-हाथ मेरे दिमाग में एक योजना ने जन्म भी ले लिया। क्यों न चंडक की सहायता से कुशस्थली को पुण्यजन के कब्जे से छुड़वा लिया जाए? चंडक के साथ के बाद यह कार्य क्या कठिन? इससे ना सिर्फ रेवती का दु:ख जाता रहेगा, बल्कि उसकी प्रतिज्ञा भी पूरी हो जाएगी। यही क्यों, इससे भैया को रेवती पर पूरी तरह छाने का मौका भी मिल जाएगा। बस क्या था, मैंने चंडक की सहायता से कुशस्थली को पुण्यजन के पंजे से छुड़वाने का निर्णय ले लिया। ...यह काम तो निपट गया, लेकिन नींद अब भी मुझसे कोसों दूर थी। आज मेरा चिंतन नियंत्रण के बाहर हो गया था। उसे अब मेरी चिंता सताने लगी थी। बात भी सही थी, आखिर मुझे भी तो अपना घर बसाना था। और मेरा घर बगैर राज्य की स्थापना किए कहां बसने वाला था? बस जाने-अनजाने मेरा चिंतन अपने राज्य की खोज में खो

गया था। अनायास ही रेवती का कहा एक-एक शब्द मेरे कानों में गूंजने लगा। उसके कहे अनुसार उसके पिताजी विक्षिप्त हो चुके हैं। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि ककुमदी की मानसिक हालत राजा बनने लायक कतई नहीं है। तो फिर ले-देके बचती है रेवती और वह एक लड़की है। वह राजा बन नहीं सकती। भाई उसके पहले ही मारे जा चुके हैं। ऐसे में राज्य हासिल कराने हेतु हमारा योगदान देखते हुए राजगद्दी पर भैया क्यों नहीं बैठ सकते हैं? फिर यह कोई गैर वाजिब बात भी नहीं। और यदि ऐसा हो जाए तो इससे न सिर्फ भैया का घर बस जाएगा, बल्कि मेरे घर बसाने का मार्ग भी खुल जाएगा। क्योंकि रुक्मिणी और मेरे बीच एक ''राज्य'' ही तो दीवार थी जो मैं उस पर अपना प्यार तक जाहिर नहीं कर पा रहा था। वाकई मुझे तो एक इस योजना से सारे बेड़े पार होते नजर आ रहे थे। कुल-मिलाकर मैं एकबार फिर सफलतापूर्वक एक तीर से दो शिकार कर चुका था।

बस सुबह होते ही मैं सीधे भैया व उद्धव को लेकर आश्रम के बाहर टहलने निकल पड़ा। टहलना क्या था, टहलना तो एकान्त में गंभीर गुफ्तगू करने का एक बहाना-मात्र था। सो, मौका मिलते ही मैंने उन्हें अपनी पूरी योजना विस्तार से सुनाई; पर हां, मेरे अपने घर बसाने वाली बात छिपा गया था। कारण कि दोनों में से कोई भी अभी तक मेरे मन में रुक्मिणी को लेकर उठी गुदगुदी के बारे में कुछ नहीं जानता था। और मेरी सोच में अभी उन्हें यह बात बताने का ठीक समय भी नहीं था। फिर अभी रुक्मिणी की रजामंदी जानना भी तो बाकी था। ऐसे में मेरे एकतरफा प्रेम व बेलगाम दौड़ते सपनों के घोड़ों के कारण बेचारी 'रुक्मिणी' को क्यों बदनाम करना? ...चलो यह तो अच्छा किया था, लेकिन जो बात नहीं बताई उसको छोड़कर जो बताई उसकी तो चर्चा करो महाराज। उसकी चर्चा में क्या है, भैया तो मेरी योजना सुनते ही उछल पड़े थे। लेकिन मुसीबत यह कि नादान आशिक को बस एक ही बात समझ में आई थी कि कुशस्थली को आजाद कराते ही उनका व रेवती का विवाह पक्का समझो। सचमुच, प्रेम कितना अंधा होता है। उन्हें राजा बनने की या राज्य पाने की कोई खुशी नहीं थी। कारण भी स्पष्ट ही था कि इस समय भैया सिर्फ आशिक थे। वैसे हरकत तो मेरी भी कम अजीब नहीं थी। हमने आपस में योजना बना डाली थी, उसपर सहमति की मोहर भी लगा दी थी, यही नहीं, उसके सपने देखना भी प्रारंभ कर दिए थे; परंतु अब तक जिसका राज्य था उससे तो कुछ पूछा ही नहीं था। कहीं उसने कोई नया ही राग अलाप दिया तो? यानी जब तक रेवती की सहमति न मिल जाए यह सब एक हसीन स्वप्न से ज्यादा कुछ नहीं था।

तो उसकी प्रतिक्रिया जानना कौन-सी दूर की बात थी। तुरंत हमने आश्रम की ओर प्रस्थान किया।निश्चित ही रेवती को योजना सुनाने की जिम्मेदारी मेरे ही कंधों पर थी। वैसे भी बोलने, बातचीत करने, चर्चा करने, समझाने और संबोधित करने की जिम्मेदारी मेरी ही होती थी। सिर्फ इतना ही क्यों, योजना बनाने, झूठ बोलने, अभिनय करने, कपट करने की जिम्मेदारी भी आप तो जानते ही हैं कि मेरे ही नाजुक कंधों पर आन पड़ती थी। और आप यह भी जानते हैं कि मैं अपने पर आ पड़े किसी कर्म से कभी पीछे नहीं हटता था। सो, बस आश्रम पहुंचते ही हमने उसे धर-दबोचा। भैया और उद्धव का क्या, वे तो नाम पुरते ही साथ में थे; बात मुझे ही करनी थी। और मेरी दिक्कत यह कि बात कहां से शुरू की जाए, यह समझ में नहीं आ रहा था। फिर भी कहीं से तो शुरू करनी ही थी, सो की। मैंने उसे सीधे संबोधित करते हुए कहा- हम लोगों ने कुशस्थली को पुण्यजन के पंजे से छुड़ाने हेतु एक योजना बनाई है। आपको बता दूं कि कुशस्थली के एक शत्रु ''पंचजन'' का वध मैंने ही किया था। यही नहीं, उसके स्थान पर वहां के सेनापति चंडक को राज सिंहासन पर हमने ही बिठाया है। इस लिहाज से वहां का वर्तमान राजा चंडक हमारा एहसानमंद है। अत: वह पुण्यजन के खिलाफ युद्ध में खुलकर हमारा साथ देगा। यदि आप योजना से संतुष्ट हों तो इस पर आगे विचार करें।

रेवती मेरी बात सुनते ही उछल पड़ी। वह भी इस कदर कि अपनी प्रसन्नता तक नहीं छिपा पाई। सच कहूं तो वह तो योजना सुनते ही कुशस्थली के आजाद होने के सपनों में खो गई। लगता है आजकल सपनों का मौसम चल रहा है। पहले तो मैं अकेला ही सपनों में खोया रहता था, अब तो भैया, रेवती जिसे देखो यह बीमारी लगती जा रही थी। लगने दो, पर यह वक्त सपने देखने का नहीं हकीकत की दुनिया में लौट आने का था। सो मैंने रेवती की रजामंदी जानते ही सोचा कि..., क्यों न हाथों-हाथ कुशस्थली की तैयारियों के बाबत भी जान लिया जाए? मेरे पूछने पर रेवती ने कुशस्थली की वर्तमान परिस्थिति व वहां की सैन्य-शक्ति के बारे में विस्तार से बताया। हालांकि कुशस्थली की तैयारी के बाबत जो कुछ रेवती ने बताया वह कोई बहुत ज्यादा उत्साहवर्धक नहीं था। उसके बताये अनुसार कुशस्थली में अब बमुश्किल हजार एक सिपाही बचे हैं, और वह भी पुण्यजन से हारने के बाद इस समय पूरी तरह संगठित नहीं हैं। ...कुल-मिलाकर कुशस्थली की वर्तमान परिस्थिति व तैयारी निराश करने वाली थी, पर मैंने रेवती के उत्साह में बाधा पहुंचाना उचित नहीं समझा। अत: मैंने बड़े शांत भाव से बात आगे बढ़ाते हुए कहा- कोई बात नहीं। जो है और जिस हाल में है, पर्याप्त है। तुम और भैया अतिशीघ्र कुशस्थली के लिए रवाना हो जाओ। भैया जाकर

चंडक को युद्ध के लिए तैयार कर लेंगे, और तब तक तुम अपने सैनिकों को संगठित कर लो। साथ ही हो सके तो पिताजी का विश्वास भी बढ़ाओ। यही नहीं, प्रजा को आजादी के सपने भी दिखाओ ताकि वे कम-से-कम पुण्यजन के सिपाहियों से सहयोग करना बंद कर दे। दूसरी तरफ मैं और उद्धव तुरंत मथुरा जाते हैं। मैं नानाजी से बात कर उद्धव के नेतृत्व में मथुरा के एक हजार सिपाहियों को कुशस्थली भेजता हूँ। इतनी तैयारियों के बाद मुझे लगता नहीं कि पुण्यजन हमारे सामने टिक पाएगा।

रेवती तो योजना सुनते ही विश्वास से भर गई थी। उधर भैया रेवती के राजी होने मात्र से झूम उठे थे। यही नहीं, दोनों ने सपना देखना भी शुरू कर दिया था। एक तरफ रेवती जहां कुशस्थली की आजादी के सपनों में खो गई थी, तो दूसरी तरफ भैया रेवती से विवाह के सपनों में खोये हुए थे। वैसे पीछे तो मैं भी नहीं था, अपने राज्य व रुक्मिणी के सपनों में मैं भी खोया ही हुआ था। यूं भी युद्ध जीतने में तो कोई बाधा नजर आ नहीं रही थी; तो फिर ऐसे में सपने देखने में क्या हर्ज था? भैया और रेवती को तो वाकई कोई हर्ज नहीं था। क्योंकि कुशस्थली जीतने या भैया व रेवती के विवाह में तो शंका की गुंजाइश ही नहीं बची थी। लेकिन मेरे सपने आसानी से साकार होते नजर नहीं आ रहे थे। अब आपसे क्या छिपाना, दरअसल भैया के राजा बनने के बाबत मैं आश्वस्त नहीं हो पा रहा था। और कहें भी किससे, मोहरा अपना ही कमजोर पड़ रहा था। एक तो वे भोले थे, दूसरा उनका उद्देश्य सिर्फ रेवती को प्राप्त करना था। ऐसे में राजगद्दी उनके निशाने से चूक जाने के पूरे-पूरे आसार थे। मुझे यह डर भी था कि कुशस्थली के आजाद होते ही कहीं ककुमदी ठीक न हो जाए, और उसकी राजा बनने की महत्वाकांक्षा फिर से फनफनाने न लगे। कहीं ऐसा न हो भैया सिर्फ वहां के जमाता बनकर रह जायें और मैं यहां सपने देखता रह जाऊं। मालूम पड़े भेजा था राज्य पाने, भाभी लेकर लौट आए।

अब यूं तो मैंने अपनी ओर से पूरी नाकेबंदी की थी। मैंने बड़ी ही स्पष्ट भाषा में भैया को वहां का राजा बनने के निर्देश भी दे दिए थे। यहीं नहीं, उन्होंने मुझे कोई चूक नहीं होने का तगड़ा आश्वासन भी दिया था। ...फिर भी क्या मालूम क्यों भैया पर विश्वास नहीं हो रहा था। क्योंकि भैया इतने सरल थे कि कभी गलती से भी उन्होंने ककुमदी की आंखों में फिर से राजा बनने का ख्वाब देख लिया तो फिर वे उसे ही राजा बनाएंगे। व्यर्थ किसी का दिल क्यों दुखाना? ...अब उन्हें कौन समझाए कि ककुमदी के दिल की चिंता की तो यहां कन्हैया के दिल के हजारों टुकड़े हो जाएंगे। अजीब उलझन में पांस गया था मैं। भैया को खुलकर रुक्मिणी वाली बात बता नहीं सकता था; और दूसरी तरफ उनके राजा बनने से कम पर राजी हो नहीं सकता था। मामला ऐसा तो जटिल पांसा था कि विश्वास उन पर कर नहीं पा रहा था; और दांव पर मेरे सपने ही नहीं, रुक्मिणी का भविष्य भी लगा हुआ था। ...चौंकिए मत, भला रुक्मिणी को मुझसे अच्छा वर कहां मिलने वाला था? अब आप ही फैसला कीजिए उस मासूम का भी भविष्य दांव पर लगा हुआ था कि नहीं? ...चलो यह चर्चा फिर कभी कर ली जाएगी, पर अभी तो सोचने वाली बात यह कि जब इतने सपने और इतने भविष्य दांव पर लगे हुए हों तो बात पूरी तरह पक्की कर लेना ही बेहतर था। अत: मैंने अपनी शांति हेतु अपने विश्वासु उद्धव को पकड़ा। उद्धव सेना लेकर कुशस्थली जाने ही वाला था। बस मैंने अच्छे से जंतर-मंतर कर एक तरीके से भैया को सिंहासन पर बिठाने की जवाबदारी उसे सौंप दी।

...उधर आचार्यजी समेत पूरा आश्रम यह खबर सुनते ही मारे खुशी के रेवती को बधाइयां देने टूट पड़ा। इस शानदार कार्य हेतु मुझे तो आचार्यजी से विशेष आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ। दो दिन तो सिर्फ इसी खुशी में आश्रम में जमकर जश्न मनाया गया। और ऐसे ही उत्साहपूर्ण वातावरण में भैया व रेवती कुशस्थली जाने को रवाना भी हो गए। उनके जाने के दूसरे दिन ही मैं व उद्धव भी मथुरा जाने निकल पड़े। कहने की जरूरत नहीं कि हमें भावभीनी बिदाई के साथ-साथ आचार्यजी के आशीर्वाद भी मिले। आश्रम में आए थे मात्र थकान उतारने, और कहने की जरूरत नहीं कि राज्य पाने की उम्मीद के साथ रवाना हुए। सचमुच अब तक मैंने जीवन में जो कुछ भी महत्त्वपूर्ण पाया था, सबके द्वार सांदीपनिजी के आश्रम से ही खुले थे। कह सकता हूँ कि मेरे जीवन में जो कुछ भी अच्छा घट रहा था वह सब उन्हीं के आशीर्वाद का परिणाम था। और उन्हीं के आशीर्वाद की बदौलत इस समय हमारे रथ बिजली की गति से मथुरा की ओर दौड़े चले जा रहे थे। मेरे मन के साथ-साथ रथों को भी पर लग गए थे।क्यों न लगे? उनके मालिक राजा बनने वाले थे; उनके विवाह होने वाले थे; ऐसे में हमारे रथों को हमारा साथ मन की गति से देना ही था। ...उत्साह इतना था कि आप विश्वास नहीं करेंगे दिन-रात यात्रा कर हम चार दिनों में ही मथुरा पहुंच गए थे। अबकी यात्रा में न तो नजारे देखने का मन हो रहा था, ना ही भोजन में व्यर्थ समय बिगाड़ने की इच्छा हो रही थी। ...और मारे उत्साह के रात्रि-विश्राम की तो आवश्यकता ही महसूस नहीं हुईथी।

उधर मथुरा प्रवेश के साथ ही मैं और भी तेजी से सक्रिय हो गया। सीधा नानाजी के पास जा धमका। कुछ देर यहां-वहां की बात कर वहां भी मैं सीधे मुख्य बिंदु पर आ गया। निश्चित ही इस समय मेरे पास सबसे ज्यादा कमी

समय की थी। यह सब तो ठीक पर मेरी मुसीबत यह कि आज तक मैंने किसी से कुछ नहीं मांगा था। अतः आज मांगने में बड़ा संकोच हो रहा था। लेकिन आज संकोच करने का अर्थ था रुक्मिणी और राज्य दोनों से हाथ धो बैठना। अत: मैंने हिम्मत कर नानाजी को कुशस्थली वाली बात पूरे विस्तार से बताई। हां, उन्हें इस बात की गुप्तता बनाये रखने का निवेदन अवश्य किया। उधर वे तो बलराम के राजा बनने के खयाल-मात्र से झूम उठे। मुझे हजार आशीर्वाद दिए। स्वाभाविक तौर पर एक नाना को अपने नाती की प्रगति से ज्यादा खुशऔर क्या कर सकता है? वैसे अब बातचीत बहुत हो चुकी थी; आशीर्वाद भी खूब पा लिए थे, ...पर वह बात करना अब भी बाकी थी जिसके लिए मैं यहां आया हुआ था। सो, आखिर मन कठोर कर मैंने उनसे हजार सैनिकों की सहायता मांग ही ली। ...हालांकि मांगते ही एहसास हो गया कि मांगने से ज्यादा आत्मा का पतन और किसी चीज से नहीं होता। फिर वो मांगना चाहे आस-पास वालों से हो या कुदरत से, कोई फर्क नहीं पड़ता। आज मैं यकीन से कह सकता हूँ कि मनुष्य को हरहाल में व हर परिस्थिति में आत्मनिर्भर होना ही चाहिए। मनुष्य जन्म लेने के बाद किसी के आगे हाथ क्यों फैलाना व किसी का हक क्यों छीनना? खैर, छोड़ो इन बातों को। अभी तो मैं खुद मांग बैठा था और उस बाबत जैसी कि उम्मीद थी, नानाजी ने खुशी-खुशी हजार की जगह दो हजार सैनिक उद्धव को सौंप दिए। हां, वैसे उनकी तनख्वाह, आने-जाने व खाने-पीने का खर्च मैं ही उठा रहा था। यानी एहसान लेना भले ही मेरी मजबूरी थी पर मजबूरी में भी एहसान लेने की सीमा नहीं भूला था। होगा, अभी तो इधर तीन दिनों में ही सेना कूच करने के लिए पूरी तरह से तैयार थी। मैंने बड़ी उम्मीद के साथ उद्धव के नेतृत्व में सेना को कुशस्थली जाने के लिए रवाना किया। हां, जाते-जाते भी मैं उसे भैया को राजसिंहासन पर बिठाने वाली बात याद दिलाना नहीं भूला था। क्या करूं, रुक्मिणी का सपना साकार होने के सामने मुझे और कुछ दिख ही नहीं रहा था।

...तो मत दिखने दो। अभी तो उद्धव रवाना हो गया और उसके रवाना होते ही मैंने राहत की सांस ली। इसके साथ ही ना सिर्फ इस बाबत मेरा अंतिम कर्म पूर्ण हुआ, बल्कि मैं अपने जीवन के सबसे बड़े सपने रुक्मिणी के अति निकट भी आ गया। बस मन तो दिन-रात रुक्मिणी के सपनों में डूबना चाहता था, डूबने का माहौल भी था व मौसम भी; पर क्या बताऊं खुलकर डूब नहीं पा रहा था। सच कहूं तो उलटा मन कुछ उचाट रहने लगा था। भले ही चारों ओर से खुशखबरी आने का सिलसिला चल चुका था, पर मन भीतर-ही-भीतर कहीं-न-कहीं मुझे कोस रहा था। और आपसे साफ-साफ कहूं तो दरअसल मुझे नानाजी से सहायता मांगना अच्छा नहीं लगा था। हालांकि नानाजी से सैन्य सहायता मांगना समय की मांग थी, और 'समय' का सम्मान तो मुझे करना ही था; फिर भी दिल इस बात को गंवारा नहीं कर रहा था। ...जबकि देखा जाए तो मथुरा के लिए किए गए कार्यों व नाना के प्यारे नाती होने के नाते यह मेरा अधिकार भी था, फिर भी न जाने क्यूं मांगना मुझे बिल्कुल नहीं जंचा था। सोचो; यदि समय की मांग पर भी मुझे मांगना अच्छा नहीं लग रहा था, तो अकारण मांगते रहना कितना आत्मपतन करता होगा? ...खासकर कुदरत से मांगने वालों की तो खैर नहीं। क्योंकि कुदरत ने अपनी ओर से मनुष्य को वह सब दिया है जो देने योग्य है। अत: ध्यान रहे, कुदरत को तो बस धन्यवाद दिया जा सकता है, ...सिर्फ धन्यवाद।

खैर छोड़ो! अभी तो जल्द ही मैंने स्वयं को इससे भी उबार लिया। उधर कुशस्थली में फतह बाबत तो मैं पूरी तरह वैसे ही निश्चिंत था। चंडक, भैया व मथुरा की सेना मिलकर पुण्यजन का तीया-पांचा बुला देंगे, यह तय था। सो, उस बाबत सोचने को अब कुछ नहीं बचा था। अब रहे रुक्मिणी के सपने तो वह तो रात को देखने की चीज थी। ...तो फिर दिन का क्या? यह विचार आते ही याद आया कि अब मैं यादव-प्रमुख हूँ व अपना घर बसाने के अलावा मथुरा की चिंता करना व उसका उद्धार करना भी मेरे कर्तव्य में आता है। बस मैंने अपना पूरा ध्यान सब ओर से हटाकर मथुरा की वर्तमान परिस्थिति पर लगा दिया। मथुरा की स्थिति वैसी-की-वैसी थी। राजकोष पूरी तरह खाली था और अधिकांश मथुरावासी भुखमरी व बीमारी से जूझ रहे थे। साथ ही यादवों के आपसी झगड़ों पर भी कोई लगाम नहीं लग पाई थी। मेरे यादव-प्रमुख बनने का भी उनपर कोई असर नहीं हुआ था। उधर जरासंध व सत्राजित के चमचों ने भी अब तक पूरी तरह से हथियार नहीं डाले थे। उन्हें जब भी मौका मिलता वे मेरे विरुद्ध दुष्प्रचार करने से बाज नहीं आ रहे थे। स्पष्ट था, उन्हें अब भी मैं एक आंख नहीं सुहा रहा था। ...वैसे यह उनकी समस्या थी, मेरी समस्या तो मथुरा ही थी। एक कर्तव्यनिष्ठ यादव-प्रमुख होने के नाते मैं हरहाल में यहां का जीवन-स्तर सुधारना चाहता था। काफी दिनों के प्रयास व सोच-विचार के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मथुरा को समस्याओं से जूझने के लिए धन की तात्कालिक आवश्यकता है। साथ ही यह भी तय था कि यदि तात्कालिक कोई उपाय न किया गया तो मथुरा व मथुरावासी दोनों खत्म समझो। क्योंकि यहां तो धीरे-धीरे परिस्थिति बद-से-बदतर ही होती नजर आ रही थी।

कुल-मिलाकर सौ बातों की एक बात यह कि मथुरा की प्रथम व एकमात्र आवश्यकता धन की थी। और धन

कई यादवों के पास आवश्यकता से अधिक था। वे और कुछ नहीं तो इसे व्यवसाय फैलाने में लगा ही सकते हैं। साथ ही चाहें तो राजकोष में अपनी शर्तों पर जमा भी करवा सकते हैं। यही क्यों, सत्राजित के पास तो कुदरत के वरदान स्वरूप ''स्यमंतक मणि'' भी थी। लेकिन मथुरा का दुर्भाग्य यह था कि सत्राजित व अन्य संभ्रांत-यादव मथुरा या राजमहल की सहायता के लिए न कभी आगे आए थे, ना ही आएंगे, ऐसा लग रहा था। यदि यहां के शासक कंस ...या जिम्मेदार यादव-संभ्रांतों ने कभी भी दिल से मथुरा के उद्धार में रस लिया होता तो आज मथुरा की ऐसी दयनीय स्थिति न होती। यह ज्यादा दु:ख की बात इसलिए है कि इसके लिए उन्हें कुछ अतिरिक्त नहीं करना था, क्योंकि यह तो सीधा-सीधा उनके कर्तव्य में आता था। खैर, छोड़ो भूतकाल की बातों को। इस समय यादव-प्रमुख मैं था, और मैं अपने कर्तव्यों के प्रति पूरी तरह सजग था। मेरा स्पष्ट मानना था कि इस विकट परिस्थिति में इन सभी को मथुरा की मदद करनी ही चाहिए। यूं भी कायदे से कब किसको क्या करना है इसका फैसला यादव-प्रमुख को ही करना होता था। ...बस इन सब विचारों के चलते मेरे मन में सत्राजित के प्रति क्रोध उभरने लगा। एक तो वह अपना राज्य छोड़कर अकारण मथुरा के जीवन में जहर घोलने आ टपका था, दूसरा मेरा चिंतन मुझे कुरेद-कुरेद कर यह सवाल भी कर ही रहा था कि कुदरत की देन ''स्यमंतक-मणि'' पर उसका एकाधिकार कैसे हो सकता है? मणि सार्वजनिक संपत्ति है, और उसे राजकीय कोष में जमा हो ही जाना चाहिए। ...यदि वाकई ऐसा हो जाए तो मथुरा की कई समस्याएं अपने आप समाप्त हो जाए।

हालांकि यह सब हवाई ताव-बाजियां थी। जमीनी हकीकत से भी मैं वाकिफ ही था। मैं जानता ही था कि मेरा यह विचार एक हसीन ख्याल से ज्यादा कुछ नहीं। जो राजमहल का शत्रु हो उसके राजमहल की सहायता करने का प्रश्न ही कहां उठता था? ...तो क्या मैं हार मान लूं? कतई नहीं... राजी नहीं होंगे तो राजी कर लिया जाएगा। राजी-खुशी नहीं तो जबरदस्ती। आखिर सवाल हजारों मनुष्यों के अस्तित्व का है। हालात इस कदर बिगड़ गए हैं कि हो सकता है राजमहल अगले माह से किसी भी राज-कर्मचारी को तनख्वाह ही न दे पाए। यानी कुल-मिलाकर समस्या ना सिर्फ जटील थी बल्कि तात्कालिक हल भी मांगती थी। अत: समस्या की जटिलता देखते हुए मैंने इस बाबत काफी चिंतन किया। मैं कुदरत का एक नियम अच्छे से जानता था कि समस्या कितनी ही बड़ी व गहरी क्यों न हो, फिर भी उसको सुलझाने का कोई-न-कोई मार्ग अवश्य होता है। समस्या रूपी सारे ताले खुलते ही हैं बशर्ते ठीक चाबी घुमा दी जाए। बस कुछ दिनों के चिंतन के बाद ही मुझे भी एक सटीक चाबी हाथ लग गई। योजना इतनी खतरनाक थी कि मेरे जैसे खुराफाती के अलावा किसी के दिमाग में आ ही नहीं सकती थी। होगा, अभी तो मैं तुरंत फुदकता हुआ नानाजी के पास जा पहुंचा। अब राज्य की समस्याएं बगैर राजा की सहायता के तो सुलझायी नहीं जा सकती थीं। उधर नानाजी तो ऐसे बैठे थे, मानो सबकुछ खत्म हो चुका है। स्पष्ट था, उन्होंने हथियार डाल दिए थे। वैसे समस्या हथियार डालने वाली ही थी, यह तो मेरी जुझारू क्षमता थी जो कभी हथियार डालने को राजी नहीं होती थी। और अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए मेरे पास एक योजना भी तैयार थी। निश्चित ही ऐसे में मेरा ध्यान नानाजी के दुखियारे चेहरे की बजाय योजना के अमलीकरण पर ज्यादा था। बस मैंने नानाजी से कहकर मथुरा के सभी सम्माननीय यादवों की एक सभा राजमहल में ही बुलवाई। उस सभा में सत्राजित, सात्यकि, अक्रूर-चाचा, भद्रक, पिताजी जैसे सभी प्रमुख यादवों को आमंत्रित किया जाना था।

खैर! नानाजी का क्या था, मेरा कहना था और उन्हें कर देना था। वे सभा बुलवाने की तैयारियों में भिड गए और मैं आगे के कार्य निपटाने निकल पड़ा। हालांकि सच कहूं तो इस भयानक योजना का कार्यान्वयन मेरे ही बस का था। और कोई तो इसकी कल्पना तक नहीं कर सकता था। साधारण मनुष्य तो सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म के चक्कर में उलझ कर ही रह जाता। लेकिन मैं तो इरादे का पक्का था। पक्का संकल्पवान था। सर्वहित में जो होना चाहिए, होना ही चाहिए। साम, दाम, दंड, भेद कोई फर्क नहीं पड़ता। असली प्रश्न है, कार्य-सिद्धि का, ...बस! और सिर्फ योजना की बात करूं तो वह अपनेआप में इतनी खुराफाती थी कि इस बात को लेकर मैं स्वयं पर आश्चर्यचकित था। साफ कहूं तो मैं दिन-ब-दिन इतना खतरनाक होता जा रहा था कि कहीं एक दिन कुदरत को ही भारी न पड़ जाऊं? और सबूत के तौर पर मनुष्य की सोचने की क्षमता जहां समाप्त हो जाती हो उससे भी हजारों कोस दूर की यह योजना बना डाली थी। योजना ऐसी थी कि उस पर दोबारा सोचना, समझना छोड़ो, किसी से चर्चा तक करना संभव नहीं था। यदि यह योजना साकार हो गई तो फिर मैं इतना खतरनाक हो जाऊंगा कि भविष्य में किसी के लिए भी मुझसे निपटना असंभव हो जाएगा। मुझे तो समझ ही नहीं आ रहा था कि मैं अपने पर गर्व करूं, आश्चर्य करूं, अपने को कोसूं या स्वयं से डरूं!

खैर, चाहे जो करूं पर अभी तो योजना के अमलीकरण पर ध्यान दूं। सो, अपनी योजनानुसार सभा वाले दिन प्रात:काल से ही मैं सत्राजित के घर के सामने एक पेड़ की आड़ में जाकर छिप गया। और वहीं खड़े-खड़े सत्राजित

के घर से बाहर निकलने का इन्तजार करने लगा। घंटों के इन्तजार के बाद करीब दोपहर को सत्राजित अपने भवन से बाहर निकला। उसके घर से निकलते ही तुरंत मैंने उसके घर का दरवाजा खटखटाया। जैसा कि अपेक्षित था, द्वार सत्यभामा ने ही खोला।पूरी आत्मीयता से उसने मेरा स्वागत भी किया। कहने की जरूरत नहीं कि मुझे देखते ही प्रसन्नता उसके पूरे अस्तित्व पर छा गई थी। इस छोटी-सी उम्र में भी उसका मेरे प्रति समर्पण काबिले-तारीफ था। और सच कहूं तो आज वह समर्पण ही तो भुनाने आया हुआ था।

...हालांकि आज जैसी खूबसूरत वह पहले कभी नहीं लगी थी। आकर्षित तो मैं भी हुआ जा रहा था, ...लेकिन वक्त का तकाजा कुछ और था। आज इन सब बातों के लिए समय ही कहां था। अन्य परिस्थिति होती तो निश्चित ही मेरा ध्यान सत्यभामा पर ही लग गया होता। परंतु यह कैसे भूल जाता कि आज मैं एक खतरनाक योजना को अन्जाम देने आया हुआ हूँ, और सत्यभामा ही मेरी उस योजना का प्रमुख मोहरा है। अत: इससे पहले कि यह मुलाकात कोई दूसरा रंग पकड़ ले, मैंने सत्यभामा से सीधा सत्राजित के बाबत पूछा। ...अब वे तो मेरी आंखों के सामने जा चुके थे। सो उस बेचारी ने अंदर आने का निमंत्रण देते-देते ही कहा कि वे घर पर नहीं है। ...कोई बात नहीं, कहता हुआ मैं निमंत्रण स्वीकार अंदर जा पहुंचा। कुछ देर यहां-वहां की बातें चलती रही, पर आज बात में मन कहां था? ...फिर भी कलाकार इतना कि सत्यभामा पर अपनी आत्मीयता लुटाये ही हुए था। उसे आंखों से भी बहुत कुछ कह ही रहा था। आज उसका मेरे प्रति आकर्षण व समर्पण ही मेरी इस योजना को साकार कर सकता था। कह सकता हूँ कि मेरे चन्द प्रयासों से ही उसपर दीवानगी पूरी तरह छा गई थी। वह तो छानी ही थी, सामने प्रयास करने वाला भी तो कृष्ण था। खैर, स्वयं पर गर्व करना छोड़ काम पे लगूं। सो, माहौल तो जम ही चुका था, बस मैंने बड़े सहजतापूर्वक उससे पिताजी का ''पूजा-कक्ष'' दिखाने का निवेदन किया। सत्यभामा भी कमाल थी। उसने मेरा निवेदन भी किसी आज्ञा से कम नहीं लिया। वह तुरंत मुझे पूजा-कक्ष ले गई। इसके साथ ही मेरी योजना ने सफलता के पायदान चूमना शुरू कर दिए। मुझे सत्यभामा पर पूरा यकीन था कि वह मेरी किसी बात पर न विचार करेगी न बहस। अरे भाई तभी तो मैंने अपनी पूरी योजना उसके भोले समर्पण के इर्द-गिर्द बनाई थी। और कहीं यह कम न पड़ जाए, यही सोचकर उस पर आज दीवानगी का पक्का रंग भी चढ़ाया था। ...फिर मन-माफिक तो होना ही था।

खैर! अभी यह समय खुश होने का भी नहीं था। अभी तो मैं उसके पीछे-पीछे पूजा-कक्ष की तरफ बढ़ा चला जा रहा था। आज आया भी मैं ऐसा भेष बनाकर था कि कोई ग्वाला ही नजर आता था। रोज के मिलने-जुलने वाले को छोड़ किसी के भी लिए मेरे आज के स्वरूप में मुझे पहचानना आसान नहीं था। घर में घुसा भी पूरी बाल्टी दूध लेकर ही था। क्या करूं, योजना की गुप्तता बनाए रखने हेतु ये सावधानियां बरतनी आवश्यक थीं। छोड़ो, अभी तो मैं पूजा-कक्ष यानी मेरी मंजिल के सामने खड़ा था। अचानक मेरा हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। क्या करूं, योजना ही कुछ ऐसी थी। फिर भी किसी तरह मैंने अपनी सहजता टिकाये रखते हुए कक्ष में प्रवेश किया, और प्रवेश करते ही मैंने सत्यभामा से दही की मांग की। वह दौड़कर मेरे लिए दही लाने गई। मैंने तत्क्षण कक्ष में चारों ओर ''स्यमंतक-मणि'' की खोजबीन प्रारंभ कर दी। मुझे ज्यादा खोज नहीं करनी पड़ी। मणि क्या था! सूर्य का छोटा स्वरूप ही था। अति सुंदर, तेज रोशनी से ओत-प्रोत। अमावस के अंधेरों को भी उजाले में बदल दे इतनी रोशनी मणि स्वयं में समाए हुए था। मैं तो मणि को देखते ही रह गया। उसकी भव्यता ने मेरी आंखें चौंधिया दी। ...जी तो करता था मणि को देखता रहूं...देखता रहूं, पर समय की नजाकत देखते हुए मैंने झट से मणि अपनी धोती की गांठ में पांसाया। तत्पश्चात् कक्ष में ऐसे टहलने लगा जैसे कुछ हुआ ही न हो। कुछ ही देर में सत्यभामा दही लेकर आ गई। मैं झट से दही चट कर गया। पूजा-कक्ष की भव्यता की तारीफ की, ऐसा शानदार कक्ष दिखाने हेतु उसका आभार माना। और फिर बिना अन्य कुछ सोचे जल्द ही वापस आने का वादा कर वहां से चलता बना। हां, जाते-जाते मैंने सत्यभामा से वचन अवश्य लिया कि पिताजी के लाख पूछने पर भी वह उनसे मेरे आने की या 'पूजा-कक्ष' दिखाने वाली बात न कहे।

इसका स्पष्टीकरण भी बड़ा ही साफ था। अकारण मेरे और सत्राजित के बीच कुछ गलतफहमी बढ़े, यह मेरे साथ-साथ सत्यभामा भी नहीं चाहती थी। हालांकि फिर भी यहीं आकर सत्यभामा के समर्पण व मेरे विश्वास की असली परीक्षा थी। सबकुछ ठीक से तो निपट गया था, परंतु कहीं ऐन वक्त पर सत्यभामा के मुंह से सत्राजित के सामने कुछ निकल गया तो सब चौपट हो जाएगा। मैं ना सिर्फ मणि-चोर कहलाऊंगा, बल्कि हमेशा के लिए मथुरा से भगा भी दिया जाऊंगा। ऊपर से आर्यावर्त में जो इज्जत कमायी थी, वह भी धूल में मिल जाएगी, सो अलग। यानी एक सत्यभामा पर विश्वास कर मैंने जोखिम वाकई बहुत बड़ी ली थी। हालांकि मुझे यकीन था कि ऐसा कुछ होने वाला नहीं। एकबार मुझे वचन देने के बाद वह सत्राजित या अन्य किसी से कभी कुछ नहीं कहेगी। और इस बाबत उसकी तारीफ करनी ही होगी कि चन्द मुलाकातों में ही उसने मेरे भीतर अपने लिए इतना गजब का विश्वास जगाया था कि मैं सिर्फ एक उसके भरोसे इतना बड़ा दांव खेल गया था। अब आगे जो हो, परंतु मेरे भीतर इतना विश्वास

जगा पाना अपनेआप में सत्यभामा के प्रेम व समर्पण की पराकाष्ठा ही कही जाएगी। मुझे तो ऐसे प्रेम व समर्पण का कायल होना ही था, और हां...उसका फायदा भी उठाना ही था। वैसे मणि हासिल हो गई थी। सत्यभामा ने चुप्पी साधे रखने का तगड़ा वचन भी दे ही दिया था। अब इस रणछोड़ के पास यहां से चंपत होने के अलावा कर्म क्या बचा था? और फिर जो हुआ और जो होगा उस बाबत सोचने का अभी वक्त ही कहां था? अभी तो जो करना है उसपर ध्यान दिया जाना ही श्रेष्ठ था। सो, चुपचाप मैं दौड़ा-दौड़ा घर पहुंचा। जी हां, सावधानीवश आज रथ लेकर भी नहीं गया था। अब ग्वाले तो दूध-दही देने पैदल ही आते हैं। सो हांफता हुआ घर पहुंच गया था। फटाफट मणि को एक सुरक्षित स्थान पर छिपाया, और फिर तुरंत तैयार होकर अपनी ही बुलायी सभा में शामिल होने राजमहल पहुंच गया। पिताजी, सात्यकि, अक्रूर-चाचा समेत कई यादव पहले ही वहां आ चुके थे। कुछ ही देर में सत्राजित व अन्य ''यादव-प्रमुख'' भी आ गए। मेरी हालत अजीब थी। जो कार्य करके आ रहा था उसके बाद सत्राजित के सामने सामान्य बने रहना आसान नहीं था। लेकिन मैं तो नौटंकियों का सरदार था, पलभर में मैं ना सिर्फ सामान्य हो गया बल्कि तहेदिल से सत्राजित का स्वागत भी किया। तभी तो कह रहा हूँ कि ''कन्हैया'' दिन-ब-दिन बड़ा खतरनाक होता जा रहा था। अब इसका श्रेय मां यशोदा से बोले गए झूठ व की गई नौटंकियों के अनुभव को दूं या मथुरा में सीखी कूटनीति को दूं? श्रेय चाहे जिसे दूं, पर परिणाम आपके सामने है।

खैर! वापस सभा पर लौट आऊं तो अब मैं यादव-प्रमुख था। मुझे किसी से किसी बात की इजाजत तो लेनी नहीं थी। अत: मैंने बिना किसी औपचारिकता के अपने ही संबोधन से सभा का प्रारंभ कर दिया। वैसे भी ''स्यमंतक-मणि'' प्राप्त करने के बाद मेरा आत्मविश्वास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। क्यों न पहुंचता? धन तो वो जड़ी-बूटी है जिसने बड़े-बड़े मूर्खों को बुद्धिमान बना दिया है। इसके भरोसे तो न जाने कितने ही नपुंसक बहादुरी का खिताब लिए बैठे हैं। तो भला यह मुझ जैसे को क्या-से-क्या क्यों नहीं बना सकता? बस उसी आत्मविश्वास से मैंने अपना संबोधन प्रारंभ करते हुए कहा- मैं महाराज की ओर से आप सभी यादव-प्रमुखों का स्वागत करता हूँ। जैसा कि आप सभी जानते हैं कि मथुरा का 'राजकीय-कोष' पूरी तरह से खाली हो चुका है। और कोई भी राज्य बिना कोष के नहीं चलाया जा सकता, यह बात आप लोगों से बेहतर कौन समझ सकता है?

...साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जब भी हम पर संकट आया है, राजमहल ने हमेशा हमारा साथ दिया है। और आज जब राजमहल पर मुसीबत आन खड़ी हुई है तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम राजमहल के साथ खड़े रहें। अत: मेरा सोचना है कि मथुरा के जिम्मेदार संभ्रांत होने के नाते क्यों न हम अपनी संपत्ति का आधा हिस्सा राजकीय-कोष में जमा करवा दें, और बदले में जब चाहें राजमहल से कोई कार्य करवा लें। मैं नहीं सोचता कि हममें से किसी को भी इस पर कोई एतराज होना चाहिए।

इधर इतना कहकर मैं तो बैठ गया पर उधर यह सुनते ही सभी यादव-प्रमुख स्तब्ध रह गए। हालांकि कोई बोला कुछ नहीं। क्या बोलते, झटका ही इतना बड़ा दिया था कि सम्भलने में समय तो लगना ही था। लेकिन सत्राजित से लंबे समय चुप नहीं रहा गया। यूं भी सबसे ज्यादा संपत्ति उसी के पास थी, सो वह कैसे खामोश रह सकता था? फलस्वरूप तुरंत अपने स्थान पर खड़े होकर क्रोधित होता हुआ बोला- मथुरा की प्रमुख समस्या धन नहीं, तुम हो। न तुम मथुरा आते, न मथुरा को जरासंध के कोप का भाजन बनना पड़ता; ...और ना ही मथुरा की यह दशा होती। बेहतर है तुम मथुरा छोड़ दो, कम-से-कम इस बहाने मथुरा का सबसे बड़ा संकट जरासंध तो हमेशा के लिए टल जाएगा। और जहां तक निजी संपत्ति का सवाल है तो वह निजी लाख सही पर है वह हमारी अपनी मेहनत की। अतः निजी-संपत्ति को बिना वजह के राजकीय-कोष में जमा करवाने का कोई औचित्य नहीं है। हां, तुम्हें यह शुभ-विचार आया है, और तुम्हें सारी संपत्ति भी भेंट स्वरूप ही मिली है, ...अत: तुम्हें अपनी संपत्ति अवश्य राजकोष में जमा करवा देनी चाहिए।

...लो, यह तो बात ही उलटा हो गई। ये लोग तो घूम-फिरकर मेरी संपत्ति जब्त करने पर आ गए। ऐसे में मेरे खामोश बैठने का सवाल ही नहीं उठता था। बस मैंने भी अपना आपा खो दिया। भला मैं अपनी संपत्ति पर हमला कैसे बर्दाश्त कर सकता था? माना सारी संपत्ति मैंने भेंट पा-पाकर ही अर्जित की थी, पर यह क्यों भूलते हैं कि सारी भेंट मेरे नि:स्वार्थ पुरुषार्थ का परिणाम थी। ...और उस पर मेरा समुचित अधिकार था। बस मैं भी क्रोध में चिल्ला पड़ा - जरासंध की क्या बात करते हो, मैंने हमेशा मथुरा को जरासंध से बचाया है। ...और जहां तक संपत्ति की बात है, मैं भेंट में मिली अपनी सारी संपत्ति मथुरा के राजकीय-कोष में जमा करवाने को तैयार हूँ, बशर्ते यदि तुम अपनी ''स्यमंतक-मणि'' व उससे प्राप्त सोना राजकीय-कोष में जमा करने की तैयारी दिखाओ। वैसे मणि तो तुम चाहो-न-चाहो तुम्हें राजकोष में जमा करानी ही होगी, क्योंकि वह मेरी संपत्ति की तरह कोई तुम्हारी मेहनत का परिणाम तो है नहीं, वह तो तुम्हें अनायास प्राप्त हुई कुदरत की एक भेंट है? [1] ।

बस स्यमंतक-मणि जब्त करने की बात क्या कही, अब आपे के बाहर होने की बारी सत्राजित की थी। यही तो मैं चाहता था। बात मुझसे हटे व फिर सत्राजित पर आ टिके। सबकी निगाहें मेरी संपत्ति से हटकर मणि पर गड़ जाए। और ऐसा होते ही उसने मारे क्रोध के तलवार निकाल ली। फिर जाने क्या हुआ कि पागलों की तरह चिल्लाते हुए दरबार से ही भाग गया - यह मणि मेरी है... मेरी ही रहेगी। ...उसकी तरफ किसी ने आंख उठाकर भी देखा तो उसकी आंखें फोड़ दूंगा। ...मैं सत्राजित का दर्द समझ रहा था। लेकिन अभी तो उसको इससे भी बड़ा दर्द सहना था। इधर जैसी की उम्मीद थी, सत्राजित के जाते ही यादव-सभा बगैर किसी निष्कर्ष के समाप्त हो गई। सभा भले ही समाप्त हुई थी, पर मेरी बात अभी समाप्त नहीं हुई थी। मेरा अब भी यह दृढ़ विश्वास था कि इतना बहुमूल्य मणि और कुदरत की कृपा राष्ट्रीय संपत्ति ही होनी चाहिए। हो न हो, मैं इसकी ज्यादा चिंता क्यों करूं? वैसे भी मेरी योजना तो दो-तरफा ही थी। यदि सत्राजित राजी-खुशी मणि देने को तैयार हो जाता है तो मणि वापस उसके पूजा कक्ष में पहुंचा देता। और अगर वह मणि राजमहल को नहीं सौंपता है तो उसे मैं हमेशा के लिए पहले ही चुरा चुका था। यानी, आज के बाद यह मणि हर हाल में राष्ट्रीय संपत्ति रहेगी यह मैं पहले ही निश्चित कर चुका था। देखी मेरी चाल, उससे न तो कोई बचा है, न बच सकता है।

खैर! कोई बचे न बचे, इस समय नानाजी को बचाना जरूरी हो गया था। वे सत्राजित का रंग व दरबार में हुई गहमागहमी से घबरा गए थे। सो, मैं सबके जाते ही उन्हें अपने कक्ष में ले गया। मैं जानता था आज छोटे-मोटे आश्वासनों से काम चलने वाला नहीं, तो तगड़ा आश्वासन देने में मेरा क्या जाता था? बस तगड़ा आश्वासन पाते ही वे काफी हद तक सामान्य हो गए। अब उन्हें इससे ज्यादा सामान्य करने हेतु तुरत-फुरत में मणि तो राजमहल को नहीं सौंपी जा सकती थी। सीधी बात है जवाब क्या देता? कहां से आई? कैसे आई? नहीं...भई नहीं। इस समय मणि-चोर भी मैं ही था व मणि का मालिक भी मैं। और मैं, जिसने अपना पूरा जीवन ही सर्वहित पे निछावर कर रखा था, इस मणि का भी योग्य समय पर सर्वहित में उपयोग कर ही लूंगा। ऐसे में कुछ समय के लिए मणि मेरे पास रखनी भी पड़े तो क्या डर...? सो, उन्हें जितना सामान्य कर सकता था कर के उनसे इजाजत ले वहां से निकल पड़ा। निकला अकेला रथ लेकर था व जा यमुना किनारे रहा था। संध्या होने को थी और मैं भावों के हजार उतार-चढ़ावों में खेल रहा था। अब मेरी हालत चाहे जो थी, पर आपने देखा कि नहीं कि मेरी योजना कितनी संगीन थी। उसमें चित भी मेरी थी व पट भी मेरी। खैर, आपकी आप जानें पर मेरी कहूं तो मुझे तो रह-रहकर अपनी इस खतरनाक योजना व सत्राजित के हाल दोनों पर हंसी आ रही थी। निश्चित ही सत्राजित ने तुरंत घर जाकर सबसे पहले मणि को और सुरक्षित जगह छिपाने का प्रयत्न किया होगा। लेकिन यह क्या... मणि गायब। बड़ा गहरा सदमा लगा होगा उस बेचारे को। काफी देर तक उसने यहां-वहां मणि खोजने का प्रयास भी किया होगा। आखिर में सत्यभामा से पूछताछ भी की होगी। जब सत्यभामा ने उसे बताया होगा कि घर पर कोई नहीं आया था, तो सत्राजित जरूर पागल हो गया होगा। उसको समझ ही नहीं आ रहा होगा कि मणि को जमीन खा गई या आसमान निगल गया। मुझे तो पागलों की तरह हड़बड़ाता सत्राजित स्पष्ट दिखाई दे रहा था। अब आप ही बताइए, उसका यह हाल सोच किसे हंसी नहीं आएगी?

...तभी अचानक मेरे रथ की गति धीमी पड़ गई। मैं पूरी तरह गंभीर हो गया। कहीं सत्यभामा ने उसे सबकुछ बता दिया तो? मेरा मोहरा ही पिट गया तो...? तो...तो कृष्ण महाराज एक ही झटके में सारी हंसी निकल जाएगी। क्षणभर में गधे पर बिठाकर मथुरा से निकाल दिए जाओगे व ऊपर से संपत्ति जब्त कर ली जाएगी सो अलग। यह विचार आते ही मेरी तो हवा ही निकल गई। निश्चित ही अगले चंद घंटे सत्राजित पर ही नहीं, मुझपर भी भारी थे। यमुना किनारे तो पहुंच गया था पर चैन नहीं मिल रहा था। क्या कहूं...हर आहट पर ऐसा लगता था कि राजमहल के सिपाहियों का बुलावा आ गया। यह विचार आते ही मैंने रथ दूर, और दूर दौड़ा दिया। और कुछ नहीं तो ऐसा कुछ हो भी तो भी उन्हें ढूंढ़ने में समय लगे। वैसे रात्रि चढ़ते-चढ़ते मेरा काफी कुछ विश्वास लौट आया था। क्योंकि गड़बड़ होनी होती तो कबकी हो चुकी होती। यूं भी मुझे सत्यभामा के समर्पण पर पूर्ण विश्वास था। फिर भी सवाल मणि का ही नहीं, बाप-बेटी का भी था, यानी ...कभी भी कुछ भी हो सकता था। फलस्वरूप देर रात को भी दूर-दूर तक रथ दौड़ाता रहा। घर भी बड़ा सम्भल कर ही गया। हां, जब घर के आसपास भी राजमहल के कोई सिपाही नहीं दिखे तो मैं निश्चिंत हो गया। फिर तो नींद आ जाए इस हेतु डटकर भोजन भी किया। लेकिन बावजूद इसके एक अनजान डर ने करवटें बदल-बदल कर रात गुजारने पर मजबूर कर ही दिया था। हालांकि सुबह होते-होते मेरा डर हवा हो गया। अब कोई खतरा नहीं था। मेरे विश्वास व सत्यभामा के समर्पण की जीत हुई थी। मेरे सर्वहित की भावना ने विजय पाई थी। ...अब मैं पक्के में मणि का मालिक हो गया था।

मैं मणि का मालिक अवश्य हो गया था पर इस महत्वपूर्ण कर्म में मुझसे कहीं ज्यादा सत्यभामा का योगदान

था। मैं आश्चर्यचकित था कि चन्द मुलाकातों में ही कोई कैसे किसी के प्रति इस कदर समर्पित हो सकता है? लेकिन यह सोचते ही फिर एक सवाल आ खड़ा हुआ। अब इसका श्रेय सत्यभामा के भोलपन को दूं या मेरे चुंबकीय व्यक्तित्व को। ...तुम कहां बीच में टांग अड़ा रहे हो कन्हैया? इसका पूरा श्रेय सिर्फ सत्यभामा को जाता है। लो...दे दिया। हट गए बीच में से। चलो इस सफलता का पूरा श्रेय तो सत्यभामा को दे दिया, लेकिन तत्क्षण एक दूसरे सवाल ने दस्तक दी। इस समय सत्राजित पर जो बीत रही है उसकी जिम्मेदारी किसको दूं। निश्चित ही उसकी जिम्मेदारी तो पूरी की पूरी मुझे ही उठानी रही। इस विचार के साथ ही बस मेरा ध्यान एकबार फिर सत्राजित पर जा टिका। सच, मैंने उसे बड़ी मुसीबत में डाल दिया था। क्योंकि उसकी सूचना के मुताबिक उसके घर से निकलने व वापस लौटने तक घर पर कोई नहीं आया था। ऐसे में वह माथा पटक-पटक कर सोच रहा होगा कि कक्ष में पड़ी मणि को जमीन निगल गई या आसमान खा गया। अब जब घर पर कोई आया ही नहीं तो इल्जाम किस पर लगाए व शंका किस पर करे? ...उससे भी ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति तो यह थी कि मणि चोरी हो जाने के बावजूद वह किसी से मणि-चोरी के बाबत चर्चा भी नहीं कर सकता था। उसके दो कारण थे, एक तो कोई उसकी बात पर विश्वास नहीं करता, कहता कि कहीं फिर से राजमहल मणि न मांग ले इस डर से वह मणि-चोरी की कहानी सुना रहा है। दूसरा, सत्राजित के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ भी नहीं था कि सब उसका इतना सम्मान करे। उसका जो कुछ भी वर्चस्व था वह मणि के ही कारण था। यदि वह कह दे कि मणि अब उसके पास नहीं है; तो हो सकता है वह अपना सम्मान ही खो बैठे।

कुल-मिलाकर सत्राजित को मैंने एक पक्की योजना के तहत गहरी मुसीबत में डाल दिया था। उसको अपनी हालत पर रोना भी काफी आ रहा होगा, लेकिन निश्चित ही वह खुलकर रो भी नहीं पा रहा होगा। यानी रोना भी उसे एकान्त में ही पड़ रहा होगा; वो भी कोने में छिपकर। कहीं कोई देख न ले; क्योंकि किसी से क्या कहे...वह क्यों रो रहा है? तभी तो कहता हूँ, मुझसे मत टकराओ। एकबार कालिया-नाग के डंसने का इलाज तो हो सकता है, परंतु मेरे काटने का कोई इलाज नहीं। ...कितनी शान से बोला था, मणि कतई नहीं दूंगा। किसी ने मणि की तरफ देखा भी... तो आंख फोड़ दूंगा। लो मणि चली भी गई। आंख फोड़ना तो दूर शिकायत तक करने की स्थिति में नहीं रहा। दूसरे की छोड़, अब अपनी आंख फोड़कर बैठ जा चुपचाप घर पर... मेरे सोचने के अंदाज से ही आप समझ गए होंगे कि मैं अपनी चाल व योजना दोनों से कितना खुश था। जी तो करता था कि दिल खोलकर अपनी ही पीठ थपथपाऊं। सच, आज की सुबह मेरे जीवन की सबसे हसीन सुबहों में से एक थी। एक तो सबसे खतरनाक योजना को अंजाम देकर साबुत निकल गया था, तो दूसरा सत्यभामा के रूप में समर्पण की मूरत भी पाई थी। वैसे तो मदराने का एक और कारण मौजूद था, मणि पाते ही मैं मथुरा के ही नहीं, अब आर्यावर्त के चन्द प्रमुख श्रीमंतों में शामिल हो गया था। हालांकि ये सारी बातें जितनी खुशी दे रही थी, उतना ही जवाबदारी का एहसास भी करा रही थी। एक तरफ जहां सत्यभामा के प्रति मेरा कर्तव्य जता रही थी, तो वहीं दूसरी तरफ "मणि" का जल्द-से-जल्द सर्वहित में उपयोग कर मथुरा का उद्धार करने की प्रेरणा भी दे रही थी। वैसे इस बाबत मैं पूरी तरह निश्चिंत था, क्योंकि यह सब तो मैं बगैर मणि के भी करता आया था व करता रहूंगा।

अब जब सत्राजित की बात चल ही गई है तो उसका ताजा हाल भी बता दूं। उस बेचारे की हालत तो यह थी कि मारे सदमे के तीन-चार रोज तो वह घर से बाहर ही नहीं निकला। उसकी बातों में अब वह पुराना अहंकार भी नहीं बचा था। यही नहीं, अचानक मेरे प्रति उसका व्यवहार भी काफी सौहार्द्रपूर्ण हो चुका था। हालांकि यह खतरे की बात थी। उसका सौहार्द्रपूर्ण व्यहवार इस बात का सबूत था कि कहीं-न-कहीं गहरे में उसे मुझपर शंका है। अब है तो हुआ करे। सिर्फ शंका के सहारे वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता था; उल्टा खुद मन-ही-मन जलता रहेगा। ...वैसे इस शंका के चलते इन दिनों उसमें एक बड़ा अजीब परिवर्तन भी आया था। अब वह किसी-न-किसी बहाने पिताजी से मिलने घर आने-जाने लगा था। उसका यह बदला हुआ स्वरूप व व्यवहार मेरे अलावा किसी की भी समझ के बाहर था। यूं भी अब मेरा "किया" मैं नहीं तो और कौन समझेगा? बेचारा किसी से कुछ कह तो नहीं पा रहा था, परंतु उसकी लाचारी सबकुछ बयां कर ही रही थी। तो इधर मैं भी मैं था। मुझे उसको इस हाल में देख इतना तो मजा आ रहा था कि मैंने तो उल्टा उसकी झलकती लाचारी को अनदेखा कर उसे कुछ ज्यादा ही सम्मान देना प्रारंभ कर दिया था, मानो हमारे बीच कुछ हो ही न। निश्चित ही मेरा यह व्यवहार उसे भीतर से और कष्ट पहुंचा रहा होगा। तो, इधर मैं भी ऐसा व्यवहार कोई उसे सुकून पहुंचाने के लिए तो कर नहीं रहा था। अब यह तो "कृष्ण" से उलझने का फल था, जो उसे भुगतना ही था।

खैर! मेरे पास यूं भी धन की कमी पहले से न थी। ऊपर से मणि आने के बाद तो रोज धन की वर्षा होने लगी थी। हालांकि कुछ समय बीत जाने के बाद मैं मणि से प्राप्त सोने का एक निश्चित अंश चुपके से राजकीय-कोष में जमा करवाने लगा था। यूं देखा जाए तो यह सब कर मैं अपने ही कर्मों को आगे बढ़ा रहा था। अन्यथा भी मैं शुरू

से अपनी बुद्धि व बहादुरी से मथुरावासियों की रक्षा करता ही आ रहा था, अब इस बहाने उनकी आर्थिक मदद भी करने लगा था। कहा जा सकता है कि राजा बनने से पूर्व ही मैं राजा के सारे कर्तव्य निभाना सीख गया था। फर्क सिर्फ इतना था कि अब तक सिर्फ वीरता व चतुराई से प्रजा की सहायता करता आ रहा था, अब उनको आर्थिक मदद भी प्रदान करने लगा था। और कुछ नहीं तो इस बहाने बगैर राजा बने एक अच्छे राजा होने का संतोष तो पा ही रहा था।

...वाकई एक मणि क्या चुराई, परिस्थितियां चारों ओर से अनुकूल होने लगी। ऐसे में अचानक मुझे भैया व उद्धव की याद आई। खुद की चलाई चकरी में ऐसा उलझा था कि उन्हें ही भूल गया था। पता नहीं कुशस्थली में क्या हो रहा होगा? वैसे तो वहां विजय की पक्की उम्मीद थी, फिर भी आशा व पक्की खबर का फर्क तो बना ही हुआ था; खासकर यह देखते हुए कि इस विजय के साथ मेरे बड़े सपने भी दांव पर लगे थे। क्योंकि राजा बनने का पूरा दारोमदार वहां से आने वाली खबर पर ही टिका हुआ था। यह तो ठीक पर राजा बनने का ख्वाब देखूं व रुक्मिणी याद न आए ऐसा कहां होने वाला था? और फिर कुशस्थली-विजय का इतना इन्तजार भी रुक्मिणी की खातिर ही तो कर रहा था। कान उतावले हो उठे थे कि कब वे लोग वापस आएं और खुशखबरी सुनाएं। कहीं-न-कहीं गहरे में चिंता भी पकड़ रही थी, क्योंकि उनको गए पांच माह से ऊपर का समय हो चुका था, ...और मेरे गणित के अनुसार उन्हें अब तक लौट आना चाहिए था। कुल-मिलाकर इन्हीं सब उलझनों व सपनों में इन्तजार के ये दिन कट रहे थे।

हालांकि इसके बाद मुझे ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। अगले दस-बारह दिनों बाद ही भैया व उद्धव लौट आए। दोनों के चेहरों पर विजयी मुस्कान दूर से ही देखी जा सकती थी। दोनों की विजयी मुस्कान ने मन को प्रफुल्लित कर दिया। काफी देर तक तीनों गले मिलते रहे व एकदूसरे को बधाइयां देते रहे, लेकिन बातचीत कोई खास नहीं हुई। यूं भी किसी को कानों-कान भी इस बात की भनक तक लगे, यह हमलोग नहीं चाहते थे। अत: बातचीत रात्रि पर टाली व स्वाभाविक रूप से रात्रि यमुना किनारे स्थित मकान पर ही गुजारी। बात करने बैठ भी हम तीनों बगीचे में स्थित झूले पर ही गए। अब राजा बन गए हैं तो सिंहासन पर न सही, उसका प्रारंभ झूले पर बैठकर तो करें। उधर स्वाभाविक रूप से भैया बात बताने को कुछ ज्यादा ही उत्साहित नजर आ रहे थे। निश्चित ही उनके इस उत्साह के पीछे पहली बार फतह के कोई बड़े झंडे गाड़ के आना प्रमुखता से था। इधर उद्धव ने भी समझदारी दिखाते हुए बात बताने का मौका उन्हें ही दिया। यूं भी बेचारे विस्तार से खबर सुनाने को सुबह से ही दुबले हुए जा रहे थे। ...भैया के बताये अनुसार कुशस्थली आजाद करवाने में ज्यादा बल-प्रयोग नहीं करना पड़ा। चंडक ने अपनी ओर से हमारी भरसक सहायता की। वहीं मथुरा के साथ-साथ स्थानीय सेना भी पूरी वीरता से लड़ी। ऐसे में पुण्यजन कहां टिकना था। बस सेना समेत भाग खड़ा हुआ। उधर जैसे ही भैया की बात समाप्त हुई कि तुरंत उद्धव ने चुटकी ली - भैया बस न..., खास बात तो बताना भूल ही गए। ...कोई बात नहीं, मैं ही बताये देता हूँ। ...फिर मेरी तरफ देख वह हंसते हुए बोला- अपने बल्लू पहलवान अब एक से दो हो गए हैं। उनका और रेवती का विवाह बड़े ही भव्य समारोह के साथ संपन्न हुआ।

मैंने तुरंत भैया को गले लगाते हुए कुशस्थली आजाद कराने व रेवती से विवाह करने की दोहरी बधाई दी। लेकिन कमाल यह कि अब भी जो मैं जानना चाहता था, उसकी चर्चा दोनों में से कोई नहीं कर रहा था। मेरा मन हजारों शंकाएं-कुशंकाएं कर रहा था। कहीं ऐसा तो नहीं कि भैया ने गड़बड़ कर दी हो। ...ऐसा ही होगा। लेकिन उद्धव साथ में था, फिर भला गड़बड़ हो कैसे सकती है? तभी अन्य विचार आया, भैया के होते-सोते कुछ भी हो सकता है। ...फिर सोचा, अकारण असमंजस में रहने और इतनी जफा करने के बजाय सीधे-सीधे पूछ ही क्यों न लिया जाए? आखिर थककर मैंने बेशरमों की तरह भैया से सीधे ही पूछ लिया- वह सब तो ठीक है, परंतु वहां के सिंहासन पर आप विराजे कि नहीं?

भैया ने कहा- ...नहीं! ककुमदी को ही वापस राजा बनाया। कन्हैया! युद्ध में विजय के बाद उनका उत्साह देखते ही बनता था। सच कहूं तो उनका उत्साह देखकर हमें उनका दिल दुखाना उचित नहीं लगा।

...लो कर लो बात! मैं तो तुरंत झूला रोक अपने स्थान पर खड़ा हो गया। यानी कि मेरे दिल की तो इन्हें परवाह ही नहीं। क्या इतना पराक्रमी व संभ्रांत जीवनभर कुंवारा बैठा रहेगा? लगता है भैया के भरोसे तो यही होने वाला है। मैं उदास हो गया, ...आखिर जिस का डर था, वह हो ही गया। गए थे राजा बनने, जमाता बनकर लौट आए। भैया का तो विवाह हो चुका, मेरा विवाह लटक गया। अरे बल्लू! तेरा हुआ पर मेरा क्या होगा? क्या कहूं, उदासी ऐसी छा गई कि मैं अपना भाव तक छुपा नहीं पाया, मारे दु:ख के मुंह से निकल ही गया - भैया! यह आपने बड़ी भूल की।

...इधर मुझे इस कदर दुखी देख उद्धव भैया के रक्षार्थ उतर आया। वह बोला- ऐसा नहीं था कन्हैया! भैया तो

राजगद्दी पर बैठने को तैयार थे, लेकिन ककुमदी के उत्साह और राज्य की दयनीय परिस्थिति ने हमें पुनर्विचार करने पर मजबूर कर दिया था। क्योंकि कुशस्थली पूरी तरह उजड़ चुका था। पंचजन व पुण्यजन जैसे राक्षसों के लगातार हमलों के कारण वहां के हालात मथुरा से भी बदतर हो चुके थे। ऐसे राज्य पर राज करना जी का जंजाल साबित हो सकता था।

यह सुन उत्साहित भैया ने तुरंत उद्धव की बात आगे बढ़ाते हुए कहा- यूं भी वहां के अघोषित राजा तो हम हैं ही।

मैं मन ही मन सोचने लगा, अघोषित राजा तो हम मथुरा के भी हैं। मथुरा ही क्यों, अन्य कई राज्यों में भी हमारी स्थिति किसी राजा से कम नहीं। फिर भी हम राजा तो नहीं ही हैं न...? अब इनको कैसे समझाऊं कि बगैर राज्य के व बिना राजा बने मैं रुक्मिणी को नहीं पा सकता। और उसको पाए बगैर मैं जी नहीं सकता। हालांकि इन लोगों को मेरा हालेदिल पता ही कहां था, वरना शायद ऐसा कभी न होता। ...कारण चाहे जो हो, गलती मेरी हो या इनकी या दोनों की, लटक तो मैं ही गया था। और चूंकि मामला रुक्मिणी का था, अस्तित्व पर उदासी छाते देर न लगी। उधर उद्धव को मेरी यह उदासी ताड़ते देर न लगी। वह तुरंत मुझे फिर झूले पर बिठाकर आश्वासन देते हुए बोला- कन्हैया! यदि तुम कुशस्थली की परिस्थिति देखते तो मैं यकीन से कह सकता हूँ कि तुम भी यही निर्णय लेते। मेरा सोचना है इसके बजाय हमें अपना स्वयं का राज्य बनाना चाहिए। वहीं कुशस्थली के आसपास समुद्र किनारे कई सुन्दर व सुरक्षित भूखंड है। क्यों न उनमें से ही किसी पर हम अपना नया राज्य बना लें?

उद्धव की बात सुनते ही मैं उछल पड़ा। बात वास्तव में शुभ व सटीक थी। मैंने तुरंत उद्धव को चूम लिया। इसने तो कन्हैया के घर बसाने का मार्ग ही साफ कर दिया। तभी तो कहता हूँ कि कोई कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, कभी-कभी दूसरा उससे भी बुद्धिमानी की बात कर ही जाता है। आखिर ईश्वर सब में बैठा हुआ जो है। मैं तो मैं, भैया भी उद्धव की बात से सहमत नजर आ रहे थे। उद्धव के इस एक विचार ने वातावरण खुशनुमा कर दिया। पर अचानक उन दोनों को धन की चिंता पकड़ ली। बात भी सही थी। पूरा राज्य बसाना कोई घर बसाने जैसा तो था नहीं, निश्चित ही इसके लिए बेशुमार धन की आवश्यकता पड़नी थी। हालांकि मैं इस बात को लेकर कोई विशेष चिंतित नहीं था। अब उन बेचारों को कहां मालूम था कि मेरे पास स्यमंतक-मणि है। मैं तो उल्टा खुश था, चलो इसी बहाने उसका ठीक जगह उपयोग तो हो जाएगा। लेकिन यह तो मेरे मन की बात थी। अन्यथा तो मैं भी मैं ही था। मैंने उनकी चिंता का कोई समाधान तो नहीं ही किया पर हां, उल्टा उदासी ओढ़कर उनका साथ देने सर पर हाथ रखकर बैठ जरूर गया। स्यमंतक-मणि वाली बात न बताई थी, न बताने वाला था। यह राज तो मेरे शरीर प्रस्थान के साथ ही ऊपर जाना था।हां, कोई मन के गणित का जानकार मेरे जीवन पर नजर घुमाएगा तो वह तुरंत समझ जाएगा, लेकिन वह भविष्य की बात है, उसका वर्तमान परिस्थिति पर कोई असर नहीं पड़ने वाला था। हां! कुछ देर की उदासी के बाद सोचने का अभिनय करते हुए मैंने उनसे इतना अवश्य कहा कि वैसे तो हमारे पास अपार खजाना है। शायद छोटी-मोटी नगरी तो उससे बसायी ही जा सकती है। ...फिर भी कभी धन कम पड़ा तो उसका भी चक्कर चला लिया जाएगा। सो, धन की चिंता मुझपर छोड़ो।

इधर मेरी बात सुनते ही भैया को तो मानो मौका मिल गया। वे तुरंत बोल पड़े- मुझे यकीन है कन्हैया, जहां तक ‘‘चक्कर’’ का सवाल है तुम चला ही लोगे। यूं भी जीवनभर तुमने चक्कर चलाने के अलावा किया ही क्या है? ...भैया की बात सुनते ही उद्धव मुस्कुरा दिया पर मैं चुप ही रहा। एक तो भैया की बात पर मुस्कुराकर उस पर मोहर लगाना नहीं चाहता था, व दूसरा जहां तक चक्कर का सवाल है तो वह तो मैं पहले ही चला चुका था। वहीं इतनी गंभीर बात को मैं हास्य का स्वरूप-देकर उड़ाना भी नहीं चाहता था, नहीं तो मालूम पड़े भैया ने मेरा नाम ही ‘‘चकरीबाज’’ रख दिया। ...ना बाबा ना। सो बस, मेरे कोई प्रतिक्रिया न देने पर बात आई-गई हो गई। और यह बेवक्त की बात आई-गई होते ही सबका ध्यान संभावित नए राज्य पर केन्द्रित हो गया। उत्साह तो ऐसा छाया हुआ था व जल्दी तो इतनी थी कि अगले एक-दो दिन में ही भैया व उद्धव का योग्य भूखंड खोजने हेतु वापस कुशस्थली जाना तय भी कर लिया। साथ ही यह भी तय किया कि कुशस्थली विजय, भैया का विवाह व नए राज्य के लिए भूखंड की खोज संबंधी सारी बातों की पूरी गुप्तता बनाए रखी जाएगी। यहां तक कि पिताजी या नानाजी से भी इसकी कोई चर्चा नहीं की जाएगी। इसके साथ ही आज की चर्चा का यह दौर थमा। जाने कितनी बार तो अभी से एकदूसरे को गले मिल हमने आपसी शुभकामनाएं बांटी। और फिर कहा जा सकता है कि अपने-अपने हिसाब से नए राज्य के सपने देख सकें इसलिए बिछड़ के सोने चले गए।

...उधर दिन-दो-दिन की तैयारियों के बाद ही भैया व उद्धव बड़े उत्साह से कुशस्थली के लिए रवाना हो गए। कुशस्थली जाने के नाम से ही भैया के चेहरे की रंगत बदल गई थी। स्वाभाविक रूप से इस बहाने उन्हें कुछ दिन

रेवती भाभी के साथ रहने का मौका भी मिलने ही वाला था।

द्वारका का निर्माण

...अब यूं तो जीवन में इससे ज्यादा खुश होने का दूसरा कोई कारण हो ही नहीं सकता था। मैं खुश भी बहुत था। लेकिन इस खुशी की अति का एक दुष्परिणाम भी भुगतना पड़ रहा था। दरअसल राज्य और रुक्मिणी ने मिलकर मेरी रातों की नींद व दिन के कर्म दोनों छीन लिए थे। मुझे उन दोनों के सपने देखने व उनके बाबत सोचने के अलावा दूसरा कुछ सूझता ही नहीं था। ...हालांकि बावजूद इसके मैं अपने कर्म से अनजान नहीं था। मैं यह जमीनी हकीकत अच्छे से जानता था कि सपने तो कर्म करके ही पूरे किए जा सकते हैं। तो फिर सपने देखना कम कर ‘‘कर्म’’ का ही आसरा क्यूं न लूं? हां नहीं तो, कृष्ण जैसे कर्मवीर की राजधानी बने व श्रेष्ठ न हो? मैं इतने राज्य घूमा था, हर राज्य की कुछ-न-कुछ विशेषता थी, मुझे छोटे-मोटे निर्माण का अनुभव भी था; तो फिर मैं अपने कर्मों से उसे श्रेष्ठ क्यों न बनाऊं? बस इन विचारों के साथ ही सपनों को तिलांजलि दे मैंने राज्य की रूपरेखा के बाबत मनन करना प्रारंभ कर दिया। अब तो मैं सोचने लगा था कि राज्य ऐसा बनाऊं जिसकी जन्मों-जन्मांतर मिसालें दी जायें... वैसे जब से समुद्र किनारे बसा पंचजन का राज्य देखा था, सच कहूं तो तभी से मन में समुद्र किनारे रहने की इच्छा जागृत हो गई थी। और आज कुदरत की मेहरबानी व हमारी लगन से वह इच्छा पूरी होने के आसार भी नजर आ रहे थे। ऐसे में मैं इसे आर्यावर्त का सबसे सुंदर, सुरक्षित व वैभव से भरपूर राज्य बनाने हेतु कटिबद्ध भी हो गया था। सोचने के प्रारंभिक दौर में ही तय तो यह भी कर लिया था कि वहां प्रजा को स्वर्ग-सा आनंद दूंगा। मेरे राज्य की प्रजा मथुरा या अन्य राज्यों की तरह मर-मरकर नहीं जीएगी।

अरे प्रजा की तो ठीक कुछ अपने बारे में भी सोचा है? हां-हां, अपने बारे में भी यह तय कर ही लिया है कि अब मैं भी मर-मर कर नहीं जीऊंगा। बहुत हुआ जरासंध से भागना। उसके प्रतिशोध की आग तो शांत होने वाली नहीं, और राज्य बसाने के बाद युद्ध करना मैं चाहता नहीं। सो इसका तो एक ही इलाज हो सकता था कि राज्य ऐसी जगह व ऐसा बसाया जाए कि जरासंध वहां आने की जुर्रत ही न कर सके। यानी सुरक्षा को सबसे ज्यादा प्राथमिकता देना भी मैंने हाथोंहाथ तय कर लिया। देखा आपने, एकबार सपने देखना छोड़ राज्य के चिंतनों में डूबा तो देखते-ही-देखते कितना कुछ सोच गया। यही तो मेरा वह परम-ध्यान था जिसने मुझे ‘‘कृष्ण’’ बनाया था। चलो छोड़ो। अपनी तारीफ तो मैं मौके-बेमौके करता ही रहता हूँ। अभी तो चिंतन जहां अटका था उसे वहीं से आगे बढ़ाऊं। ...और चिंतन अटका था जरासंध पर। क्योंकि यह राज्य और उसकी वैभवता तभी सार्थक है जब मैं जीवित बचूं। और मेरी जान का दुश्मन सिर्फ और सिर्फ जरासंध है। अतः उस बीमारी का स्थायी उपाय सोचे बगैर राज्य की और कोई भी कल्पना करना बेकार है। और उस बाबत गौर करूं तो समुद्र किनारे हमला करना जरासंध के बस का नजर नहीं आ रहा था, फिर भी मैं सावधानीवश राजधानी को चारों ओर से सुरक्षित बनाना चाहता था। ठीक पंचजन के राज्य जैसा, हमेशा के लिए अजेय। ...मैंने अब तक का अपना पूरा जीवन संघर्षों में बिताया था। यह कम था तो पिछले कितने वर्षों से जरासंध ने दौड़ा-दौड़ा कर थका दिया था। कहने का तात्पर्य अब तक के जीवन में संघर्ष और मेरा चोली-दामन का साथ रहा था, लेकिन राज्य स्थापना के बाद मैं पूर्णरूपेण शांति चाहता था। यूं भी जब तक एक ग्वाला जरासंध के भय से यहां-वहां भागता फिर रहा था तब तक तो बात फिर भी समझ में आ रही थी, परंतु एक राजा भी भागता फिरे, यह कतई शोभा नहीं देगा। अर्थात् एक राजा की मान-मर्यादा को ध्यान में रखते हुए भी राज्य को पूरी तरह से सुरक्षित बनाना अति आवश्यक हो गया था। यानी कुल-मिलाकर मेरे मन जरासंध नामक ‘‘भयंकर-बीमारी’’ से हमेशा के लिए सुरक्षा का उपाय ही इस राज्य की सर्वप्रथम प्राथमिकता होना तय था। और उस बाबत अब तक जितना सोच चुका था उससे वह बीमारी दूर होती नजर भी आ रही थी।

यह सब तो ठीक पर अब भैया व उद्धव को गए सात-आठ रोज हो गए थे। पर मैं अपना डेरा अब भी यमुना किनारे वाले मकान में ही डाले हुए था। हां, चार सेवक-सिपाही अवश्य सेवा हेतु बुलवा लिए थे। जब काम ही राज्य बाबत सोचना रह गया था तो व्यर्थ मथुरा की भीड़-भाड़ में क्यों रहूं? यूं भी इस राज्य से मुझे क्या कुछ मिलता नहीं दिख रहा था। स्वाभाविक तौर पर यह राज्य मेरे सारे सपने पूरे करने में स्वयं सक्षम था। हो सकता है इसकी बदौलत मेरा घर भी बस जाए, यानी मुझे मेरी सपनों की रानी ही मिल जाए। घर न भी बसे तो भी यह तो तय ही था कि आज के बाद कभी हमें दर-दर की ठोकरें तो नहीं ही खानी पड़ेगी, और ना ही किसी के आश्रित होकर जीना पड़ेगा। ...और संघर्ष का तो जीवन से नामोनिशान मिट जाएगा। साथ ही यह भी तय था कि इसके बाद कभी कोई ग्वाला कहकर अपमानित नहीं करेगा। ...चलो सिर्फ अपनी बात न भी करूं तो भी यह तो तय था ही कि यह राज्य प्रजा को

भी स्वर्ग-सा आनंद देने का निमित्त अवश्य सिद्ध होगा। निश्चित ही यह मेरे साथ-साथ हजारों के जीवन संवारेगा। कहने का तात्पर्य यह राज्य बसाना जितना मेरे हित में था, उतना ही सर्वहित में भी था। तो सर्वहित कौन-सा मेरे हित से जुदा है ...था ...या रहेगा? मैंने तो हमेशा सर्वहित हेतु अपनी कुर्बानी दी है। ऐसे में सर्वहित का सबसे ज्यादा फायदा भी मुझे पहुंचना ही चाहिए। वैसे भी जो हमेशा सर्व के हित में लीन रहा हो उसका सबकुछ अपनेआप ठीक हो ही जाता है। यूं भी तो अपना हित व सबका हित, यही तो मेरी आरजू रही है। ...और इसे ही मैंने अपना कर्म-कर्तव्य व जीवन बना रखा है। यहां समझने लायक बात तो यह भी है कि जहां मनुष्य की इच्छाएं व उसके कर्तव्य भिन्न-भिन्न होते हैं वहीं तो वह मर-मरकर जीता है। लेकिन जब दोनों एक हो तो ना सिर्फ जीने का बल्कि काम करने का भी मजा आ जाता है। इसी बात को कुछ विस्तार से मेरे ही उदाहरण से समझाऊं तो मेरी आरजू भी ऐसा सर्वहित था जिसमें ''मैं'' भी शामिल था। वहीं गौर से समझा जाए तो मेरा कर्तव्य भी ऐसा ही सर्वहित था जिसमें मैं भी शामिल होऊं; अब ऐसे में आप ही बताइए कि मैं सदैव प्रसन्न नहीं रहूंगा तो और कौन रहेगा? गौर से समझा जाए तो यही कारण था कि मेरा जीवन लाख संघर्षों से भरा सही, पर मेरी प्रसन्नता को कभी कोई आंच नहीं आई।

छोड़ो! यह चिंतन कुछ ज्यादा ही बड़ा व लंबा झाड़ दिया। अभी तो एक राज की बात बताता हूँ। ...मेरा पहले से तय था कि रुक्मिणी से विवाह तभी करूंगा जब उसे अपने पिता के यहां से बेहतर जीवन व सुविधा देने में सक्षम हो जाऊंगा। क्योंकि मेरी दृष्टि में जीवन विकास का नाम है। यदि रुक्मिणी को उसके राज्य से बेहतर सुविधा नहीं दे सकता तो मुझे उससे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं। कोरी भावना व तुच्छ प्रेम के बहाने किसी के पहले से विकसित जीवन को पतन के गर्त में धकेल देना मेरी फितरत में नहीं था। और रुक्मिणी को पाए बगैर मेरा जीवन कितना अधूरा हो सकता था यह रहस्य अब आपसे छिपा नहीं है। ऐसे में इस राज्य को मुझे श्रेष्ठ बनाने के दिलोजान से प्रयास करने ही थे। और कह सकता हूँ कि राज्य की श्रेष्ठता के लिए रुक्मिणी प्रेरणारूप सिद्ध हो रही थी। ...लेकिन सिर्फ प्रेरणा-मात्र से या मेरी इच्छा से तो राज्य बस नहीं जाना था। हकीकत की दुनिया में तो राज्य बनना और बसाना अभी बहुत दूर की बात थी। अभी तो बनेगा कि नहीं बनेगा यह भी तय नहीं था। पर मेरे कर्मवादी व आशावादी होने का आलम यह था कि मैं ना सिर्फ राज्य और रुक्मिणी के सपने देख रहा था, बल्कि तमाम नकारात्मक संभावनाओं को ताक पे रखकर अपना पूरा चैतन्य राज्य की रूपरेखा बनाने में लगाए हुए था। आप मानेंगे नहीं कि मैं राज्य की कानून व्यवस्था ही नहीं बल्कि राज्य की आर्थिक व्यवस्थाओं व करों के बाबत भी दिन-रात बड़ी गंभीरतापूर्वक विचार किया करता था। आखिर नानाजी की दी शिक्षा व मथुरा के अनुभव कब काम आने थे? इस लिहाज से सचमुच नानाजी का लाख-लाख धन्यवाद था जिन्होंने मुझे अपने साथ रखकर राज्य की तमाम जवाबदारियों को समझने का मौका दिया था। वरना तो शायद सबकुछ होते हुए भी राज्य कभी न बसा पाता। लेकिन आज उनकी सिखाई बातों की बदौलत देखते-ही-देखते मैंने नए राज्य के जीवन-स्तर के बाबत भी बहुत विचार कर डाला था। लंबी-चौड़ी सड़कें होंगी। भव्य राजमहल होगा। बड़े-बड़े प्रांगण व बगीचे होंगे। शानदार बाजार होगा। साथ ही आम-प्रजा के मकान भी बड़े व श्रेष्ठ ही बनवाये जाएंगे। यानी सुख-सुविधा के मामले में कहीं कोई कचास नहीं रखी जाएगी। मजा तो यह कि दिन-रात के एक ही चिंतन के कारण अब धीरे-धीरे कर तो राज्य का पूरा नक्शा ही मेरी आंखों में उतर आया था। यही नहीं, अब तो राज्य के छोटे-बड़े हर पहलू के बाबत मैं पूरी तरह साफ था। यूं भी वृन्दावन जैसे छोटे-मोटे गांव बसाने का अनुभव तो मुझे बचपन में ही हो गया था। ऊपर से गोमंत की टेकड़ी पर भी जीवन बसा ही चुका था। ऐसे में अपने राज्य के निर्माण के बाबत सोचना मेरे लिए कौन बड़ी बात थी?

खैर! भैया व उद्धव को गए अब करीब बीस रोज हो गए थे फिर भी डेरा मैं अब भी यहीं यमुना किनारे ही जमाये हुए था। दिन-रात राज्य के बारे में सोचना व उसकी रूपरेखाएं बनाते चले जाना कितना सुकून दे रहा था कि क्या बताऊं? और रहने के आनंद का तो कहना ही क्या? स्नान तो दोनों वक्त यमुना में ही कर रहा था। अक्सर परिवर्तन के लिए यमुना किनारे दूर-दूर तक रथ दौड़ा दिया करता था। वहीं बीच-बीच में एकाध बार नानाजी व कुब्जा से भी मिल आया करता था। ...अन्यथा ध्यान पूरा राज्य पर ही लगाये हुए था। इधर लगातार के चिंतन से राज्य के बाबत कुछ और बातें भी स्पष्ट हो रही थी। सबसे बड़ी बात तो यह समझ आ रही थी कि यदि सुख-समृद्धियों से संपन्न राज्य बनाना है तो राज्य छोटा बनाना पड़ेगा। वास्तव में राज्य नहीं एक राजधानी बनानी होगी; यानी कि एक शहर का राज्य। वैसे भी हमारे पास इतना धन कतई नहीं था कि एक विशाल राज्य भी बना सकें व उसकी भव्यता व सुरक्षा का ध्यान भी रख सकें। मुझे यह समझ भी थी ही कि योजना अपने दायरे में बनायी गई हो तो ही सफल हो सकती है। अत: शुरुआत में ज्यादा-से-ज्यादा बीस हजार या बहुत हुआ तो तीस हजार लोगों के रहने की व्यवस्था करना ही उचित समझ आ रहा था। कुल-मिलाकर बस ऐसे ही राज्य के चिंतन व निष्कर्ष में दिन बीतते जा

रहे थे, और धीरे-धीरे कर अब राज्य के बाबत ऐसी कोई बात नहीं थी जिसके बारे में मैं पूरी तरह से स्पष्ट नहीं था। राज्य की संरचना तक मेरे दिमाग में बिल्कुल साफ हो चुकी थी। यानी अब राज्य के बाबत सोचने-समझने को कुछ बाकी नहीं रह गया था।

...अब जब राज्य बाबत कुछ सोचना बाकी ही नहीं रह गया था तो यहां पड़े रहकर भी क्या करता? सो, वापस पिताजी के यहां लौट आया। और एकबार जब मथुरा शहर आ गया तो मथुरा पर निगाह भी घुमा ली। यहां चारों ओर शांति थी। यूं भी यहां कुछ नए होने की गुंजाइश भी कहां थी? कुल-मिलाकर करने को यहां भी कुछ नहीं था। सत्राजित के बदले व्यवहार ने यादव-संभ्रांतों को भी मेरे प्रति अपना व्यवहार बदलने पर मजबूर कर ही दिया था। यानी उनकी ओर से भी कुछ ऐसा नहीं हो रहा था कि मैं व्यस्त हो सकूं। हालांकि यह सारा बदलाव अस्थायी था। ले-देकर सत्राजित था एक बला ही, पर हाल-फिलहाल के लिए तो इन सबने मिलकर मुझे पूरी तरह कर्महीन बना ही दिया था। ...वैसे यह भी नहीं कहा जा सकता था कि मैं पूरी तरह कर्महीन हो गया था, क्योंकि अब मथुरा सत्राजित का स्थायी निवास हो गया था। यूं भी जब तक मणि मेरे पास है, उसके मथुरा छोड़कर जाने का सवाल ही नहीं उठता था। स्वाभाविक तौर पर उस बेचारे की जान मणि में बुरी तरह पांसी पड़ी थी। कुल-मिलाकर मुझपर निगरानी बनाए रखना उसकी मजबूरी थी और उसकी चहलकदमी पर नजर बनाए रखना मेरे लिए जरूरी था। इस लिहाज से कहा जा सकता है कि हाल-फिलहाल के लिए दोनों ने एक-दूसरे को काम पे लगा रखा था। इधर बाकी सब तो ठीक, पर सत्राजित के मेरे प्रति बदले व्यवहार व हम दोनों की बढ़ती निकटता से सत्यभामा बड़ी खुश थी। अब प्यार की मारी ये बेचारी क्या जाने कि ये निकटता सिर्फ ऊपरी-ऊपरी है, वास्तव में तो दोनों एक-दूसरे से खार खाये ही हुए हैं। यह भी ठीक, पर एक और मजे की बात बताऊं तो सत्राजित की ''जान'' यानी उसकी स्यमंतक-मणि क्या खो गई थी कि उसका पूरा व्यक्तित्व ही बदल गया था। रातोंरात वह एक विनम्र व सज्जन पुरुष हो गया था। इसका सीधा अर्थ तो यह हुआ कि अत्यधिक धन अहंकार का सबसे बड़ा पोषक होता है। ...अब यह सब यहां-वहां की बातें इसलिए कर रहा हूँ कि राज्य के बाबत जितना सोचना था, सोच चुका था। सपने भी जितने देखने थे, उससे कहीं ज्यादा देख चुका था। ले-देकर हालत यह थी कि सत्राजित से ध्यान हटाऊं तो मेरा थका हुआ अस्तित्व भैया व उद्धव के इन्तजार में जा अटकता था। यानी दिन को सत्राजित जागरण करवा रहा था और रात को इन्तजार नहीं सोने दे रहा था। इन सबका अंतिम परिणाम यह आया कि मथुरा में रहकर भी मैं मथुरा का नहीं रह गया था। नानाजी व कुब्जा से मिल-मिलकर भी कितना मिलता, मन वहां भी कोई पूरी तरह तो लग नहीं रहा था। दिल सिर्फ राज्य की बात करना चाहता था और वह किसी से हो नहीं सकती थी। और जिनसे हो सकती थी, उनके इन्तजार में दिन काटने पड़ रहे थे।

होगा, राहत की बात यह कि भैया व उद्धव मेरी अपेक्षा से कई जल्दी लौट आए थे।दोनों अपने सर्वेक्षण से काफी उत्साहित नजर आ रहे थे। वहीं मेरे कानों का तो यह आलम था कि वे और कुछ सुनना चाहते ही नहीं थे। लेकिन चूंकि यह बात घर या बाजार में हो नहीं सकती थी सो उनके आते ही मैंने दूर यमुना किनारे अपना रथ दौड़ा दिया था। उधर शहर से दूर निकलते ही मेरी बेताबी देख उन्होंने भी बिना किसी अन्य प्रस्तावना के सीधा बताना प्रारंभ किया। बात की शुरुआत उद्धव ने करते हुए कहा- कुशस्थली के पश्चिम की ओर सोलह योजन लंबा और आठ योजन चौड़ा एक भूखंड हमने देखा है जो चारों ओर जंगलों से भरा पड़ा है। वह कुदरती तौर पर पूरी तरह से सुरक्षित है। वह ना सिर्फ समुद्र तट पर बसा हुआ है, बल्कि समुद्र से घिरा हुआ भी है? [2] ।

...मुझे तो वर्णन-मात्र से भूखंड हर दृष्टिकोण से श्रेष्ठ जान पड़ रहा था। फिर भी भैया व उद्धव का मानना था कि कोई अंतिम निर्णय लेने से पूर्व मैं स्वयं एकबार जाकर वह भूखंड देख लूं। लेकिन मैं उनके वर्णन से पूर्णत: संतुष्ट था। व्यर्थ भूखंड देखने में समय क्या तीत करना? वास्तव में मैं बड़ा उतावला हो गया था। अब भला इतने वर्षों की भागदौड़ व मेहनत के बाद मिल रहा श्रेष्ठ जीवन, अपना राज्य व रुक्मिणी से विवाह ...भला इन सब हेतु कौन उतावला नहीं होगा? बस मैंने इस विचार के साथ ही रथ यमुना किनारे वाले घर पे जा के खड़ा कर दिया। क्योंकि रातभर भी बातें तो राज्य की ही करनी थी और वह सिर्फ यहीं हो सकती थी। मुझे इस भूखंड की सबसे बड़ी विशेषता यह नजर आ रही थी कि वह ज्यादा बड़ा नहीं था, फलस्वरूप उसे भव्यता देना आसान था। ऊपर से भूखंड सुरक्षित भी था और समुद्र किनारे भी। इससे ज्यादा मुझे और क्या चाहिए था? सच कहूं तो भूखंड हर तरीके से मेरी सोच से कई गुना श्रेष्ठ मालूम पड़ रहा था। और जब बात सुनने-मात्र से समाप्त हो गई तो देखने जाने का मतलब ही नहीं बचता था। ...बस मैंने तो राजधानी वहीं बसाना तय कर लिया।

...इधर चर्चा प्रारंभ करते ही सबसे प्रमुख सवाल जो उभरकर सामने आया वह यह कि राजधानी बनवाई किससे जाए? भैया का मत था यह कार्य मय के वंशजों को सौंपा जाए, क्योंकि उन्हें समुद्र तट पर निर्माण का अच्छा-खासा अनुभव है। पर मैं भैया की बात से सहमत नहीं था। क्योंकि मय राक्षस थे और अभी पुण्यजन राक्षस से ताजा-

ताजा युद्ध करके दुश्मनी मोल ले ही ली थी। इन हालातों में राक्षसों को काम सौंपने पर नगरी की गुप्तता खतरे में पड़ सकती थी और गुप्तता सुरक्षा की प्रथम कुंजी होती है। दूसरा, मय के वंशज मायावी व भड़कीले निर्माण में माहिर थे; जबकि मैं नगरी को भव्यता उच्च कोटि की शिल्प कला से देना चाहता था। ...वैसे तीसरा एक और कारण था जिसकी चर्चा मैंने इन लोगों से करना उचित नहीं समझा था, लेकिन आपसे कह देता हूँ... भला आप लोगों से क्या परदा? दरअसल जरासंध के राक्षसों से अच्छे संबंध थे। और सावधानी की दृष्टि से यह बात हमेशा ध्यान में रखना आवश्यक था कि जरासंध हमारा स्थायी शत्रु है। लेकिन भैया के सामने जरासंध का नाम लेना उन्हें अनावश्यक भड़काना था। वे ना सिर्फ मुझे डरपोक कहते बल्कि राज्य का निर्माण राक्षसों को सौंपकर एकबार फिर मेरे दौड़ने-भागने की व्यवस्था भी कर देते। ...तौबा-तौबा! इसीलिए मैंने तीसरे कारण की चर्चा ही नहीं की। मेरे लिए तो ''क्या जरासंध-क्या भैया'' दोनों भूत समान थे। एक प्रतिशोध लेने हेतु बहादुरी दिखाता था, दूसरा बहादुरी दिखा-दिखाकर प्रतिशोध लेता रहता था।

खैर! यह मजाक की बात थी, जहां तक निर्माण का सवाल है मेरी राय थी कि हमें अपनी राजधानी का वास्तुशिल्प ''विश्वकर्मा'' से करवाना चाहिए। यूं भी वे इस समय आर्यावर्त के श्रेष्ठ वास्तुशिल्प हैं। इसके दो अन्य फायदे भी थे, एक तो इससे निर्माण कार्य की गुप्तता भी बनी रहनी थी व दूसरा इससे वास्तुशिल्प में कलात्मकता झलकना भी तय था। और फिर तो चौड़ी सड़कें, शानदार बगीचे व समुद्र किनारा मिलाकर इसे आर्यावर्त की श्रेष्ठ राजधानी साबित कर ही देंगे। कुल-मिलाकर मेरी बात मान ली गई। निर्माण-कार्य विश्वकर्माजी को सौंपना तय हुआ। साथ ही यह भी तय हुआ कि हम ही विश्वकर्माजी से मिलने व उनसे चर्चा करने जाया करेंगे, क्योंकि वे या उनका कोई सहायक हमसे मिलने मथुरा आया तो इससे राजधानी की गुप्तता खतरे में पड़ने की संभावना थी। वहीं तीनों का एक साथ वहां जाना भी ठीक नहीं था। यूं भी धन का हिसाब-किताब मेरे पास था व राजधानी का नक्शा भी मेरे ही दिमाग में था। अर्थात् मेरे अलावा किसी को वहां जाने की कोई आवश्यकता न थी। अब सबकुछ तय हो चुका था, चर्चा करने को कुछ न बचा था; फिर भी मजा यह कि सोने का मन किसी का नहीं हो रहा था। मेरा तो ठीक, पर इन दोनों के साथ तो लंबी यात्रा की थकान भी थी, फिर भी जाग रहे थे। कुल-मिलाकर नींद सबको देर रात ही लगी।

उधर सुबह उठते ही हम वापस मथुरा लौट आए। और लौटते ही सीधे जाने की तैयारियों में भिड़ गए। तैयारियों का क्या था, उसमें प्रमुख रूप से तो बची हुई सारी चर्चाएं करनी ही थी। सो वह तो दिन-दो-दिन की बात थी, उसके सलटते ही बस तीसरे दिन सुबह-सुबह भैया व उद्धव से गले मिल व उनकी शुभकामनाओं के साथ अकेले रथ हांकते हुए विश्वकर्माजी से मिलने निकल पड़ा। उनकी नगरी कुशस्थली के रास्ते में ही पड़ती थी। यानी रास्ता भी कुछ-कुछ जाना पहचाना था, और ऊपर से रुक्मिणी व राज्य के सपनों का हसीन साथ भी मेरे साथ था; ऐसे में यात्रा की रंगीनियत का तो कहना ही क्या? सचमुच आज जैसा उत्साह मैंने अपने में पहले कभी नहीं पाया था। वाकई यह राजधानी ना सिर्फ मेरे सपनों की नगरी थी, बल्कि इसमें मेरे सपनों की रानी रुक्मिणी के रहने की भी संभावना थी। निश्चित ही इस राजधानी की स्थापना से ग्वाले के जीवन में प्रेम, वैभव व सम्मान के एक नए जीवन की शुरुआत होने वाली थी। ...रास्ते भर राजधानी के सपनों में ऐसा खोया पड़ा था कि कब विश्वकर्माजी के पास पहुंच गया, कुछ पता ही न चला। और उनकी यह नगरी छोटी सही, पर देखने से ही किसी उच्चकोटि के शिल्पकार की महसूस होती थी। सड़कों के दोनों ओर लगे घने पेड़ों ने सड़कों को पूरी छांव बख्शी हुई थी। चौराहे भी काफी व्यवस्थित नजर आ रहे थे। बस्ती बमुश्किल तीन-चार हजार लोगों की थी व शायद व्यवसाय से अधिकांश शिल्पकारी के कारीगर ही थे। होगा, अभी तो मैं नगर प्रवेश के साथ ही कुछ लोगों की सहायता से सीधे विश्वकर्माजी के भवन जा पहुंचा। जल्द ही उनसे मुलाकात भी हो गई। उतावलापन तो इतनी थी कि बिना किसी प्रस्तावना के विश्वकर्माजी को अपना परिचय देते हुए आने का उद्देश्य बता डाला। उन्होंने भी तहेदिल से मेरा स्वागत किया।मौका जान मैंने भी बिना समय गंवाए राजधानी के बारे में विस्तार से चर्चा प्रारंभ कर दी। मैंने कहा- दरअसल हमने सिर्फ भूमि का चयन किया है। नगरी हमें सर्वथा नई बनानी है। करीब पच्चीस से तीस हजार लोगों का वहां निवास अपेक्षित है। मैं सिर्फ इतना चाहता हूँ कि राजधानी आधुनिक सुविधाओं से भरपूर हो, तथा उसके निर्माण के वक्त सुंदरता व सुरक्षा का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाए।

...मुझे ऐसा लगा कि अन्य परिस्थिति होती तो शायद वे मेरी बात ठुकरा भी देते, हो सकता है कार्य ही न स्वीकारते; लेकिन शायद सर्वथा नई राजधानी का निर्माण करने वाली बात ने उन्हें आकर्षित किया था। साथ ही मेरे उत्साह ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। हालांकि यह सब मेरा ही अंदाजा था, उन्होंने अब तक ऐसे कोई विशेष हावभाव नहीं दिए थे। हां, मुझे अपनी बात पूरी करने का इशारा अवश्य किया था। मेरे लिए यही किसी शुभ-

संकेत से कम न था। सो मैंने भी अबकी बात पक्की करने के उद्देश्य से ही बात आगे बढ़ाते हुए कहा- आप चाहें तो पहले भूमि का सर्वेक्षण कर लें, क्योंकि मैं शीघ्रातिशीघ्र निर्माणकार्य प्रारंभ करवाना चाहता हूँ। ज्यादा-से-ज्यादा एक या डेढ़ वर्ष में मेरी वहां विस्थापित होने की इच्छा है।

शायद विश्वकर्माजी को मेरा उत्साह व मेरी जल्दबाजी दोनों पसंद आ गई थी। अतः क्षणभर के मनन के बाद ही वे बोले- मैं निर्माण करने हेतु तैयार हूँ। अगर सब-कुछ ठीक चला तो इतनी छोटी जगह का निर्माण एक वर्ष में किया जा सकता है। मेरे पास अनुभवी सहायकों की कोई कमी नहीं। ...मैं तो यह सुनते ही उछल पड़ा। उनकी ''हां'' सुनने को ही तो कान तरस रहे थे। इधर अभी मैं सम्भलूं या अपनी खुशी का इजहार कर पाऊं, उससे पहले ही उन्होंने इसी संदर्भ में बातचीत का दौर भी प्रारंभ कर दिया। वे बोले- लेकिन इससे पहले कि मैं अपनी बात कहूं, बेहतर है कि यदि आपने राजधानी के बारे में कुछ सोच रखा हो तो मुझे विस्तार से बताएं।

मैं तो बताने को तैयार ही बैठा था। मैं भी तुरंत बोल पड़ा- वैसे तो राजधानी का पूरा नक्शा मेरे दिमाग में है। आप इजाजत दें तो मैं विस्तार से बताऊं। ...निश्चित ही इजाजत एक औपचारिकता-मात्र थी, जो पाते ही मैंने उन्हें अपने सपनों की नगरी के बाबत अपनी कल्पना विस्तार से सुनाते हुए कहा- सबसे पहले तो मैं चाहता हूँ कि आप सबसे ज्यादा ध्यान इसकी सुरक्षा पर दें। इस लिहाज से मेरा सोचना यह है कि राजधानी में घुसने का एक ही प्रमुख-द्वार हो और जो काफी मजबूत व अजेय हो। साथ ही मैं यह भी चाहता हूँ कि राजधानी में प्रवेश सिर्फ समुद्र मार्ग से ही हो, ताकि उस पर हमला करना आर्यावर्त के किसी भी राजा के लिए असंभव होजाए।

...हालांकि मैंने बात पूरी गंभीरता से कही थी, फिर भी न जाने क्यों विश्वकर्माजी को मजाक सूझा। और एक अच्छा-खासा कटाक्ष जड़ते हुए बोले- ...खासकर 'जरासंध' वहां तक नहीं पहुंच पाना चाहिए, ठीक है न!

मैं तो यह सुनते ही शर्म से पानी-पानी हो गया। वाह रे मामा कंस, मरने के बाद अपने से भी भयानक बीमारी मेरे पीछे लगा गए। बीमारी भी ऐसी कि तीन-तीन बार मात देने के बाद भी भारी तो आज भी वही मुझपर पड़ रहा है। भागना आज भी मुझे ही उससे पड़ रहा है। ऊपर से जब देखो तब मेरे इज्जत की धज्जियां उड़ाने का बहाना बन जाता है, सो अलग। होगा, अभी तो इससे पहले कि ये बात कोई और मजाकिया स्वरूप धारण कर ले, मैं फिर राजधानी-निर्माण की बात पर आ गया। मैंने आगे और भी गंभीरता से कहा कि मेरी इच्छा है कि राजभवन नगरी के मध्य में हो तथा विशाल भी हो। यही नहीं, वह तमाम आधुनिक सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण हो, जैसे उसमें विशाल प्रांगण, बड़े स्नान कुंड व करीब दस अतिथि कक्ष हों। साथ ही राजभवन से लगकर ही राजकर्मचारियों समेत पांच सौ व्यक्तियों के ठहरने की व्यवस्था हो। हां, उनके कक्ष भी सुख-सुविधाओं में कम न हो। इसके अलावा पूरी राजधानी में मैं संभ्रांत लोगों के लिए भी करीब बीस आधुनिक मकान बनवाना चाहता हूँ जो कि स्वाभाविक तौर पर राजमहल-सी सुख-सुविधा से परिपूर्ण हो। साथ ही आम प्रजा के लिए करीब दो हजार छोटे मकान भी बनवाने हैं ताकि उन्हें कच्चे-पक्के मकानों में न रहना पड़े। और-तो-और, चूंकि हम सर्वथा नई राजधानी बनवा रहे हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि इसके सभी मार्ग अभी से चौड़े बनाये जाएं। इन मार्गों के चारों तरफ फैले छोटे-छोटे उद्यान भी अभी से निर्मित कर लिए जाएं। वहीं किसी एक जगह ऐसा विशाल प्रांगण भी बनाया जाए जहां हमलोग हर तरीके के उत्सव मना सकें। इसके अलावा मैं चाहता हूँ कि प्रवेश-द्वार से लग कर ही एक विशाल बाजार हो; जिसमें पचास के करीब दुकानें हो। दस-एक बड़ी व बाकी छोटी। साथ ही बाजार से लगे पांच-एक विशाल-कक्ष बनवाये जाएं जिनमें दुकानदार अपना सामान रख सकें।

इधर उत्साह का मारा मैं तो इतना सबकुछ एक सांस में कहकर चुप हो गया। अब प्रतिक्रिया देने की बारी विश्वकर्माजी की थी। सत्तर के करीब की उम्र के लंबे व पतले विश्वकर्माजी अपनी सफेद दाढ़ी के बावजूद बड़े ही प्रभावशाली लग रहे थे। और उनकी आंखों का प्रभाव तो ऐसा कि इस समय उनके देखने मात्र की अदा से मेरी नजरें यहां-वहां बगलें झांकना शुरू कर दी थी। हम उनके भवन से सटे एक उद्यान में बैठे हुए थे, जिसके मध्य स्थित एक विशाल जल-कुंड विशेष रूप से मेरे आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। आश्चर्य तो यह कि विश्वकर्माजी ने बात की शुरुआत ही मेरी पीठ थपथपाते हुए की। दरअसल वे राजधानी के बाबत मेरा इतना विस्तृत वर्णन सुन आश्चर्य मिश्रित खुशी से झूम उठे थे। यहां तक कि बात की शुरुआत में ही उन्होंने मेरी तारीफ करते हुए कहा कि तुम अपनी जरूरत से पूरी तरह वाकिफ हो, और तुम्हारा वर्णन इतना सटीक है कि भूखंड का सर्वेक्षण किए बगैर भी राजधानी का पूरा नक्शा मेरी आंखों के सामने आ गया है। हालांकि फिर भी तुम्हारी तसल्ली के लिए मैं जल्द ही अपने सहायकों के साथ वहां जाकर भूखंड का सर्वेक्षण कर लूंगा। इसके आगे की चर्चा उसके बाद यानी कि करीब एक माह बाद कर ली जाएगी। सबसे बड़ी बात तो यह कि उन्होंने विश्वास दिलाया कि यह वर्तमान आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ राजधानी होगी। ...स्वाभाविक रूप से यह सुन मैं फूला नहीं समाया। यही तो मैं चाहता था। एक ग्वाले की राजधानी

बड़े-बड़े राजाओं पर भारी पड़े ताकि इस ग्वाले का ग्वालापन हमेशा के लिए मिट जाए। बस इसी उत्साह के वातावरण में हमारी बातचीत संपन्न हुई। और आगे एक रात की मेहमानगति भोग अगले दिन सुबह ही मैं झूमते हुए वापस मथुरा के लिए निकल पड़ा। विश्वकर्माजी से हुई चर्चाओं से ना सिर्फ मैं पूरी तरह संतुष्ट हुआ, बल्कि राजधानी बनने से पूर्व ही राजधानी में रहने भी चला गया।

इधर मथुरा लौटते ही मैंने भैया व उद्धव को विश्वकर्माजी से हुई चर्चा का सार बताया। साथ ही उन्हें यह निर्देश भी दिया कि विश्वकर्माजी अपने आदमियों के साथ वहां पहुंचें तब तक आप लोग भी उनकी सहायता हेतु वहां पहुंच जाएं। वरना ऐसा न हो कि कोई छोटी-मोटी बात समझ में न आए व निर्माण कार्य में महीने-दो-महीने का विलंब पड़ जाए। अब तो दिन छोड़ो, एक क्षण की देरी बर्दाश्त नहीं थी। हालत तो ऐसी थी कि हम मथुरा में रहकर भी मथुरा के नहीं रह गए थे। और मेरी बात कहूं तो निर्माणाधीन राजधानी के राजसिंहासन पर दिन-रात रुक्मिणी मेरी बगल में बैठी दिखाई देती थी। कुल-मिलाकर हम सभी मारे उत्साह के पगला गए थे। तीनों को दिन-रात राजधानी के बाबत बात करने का इतना मन होता था कि हम रहने ही नदी किनारे वाले मकान में चले गए थे। अब घर में तो राजधानी का उच्चारण तक नहीं किया जा सकता था। हालांकि भले ही हमारी चर्चाओं में कोई दम हो या न हो, पर होती वे राजधानी के इर्द-गिर्द ही थी। सच कहूं तो हमें दूसरे किसी विषय पर चर्चा करने का मन ही नहीं होता था। करे भी क्यों...? जब इतना बड़ा सपना साकार होने जा रहा हो तो बात भी उसी की क्यों न करें? यह सब करते-कराते दस दिन बीत गए और उसके साथ ही भैया व उद्धव के जाने का समय भी आ गया। वे चले गए व मैं एकबार फिर अकेला पड़ गया। ...हालांकि राजधानी के सपनों में ऐसा खोया था कि अकेला रहकर भी "अकेला" नहीं रह गया था। और अब जब चर्चा करने को कोई था ही नहीं, तो चुपचाप घर लौट आया। हालत ऐसी कि एक-एक पल काटना मुश्किल हो गया था। बस, विश्वकर्माजी का भूमि सर्वेक्षण निपटने के इन्तजार में दिन बिताने लगा।

कहते हैं न कि मनुष्य का मन जब कहीं नहीं लग रहा होता है, तो उसे व्यर्थ की चिंताएं पकड़ ही लेती है। उसी तर्ज पर अचानक मुझे भी एक चिंता ने आ घेरा। राजधानी बनाने में कितना धन लगेगा...? ...कहीं धन कम तो नहीं पड़ेगा? और देखते-ही-देखते यह सवाल मेरे पूरे अस्तित्व पर छा गया। यूं तो चंडक से भेंट में मिला खजाना, गोमंत से प्राप्त बेशुमार हीरे-जवाहरात, रानी पद्मावती के भेंट में दिए आभूषण मेरे पास थे ही, और ऊपर से अब तो स्यमंतक मणि भी था। धन तो काफी था, फिर भी यह चिंता पूरी तरह व्यर्थ तो नहीं ही थी। सवाल तो जायज ही था कि क्या इन सबके बावजूद उपलब्ध धन इतनी सुंदर राजधानी के निर्माण हेतु पर्याप्त होगा? मुझे तो इसका अंदाजा होने का सवाल ही नहीं उठता था। अब यह कोई दूध-दही या छाछ का हिसाब तो था नहीं, सो ले-देकर यह चिंता इन दिनों मेरे समय काटने का अच्छा-खासा बहाना बन गई थी। कहीं यह धन कम पड़ा तो क्या राजधानी नहीं बनेगी? ...नहीं यह तो हो ही नहीं सकता। नहीं क्यों बनेगी? थोड़ी छोटी बनेगी, कम सुविधायुक्त बनेगी पर राजधानी तो अवश्य बनेगी। यहां सांत्वनादेता, वहां दूसरी चिंता पकड़ लेती। कहीं ऐसा न हो छोटी राजधानी बनाने लायक भी धन न निकले। ...तब क्या करोगे कन्हैया? फिर स्वयं को विश्वास दिलाता, नहीं...नहीं इतना धन तो हमारे पास है ही। ...फिर भी मान लो धन कुछ ज्यादा ही कम पड़ गया तो आएगा कहां से..? कहीं से नए धन की प्राप्ति का कोई जुगाड़ तो है नहीं तुम्हारे पास। तुम्हारे पास व्यवसाय तो है नहीं कि मेहनत कर कमा लोगे। ऐसे में क्या चोरी करोगे...? कैसी बात करते हो, मैं कोई चोर हूँ? ...तो क्या मणि नहीं चुराई। अरे, मणि तो मुझे परिस्थिति की मांग पर सर्वहित के लिए चुरानी पड़ी थी। मथुरावासियों को उनका हक दिलाने के वास्ते चुरानी पड़ी थी। राजधानी न बने...न सही। मैं न तो किसी से सहायता मांग सकता हूँ, ना ही अकारण चोरी कर सकता हूँ। ...बात यहां तक पहुंच जाने पर फिर स्वयं को सांत्वना दे बैठता। बोला न...यह नौबत नहीं आएगी, धन पर्याप्त है; तुम्हारा राज्य भी बनेगा व रुक्मिणी भी वहां अवश्य आएगी। ...और फिर जहां कुदरत ने इतना धन दिया है, क्या जरूरत पड़ने पर थोड़ा और इन्तजाम नहीं करवा देगी? बस यह सांत्वना पाते ही मैं फिर प्रसन्न हो उठता। वाह, अपनेआप से क्या खेल-खेल रहा था? खुद ही चिंता पकड़कर दुखी हो जाता, फिर खुद ही स्वयं को सांत्वना देकर प्रसन्न भी कर देता। पूरे एक माह यह खेल चलता रहा और तब कहीं जाकर भैया व उद्धव सर्वेक्षण करवाकर वापस आए। इसके साथ ही ना सिर्फ मेरा इन्तजार समाप्त हुआ, बल्कि थोड़ा लाडूं तो अच्छा-खासा चल रहा एक खेल भी बंद हो गया।

खैर! इधर दोनों विश्वकर्माजी के सर्वेक्षण से ना सिर्फ संतुष्ट थे, बल्कि अति-उत्साह में भी आ गए थे। यही नहीं, भैया व उद्धव विश्वकर्माजी के इतने प्रभाव में आ गए थे कि बस अब दिन-रात उन्हीं की तारीफ किया करते थे। कुल-मिलाकर विश्वकर्माजी से राजधानी बनवाने का मेरा निर्णय सही साबित हुआ था। अब जब सभी उत्साहित थे तो मैं क्यों पीछे रहने लगा? दोनों की बातों ने मुझमें इतना जोश भर दिया कि दो दिन बाद ही मैं ढेर-सा खजाना लेकर विश्वकर्माजी से मिलने चल पड़ा। उधर विश्वकर्माजी भी बेसब्री से मेरा ही इन्तजार कर रहे थे। यानी कि आग

दोनों तरफ बराबर लगी हुई थी। उन्होंने सर्वप्रथम मुझे सर्वेक्षण के बाबत पूरी जानकारी देते हुए बड़े उत्साह से कहा- कृष्ण! तुम जैसी राजधानी बनाना चाहते हो, विश्वास करो उसके लिए इससे बेहतर कोई दूसरी भूमि हो ही नहीं सकती। यह भूमि सुरक्षा और सुंदरता दोनों दृष्टि से अद्‌भुत है। इतना कहकर एक पल को वे चुप हो गए। ...फिर अचानक उत्साहित होकर बोले- नगर स्थापित करने से पहले हम लोगों ने सोचा था कि जंगलों को काटकर नए सिरे से इसे बसाएंगे, लेकिन फिर जगह देखने के बाद हमने विचार बदल दिया। इसका सबसे प्रमुख कारण तो वहां की चारों ओर फैली कुदरती हरियाली है। और इसके अलावा हम लोग आस-पास बसे राक्षसों को यह आभास भी नहीं होने देना चाहते कि यहां कोई नगरी बसायी जा रही है, या कोई बड़ा निर्माणकार्य चल रहा है। ...अन्यथा वे राजधानी बसने के पहले ही उसे उजाड़ सकते हैं। अर्थात्‌ भूमि की हरियाली भी बरकरार रखी जाएगी, व इन्हीं हरियाली की आड़ में निर्माण कार्य की गुप्तता भी बनी रहेगी।

मैं विश्वकर्माजी से वैसे ही प्रभावित था। आज उनकी दूरदर्शिता का भी कायल हो गया था। इस संदर्भ में मैंने उनसे कहा भी कि आपने सचमुच बड़ी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। इससे निश्चित ही राजधानी-निर्माण की गुप्तता बनी रहेगी। फिर भी यदि आप चाहें तो सावधानी-वश राक्षसों के किसी भी अप्रत्याशित हमले से बचने के लिए मैं अपने कुछ विश्वासी सैनिक वहां तैनात कर दूंगा। ...इधर मेरी इस बात ने विश्वकर्माजी को बहुत प्रभावित किया। अबकी उन्होंने मुझे अपनी दूरदर्शिता पर बधाई दी। ...और उत्साह से तो इतना भर गए कि तुरंत अपनी योजना विस्तार से सुनाते हुए बोले- हम लोग समुद्र किनारे लगे विशाल पत्थरों को बिल्कुल नहीं छुएंगे, क्योंकि उन पर समुद्र की लहरें जोरों से टकराती है। और वह दृश्य अपनेआप में अद्‌भुत होता है। वहीं सुंदरता के साथ-साथ उन शिखरों के कारण वहां किसी का पहुंचना भी असंभव हो जाएगा। यानी सुरक्षा-की-सुरक्षा व सुंदरता-की-सुंदरता। इसके बाद एक ठंडी सांस लेते हुए उन्होंने आगे कहा- मेरे विचार से आर्यावर्त का बड़े-से-बड़ा योद्धा हजारों कोशिशों के बाद भी उस सिंधु-गर्जना को प्रणाम करके ही लौट जाएगा। अत: मेरी दृष्टि में अब सुरक्षा की चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हालांकि बावजूद इसके हमने राजधानी के प्रमुख प्रवेश-द्वार को इतना मजबूत बनाने का निर्णय लिया है कि वर्तमान में उपलब्ध कोई शस्त्र उसे नहीं तोड़ पाएगा। कहने का तात्पर्य पूरे आर्यावर्त में इससे ज्यादा सुरक्षित नगरी दूसरी कोई नहीं होगी। हर दृष्टि से तुम्हारी यह राजधानी अजेय होगी। और जहां तक सुंदरता का सवाल है, इस लंब-चौरस नगरी का स्वरूप हरियाली और झरने से भरे एक खूबसूरत थाल जैसा होगा। यानी सुंदरता की दृष्टि से भी यह नगरी बेजोड़ होगी।

...इधर विश्वकर्माजी वर्णन करते जा रहे थे, उधर राजधानी मेरी आंखों के सामने नाचना शुरू हो गई थी। उनका वर्णन इतना सटीक था कि हर चीज साफ-साफ दिखाई दे रही थी। सच कहूं तो मैं तो इस समय वर्णन सुनने में इतना तल्लीन हो गया था कि अपना अस्तित्व ही भूल बैठाथा।

...दूसरी तरफ विश्वकर्माजी की बात जारी ही थी- पूर्व में रैवतक पहाड़ियों की शृंखलाएं होंगी और दक्षिण में लतविष्ट, पश्चिम में सुकक्ष और उत्तर में वेणुमंत पर्वतों से घिरी हुई यह राजधानी सुंदरता की दृष्टि से भी आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ नगरी होगी। इन पर्वत शृंखलाओं को सुरक्षित रखने तथा इनके प्राकृतिक परिवेश को बनाए रखने के लिए नगर में प्रवेश के निमित्त हमें करीब तीस द्वार बनाने होंगे।

यह सुनते ही मैं चौंक गया। थोड़ा चिंतित भी हुआ। यही नहीं, मारे-चिंता के तुरंत पूछ बैठा- इतने द्वार होने से क्या इसका असर सुरक्षा व्यवस्था पर नहीं पड़ेगा?

यह सुनते ही विश्वकर्माजी हंस दिए - नहीं! यह द्वार की शक्ल में मजबूत दीवार ही होगी, सिर्फ बाहर से देखने पर यह द्वार-से प्रतीत होंगे। इस तरह पूरी नगरी चारों ओर से मजबूत दीवारों से सुरक्षित रहेगी। यानी कुल-मिलाकर यह एक विशाल नगरी होते हुए भी दरअसल होगा मजबूत किला ही।

यह सुनते ही मेरे मुख से अनायास ही निकल गया - फिर तो इस नगरी का नाम "द्वारका" होना चाहिए।

विश्वकर्माजी को भी मेरा सुझाव पसंद आया। बस फिर क्या था! मेरे सपनों की राजधानी का नाम "द्वारका" रखना तय हो गया। जब इतना तय हो गया तो कुछ और बातें भी तय कर ली जाए। यह सोच बात-बात में मैंने उनसे छ: बड़े जहाज व अठारह छोटी नौकाएं बनाने के लिए भी कहा। जब से पंचजन के यहां जहाज में बैठकर समुद्र की यात्रा की थी, तभी से जहाज में घूमने व उत्सव मनाने की ही नहीं... और भी जाने क्या-क्या तमन्नायें दिल में बसाए बैठा था। उधर जहां विश्वकर्माजी इतनी बड़ी नगरी बना रहे थे वहां जहाज बनाना उनके लिए कौन-सी बड़ी बात थी? सो, यह बात भी पक्की हो गई। मैं विश्वकर्माजी की सारी बातों से संतुष्ट ही नहीं, अति उत्साहित भी हो उठा था। एक तरीके से तो उनके सामने बैठे-बैठे ही राजधानी के सपनों में खो गया था, ...लेकिन अचानक तंद्रा टूटी व तंद्रा टूटते ही चिंता ने आ घेरा। क्योंकि मुख्य सवाल अब भी वहीं-का-वहीं खड़ा था। राजधानी के निर्माण में

कितना धन लगेगा, यह जाने और समझे बगैर सब बेकार था। कहीं ऐसा न हो द्वारका निर्माण एक ग्वाले का हसीन सपना बनकर ही रह जाए। उधर मुझे इस तरह चिंता में डूबा देख विश्वकर्माजी ने ही पहल करते हुए चिंता का खुलासा मांगा। यह मौका छोड़ने का सवाल ही नहीं उठता था। मैंने बेझिझक दिल खोलकर अपनी बात रख दी। मैंने स्पष्ट कहा कि मुझे अंदाजा चाहिए कि ऐसी राजधानी बनाने में धन कितना लगेगा, क्योंकि मैं जानना चाहता हूँ कि मेरे पास इतना धन है भी कि नहीं। उधर विश्वकर्माजी ने भी ना सिर्फ मेरी चिंता समझी, बल्कि उसे तवज्जो भी दी। तत्क्षण उन्होंने अपने दस सह-शिल्पकारों को निर्माणकार्य में होने वाले खर्च का अंदाजा लगाने बिठा दिया।

खैर! उधर अब उन सबके लिए तो यह रोज का था, पर इधर मेरी तो जान पर ही बन आई थी। आप समझ सकते हैं कि अंदाजे के इन्तजार में इस अनजान जगह पर, वह भी अकेले...! मेरे लिए एक-एक पल काटना मुश्किल हो गया था। मेरी जीवनभर की मेहनत व मेरे सारे सपने ही नहीं, हजारों के हित आकर इस अंदाजे पर टिक गए थे। सोना छोड़ो, ठीक से जागना भी मुश्किल हो गया था। हां, इस इन्तजार के चलते एक बात के लिए दृढ़-संकल्पित हो गया था कि चाहे जो हो, राजधानी बसाऊंगा अवश्य। धन कम पड़ा तो बाहरी दीवारें व अन्य आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करवा लूंगा। बाकी वृन्दावन और गोमंत टेकड़ी की तर्ज पर अपना हाथ जगन्नाथ मान लिया जाएगा। ज्यादा-से-ज्यादा क्या होगा? सर्वश्रेष्ठ राजधानी नहीं बनेगी। बनाने के लिए मेहनत और समय लगेगा। ...फिर भी राजधानी तो होगी। रुक्मिणी का साथ तो होगा। और फिर एक ग्वाले को मेहनत से क्या डरना?

बस कुल-मिलाकर इन्हीं सब विचारों व उलझनों में तीन दिन बिताने पड़े तब कहीं जाकर खर्च का अंदाजा निकल पाया। अब मेरे पास कितना धन है, इसका अंदाजा मुझे तो नहीं था, परंतु इसका ठीक-ठीक अंदाजा लग सके इसलिए मैं सोना, चांदी, हीरे व जवाहरात ना सिर्फ गिन कर यहां आया था; बल्कि सबके कुछ-कुछ नग लेता भी आया था। सो मैंने तत्क्षण उन्हें विश्वकर्माजी के सामने रख दिए थे। राजधानी बनाने में कितना धन लगेगा इसका अंदाजा वे लगा ही चुके थे, अब मेरी हैसियत का अंदाजा भी उन्हें ही लगाना था। और जैसी कि शंका थी, अंदाज मेरी उम्मीद व हैसियत दोनों से ज्यादा निकला। लेकिन संतोष की बात यह थी कि इतना ज्यादा भी नहीं था कि राजधानी बसायी ही न जा सके। काफी चर्चा-विचारणा और सोच-विचार के बाद हमने एक मध्यमार्ग निकाल ही लिया। यह तय किया कि सड़कें, बाजार, राजमहल, प्रांगण व उद्यान तो योजनानुसार ही बनाये जाएंगे, लेकिन सामान्य घरों की संख्या आधी कर दी जाएगी। साथ ही जहाजों व नावों की संख्या भी एक चौथाई कर दी गई। उधर खर्च में और कटौती करने के लिए विश्वकर्माजी ने एक सटीक सुझाव दिया, जिसके तहत बचे हुए घरों के बजाए सौ-सौ कमरों के तीन साधारण भवन बनाना तय हुआ। यही नहीं, कई और जगहों पर भी कटौती की गई। विश्वकर्माजी हर कार्य में पूरी समझदारी व उत्साह से मेरा साथ दे रहे थे। यह उन्हीं की मेहरबानी का नतीजा था कि अंत में सारा गणित ठीक से बैठ गया था। और सच कहूं तो तब कहीं जाकर मेरी जान में जान आयी थी। चलो, बाकी का विकास कार्य तो धन कमाकर धीरे-धीरे होता रहेगा पर अभी कम-से-कम एक ग्वाले के हसीन सपने धन की कमी की आड़ में पिस तो नहीं गए। सच कहूं तो मुझे तो ऐसा लग रहा था मानो नया जीवन मिल गया हो। यूं भी एक ग्वाले को ‘‘राजा’’ के रूप में नया जीवन मिल ही रहा था। बस बात पक्की करते हुए मैंने बयाने के तौर पर साथ लाया खजाना उन्हें सौंप दिया। उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार भी लिया। और इसके साथ ही बात पक्की हो गई। अब मोटा-मोटी तौर पर निर्माण से संबंधित सारे निर्णय लिए जा चुके थे। धन का ठीक-ठीक अंदाजा भी लगाया ही जा चुका था। अब मेरे और विश्वकर्माजी के बीच संकलन का सवाल आ खड़ा हुआ। यह कोई बड़ी बात नहीं थी। कुछ विचार-विमर्श के बाद ही हम दोनों इस बाबत भी तमाम निष्कर्षों पर पहुंच गए। यह तय हुआ कि हर पन्द्रहवें दिन विश्वकर्माजी को निर्माण कार्य हेतु आवश्यक धन पहुंचाने मैं आया करूंगा। भैया और उद्धव को पूरे निर्माण-कार्य के दरम्यान उनके साथ ही रुकना था। यानी कुल-मिलाकर सारी बातें तय हो चुकी थी। वैसे इस पूरी बातचीत के दरम्यान मैं एक बात लगातार गौर कर रहा था कि विश्वकर्माजी द्वारका निर्माण को लेकर मुझसे भी ज्यादा उत्साहित हो उठे थे। शायद वे भी एक शिल्पकार की हैसियत से किसी ऐसी आधुनिक नगरी के निर्माण के सपने देखते ही रहे होंगे। चलो अच्छा था; इसी बहाने उन्हें आत्मसंतोष भी हो जाएगा व मेरा राज्य भी श्रेष्ठ बन जाएगा। और कुछ नहीं तो कम-से-कम अब मुझ अकेले को राजधानी-निर्माण की चिंता नहीं पालनी होगी और ना ही अकेले सपने देखने होंगे। और जल्द ही सबूत कै तौर पर यह बात सामने भी आ गई। मैं वैसे ही राजमहल को लेकर बड़े सपने सजाए हुए था। मैं उसे श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बनवाना चाहता था। आखिर मुझे अपने सपनों की रानी के साथ वहां रहना था। लेकिन विश्वकर्माजी की सोच तो मुझसे भी निराली निकली। वे तो राजमहल ही नहीं, पूरी नगरी को स्वर्ग से सुंदर बनाने के सपने देख रहे थे। मैं तो यह सुनते ही उत्साह में आ गया था।फिर क्या था, रोज संध्या हम दोनों घंटों इस बाबत चर्चा किया करते थे। हालांकि इतनी चर्चाओं के बाद भी मैं राजधानी के बाबत ऊपरा-ऊपरी ही कुछ-कुछ बातें समझ रहा था, बाकी तो

बस अपने हवाई घोड़े दौड़ाकर ख्याली नक्शा मन में बसाने की कोशिश करता रहता था। इसके विपरीत विश्वकर्माजी के मन में छोटी-से-छोटी बात भी साफ थी। शायद यह एक ग्वाले और शिल्पकार का फर्क था।

होगा, अभी तो सारी चर्चाओं के अंत में उन्होंने जो कुछ वर्णन किया उसने मुझे उत्साह के सातवें आसमान पर बिठा दिया। उन्होंने बात-बात में बताया कि घर व महल सुनहरी रंग से बनाये जाएंगे, जबकि बाजार चमकीले चांदी रंग में बनाया जाएगा। बाजार में शीशे का भी काफी प्रयोग किया जाएगा। यही नहीं, उन्होंने बाजार का विस्तृत वर्णन भी किया। वर्णन बड़ा ही अद्‌भुत था। मैं तो सुनते ही पूरी तरह ''बाजारमय'' हो गया। आप जानते ही है कि बाजार मेरी शुरू से कमजोरी रही है।

...उनके अनुसार द्वारका के सभी प्रमुख मार्ग व बाजार रातभर मशालों की रोशनी से झगमगाये जाएंगे। फलस्वरूप यह आर्यावर्त का पहला ऐसा सुगठित बाजार होगा जो देर रात्रि तक खुला रह सकेगा। देर रात्रि क्यों, मैं तो कहता हूँ बाजार बंद ही क्यों हों? बस मैं रुक्मिणी व राजधानी भुलाकर रात्रि-बाजारों व देर रात तक प्रमुख मार्गों पर जलती मशालों में खो गया। मन तो करने लगा एक जादू की छड़ी घूमे व द्वारका का निर्माण हो जाए। मगर ''कर्म'' के अलावा कोई जादू चल सके, ऐसी कुदरत में व्यवस्था ही नहीं है। और कर्म करने में समय जाता ही है। हालांकि इस बाबत संतोषकारक खुशखबरी यह थी कि विश्वकर्माजी का अंदाजा था कि करीब एक वर्ष में निर्माण कार्य समाप्त हो जाना चाहिए। यूं तो इतनी बड़ी नगरी के निर्माण के लिए एक वर्ष कुछ भी नहीं होता, परंतु जब इतना बड़ा सपना साकार होना हो तो एक वर्ष का इन्तजार काफी लंबा होता है।

खैर! सारे निर्णय लिए जा चुके थे। अब मेरा यहां कोई काम नहीं था। अत: विश्वकर्माजी से इजाजत लेकर राजधानी के सपने देखते हुए मैंने मथुरा की ओर प्रस्थान किया। कहने की कतई जरूरत नहीं कि यात्रा राजधानी के सपने देखते-देखते ही कट रही थी। और होना भी क्या था? इतना बड़ा सपना साकार होना कोई मजाक तो था नहीं, और वह भी मेरे जैसों के जीवन में जिसमें कुदरत ने अपनी ओर से रोड़े अटकाने में कभी कोई कसर नहीं रख छोड़ी हो। छोड़ो, ऐसे हसीन मौके पर कुदरत को क्या याद करना? अभी तो सपने देखते-देखते मेरी यात्रा कट चुकी थी। बस मथुरा पहुंचते ही सबसे पहले भैया व उद्धव को राजधानी का विस्तृत वर्णन सुनाया। वे तो सुनते ही बावरे हो गए; मारे खुशी के हमने जमकर जश्न भी मनाया। वह तो मनाना ही था, क्योंकि अगले दो-चार दिनों में ही उद्धव व भैया को कुशस्थली जाने के लिए रवाना होना था। स्वाभाविक तौर पर निर्माण की सारी जिम्मेवारी उनके कंधों पर थी। जो भी थे ये तीन दिन ही थे, और कहने की जरूरत नहीं कि वह हमने खूब उत्साह में बिताए। यमुना किनारे वाले मकान में रात-रात भर जश्न मनाए। जरा-जरा सी बात पर एक-दूसरे को गले लगकर बधाई देना तो दिन में दस-बीस बार हो जाया करता था। और मदिरा तो भैया कितनी ही पी ले चढ़ने का नाम ही नहीं ले रही थी। चढ़ती भी कैसे, राजधानी के नशे के सामने उसकी बिसात ही क्या थी? ऐसे में तीन दिन तो हवा की तरह बीत गए। ढेरों शुभकामनाओं के साथ मैंने दोनों को रवाना किया। वे दोनों चले गए और मैं एकबार फिर अकेला पड़ गया। यह तो ठीक पर अचानक क्या हुआ कि मुझे अनजानी उदासी ने घेर लिया। वैसे तो सबकुछ ठीक हो गया था, फिर भी न जाने क्यूं मुझे ऐसा लग रहा था कि कहीं-न-कहीं कोई चूक अवश्य हो रही है। कहीं ऐसा तो नहीं कि राजधानी के बावलेपन में मैं कोई ऐसी चीज भूल रहा हूँ जिसके चलते सब चौपट हो सकता हो? बस दिन-रात मन इन्हीं विचारों में उलझा रहने लगा। आखिर एक दिन बात जहन में आ ही गई। ...अरे हां, चूक तो हो ही रही थी। ये सारे सपने एक ही पल में चकनाचूर हो सकते थे। वाकई राजधानी के उत्साह में मैं एक लटकती तलवार के बाबत तो विचार करना ही भूल गया था। आप ठीक समझे... ''जरासंध''। यदि हमारे मथुरा छोड़ने से पूर्व जरासंध ने हमला कर दिया तो द्वारका कौन जा पाएगा? ऐसे में सब किए-कराये पर पानी नहीं फिर जाएगा? फिर तो हमारी लाशें ही द्वारका जाएंगी। ...अब इस बीमारी का क्या इलाज? समझ नहीं आ रहा था कि किसे कोसूं? जरासंध को या मामा कंस को, या फिर मामियों को जिसने यह खतरनाक बीमारी मेरे पीछे लगाई थी। या कुदरत को जो न तो चैन से जीने देती थी, और ना सपने ही साकार होने दे रही थी। देखो न, जब तक मामा जीवित थे, वे मेरी जान के पीछे पड़े हुए थे। मामा क्या मरे, मामियों ने मामा से भी भयानक बीमारी मेरे पीछे लगा दी। मैं तो कहता हूँ भगवान ऐसे मामा-मामियों से सबको बचाए।

लेकिन इन सब बातों से होना क्या था? हकीकत तो यह थी कि जरासंध का हमला टालने का ना तो मेरे पास कोई उपाय था और ना उससे टकराने की कोई सूरत ही थी। बस एक सांत्वना का सहारा था कि रुक्मिणी-स्वयंवर के दरम्यान जरासंध से हुई मुलाकात के आधार पर यह कहा जा सकता था कि एक-डेढ़ वर्ष से पूर्व उसके हमले के आसार नहीं। वैसे यह खोखला आश्वासन-मात्र नहीं था। इस निष्कर्ष के मेरे पास कुछ मजबूत आधार भी थे। सबसे प्रमुख तो यह कि तीन बार मुंह की खाने के बाद यह तय था कि जरासंध अबकी छोटी-मोटी तैयारियों से हमला

नहीं करने वाला, और निश्चित ही बड़ी तैयारी के लिए समय चाहिए। यूं भी ऐसा शुभ विचार मुझे द्वारका निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करने हेतु आवश्यक ही था। और फिर कुछ बातें तो कुदरत की मर्जी पर छोड़नी ही पड़ती है, और खासकर तब जब उसमें आपके हाथ में कुछ न हो। बस यही सोचकर मैंने एकबार फिर स्वयं को द्वारका के सपनों में डुबो दिया। दिन-रात द्वारका के ही सपनों में खोया रहने लगा। जरासंध को भुलाने व द्वारका का कामकाज आगे बढ़ाने का यही एक उपाय था। इसके चलते उल्टा अब तो निर्माण कार्यों से निकलकर मैंने अन्य कई बातों पर भी चिंतन प्रारंभ कर दिया था। दरअसल मैं द्वारका को एक संपन्न नगरी के रूप में देखना चाहता था। और निश्चित ही इसके लिए इसे व्यावसायिक दृष्टि से एक सफलतम नगरी बनाना आवश्यक था। यूं भी मथुरा की दुर्गति ने मुझे बहुत कुछ सिखा ही दिया था। यह उसी सीख का प्रताप था कि मैं पचास दुकानों का भव्य बाजार वहां बनवा रहा था। ...यह सब तो ठीक, पर चिंता का असली विषय यह कि इतना बड़ा बाजार सिर्फ द्वारकावासियों के भरोसे तो चलने से रहा। बस इसी के चलते मैंने निर्यात के नए-नए पदार्थों पर विचार करना भी प्रारंभ कर दिया। यूं तो मैंने आर्यावर्त के कई बड़े-बड़े बाजार देखे थे। खरीदारी का मैं शौकीन भी था। अत: यह तो तय ही था कि द्वारका का बाजार उन सबसे काफी भव्य व निराला होगा। लेकिन सिर्फ भव्यता से क्या होगा? बाजार में कुछ ऐसी वस्तुएं भी होनी चाहिए जो इसे अन्य बाजारों से विशिष्ट साबित कर सके। कुछ ऐसा सामान भी बनाया जाना चाहिए जिसकी मांग पूरे आर्यावर्त में पैदा की जा सके, और तभी इतना भव्य रात्रि-बाजार बनवाने का औचित्य था।

लो! मैं यहां इन चिंतनों में डूबा रह गया और उधर द्वारका का निर्माण कार्य चालू भी हो गया। विश्वकर्माजी ने अपने तीन सौ श्रेष्ठ शिल्पियों को निर्माण कार्य पर लगा दिया था। भैया व उद्धव भी निर्माण-कार्य की निगरानी रखने हेतु वहां पहुंच चुके थे। मेरा भी हर पन्द्रहवें रोज जाकर विश्वकर्माजी के यहां आवश्यक धन पहुंचाना प्रारंभ हो गया था। हां, मैं जब भी धन देने जाता निर्माण कार्य के प्रगति की सूचना अवश्य ले आता। विश्वकर्माजी के यहां से ताजा प्राप्त सूचना के अनुसार एक माह में ही सभी अनावश्यक पेड़ व जंगली घास की कटाई का कार्य समाप्त हो चुका था। यही नहीं, कई आवश्यक पेड़ उगाये भी जा चुके थे। आप समझ सकते हैं कि एक घर-मात्र के निर्माण से मनुष्य कितना खुश हो जाता है, तो यहां तो पूरी राजधानी का निर्माण कार्य प्रारंभ हो चुका था। ...प्रारंभ क्या हुआ था, दिन-ब-दिन तेजी पकड़ता जा रहा था। ऐसे में मेरी खुशी व जिज्ञासा का अंदाजा लगाना कोई मुश्किल काम नहीं। बस वहां विश्वकर्माजी के यहां से निर्माणकार्य की प्रगति की खबरें सुन आता व फिर यहां मथुरा में द्वारका के सपने देखते-देखते घूमता रहता। कभी चहकता हुआ नानाजी से मिलने चला जाता तो कभी फुदकता हुआ कुब्जा से मिल आता। बहुत खुश होता उस दिन यमुना किनारे जा के वंशी बजा आता। मन एकान्त चाहता तो यमुना किनारे वाले मकान में रहने चला जाता।

कुल-मिलाकर यहां जितनी तेजी से मेरे दिन कट रहे थे वहां उतनी ही तेजी से द्वारका का निर्माणकार्य चल रहा था। अभी बमुश्किल दो माह ही हुए थे कि द्वारों व दीवारों का निर्माण-कार्य भी आरंभ हो गया था। हालांकि अब तक भैया या उद्धव की तरफ से कोई खबर नहीं आई थी। ये सारी खबरें विश्वकर्माजी के यहां से ही मिल रही थी। अब खबर चाहे जहां से आए पर निर्माणकार्य तो द्वारका का ही चल रहा था। ऐसे में कहने की जरूरत नहीं कि खबर-दर-खबर मेरा उत्साह बढ़ता ही जा रहा था। ...दूसरी ओर मथुरा की बात करूं तो यहां सब-कुछ सामान्य था। सच कहूं तो मेरा ध्यान इस समय मथुरा पर था भी नहीं। यूं तो यहां के हालात इस समय मेरे लिए सर्वथा अनुकूल थे। सत्राजित के मित्रतापूर्ण व्यवहार के बाद अब किसी और की ओर से अन्य किसी दुर्व्यवहार की संभावना ही कहां थी? वहीं इसका एक हसीन पहलू भी उभरकर सामने आया था। सत्राजित की मित्रता के बहाने सत्यभामा से अक्सर मुलाकात होने लगी थी। और सत्यभामा के बहाने मुझे राधा व रुक्मिणी दोनों की याद ताजा हो जाया करती थी। ...कहा तो यह भी जा सकता है कि सत्यभामा मेरे भूतकाल व भविष्य के बीच का सेतु साबित हो रही थी। और यदि कायदे से देखा जाए तो वह थी भी सेतु ही। राधा आ नहीं रही थी, अत: वह मेरा भूतकाल हो चुकी थी। रुक्मिणी आयी नहीं थी, इस लिहाज से उसे मेरा भविष्य कहा जा सकता है। यानी ले-देकर सत्यभामा ही थी जिससे मुलाकात होने पर दिल बहल जाया करता था। लो... कुब्जा को कैसे भूल गया...? वह तो मेरा वास्तविक वर्तमान थी। यूं भी अभी मथुरा में कोई खास काम तो था नहीं, ऐसे में कुब्जा से भी मुलाकातें बढ़ ही गई थी। सच कहूं तो एक उसी के सहारे मथुरा में फुर्सत के ये दिन कट रहे थे। क्योंकि सत्यभामा से मुलाकात तो कभी-कभार की बात थी। कोई रोज-रोज मुलाकात कर सुप्त पड़े शेर सत्राजित को जगाना थोड़े ही था।

छोड़ो। ऐसे खुशखुशाल दिनों में सत्राजित को क्यों याद करना? सो, कुल-मिलाकर कह यह रहा था कि दिन कुब्जा के सहारे कट रहा था तो रात्रि तरह-तरह के चिंतन के सहारे गुजर रही थी। कभी अपने तो कभी पराये। और-तो-और, आजकल इन चिंतनों के बहाने बात-बात पर अपनी पीठ थपथपाना नया सीख गया था। वैसे भी एक ग्वाला

जो अपनी कमाई, मेहनत, बहादुरी व चतुराई से पूरी राजधानी का निर्माण करवा रहा हो, अब उस ग्वाले की काबीलियत पर प्रश्न क्या खड़े करना? ...बस गर्व करना व पीठ थपथपाना। सो, इन दिनों जब और कुछ नहीं सूझता तो स्वयं पर गर्व कर समय काट लिया करता था। बाकी तो ठीक, पर इसी बहाने मेरा चोट खाया ग्वालरूपी अहंकार अवश्य बहल जाया करता था। ...वरना तो आप जानते ही हैं कि वृन्दावन में क्या पला-बढ़ा, गाय-भैंसें क्या चराईं, एक गरीब ग्वाला क्या था, इस बात के लिए जीवनभर मैंने लोगों का कितना तिरस्कार सहा था। आपको याद होगा, सत्राजित, बृहद्दल और अन्य कई यादव प्रमुखों द्वारा न जाने कितनी ही बार भरी सभा में मेरा गंवार व ग्वाला कहकर अपमान किया गया था। वहीं राजदरबार में भी रुक्मी व शिशुपाल जैसे नासमझों ने मुझे गालियां देने में कभी कोई कसर तो छोड़ी नहीं थी। क्या आप भूल गए कि सांदीपनिजी के आश्रम तक में विन्द-अनुविन्द जैसे राजकुमारों ने कई बार मेरे खिलाफ अभद्र भाषा का प्रयोग किया था। कहने का तात्पर्य जिसे, जब और जहां मौका मिला था, मुझे ग्वाला, गंवार, गरीब, पशु आदि अलंकारों से नवाजना नहीं भूला था। ऐसे में एकबार द्वारका का निर्माण हो जाए और मैं आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ नगरी का राजा हो जाऊं, तो फिर अपने-आप सबकी जुबान पर ताले लग जाएंगे। वैसे सच कहूं तो मुझे इन व्यंगों व कटाक्षों से कभी कोई फर्क नहीं पड़ा था, क्योंकि मेरा अहंकार सिर्फ फूलना जानता था; चोट खाकर अकारण दुखी रहना उसकी फितरत में नहीं था। लेकिन हां, मनुष्य जन्म मिला है तो ना सिर्फ प्रगति करना, बल्कि जरूरत पड़ने पर अपने अहंकार की रक्षा करना भी मैं अपना कर्तव्य मानता था।

...अहंकार झूठा ही सही, फिर भी होता तो प्रगति का द्योतक ही है। वैसे ही प्रगति माया ही सही, फिर भी पेड़ के नीचे बैठे रहने या पागलों की तरह जंगलों में घूमने से तो स्वयं की व दूसरों की प्रगति के प्रयास करते रहना मैं हमेशा बेहतर समझता हूँ। और फिर प्रगति में एक जादू भी तो छिपा हुआ है, प्रगति मनुष्य अकेला नहीं करता बल्कि उसके साथ ही उसके आस-पास वालों तक भी उसकी छांव पहुंचती ही है। ...देखो न, द्वारका मेरे अकेले के लिए थोड़े ही बन रही थी। मैं अकेला थोड़े ही इतनी बड़ी नगरी का आनंद उठाने वाला था। नानाजी, मां-पिताजी के साथ-साथ कई मथुरावासियों को भी तो इस नर्क भरे जीवन से छुटकारा मिलने वाला था। वे भी तो द्वारका रूपी स्वर्ग का आनंद लेने वाले थे।

जब इतनी बात चली है तो एक बात और कह दूं, मेरे मन से तो मैं गंवार व ग्वाला हूँ ही और मरते दम तक रहूंगा; "द्वारकाधीश" बनूंगा तो भी यह मैं दुनियावालों के लिए ही बनूंगा। मनुष्य दूसरों को धोखा देने के प्रयास करता है तो समझ में आता है; परंतु जो स्वयं को धोखे में डाल देता है उससे बढ़कर दुर्भाग्यशाली दूसरा कोई नहीं होता। इसीलिए तो कह रहा हूँ कि मैं अपने मन से तो द्वारका जाकर भी गंवार व ग्वाला ही रहूंगा, और इस सच्चाई से मैं मरते दम तक दामन नहीं छुड़ाऊंगा। क्योंकि मुझे अपने ग्वाले होने पर गर्व है, शर्म नहीं। ...उल्टा मैं तो कहता हूँ कि मेरा ग्वाला होना दुनियावालों के लिए एक उदाहरण बनकर उभरेगा। पूरा विश्व देखेगा कि संकल्प-शक्ति व कड़ी मेहनत के बल पर एक साधारण ग्वाला आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ नगरी का राजा कैसे बना। मुझे यकीन है कि मेरे द्वारा स्थापित इस उदाहरण से हर गरीब, हर कमजोर को संकल्प व मेहनत के भरोसे प्रगति की राह पर चलने की प्रेरणा मिलेगी। वह यह मानकर नहीं चलेगा कि गरीब घर में पैदा हुआ हूँ तो असफलता मेरा भाग्य है। ...मुझे यकीन है कि द्वारका की स्थापना सदियों तक विश्व के मेहनती व इच्छा-शक्ति वाले मनुष्यों के लिए प्रेरणा का एक स्रोत बनी रहेगी। मेरी दृष्टि में गरीबी अपने-आप में एक लानत है। ऐश्वर्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। और उसे इसे पाने हेतु हर हाल में प्रयास करने ही चाहिए। यदि एक ग्वाला अपने समय की श्रेष्ठ राजधानी का निर्माण कर सकता है तो फिर हर गरीब व गंवार को राजा बनने के सपने देखने का और मेहनत के बल पर उन सपनों को पूरा करने का अधिकार स्वत: ही मिल जाता है। ...बल्कि मैं तो कहता हूँ यह उसका कर्तव्य हो जाता है। और कुछ नहीं तो कम-से-कम आज के बाद कोई अपनी असफलता के लिए गरीबी, अपने परिवार या परिस्थिति को दोष तो नहीं दे पाएगा। झूठा रोकर अपनी कमजोरी और असफलता छिपा तो नहीं पाएगा... कि क्या करें गरीब घर में पैदा हुए, वरना आज कहां-के-कहां होते। यह तो शिक्षा का मौका नहीं मिला, वरना मैं यहां थोड़े ही होता? ...नहीं! "कृष्ण" के होते-सोते कोई बहाना नहीं चलेगा। कृष्ण तो हरहाल में काम व प्रगति चाहता है। बहाने तो कमजोरी और असफलता स्वीकारने का सबूत हैं। हथियार डाल देने की घोषणा है। क्योंकि कारागृह में, वह भी मौत के साये में पैदा हुआ, व मौत के साये में पला-बढ़ा गांव का साधारण ग्वाला अब द्वारकाधीश बनने जा रहा है। यदि इस उदाहरण से भी प्रेरणा न मिले, तो आप लानत भरी असफल जिंदगी जीने के लिए स्वतंत्र हैं। मैं मानूंगा, मेरी यह पूरी मेहनत आपके लिए व्यर्थ गई।

छोड़ो इस बात को भी। यह चिंतन कुछ ज्यादा ही लंबा झाड़ दिया। पर करूं क्या? हालत तो आप देख ही रहे हैं। जब सपने देख-देख थक गया तो चिंताओं ने आ घेरा था। चिंताओं से छुटकारा पाने हेतु चिंतन का सहारा

लिया। जब चिंतन कर-कर के भी थक गया तो गर्व व गुमान पर उतर आया। और जब उससे भी कंटाल गया तो उपदेश झाड़ दिया। लेकिन इन सबके भरोसे आखिर कितने दिन कटते? समय लंबा काटना था व समय काटने का उपाय एक न था। हालत यह हो गई थी कि मन द्वारका में था और शरीर मथुरा में। मन मथुरावासियों को बेहतर जीवन देने के सपने देख रहा था तो तन उनकी वर्तमान गरीबी को निहार रहा था। मन रुक्मिणी के साथ द्वारका में रहने के सपने देख रहा था और शरीर यहां कुब्जा के पास पड़ा हुआ था। वैसे तो मन और शरीर के विभाजन में जीना मेरा भाग्य था। मेरा मन वृन्दावन छोड़ने के बाद भी कभी वृन्दावन कहां छोड़ पाया था? रुक्मिणी के सपने देखने के बावजूद राधा को कहां भुला पाया था? आप से तो मेरा हाले दिल छुपा नहीं। मथुरा में रहने के बावजूद मन हमेशा वृन्दावन की गलियों में ही भटकता रहता था। कभी राधा की याद तो कभी गोवर्धन की चढ़ाई, कभी ग्वालों के साथ खेलना तो कभी गोपियों के साथ रास रचाना, मेरा मन कुछ भी तो नहीं भुला पाया था। और भूलें भी क्यों! जो हम जी चुके हैं और जो हम जीना चाहते हैं, वह हमारे जीवन का एक हिस्सा ही तो है। यूं भी मन की स्थिरता आपके हाथ में है, शरीर तो कुदरती परिस्थितियों के हिसाब से घूमता ही रहता है। उस पर किसी का कोई जोर नहीं। ...अभी मेरा ही उदाहरण लो, मन वृन्दावन में ठहर जाने के बावजूद शरीर ने कितनी लंबी यात्रा कर डाली थी। कंस-वध के बाद जरासंध से युद्ध करना पड़ा था। जरासंध से घबराकर सांदीपनिजी के आश्रम जाना पड़ा था। गुरुदक्षिणा देने हेतु पंचजन का वध करना पड़ा था। फिर मथुरा आने पर रण छोड़ कर गोमंत की पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी थी। लेकिन जीवन की इन सारी दुखदायी यात्राओं में भला वृन्दावन की यादों ने मेरा साथ कहां छोड़ा था? ...तभी तो कहता हूँ कि शरीर से द्वारकाधीश बनने के बावजूद मन से तो मैं हमेशा एक ग्वाला ही रहूंगा।

...सच ही कह रहा हूँ कि जीवन की हजार मुसीबतों का सामना करने के लिए जीवन में गुजारे कुछ हसीन क्षणों की यादों का सहारा ही पर्याप्त होता है। बशर्ते, वे दिन पूरी तन्मयता से बिताए हों, और साथ ही वर्तमान को स्वीकार कर कर्म पूरी ईमानदारी से कर रहे हों, तो समझने में कठिनाई आई हो तो इसी बात को दूसरे तरीके से समझाऊं। मुझे साधारण ग्वाले से श्रेष्ठ नगरी बसाने की प्रेरणा देने के लिए रुक्मिणी के प्रति मेरा आकर्षण व उसके साथ जीने का एक सपना देखना ही पर्याप्त साबित हुआ था कि नहीं? अब वह सपना सच होगा या नहीं, यह भी मैं अभी नहीं जानता था। वह द्वारका आना स्वीकारेगी या नहीं, यह भी मैं नहीं जानता था। परंतु ये सब बातें ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण है उसके सपने देखते-देखते द्वारका बसा लेना। कहने का तात्पर्य मैं भूतकाल की यादों व भविष्य के सपनों को भी पूर्णता से जीने में विश्वास रखता था। उनका पूरा-पूरा आनंद उठाता था। समझ लेना, मुझे वृन्दावन से बिछड़ने का गम नहीं था। वैसे ही मेरे लिए रुक्मिणी को पाना भी जरूरी नहीं था। ...लेकिन फुर्सत के समय सपने देख आनंद लेने में क्या बुराई? खूबी यह कि जब वृन्दावन को याद करता था तब वह मेरा वर्तमान हो जाता था, और जब रुक्मिणी के सपने देखता था तब वह मेरा वर्तमान हो जाता था। कुल-मिलाकर कहूं तो भूतकाल की सुनहरी यादों व भविष्य के हसीन सपनों ने ही मुझे वर्तमान के इस संघर्षपूर्ण जीवन में सम्भाला हुआ था; और वह भी पूर्ण वर्तमान बनकर।

वहीं मेरे बाबत एक बात और समझने लायक है। मैंने स्वयं को हमेशा कुदरत के हाथों की कठपुतली समझा था। मुझे जब चाहे जैसे कर्म व कर्तव्य में लगा दे, मैं तुरंत लग जाता था। मुझे क्या करना व क्या नहीं करना या कहां रहना व नहीं रहना यह हमेशा से मैंने कुदरत के न्याय पर छोड़ रखा था। दूसरी तरफ मेरा यह स्पष्ट मानना था कि रुक्मिणी के सपने देखना और उन सपनों का आनंद लेना यह मेरे अधिकार-क्षेत्र में आता था। इसमें कुदरत की कोई दखलंदाजी मंजूर नहीं थी। हां; रुक्मिणी को पाना या न पाना, यह कुदरत की मर्जी पर निर्भर था; तो उसमें मेरी कोई जिद भी नहीं थी। कहने का तात्पर्य मेरे और कुदरत के अधिकार-क्षेत्र को लेकर मुझे कभी कोई गलतफहमी नहीं हुई। कुदरत के अधिकार-क्षेत्र में घुसने की मैंने कभी कोई कोशिश नहीं की, वहीं कुदरत को भी कभी अपने अधिकार-क्षेत्र में नहीं घुसने दिया। यही कारण था कि हमेशा वर्तमान में कुदरत ने जो भेजा उसे तहेदिल से स्वीकारा। कभी वर्तमान से भागने की कोशिश नहीं की। कभी कैसे भी कर्म से पीछे नहीं हटा। सारे कर्म "द्रष्टा" बनकर हमेशा करता रहा। ...लेकिन सोचने वाली बात यह कि सिर्फ वर्तमान में जीने से बेचारा अहंकार तो पूरी तरह मर जाए। और यदि मनुष्य में अहंकार ही न रहे तो उसके जीने का मजा ही चला जाए, उसका जीवन ही नीरस हो जाए। अत: मैंने हमेशा फुर्सत के क्षण अहंकार के भरोसे गुजारे। यही कारण था कि भूतकाल की हसीन यादों व भविष्य के सुंदर सपनों को मैंने हमेशा जीवित रखा। पर हां, भूतकाल की खराब यादों या भविष्य के खराब भावों को मैंने कभी पनपने नहीं दिया। यानी अहंकार के अच्छे स्वरूप को तो मैंने जीवित रखा, लेकिन उसके खराब स्वरूप को कभी सिर उठाने नहीं दिया। ...मैंने कभी इस तरह नहीं सोचा कि क्यों कारागृह में पैदा हुआ? क्यों ग्वाला था? क्यों मामा कंस ने मुझे मारने के इतने प्रयास किए? जरासंध क्यों मेरी जान का दुश्मन बना हुआ है? क्यों बार-बार गंवार-ग्वाला कहकर मेरी

बेइज्जती की जाती है? नहीं, मैं यह सब कभी याद नहीं रखता था। ऐसे भूतकाल में रहना अहंकार का विकृत स्वरूप है। ठीक से समझा जाए तो मैंने अहंकार को भी आत्मा की ऊंचाई तक उठाया था, और खुलकर कहूं तो वृन्दावन की सुनहरी यादों को उसमें अच्छे से सजाए जी रहा था।

...वैसे ही भविष्य की कामनाएं करना व उनके पूरे न होने का गम मनाना, यह भी अहंकार का एक विकृत स्वरूप ही है। मैंने अहंकार के उस स्वरूप को भी कभी नहीं पनपने दिया था। मैं तो भविष्य के सपने देखता था और जी भरकर उनका आनंद लेता था। फिर वे पूरे हों या न हो, भाड़ में जाए। आज वर्तमान में उनका आनंद मिल रहा है न, ...बस मेरे लिए यही पर्याप्त था। और यही अहंकार का "श्रेष्ठतम" स्वरूप है, जो उसे आत्मा की ऊंचाई प्रदान करता है। और फिर मेरा स्पष्ट मत है कि जब मनुष्य के अहंकार को आत्मा की ऊंचाई तक उठाया जा सकता है, जब उससे जीवन के दुखद क्षणों को रंगीन बनाया जा सकता है, तो फिर व्यर्थ उसे मारने या उसका विरोध करने का क्या औचित्य है? मुझे तथाकथित संत-महात्माओं की यह बात कभी समझ में नहीं आई कि अहंकार को मारो। मेरी दृष्टि में महत्वपूर्ण है वह कला सीखना जहां से अहंकार को आत्मा की ऊंचाई तक उठाया जा सकता है। मैं हमेशा से मानता आया हूँ कि माया से दूर रहकर माया से छूटने में क्या महानता है? माया की परम ऊंचाई पर विराजमान होकर उसका आनंद लेते हुए भी भीतर से माया-विहीन होना विशिष्टता है। यही कारण था कि मैं आत्मज्ञानियों में "राजा जनक" से विशेष रूप से प्रभावित था। यही बात मैंने अर्जुन से गीता में कही भी थी [3] । कुल-मिलाकर अपनी विशिष्टताओं के निरीक्षण को मैंने अपने समय काटने के एक नए तरीके के रूप में खोज लिया था। लेकिन अब वह भी काफी हो चुका था। सो, उस बात को भी छोड़ो। अभी तो इधर समय के साथ खुशखबरी भी आना शुरू हो गई थी। अब तो भैया व उद्धव की ओर से भी कार्य के प्रगति की सूचनाएं आना प्रारंभ हो गई थी। निश्चित ही निर्माण की कोई नई खबर आते ही मैं उत्साहित हो जाता। उसे मन में संजोकर उसके सपनों में खो जाता।

...ताजा सूचना के अनुसार सड़कें बनाने का कार्य पुरजोर चालू था। दूसरी ओर घरों का निर्माण कार्य भी प्रारंभ हो चुका था। कार्य को गति देने हेतु विश्वकर्माजी ने हर कार्य के लिए अलग-अलग टुकड़ियां लगा रखी थी। फलस्वरूप अब तो राजभवन का निर्माण-कार्य भी धीमी परंतु मजूबत गति से प्रारंभ हो गया था। यही हाल बाजार व प्रमुख-द्वार का भी था। यानी कि एक साथ चारों ओर निर्माण कार्य प्रगति पर था। वैसे भी राजभवन, बाजार व प्रमुख द्वार में अत्यधिक कठिन शिल्प-कार्य था, अत: उन सबका निर्माण-कार्य धीमी गति से चलना अपेक्षित ही था। कुल-मिलाकर मैं राजधानी के निर्माण-कार्य से पूरी तरह संतुष्ट था। संतुष्ट क्या अति उत्साहित था। मजा यह कि निर्माण कार्य तो अपनी पूरी गति से चल ही रहा था, साथ ही समय भी तेजी से कटता जा रहा था। और इसी के चलते अचानक मेरा ध्यान निर्माण कार्य से हटकर समय पर जा अटका था। कटते समय के साथ एकबार फिर मैं व्यग्र हो उठा था। क्योंकि सारा खेल तो समय का ही था। समय के इस मोड़ पर न चाहते हुए भी मेरा ध्यान दोबारा जरासंध पर लग गया था। उसका एक हमला सबकुछ नेस्तनाबूद कर सकता था। यदि सर पर यह तलवार न लटक रही होती तो मुझे द्वारका जाने की कोई जल्दी नहीं थी। ...यहां कोई मरा थोड़े ही जा रहा था। बस जिंदा वहां पहुंचने के लिए जरासंध के संभावित हमले से पहले निकल जाना आवश्यक था।

वैसे विश्वकर्माजी अपनी ओर से पूरा प्रयत्न कर ही रहे थे। मैं भी समझ रहा था कि इतनी भव्य राजधानी बनाना कोई मजाक नहीं था। लेकिन यह बात जरासंध को कौन समझाए? सचमुच यदि द्वारका में सुरक्षित विस्थापन से पूर्व जरासंध ने धावा बोल दिया तो द्वारका बनाना ही व्यर्थ हो जाएगा। फिर तो वहां बसने की छोड़ो, अपने सपनों की नगरी को देखना तक नसीब नहीं होगा। कमाल तो यह कि सवाल जीवन-मरण का था और फिर भी मेरे हाथ में कुछ नहीं था। जरासंध को हमला कब करना यह उसे तय करना था। द्वारका कब बनकर तैयार हो जाएगी यह विश्वकर्माजी देख ही रहे थे। और बीच में चिंता की गहरी खाई में पांस मैं गया था। ये सारी बातें इसलिए कर रहा हूँ कि अब द्वारका के निर्माण-कार्य को प्रारंभ हुए करीब एक वर्ष पूरा होने को आया था और बावजूद इसके अब भी काफी कार्य बाकी थे। यानी एक तरीके से सबकुछ अधर में लटक ही गया था। ...सो सोचा कि इस विषय में सीधे विश्वकर्माजी से ही बात क्यों न कर ली जाए? बस, धन पहुंचाने के बहाने उनके पास जा पहुंचा। मेरी व्यग्रता देख उन्होंने आश्वासन दिया कि चार-छ: महीने में ही निर्माण-कार्य पूरी तरह सलटा लिया जाएगा। निश्चित ही इतनी बड़ी नगरी के निर्माण को देखते हुए यह समय कुछ भी नहीं था, फिर भी था काफी लंबा। मेरे पास इतना समय ही कहां था? मन में हजारों शंकाएं-कुशंकाएं उठने लगी। मुझे इस कदर व्यग्र पाकर उन्होंने समझाइश भी दे डाली कि इतने उतावले मत बनो। ...अब उनसे क्या कहूं! उतावला द्वारका जाने के लिए नहीं, जरासंध से बच भागने के लिए हो रहा हूँ। लेकिन मजबूरी थी, सच कह नहीं सकता था। जरासंध का भय दिखाकर व्यर्थ अपनी फजीहत क्यों करवाऊं? सो चुप ही रहा। और इसके साथ ही यह बात यहीं समाप्त हो गई। चलो यह बात तो निपटी पर उधर

विश्वकर्माजी चाहते थे कि मैं एकबार द्वारका हो आऊं ताकि कुछ परिवर्तन करवाने योग्य लगे तो समय रहते करवा सकूं। लेकिन मुझे विश्वकर्माजी पर पूरा भरोसा था। दूसरा मैं मथुरा छोड़ने की परिस्थिति में भी नहीं था। मेरा इस समय मथुरा छोड़ना किसी के भी मन में शंका पैदा कर सकता था। और फिर जरासंध के संभावित हमले पर पैनी नजर तो मुझे बनाये ही रखनी थी। हालांकि ये सारी बातें भी इसलिए हो पा रही थी कि अब तक ना तो जरासंध का हमला हुआ था और ना ही उसके आक्रमण की कोई खबर थी। मेरे मन से तो बस ऐसे ही कुछ माह और निकल जाए तो सबकुछ ठीक हो जाए।

...इधर बस यही चिंता लिए मैं वापस मथुरा लौट आया... लेकिन कहते हैं न कि चिंता करो व चिंता का कारण हाजिर हो जाता है। अचानक एक दिन शेव्या व श्वेतकेतु मथुरा पधारे। कब से एकान्त भोग रहा मैं तो उनको देखते ही चहक उठा। उनको ले के सीधे यमुना किनारे वाले घर पहुंच गया। अभी हम बरामदे में बैठक जमा कर बैठे ही थे कि मैंने ध्यान दिया कि दोनों अपने स्वाभाविक रंग में नहीं। दोनों की हवा पूरी तरह उड़ी हुई है। दोनों काफी घबराये हुए व चिंतित भी नजर आ रहे थे। मैं तो दोनों को इस अवस्था में देखकर ही हजारों शंका-कुशंकाओं से घिर गया। जाने उस दुष्ट जरासंध और रुक्मी ने मिलकर मेरी रुक्मिणी के साथ क्या किया होगा? वैसे मेरा एक सिद्धांत था कि बुरी खबर जितनी जल्दी सुन लो उतना अच्छा होता है। अत: मैंने श्वेतकेतु को तुरंत पूरी बात संक्षिप्त में बताने को कहा। श्वेतकेतु ने भी मेरी परिस्थिति जान बिना विलंब बताया कि शिशुपाल रुक्मिणी पर बुरी तरह मर मिटा है। वह बार-बार जरासंध को रुक्मिणी से उसके जल्द-से-जल्द विवाह के लिए पटाता रहता है। जरासंध तो यूं भी शिशुपाल को अपने पुत्रों से भी ज्यादा चाहता है। अत: अंत में शिशुपाल की मेहनत रंग लाई और उसने उसे रुक्मिणी से विवाह करवाने का वचन दे दिया।

...वाह रे शिशुपाल, मेरे भाई! तुझे मर-मिटने के लिए यही एक लड़की मिली थी। अरे, तू तो रिश्ते में मेरा भाई है, और इस लिहाज से रुक्मिणी तेरी भाभी हुई। लेकिन दुर्बुद्धि शिशुपाल को यह बात कौन समझाए? वह तो अपने पिता दमघोष की भी नहीं सुनता। यहां तक कि पिछली बार रुक्मिणी के स्वयंवर में वह अकेला आया था। उसका विवाह था, फिर भी फूफाजी "राजा दमघोष" वहां आमंत्रित नहीं थे। अब भला ऐसे दुष्ट के मुंह कौन लगे? इधर मेरे चेहरे पर उभरी चिंता की लकीरों को देखकर श्वेतकेतु बोला- यह कोई खास समस्या नहीं है। प्रमुख समस्या यह है कि जरासंध ने प्रतिज्ञा ली है कि जब तक वह तुम दोनों को खत्म नहीं कर देता वह रुक्मिणी-स्वयंवर नहीं रचाएगा। शायद इस बार वह रुक्मिणी का स्वयंवर रचाकर अपनी फजीहत दोहराना न चाहताहो।

...मैंने मन-ही-मन सोचा, देर से ही सही, पर जरासंध को बुद्धि तो आई। और फिर हाल-फिलहाल के लिए रुक्मिणी पूरी तरह सुरक्षित है, सो मुझे और क्या चाहिए? और जहां तक जरासंध के हमें खत्म करने का सवाल है तो वो बेचारा क्या जाने कि कुछ ही माह में तो हम यहां से चंपत हो जाने वाले हैं। यानी खबर बुरी अवश्य थी पर चिंता करने वाली कोई बात नहीं थी। बस यह सब गणित बिठाते ही मैं पूरी तरह सामान्य हो गया था। यहां तक कि मैंने श्वेतकेतु से हंसते हुए कहा भी कि तुम व्यर्थ ही इतनी चिंतित मुद्रा बना रहे हो। जरासंध कोई मेरी जान का दुश्मन आज से थोड़े ही है?

श्वेतकेतु बोला- यह तो मैं भी जानता हूँ कि मैंने अब तक तुमसे जो कुछ कहा, वह कोई बहुत गंभीर बात नहीं है। लेकिन चिंता का विषय तो वो है जो मैं तुमसे अब कहने जा रहा हूँ।

...लगता है मेरा पलभर को सामान्य होना भी उसको रास नहीं आया। ठीक है भाई, लो बुरी खबर सुनने को भी तैयार हो गए। अब यह मेरे लिए कौन-सी नई बात थी। इधर मुझे तैयार देखकर श्वेतकेतु ने बड़ी गंभीरतापूर्वक कहना प्रारंभ किया - दरअसल अभी कुछ समय पूर्व जरासंध ने अपने सभी मित्र राजाओं की एक सभा बुलवाई थी। उस सभा में सर्वानुमति से यह निर्णय लिया गया कि कृष्ण के खात्मे के लिए किसी तरह "कालयवन" की सहायता ली जाए [4] । कालयवन एक राक्षस राजा है। उसकी इस समय आर्यावर्त के सबसे शक्तिशाली राजाओं में गिनती होती है। उधर जरासंध की दृढ़ इच्छा देखते हुए कालयवन को अपने साथ मिलाने की जवाबदारी शाल्व ने अपने कंधों पर उठायी। वैसे भी शाल्व कालयवन से मौके-बेमौके कई बार मिल चुका था। यहां तक तो ठीक पर जरासंध की व्यग्रता को समझते हुए शाल्व बिना समय व्यतीत किए तुरंत कालयवन के पास जा पहुंचा। यही नहीं, वहां जाकर उसने अपना काम निकालने हेतु एक अलग ही राग अलापा। उसने कालयवन से कहा कि कृष्ण व बलराम जो कि अत्यंत शक्तिशाली हैं, दरअसल आर्यावर्त की शांति के लिए बड़ी बाधा बनते जा रहे हैं। वे मौके-बेमौके राजाओं का लहू बहाया करते हैं। अत: सभी राजाओं ने मिलकर मुझे मदद के लिए आपके पास भेजा है। इस लिहाज से आप मुझे सभी राजाओं का दूत समझें, और मैं सभी राजाओं की ओर से उन दोनों के खात्मे के लिए आपकी सहायता चाहता हूँ। वे दोनों छोकरे मथुरा में ही रहते हैं और हम चाहते हैं कि उनके खात्मे के लिए मथुरा पर दो-तरफा हमला बोल दिया

जाए। उत्तर की ओर से आप मथुरा पर आक्रमण करें व पूर्व की ओर से हम सब राजा मिलकर जरासंध के नेतृत्व में हमला बोल देंगे। फिर तो आपकी सहायता से उन दोनों का बचना असंभव हो जाएगा। ...अब कालयवन यूं भी शाल्व का मित्र था। ऊपर से सभी राजाओं ने मिलकर उसकी सहायता मांगी थी। अहंकार का मारा कालयवन बेचारा इसे अपनी शक्ति का सम्मान समझ बैठा और फलस्वरूप वह तत्क्षण मथुरा पर आक्रमण के लिए राजी हो गया। इतना ही नहीं, वह अपने नेतृत्व में एक विशाल सेना लेकर मथुरा की ओर निकलने ही वाला है। ...शायद अब तक निकल भी गया हो।

...यह सुनते ही मेरे पांव तले की जमीन खिसक गई। एक क्षण को मुझे ऐसा लगा मानो मेरे सारे सपने मेरी आंखों के सामने चकनाचूर हो गए। सफलता के इतने निकट इतनी भयंकर मुसीबत। जरासंध भी धीरे-धीरे अच्छा कूटनीतिक होता जा रहा था। उस दुष्ट ने कालयवन से यह नहीं कहा कि कृष्ण मेरा जाती दुश्मन है। यदि कालयवन से ऐसा कहा जाता तो शायद वह मथुरा पर आक्रमण के लिए कतई राजी नहीं होता। परंतु अब मैं तो कालयवन को जाकर यह समझा नहीं सकता था। निपटना तो मुझे जो परिस्थिति निर्मित की गई थी उसी से था। ...लेकिन अब करने को बाकी ही क्या रह गया था? कुछ समझ में आने का प्रश्न ही नहीं उठता था। बुद्धि पर तो मानो हजारों ताले पड़ गए थे। ऊपर से भैया व उद्धव भी मथुरा में नहीं थे। यदि कालयवन मथुरा आने के लिए निकल पड़ा है, तो करीब दो माह के भीतर वह मथुरा पहुंच जाएगा। करीब-करीब उस समय तक जरासंध भी यहां पहुंच जाना चाहिए। इसका मतलब यह तय था कि अबकी मथुरा को कोई नहीं बचा सकता। साथ ही मैं व मेरे सपने दोनों को भस्मीभूत हुआ ही समझो। द्वारका व रुक्मिणी का सपना तो इस खबर-मात्र से हवा हो चुका था। अब तो जान के भी लाले पड़ गए थे। उधर श्वेतकेतु व शेव्या का भी बुरा हाल था। और फिर श्वेतकेतु तो स्वयं एक सेनापति था। निश्चित ही वह समस्या की गंभीरता को बखूबी समझ रहा था। ...तभी तो वह इतनी दूर खबर देने चला आया था। होगा, अभी तो बात खत्म होते ही तीनों एक कोने में चुपचाप सहमे-सहमे बैठे हुए थे।

निश्चित ही अब कहने-सुनने को कुछ बाकी नहीं रह गया था। वहीं करने को भी कुछ सूझ नहीं रहा था, अत: आपस में बातचीत भी कोई खास नहीं हो रही थी। बातचीत के नाम पर रह-रहकर एकदूसरे को व्यर्थ सांत्वनाएं दी जा रही थी। तभी ऐसे ही बात-बात में श्वेतकेतु ने बताया कि जरासंध व शाल्व ने विजय के बाद मथुरा कालयवन को सौंपने का उसे आश्वासन भी दिया है। फलस्वरूप कालयवन भी आर्यावर्त के इस कोने में अपने एक राज्य के सपने देखने लगा है। ...देखने दो, यह उनके आपस का मामला है। जब हम ही नहीं रहेंगे तो राज किसका होगा इसकी चिंता क्या करना? बस दिन-दो-दिन हमने इसी मनहूसियत में गुजारे। वैसे भी श्वेतकेतु व शेव्या का कार्य समाप्त हो चुका था। उन्हें जो सूचना मुझ तक पहुंचानी थी पहुंचा चुके थे। मैं नहीं चाहता था कि यह खबर मेरे सिवाय किसी को भी मालूम हो। अत: मामले की गुप्तता बनाए रखने हेतु मैंने तुरंत दोनों को वापस भेज दिया।

द्वारका के लिए प्रस्थान

भैया व उद्धव यहां थे नहीं। बाकी किसी से इस बात की चर्चा की नहीं जा सकती थी। जीवन में पहली बार अपने को अकेला व हताश महसूस कर रहा था। सच कहूं तो आज भैया की बड़ी कमी महसूस हो रही थी। आज तक हर संकट का सामना हम दोनों ने मिलकर किया था। उनकी उपस्थिति-मात्र मुझे मजबूती प्रदान करती थी। लेकिन आज जब जीवन की सबसे बड़ी समस्या मेरे सामने मुंह फाड़े खड़ी थी, तब भैया मेरे साथ नहीं थे। अजब हालत थी मेरी, मैं न तो किसी से बात कर सकता था और ना ही अकेले इतना बड़ा सदमा झेल सकता था। ...कोई बात नहीं। जब करने को कुछ नहीं तो कम-से-कम ऐसे में जो कर सकता हूँ वह तो करूं, सो मैं चुपचाप अपनी वंशी की शरण में चला गया। रात भर यमुना किनारे लेटकर वंशी बजाता रहा। लेकिन आज वंशी में न तो वो मधुरता थी न तल्लीनता। आज वंशी वृन्दावन की यादों तक को लाने में पूरी तरह असफल हो गई थी। रुक्मिणी व द्वारका के सपने देखना तो यूं ही व्यर्थ हो चुका था। क्योंकि ये सपने तो जरासंध के हमले की खबर के साथ ही हवा हो गए थे। ...यानी वंशी बजायी पर हासिल कुछ न हुआ और ऊपर से रात भर की हताशा ने मुझे और थका दिया सो अलग। शायद इतनी हताशा भैया की अनुपस्थिति के कारण थी। हालांकि लंबे समय तक हताशा में रहना मेरा स्वभाव नहीं था। आप तो जानते हैं कि हारने से पहले हार मानना मेरी फितरत में नहीं था।

...लेकिन क्या करूं, मामला कुछ ज्यादा ही गड़बड़ा गया था। कुदरत ने आसमान में पहुंचते-पहुंचते जमीन पर ला खड़ा किया था। जमीन पर भी कहां, जमीन के अंदर ही गाड़ दिया था। सबकुछ समाप्त होने को ही था। होने को क्या था, एक तरीके से हो ही चुका था। ...फासला सिर्फ समय का था। समस्या जटिल थी व उपाय कोई न था। अबकी तो "रणछोड़" बनकर भी नहीं बचा जा सकता था। क्योंकि अबकी रण छोड़ा तो मथुरा पर कालयवन का शासन निश्चित था। यानी नानाजी को एकबार फिर कारागृह की दीवारों से बातें करनी पड़ेगी। मथुरावासियों पर एकबार फिर जुल्म ढाये जाएंगे। और फिर रणछोड़ बनकर भी मैं जाऊंगा कहां? कितने दिन बचूंगा? आज नहीं तो कल जरासंध की पकड़ में आ ही जाऊंगा। उससे तो मथुरावासियों के साथ जीना-मरना अच्छा! जीना कहां यूं कहो कि मरना ही अच्छा। ...यहां मथुरा में रुकने का हश्र तो आंखों के सामने दिखाई दे रहा था। जरासंध व कालयवन मिलकर दो दिन में मेरे समेत पूरी मथुरा का नामोनिशान मिटा देंगे। यानी अब बचने-बचाने का कोई रास्ता नहीं। सच कहूं तो मुझे तो इस बार बचने के किसी उपाय पर सोचना भी मूर्खता नजर आ रहा था। वहीं यह भी सत्य था कि इतनी आसानी से इस बेशकीमती मनुष्यजीवन में हथियार डाले भी नहीं जा सकते थे। तय यह भी था कि समस्या कैसी भी क्यों न हो, उपाय तो कर्म के दायरे में ही खोजने होते हैं। और कर्म करने हेतु उम्मीद बरकरार रखना जरूरी होता है। सो स्वयं को आशा देने वाले विचारों से भरना शुरू कर दिया। वो कहते हैं न कि हताशा एक सीमा से बढ़ जाए, तो उम्मीद की किरण नजर आ ही जाती है। ...कहते हैं न कि जब रात बहुत घनी हो जाती है तो सुहानी सुबह आती ही है। बस इन्हीं सब विचारों के सहारे मैं अपनी सकारात्मकता बनाये रखने की कोशिश में लग गया था। कहने का तात्पर्य बचने की उम्मीदें नहीं मरने दे रहा था।

...जल्द ही यह सकारात्मकता रंग भी लाई। मन में आशा जागी। अपनी ही बातें याद कर-कर के विश्वास लौटने लगा। "संकट कितना ही गहरा क्यों न हो या समस्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो, उससे बच निकलने का एक मार्ग अवश्य होता है।" बस मैंने अपना पूरा चैतन्य वह मार्ग खोजने में लगा दिया। तय किया कि अपनी द्वारका व जान से प्यारी रुक्मिणी के सपनों को चकनाचूर नहीं होने दूंगा। सफलता के इतने निकट आकर घोर असफलता का मुंह नहीं देखूंगा। बस यह प्रतिज्ञा बार-बार दोहराते हुए मैं कोई-न-कोई उपाय खोजने हेतु कटिबद्ध हो गया। मन तो अन्य कहीं लगने का सवाल ही नहीं उठता था। न कुब्जा न नानाजी। मुलाकात हो भी जाती, तो भी रहता तो अपने ही चिंतनों में था। कुल-मिलाकर भरी मथुरा में भीड़ के बीच रहकर भी अकेला रहने लगा था। और इस मनरूपी-एकान्त में स्वयं को बार-बार यह समझाया करता था कि अरे भाई, "संघर्ष तुम्हारा जीवन है" ...संघर्षों में जीने के व उनमें से जीत कर बाहर निकलने के तो तुम आदी हो चुके हो। ऐसे में हताश क्यों होना? एक और संघर्ष सही, एक और विजय सही। हताशा में जीने से तो बेहतर है कि संघर्ष में जीने का मजा लो। जीवन के संघर्ष एक खेल ही तो है। उसे दिल खोलकर खेलो। बात तो पते की थी, पर इस पर अमल आसान नहीं था। क्योंकि इस संकट की बात ही निराली थी। लाख सोचो, उपाय सूझता ही नहीं था। इससे बच निकलने की सोचना ही बेमानी हो गया था। जबकि हकीकत यह है कि जीवन में "जीतना" आज जितना आवश्यक पहले कभी नहीं रहा था। आज सवाल मेरे और मेरे

सपनों का ही नहीं, किसी छोटे-मोटे गांव का नहीं; बल्कि पूरी मथुरा के जनजीवन का आ खड़ा हुआ था। कुल-मिलाकर तमाम जरूरतें व परिस्थितियां पुकार-पुकार के कह रही थी कि "कृष्ण" जागो और अपने हथियार उठाओ। तुम्हारे पास तो एक से एक निराले हथियार हैं। जरूर कोई मार्ग निकल आएगा। और फिर तुम्हारा विश्वास तो कर्म में है। कोरे ज्ञान से तुम्हें क्या लेना-देना? शुभ विचार बहुत हो लिए, अब शुभ कर्म की सोचो। अपने अद्‌भुत हथियार, चिंतन, चैतन्य, छल, झूठ, कपट सब लेकर टूट पड़ो समस्या पर। हार क्या मानना? चलाओ कोई चक्कर और बचा लो सबकुछ।

बस! मैंने हर हाल में इस परिस्थिति से बच निकलने का संकल्प लिया। यही नहीं, स्वयं को ताव पर चढ़ाते हुए अपने ही अहंकार को चुनौती भी दी कि अपने को बहुत सूरमा समझते हो, ...तो लो इस परिस्थिति से बच निकलकर बताओ। जरासंध व कालयवन ने तो ललकारा ही था; अब तो स्वयं का अस्तित्व भी मुझे ललकारने लगा था। और उसके साथ ही अभी नहीं तो कभी नहीं; इस विचार के साथ मेरे चिंतन ने भी सोच की ठीक दिशा पकड़ना चालू कर दी थी। जब मेरा संकल्प मेरे साथ है, मेरे इरादे मजबूत हैं तो जरासंध और कालयवन मेरा क्या बिगाड़ लेंगे? बार-बार यही विश्वास मैं मन में दोहराता चला जा रहा था। जब अपने मन की इतनी बातें कह दी है, तो एक राज की बात और बता दूं। स्वयं को लगातार विश्वास दिलाने हेतु किए गए मनन को ही मैं "मंत्र" कहता हूँ। विश्व में और कोई मंत्र होते भी नहीं हैं। मैंने भी स्वयं को पूरी तरह से इसी मंत्र के मनन में डुबो दिया था। लगातार के मनन से विश्वास जागा व विश्वास जागते ही आशा की किरण उतरना शुरू हो गई। जल्द ही इसका सुखद परिणाम भी आया। आखिर मेरे चिंतन ने एक मार्ग खोज ही निकाला। यदि मैं जरासंध व कालयवन के आने से पूर्व मथुरावासियों के साथ मथुरा छोड़कर द्वारका भाग सकूं, तो इस भयंकर विनाश से बचा जा सकता है। बिल्कुल ठीक! मैंने कहा था न, समस्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो, उसका एक समाधान अवश्य होता है। वैसे ही "सामूहिक-रणछोड" बनना इस समस्या का एक उपाय बनकर उभरा, और उपाय भी एकदम सटीक। पता नहीं यह रणछोड़ स्वरूप मुझे क्यों इतना रास आ रहा था। वैसे यह अच्छा था कि इस बार मेरे साथ-साथ हजारों लोगों को रणछोड़ बनना था। इस बहाने कम-से-कम मैं अकेला रणछोड़ कहलाकर बदनाम तो नहीं होता रहूंगा।

...हालांकि कुछ और मनन करने पर इस योजना का दूसरा पहलू भी सामने आया। उपाय भले ही सटीक था परंतु उसका कार्यान्वयन आसान नहीं था। इसमें सबसे बड़ी बाधा समय की कमी की थी। ऊपर से आगे कुछ भी करने के लिए कम-से-कम भैया व उद्धव का जल्द-से-जल्द वापस आना अति आवश्यक था। साथ ही द्वारका के निर्माण में तेजी लाना भी जरूरी था। और फिर एक दो नहीं पच्चीस हजार के करीब लोगों को "सामूहिक रणछोड़ राय" बनना था। यानी उपाय अपने-आप में हजारों जटिलताएं समाए हुए था। लेकिन इच्छाशक्ति के बल पर सोचूं तो कार्य भले ही कठिन था, परंतु उसे अंजाम दिया जा सके ऐसा था, बल्कि स्पष्ट कहूं तो देना ही पड़े ऐसा था। वैसे भी एकबार मार्ग क्या सुझाई दिया था, मैं अपने भीतर एक नई ऊर्जा का संचार महसूस करने ही लगा था। यानी देखते-ही-देखते मैं फिर वही पुराना "कृष्ण" हो गया था। अब एकबार अपने रंग में क्या आ गया, तुरंत कार्य पर भी लग गया। चैतन्य उपाय सुझाकर अपना काम कर चुका था, अब बारी "कर्म" की थी। और कर्म में तो पीछे हटने का सवाल ही नहीं उठता था।

बस! तत्क्षण मैं विश्वकर्माजी से मिलने निकल पड़ा। समय की कमी के कारण आज मेरा रथ हवा से बातें कर रहा था। मार्ग में आज मुझे न भूख लग रही थी न प्यास। थकान का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था। क्योंकि यदि आज थक गया तो यह तय था कि जरासंध और कालयवन आकर जीवनभर की थकान मिटा जाएंगे। विश्वकर्माजी के पास तुरंत जाने के दो प्रमुख कारण थे। एक तो उनके आदमी नियमित द्वारका आते-जाते थे, और मैं भैया तक तुरंत वापस मथुरा आने का संदेश भिजवाना चाहता था। दूसरा, विश्वकर्माजी से मिलकर उनसे काम में तेजी लाने का निवेदन करना चाहता था। अब इतनी तेजी में होने के बाद पहुंचने में क्या देर? और पहुंचकर विश्वकर्माजी को घेरने में भी क्या देर? बस मिलते ही सर्वप्रथम तो मैंने उनसे निवेदन किया कि मैं चाहता हूँ आप स्वयं द्वारका जाकर यह तय करें कि अगले एक-डेढ़ माह में वहां का निर्माण कार्य समाप्त हो जाए। क्योंकि किसी कारणवश हमें डेढ़ माह के भीतर ही वहां विस्थापित होना आवश्यक है। मैंने बात पूरी गंभीरता से कही थी व विश्वकर्माजी ने भी पूरी संजीदगी से ही उसका प्रतिसाद दिया...

...वे मेरी बात सुनते ही बोले- आप फिक्र न करें। यदि विस्थापन इतना आवश्यक है तो मैं आज ही द्वारका चला जाता हूँ। यदि किसी कारणवश कार्य डेढ़ माह में पूर्ण नहीं भी हो पाया तो भी राजमहल, प्रमुख द्वार व अधिकांश बड़े व छोटे मकान का निर्माण कार्य पूरा करवाने की कोशिश करता हूँ। फिर भले ही बाजार, प्रांगण व उद्यानों का कार्य आप लोगों के विस्थापित होने के बाद भी चलता रहे। ...इससे आपके विस्थापन पर कोई प्रभाव नहीं

पड़ेगा।

वाह! क्या बात कही थी। क्षणभर में कितना सटीक सोच लिया था। पलभर में सारे सपने जीवित कर दिए थे। वाकई बुद्धि का ठेका विश्व में मैंने अकेले नहीं ले रखा था। ...सच में एकबार वहां जीवन चालू हो सके, इतने कार्य हो जाए तो भी बस था। बाकी कार्य चलते रहें, हमें इसमें क्या हर्ज था? सबसे बड़ी प्राथमिकता तो जीवन बचाने की ही थी। और यदि हम सफलतापूर्वक ''सामूहिक-रणछोड़'' बनकर समय रहते पलायन कर गए, तो सुरक्षित रूप से अपनी स्वयं की नगरी द्वारका में शरण लेने का मार्ग तो खुल ही गया। ...सचमुच विश्वकर्माजी ने क्षणभर में वह राय दे डाली थी जो हजार मनन करने के बावजूद मेरे दिमाग में नहीं आई थी। निश्चित ही अभी मुझे जीवन में बहुत कुछ सीखना बाकी था। और देखो, मेरी इसी समझ ने मेरे सीखने के द्वार हमेशा खुले रखे थे। यही कारण था कि अपने को बेवजह होशियार मानने की बजाए मेरा विश्वास सीखने में ज्यादा रहता था।

खैर! मेरा कार्य समाप्त हो चुका था। मैं विश्वकर्माजी से आवश्यक आश्वासन भी पा ही चुका था। अब मेरे यहां और रुकने का कोई औचित्य नहीं था। बस, भैया को तुरंत मथुरा वापस भेजने का संदेश पहुंचाने का कह मैं वापस मथुरा लौटने हेतु तैयार हो चुका था। ...क्योंकि विस्थापन की तैयारियों में भैया का योगदान अति महत्वपूर्ण था। कुल-मिलाकर उधर विश्वकर्माजी द्वारका जाने के लिए रवाना हुए और इधर मैंने मथुरा की ओर प्रस्थान किया। इस समय मैं स्वयं को काफी निश्चिंत भी महसूस कर रहा था। यह निश्चिंतता अकारण नहीं थी। एकबार भैया लौट आए, और उधर विश्वकर्माजी कार्यों में गति ला दे तो समय रहते हमारा निकलना संभव हो गया था। अब बात सिर्फ ''कर्म'' के सहारे इस संभावना को हकीकत में बदलने की थी। सो वह तो मैं मथुरा जाकर भिड़ ही जाऊंगा। इस विचार के साथ ही कुछ क्षण को निवृत्त क्या हुआ कि मन दूसरे विचारों में खो गया। सोचने लगा कि क्या जरासंध और मेरा मामला कुछ हास्यास्पद नहीं? अब तक मैं जरासंध से दो युद्ध लड़कर जीत चुका था। एकबार रण छोड़कर उसे मात भी दे चुका था। फिर भी जान उससे बार-बार मुझे ही बचानी पड़ रही थी। ...बात कुछ अजीब नहीं? खैर, इस बार की ''सामूहिक रणछोड़ नीति'' से शायद जरासंध नाम की बीमारी से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाए। क्योंकि एकबार द्वारका पहुंचने के बाद जरासंध के हमले की कोई संभावना नहीं थी। हमला छोड़ो, द्वारका तक पहुंच पाना ही उसके औकात के बाहर की बात थी। ...ज्यादा मत उछलो कृष्ण! सोचो यह कि कौन-सा द्वारका पहुंच पाना तुम्हारे औकात के भीतर की बात है? चुपचाप काम पे लगो। बस यह विचार आते ही तत्क्षण मैं जमीनस्थ भी हो गया।

अच्छा यह हुआ कि यह जमीनी हकीकत स्वीकारते हुए ही मैंने मथुरा में प्रवेश किया। और इसका परिणाम यह आया कि मथुरा पहुंचते ही विस्थापन की गुपचुप तैयारियों में भिड़ गया। हालांकि बगैर भैया व उद्धव के कार्यों में तेजी अशक्य थी, फिर भी जितना शक्य था वह शुरू हो गया था। और कुछ नहीं तो कम-से-कम इस बहाने बच निकलने का रोमांच तो बना हुआ था। ...वहीं, एक बात के लिए मेरी तारीफ भी अवश्य करनी होगी कि यह तो अच्छा था जो मैं पहले से ना सिर्फ जरासंध द्वारा किसी निर्णायक हमले की संभावना देख रहा था, बल्कि उस बाबत सतर्क भी था। ...वरना तो इस बार मेरे समेत सबका काम तमाम हो जाता। ...फिर वही बात कृष्ण? कहीं इतना बड़ा हमला देख तुम्हारा दिमाग तो नहीं खिसक गया है? ऐसा ही कुछ होगा... जो कर्म छोड़कर बार-बार अपनी तारीफ करने पर उतारू हो रहे हो? एकबार बच निकलो फिर खूब अहंकार कर लेना। ...माना तुम्हें जरासंध का हमला अपेक्षित था, लेकिन क्या वह कोई बड़ी सहायता लेकर दो-तरफा हमला करेगा इसका अंदाजा था? लेकिन जो आसानी से भाग जाए वह अहंकार क्या? वह तुरंत बचाव पर उतर आया। अरे भाई तो जीवन इसी का नाम तो है जहां मुझ जैसे सावधान, जागृत व मनोविज्ञान के पक्के गणित के माहिर के साथ भी कभी-कभी अप्रत्याशित घट जाता है। गौर किया जाए तो इस बार बात अहंकार की पूरी तरह गलत भी नहीं थी। वास्तव में तो यही जीवन की महानता है। जहां मनुष्य अपनी परम ऊंचाई पर रहकर भी कई बार आगे क्या होगा, यह सोच पाने में असफल हो जाता है। सच बात तो यह है कि मनुष्य के मन की अंतिम ऊंचाई से भी जीवन की गहराई बहुत ऊंची और विशाल है। और ठीक से समझा जाए तो जीवन की यही विशालता मनुष्यजीवन का असली आनंद है। यहां कल क्या होगा नहीं मालूम, इसीलिए तो जीवन रसपूर्ण है। ...हालांकि फिर भी कुछ नादान यहां-वहां भविष्य जानने की फिराक में भागते ही रहते हैं।

खैर! अभी इस बात को छोड़ो। अभी तो यहां जो कमाल घट गया वह सुनो। अभी बमुश्किल पन्द्रह दिन ही गुजरे थे कि भैया व उद्धव मथुरा लौट आए। दोनों बड़े उत्साह में थे, क्योंकि द्वारका अपना सुंदर स्वरूप धारण कर चुकी थी। निश्चित ही उन्हें मथुरा वापस बुलाये जाने का कोई गंभीर औचित्य भी हो सकता है, इस बात का अंदाजा बिल्कुल नहीं था। ...वरना यह उत्साह कब का छू हो गया होता। समझ आता भी कैसे? जब यह समस्या मेरे लिए ही

अप्रत्याशित थी तो भैया व उद्धव की सोच में आने का प्रश्न ही कहां उठता था? ...और इसके पहले कि वे द्वारका का विस्तार से वर्णन करें, ''समय'' की कमी देखते हुए मैंने उन्हें वर्तमान संकट से अवगत कराना ही उचित समझा। स्वाभाविक तौर पर जरासंध व कालयवन के मिले-जुले हमले की खबर सुनते ही वे बुरी तरह घबरा गए। क्षणभर में दोनों का उत्साह हवा हो गया। सच कहूं तो मैंने भैया को जीवन में दूसरी बार इतना घबराते देखा था। पहली बार तो आपको याद ही होगा कि जब सांदीपनिजी क्रोधित हुए थे तब भैया की कैसे सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई थी? तब की ठीक है, लेकिन इस समय भैया की यह घबराहट परिणाम पर असर कर सकती थी। इस समय हमें कर्म करना था, और कर्म की आवश्यकता हमेशा से उत्साह व आशा की होती है। जीवन की हकीकत यही है कि भयभीत आदमी कभी किसी काम का नहीं बचता। अत: मैंने तुरंत उन्हें सम्भालते हुए कहा- घबराने की कोई बात नहीं। मैंने इस भयंकर आक्रमण से बचने का उपाय खोज लिया है। हम अगले बीस-पच्चीस दिनों में ही मथुरावासियों के साथ द्वारका जाने के लिए निकल जाएंगे। और जब जरासंध व कालयवन मथुरा पहुंचेंगे, तो हमें यहां न पाकर एकबार फिर हार से भी भयानक हार का अनुभव करेंगे।

मेरे मुंह से उपाय सुनते ही दोनों की जान-में-जान आ गई। अब योजना अपने-आप में सटीक थी, जान तो लौटनी ही थी। भैया तो बोल भी पड़े- कन्हैया! तुम बहुत चतुर हो। शायद तुम्हें पांसाना भगवान के भी बस में नहीं।

वैसे भैया के इस वक्तव्य से बहुत ज्यादा खुश होने की जरूरत नहीं। क्योंकि उनका यह वक्तव्य प्रशंसा व व्यंग का मिला-जुला स्वरूप था। यूं भी परिस्थिति की नजाकतता को देखते हुए मेरे साक्षी ने मेरे अहंकार पर पूरी तरह लगाम कसी ही हुई थी। ...फिर भी इससे पहले कि अहंकार फनफनाए, मैं तुरंत आगे के कार्यों में भिड़ गया। बात-बात में मैंने दोनों को इस हमले की गुप्तता बनाए रखने की सख्त हिदायत दी। साथ ही यह भी तय किया गया कि हम किसी भी हाल में अगले बीस-पच्चीस दिनों में ही मथुरा छोड़ देंगे। यूं भी यदि हमें योजना को पक्का अन्जाम देना हो तो हमें जरासंध व कालयवन के मथुरा पहुंचने से पहले द्वारका के अति निकट पहुंचना जरूरी था। कारण साफ था, हमारे निकलने के बाद भी वे हमारा पीछा कर ही सकते थे; यानी पलटकर हमारे काफिले पर हमला करने की संभावना बनी ही हुई थी। और उस सूरत में भी हममें से किसी का भी बचना असंभव था।

...चलो यह सब तो समझ गए पर अब सवाल था जाने की तैयारियां कैसे की जाए व किन-किन लोगों को ले जाया जाए? भैया का विचार था कि पूरी मथुरा को साथ में ले जाया जाए। भैया का यह विचार दिल का द्योतक था, इसमें दिमाग का इस्तेमाल बिल्कुल नहीं किया गया था। क्योंकि द्वारका में ज्यादा से ज्यादा बीस-पच्चीस हजार लोग समा सकते थे। हालांकि मेरे समझाने पर भैया को यह बात समझते देर नहीं लगी। इधर मेरा मत था कि सिर्फ यादवों को द्वारका आने का निमंत्रण दिया जाना चाहिए। भैया के मत में यह पक्षपात था, जातिवाद था। ...लेकिन क्या आप सोचते हैं कि ''कृष्ण'' पक्षपात कर सकता है? मैंने उस समय भैया को भी समझाया था, अभी आपको भी मेरी दृष्टि से अवगत करा देता हूँ। यह तय था कि हम ज्यादा-से-ज्यादा पच्चीस हजार लोगों को द्वारका ले जा सकते हैं। साथ ही यह भी तय था कि हम राजा उग्रसेन को अपने साथ द्वारका ले जाएंगे। उन्हें ही हम द्वारका के राज-सिंहासन पर बिठाने वाले थे। वहीं हमारे निकलने के आसपास ही जरासंध का हमला भी तय ही था। तय तो यह भी था कि जरासंध, कंस की तर्ज पर हमारा, उग्रसेन का और ज्यादा-से-ज्यादा यादवों का शत्रु साबित होगा। ऐसे में आप ही सोचिए कि जब हम लोग ही मथुरा में नहीं होंगे, जब अधिकांश यादव मथुरा छोड़ चुके होंगे, ...तो ऐसी हालत में जरासंध कर क्या लेगा? ज्यादा-से-ज्यादा वह बृहद्दल या अपने किसी पुत्र को मथुरा की राजगद्दी पर बिठा देगा; बस न...! लेकिन यादव विहीन मथुरा को चैन से जीने तो देगा। यह क्या कम है कि इससे यहां कोई खून-खराबा नहीं होगा? ...और फिर मैं द्वारका में इतने ही लोगों को ले जाना चाहता था, जितनों को हम वहां श्रेष्ठ जीवन दे सकें। यदि हम सभी को द्वारका ले जाते हैं, तो द्वारका व मथुरा में कोई फर्क नहीं रह जाएगा। निश्चित ही जनसंख्या नामक बीमारी द्वारका को भी खा जाएगी। भैया मेरी बात समझ चुके थे; उम्मीद है आप भी समझ चुके होंगे।

खैर! इधर भैया से निपटा तो उद्धव की बारी निकल आयी। उसका सोचना था कि हमें पूरे वृन्दावन को द्वारका ले जाना चाहिए। मैं उद्धव की बात से भी सहमत नहीं था। अब आप कहेंगे कि इसमें क्या अड़चन आ गई महाराज? क्या तुम राजा बनते ही अपने प्यारे वृन्दावनवासियों को भूल गए? फिर कर दी न आपने ''कृष्ण'' के लिए ऐसी-वैसी बात। ठीक है, उस समय उद्धव को समझाया था, अब आपको भी समझाए देता हूँ। भला सोचिए! मेरा मन क्यों नहीं चाहेगा कि मैं सभी वृन्दावनवासियों को अपने साथ द्वारका ले जाऊं? मैं उन्हें प्रसन्न व प्रगति की राह पर लगाना क्यों नहीं चाहूंगा? भला मुझे उनसे ज्यादा अजीज और कौन हो सकता है? जब मेरे जीवन की प्रसन्नता ही उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है तो ऐसे में आप ही फैसला कीजिए कि उनको न ले जाने का निर्णय कर मुझसे ज्यादा दुखी और कौन होगा? बावजूद इसके मैं उन्हें ले जाना नहीं चाहता तो कोई तो बात अवश्य ही होगी। और यह भी तय है

कि उनके हित की ही होगी जो मेरी समझ में आ गई थी पर आपकी समझ में नहीं आ रही है। ...हालांकि आपके जीवन में भी ऐसे अनेक मौके आते हैं जब आपके सामने इस तरह के सवाल आ खड़े होते हैं, लेकिन ऐसे समय आप अपनी संकुचित मानसिकता के कारण भावनाओं में बहकर निर्णय लेते हैं। वे निर्णय सिवाय स्वार्थ व पक्षपात के कुछ नहीं होते, जबकि मुझे स्वार्थ नहीं। मैं वृन्दावनवासियों से बिछड़ने का दुःख सह लूंगा, उनके ताने सुन लूंगा; लेकिन उनके मन की प्रसन्नता व उनके हित की रक्षा करने से पीछे नहीं हटूंगा। ...दरअसल आप अपने को बचाने में लगे हैं और मैं सर्व को बचाने में लगा हूँ। मेरी और अन्यों की सोच में फर्क सिर्फ स्वार्थ व सर्वहित का है। कुछ विस्तार से समझाऊं तो अब वे बेचारे तो वैसे भी अपने वर्तमान जीवन से संतुष्ट हैं। सम्मान से अपना जीवन व्यतीत कर ही रहे हैं। उनकी जीवन-शैली भी सादी व साधारण है।दूसरी तरफ ये यादव सर्वथा अलग हैं। वे ना सिर्फ अहंकारी व कामचोर हैं बल्कि बदमिजाज होने के साथ-साथ कई अन्य बुरी आदतों से भी पीड़ित हैं। जब इनकी संगत से भैया को मदिरा की लत पड़ गई, और हो सकता है कल उनकी ही तर्ज पर उन्हें नाच-गान का भी शौक चढ़ जाए। अब सोचने वाली बात यह कि जब भैया का यह हाल हो सकता है तो इन दुष्टों की संगत पाकर भोले-भाले वृन्दावनवासियों का क्या हाल हो सकता है? चलो, बावजूद इसके हम वृन्दावनवासियों को अपने साथ द्वारका ले भी गए, तो क्या उन्हें रोज-रोज यादवों के साथ संघर्ष में नहीं उतरना पड़ेगा? क्या वे यादवों द्वारा कारण-अकारण रोज-रोज अपमानित नहीं किए जाएंगे? मैं नहीं चाहता कि गंवार-ग्वाला जैसी जो गालियां मैं जीवन भर सुनता आ रहा था, वही गालियां मेरे भोले वृन्दावनवासी भी रोज-रोज सुने। और फिर होने को यह भी नहीं हो सकता था कि हम सिर्फ चार-पांच सौ वृन्दावनवासियों के भरोसे द्वारका बसा लें। यानी कि कुल-मिलाकर उन्हें न ले जाने का निर्णय उन्हीं के हित में था। यदि इसमें किसी का नुकसान था, तो सिर्फ मेरा। ...मेरा प्यार, मेरा आनंद, मेरा चैन सब बिछड़ रहा था, ...और बदले में मिल रहे थे बदनामी और ताने। कहने का तात्पर्य मेरी सोच स्पष्ट थी कि मुझपर जो बीतेगी वह मैं सह लूंगा, पर मेरे प्यारे वृन्दावनवासी अकारण अपमान सहें, यह मैं कतई बर्दाश्त नहीं कर सकता था। वैसे भी मेरी दृष्टि में अपमानित जीवन मौत से भी बदतर होता है। और मैं अपने प्यारे वृन्दावनवासियों को अपमान से भरा ऐसा जीवन कतई नहीं दे सकता था। और यही बात मैंने अर्जुन से गीता में कही भी थी। होगा, अभी तो उद्धव मेरी बात समझ चुका था, उम्मीद है आप भी समझ ही चुके होंगे।

...इधर उद्धव के बात समझते ही मैंने उसे सुभद्रा और उसके परिवार को ले आने वृन्दावन भेजा। कुछ और रिश्तेदार भी थे, जिन्हें वह अपने साथ ले जाना चाहता था। भला मुझे इसमें क्या एतराज हो सकता था? वैसे तो राधा व नंद-यशोदा को भी उसे लेकर आना ही था। हालांकि यह मेरी झूठी आशा के सिवाय कुछ नहीं था। ...क्योंकि मैं जानता था कि राधा अपनी जिद्द के कारण नहीं आएगी और दूसरी तरफ नंदजी भी अपने कर्तव्यों से बंधे होने के कारण वृन्दावनवासयिों को अकेला छोड़कर कभी नहीं आएंगे। मुझे मालूम था कि नंदजी एक कर्तव्य-परायण व्यक्ति हैं, वे कभी अपने कर्तव्यों से मुंह नहीं मोड़ सकते। वे जानते हैं कि पूरा वृन्दावन उन्हीं के भरोसे जी रहा है। वैसे ही यशोदा के आने की भी कोई संभावना नहीं थी। माना, मां यशोदा के मन कन्हैया मिल जाए तो उसे और क्या चाहिए? ...परंतु उसका कर्तव्य नंदजी की सेवा भी तो था। और वह मेरी मां है, अपना कर्तव्य ही निभाएगी। सचमुच मैं बड़ा भाग्यवान था जो मुझे ऐसे मां-बाप मिले थे, जिन्हें प्रेम का सही अर्थ पता था। दरअसल ‘‘प्रेम’’ तो भीतर की एक शुद्ध अनुभूति का नाम है। उसका होना ही पर्याप्त है। प्रेम की कोई अलग से मांग या चाह नहीं हो सकती।

चलो यह सब छोडूं और इधर अपनी कहूं तो मेरी परिस्थिति भी समझने लायक थी। जिन्हें मैं अपने जहन में बसाए जी रहा था, उनमें से कोई मेरे साथ द्वारका आता नहीं लग रहा था। न राधा, न मां... न पिताजी। और आप तो जानते हैं कि राधा व मां के बगैर मेरा अस्तित्व ही क्या? आप ही सोचिए कि ऐसे कठिन समय में मेरे मन पर क्या-क्या बीत रही होगी? मां व राधा से हमेशा के लिए बिछड़ने का दर्द निश्चित ही मेरे हृदय की क्षमता के बाहर था। ऊपर से हालत यह कि दर्द महसूस करने का भी समय नहीं था, क्योंकि मन पूरी तरह कर्म में लगा हुआ था। सवाल मेरे सपनों का ही नहीं, हजारों मथुरावासियों के जीवन का भी था। सच कहता हूँ कि मुझे पड़े दुःख, मैंने सहे दर्द और मेरे उठाए कष्ट सहना किसी के बस में नहीं। उस पर मेरे किए संघर्षों को क्या कोई कर पाएगा? लो घूम-फिर कर वही बात। फिर अपनी तारीफ शुरू कर दी। एकबार सबको ले जाकर द्वारका में बस जाओ, फिर मान लेंगे मनुष्य-जाति के इतिहास में तुम-सा न कोई है, न था। तत्क्षण द्रष्टा ने मेरे फनफनाते अहंकार को दबा दिया। चलो ठीक है; यदि अहंकार की दृष्टि से नहीं सोचने देते तो द्रष्टा की दृष्टि से ही सोच लेते हैं। और द्रष्टा की दृष्टि तो बिल्कुल साफ थी। उसमें दुःख व कष्ट को जगह ही कहां? उसकी दृष्टि में तो मनुष्य जन्म ही कर्म व कर्तव्यों की एक अविरत शृंखला का नाम है। ऐसे में जो प्रेम मनुष्य को अपने कर्तव्यों से विमुख कर दे वह ‘‘प्रेम’’ नहीं, ‘‘स्वार्थ’’ है। उसी तर्ज पर जो दर्द मनुष्य को अपने कर्तव्य से विमुख कर दे वह भी स्वार्थ ही है। ज्यादा दूर क्यों जाते हैं, हमारे ही परिवार

का उदाहरण लो। मां का प्यार ''मैं'' था और कर्तव्य ''पिताजी''। मां को यदि मेरा प्रेम अपने कर्तव्य से विमुख कर देता तो फिर वह प्रेम दो कौड़ी का हो जाता। पिताजी का भी प्रेम मैं ही था, लेकिन उनका कर्तव्य 'वृन्दावन' था। मेरा भी प्रेम मां, राधा व वृन्दावन ही थे; लेकिन मेरा कर्तव्य मथुरावासियों की जान बचाना व उन्हें बेहतर जीवन देना था। और ना तो मुझे अधिकार था कि मैं अपने प्रेम की खातिर उनको अपने कर्तव्यों से विमुख करूं, ना ही उनके प्रेम ने कभी मुझे अपने कर्तव्यों से विमुख होने दिया। इसलिए मैं दावे से कह सकता हूँ कि हमारा आपसी प्रेम सच्चा था। यानी मैं ना सिर्फ परिवार के, बल्कि प्रेम के मामले में भी भाग्यवान था। या यूं कहूं कि सिर्फ इसी मामले में ''भाग्यवान'' था। बाकी तो आप जानते ही हैं कि मेरे पल्ले तो जाति-जाति व भांति-भांति के कालयवन व जरासंध ही पड़ते थे। वैसे जब इतनी बात चली है तो एक बात और स्पष्ट कर दूं, संसार की बाकी ऊंचाइयां तो कर्म से प्राप्त की जा सकती है लेकिन प्रेम तो होता है। कहने का तात्पर्य वह कर्म से कभी नहीं पाया जा सकता। मेरी दृष्टि में वे भाग्यहीन हैं जिन्हें कुदरत से बहुत कुछ मिला है पर जीवन में प्रेम नहीं मिला। दुर्भाग्यशाली हैं वे, जिन्हें जीते जी किसी से कभी प्रेम नहीं हुआ। जीवन बर्बाद है उनका, जिनके जीवन के सारे रिश्तों की जड़ स्वार्थ व कर्तव्य-विमुखता पर टिकी हुई हो। वे मेरी दृष्टि में कितने ही बड़े सिंहासन पर बैठे हों, अंत में जिंदा लाश के सिवाय कुछ नहीं।

सो, कुल-मिलाकर सौ बातों की एक बात यह कि मैं तो मां व पिताजी का प्यार पाकर धन्य हो गया था। उनका प्यार पाकर बड़भागी हो गया था। सचमुच हम मां-बेटे का प्यार ऐतिहासिक था, और वही मेरा जीवन था। आप कहेंगे कि वाह कृष्ण! मां व पिताजी का प्यार तो समझा दिया लेकिन राधा की चर्चा तक नहीं की। ना मैंने की है ना आप करना, ...वरना मैं रो पड़ूंगा! ...उसके प्यार की ऊंचाइयों की चर्चा फिर कभी फुर्सत के क्षणों में कर ली जाएगी। क्योंकि एकबार उसकी बात चली तो मेरा मन वर्तमान कर्तव्यों से हट जाएगा। फिर भी इतना तो कह ही देता हूँ कि प्रेम तो उस शक्ति का नाम है जो मनुष्य को कर्तव्य की राह पर मजबूती से खड़ा होने की प्रेरणा देता है। जो प्रेम मनुष्य को कमजोर कर दे या कर्तव्य से विमुख कर दे, वह प्रेम नहीं मोह है। अहंकार व स्वार्थ है, ...और शायद वासना भी है। और मेरे व राधा के प्यार में ऐसा कुछ नहीं था। ...वैसे अब राधा की बात चल ही गई है तो बिल्कुल खामोश भी नहीं रह सकता। कुछ-न-कुछ बात तो करनी ही होगी। ...तो सुनो, यह मां व राधा का प्रेम ही तो है जो मैं आज पूरी मथुरा को जीवन देने जा रहा हूँ। मैं कंस, पंचजन व शृंगलव जैसे दुष्टों का वध कर पाया, जरा सोचो कि क्या यह राधा का प्यार व मां के आशीर्वाद की शक्ति के बगैर संभव था? मां, राधा व पिताजी भले ही मेरे साथ द्वारका न आएं, लेकिन मैं उन्हें अपने हृदय में बिठाकर अपने साथ द्वारका ले ही जा रहा हूँ। और मुझे इस बात का ''परम संतोष'' है। सो जब तक हम सकुशल द्वारका नहीं पहुंच जाते दोबारा यह चर्चा मत छेड़ना।

खैर, अब मैं भी यह सारी चर्चा छोड़ वापस वर्तमान कर्मों पर लौट आता हूँ। समय कम था व तैयारियां काफी करनी थी। मैं व भैया पुरजोर पलायन करने की तैयारियों में भिड़े ही हुए थे। ...हालांकि यह ''सामूहिक-रणछोड़'' वाली बात अब भी मथुरा में हम दोनों के अलावा कोई नहीं जानता था। लेकिन कब तक? आखिर जिन्हें ले जाना है उन्हें भी समय रहते बताना तो होगा ही। ...और फिर इतना बड़ा विस्थापन कोई मजाक थोड़े ही था, उन्हें भी हजारों तैयारियां करनी होगी। कार्य वाकई विशाल व जटिल था, व सामने हमारे पास समय क्या था, ...बीस दिन? सचमुच हम असंभव कार्य में लगे हुए थे। वैसे तो कब, किसे, क्या और कितना कहना है, इस बाबत मैं पूरा सोच-विचार कर चुका था। इसके तहत पहले बगैर किसी को कुछ बताए हम अपने भरसक सारी तैयारियां कर लेना चाहते थे, फिर धीरे-धीरे सबको बताया जाना था। और ठीक इसी रणनीति के तहत अब पिताजी और नानाजी को बताने का समय आ चुका था। सो तत्क्षण मैंने दोनों को एकसाथ ही धर-दबोचा। और जब उन्हें कुशस्थली-विजय व द्वारका की स्थापना के बाबत बताया तो उनका मुंह जो खुला तो खुला ही रह गया। बेचारे गर्व व आश्चर्य के बीच हिचकोले खाने लगे। हमने इतनी बड़ी प्रगति कर ली, और उन्हें कानों-कान खबर तक न लगी। ऊपर से भैया की शादी की बात सुनकर तो दोनों झूम ही उठे थे। वैसे नानाजी अवश्य कुशस्थली के बाबत कुछ-कुछ जानते थे, वहां सेना तो मथुरा की ही भेजी गई थी। ...लेकिन बाकी की खबरें तो उनके लिए भी बिल्कुल अप्रत्याशित ही थी। हालांकि यह बात अभी हमने माताजी को बताना उचित नहीं समझा था। इससे बात की गुप्तता भंग होने की संभावना थी। होगा, अभी तो अब मेरे व भैया के अलावा नानाजी व पिताजी भी द्वारका निर्माण वाली बात जानते थे। पर हां, उनसे हमने जरासंध या कालयवन के हमले वाली बात नहीं कही थी। ...क्योंकि मैं अकारण भय व आतंक का वातावरण पैदा करना नहीं चाहता था। क्योंकि सामान्य व्यक्ति के लिए भय व आतंक के वातावरण में मानसिक शांति बनाए रखना मुश्किल हो जाता है, और परिणाम में उससे वर्तमान कर्म प्रभावित होने के आसार खड़े हो जाते हैं।

खैर छोड़ो। अभी तो इधर मथुरा की राजनीति में जो एक सुखद परिवर्तन आया था उसकी चर्चा करूं।

सत्राजित की ऊपरी मधुरता ने उसके खास "सात्यकि" को मेरे काफी करीब ला दिया था। सत्राजित की मेहरबानी से सात्यकि अब मेरा एक अच्छा व विश्वासु मित्र हो चुका था। इस बात का जिक्र इसलिए कर रहा हूँ कि इस समय सात्यकि की मित्रता मेरे लिए संजीवनी बूटी के समान थी। ...क्योंकि वीरता व युद्ध की रणनीति बनाने में वह पूरी मथुरा में बेजोड़ था। वहीं इतने दिनों का साथ पाकर मुझे अब उसकी वफादारी पर भी रत्तीभर शंका नहीं रह गई थी। सार यह कि मैंने दूसरे क्रम में सात्यकि को पूरी बात बताने का निर्णय लिया। स्वार्थ की बात यह कि सामूहिक विस्थापन के समय निश्चित ही वह महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता था। अब वक्त पड़ने पर गधे को बाप बना लिया जाता है, यह तो फिर भी सात्यकि था। उधर वह तो नया राज्य बसा लिए जाने की खबर सुनते ही खुशी के मारे उछल पड़ा। उसने मुझे मुबारकबाद भी दी। उसकी प्रसन्नता ही बता रही थी कि उसे बताने का मेरा निर्णय सही था। स्वाभाविक तौर पर उससे मैंने सिर्फ द्वारका-निर्माण वाली बात कही थी। यदि इस समय जरासंध के हमले वाली बात बता देता तो वह समझता कि मतलब के लिए मैं उससे मित्रता बढ़ा रहा हूँ। और कृष्ण ऐसी गलती कभी नहीं करता। किसको कौन-सी बात कब बतानी है ...और किससे कौन-सी बात कब छिपानी है, भला इस विषय में मेरा कोई सानी कैसे हो सकता है?

खैर! मथुरा से करीब एक हजार सैनिक ले जाना तय हुआ। उन सैनिकों का चुनाव मैंने भैया व सात्यकि पर ही छोड़ दिया। हालांकि अधिकांश वे ही सैनिक चुने जाने थे जिन्हें हम कुशस्थली में आजमा चुके थे। और हां, मैंने काफिले की सुरक्षा की रणनीति भी चतुरतापूर्वक सात्यकि को ही सौंप दी थी। अब बहादुर की बहादुरी का उपयोग तो करना ही था। आप कहेंगे कि एक के बाद एक को काम सौंपता जा रहा है पर स्वयं अपने हाथ में कोई काम नहीं ले रहा। अब भला रणछोड़ किस काम का था? नहीं...नहीं ऐसा बिल्कुल नहीं है, मैं भी बड़े काम का था। और भी काम होते हैं जमाने में बहादुरी के सिवा। सो, मैंने भी अपने स्तर का एक काम ढूंढ़ ही लिया था। रथ व गाड़ों के मरम्मत की नाजुक जवाबदारी मैंने अपने कंधों पर उठा रखी थी। यूं भी पूरी यात्रा गाड़ों व रथों के भरोसे ही तो काटनी थी।

यह तो ठीक पर यहां समय कटता जा रहा था तो उधर उद्धव भी सुभद्रा व अपने परिवार के कुछ रिश्तेदारों के साथ वापस आ पहुंचा था। जैसी की उम्मीद थी न राधा आयी थी, न माता-पिता यानी नंद-यशोदा। इसमें दु:ख पालने का कोई कारण भी नहीं था, क्योंकि यह पहले से अपेक्षित था। बुद्धिमान मनुष्य कम दुखी होता है, उसकी यही एक वजह है कि उसकी दूरदृष्टि के कारण उसके साथ अनपेक्षित कम ही घटता है। और अपेक्षित का मनुष्य भला कितना दु:ख पाल लेगा?

...हालांकि इधर भले ही वे नहीं आए पर उन्होंने मुबारकबाद अवश्य भिजवाई। मेरे लिए यही सबसे बड़ा आशीर्वाद था। सच्चे प्रेम की यही तो खूबी होती है, वह दूर रहकर भी मनुष्य की प्रगति का सहभागी बन जाता है। तभी तो कहता हूँ कि प्रेम से ज्यादा पवित्र व शक्तिशाली विश्व में कुछ नहीं।

खैर! अभी तो कटते समय से याद आया कि मेरी योजना के मुताबिक हमें बारह दिनों बाद ही निकलना था। वैसे तो अब सारी तैयारियां हो चुकी थी। अब तो मथुरावासियों को भी इस विस्थापन के बारे में बताने का समय आ चुका था। सो, मैंने तुरंत नानाजी को कहकर एक यादव-सभा बुलवाई। उसमें सत्राजित, अक्रूर चाचा, भद्रक जैसे सभी प्रमुख यादवों समेत मथुरा के सभी साधारण यादवों को भी बुलवाया गया था। सभा की विशालता देखते हुए इसे आयोजित भी मथुरा के मुख्य खेल-प्रांगण में ही किया जा रहा था। और यही मेरी योजना का अंतिम पासा था। यदि यह ठीक से पार पड़ गया तो जरासंध नामक बला से हमेशा के लिए पीछा छूटा ही समझो। बाकी रहा सवाल द्वारका निर्माण का तो उसकी चिंता मैंने पूरी तरह छोड़ दी थी। क्योंकि जितनी और जैसी बनी होगी, एकबार को तो विस्थापन कर ही लिया जाएगा। भले ही महीने-दो-महीने बाहर समुद्र तट पर बिता देंगे, पर जरासंध से तो जान छुड़ा ही लेंगे। यानी कि कैसे भी बीच का मार्ग निकालकर जीवन बचाने हेतु मैं दृढ़-संकल्पित हो गया था। अब जान है तो आगे बहुत कुछ किया ही जा सकता है। अत: अब मैं पूरी तरह से यादव सभा को संबोधित करने हेतु तैयार था। मैं जानता था कि इस संबोधन का काफी संतुलित होना आवश्यक है। मैं यह भी जानता था कि इस एक संबोधन की सफलता पर ही हम सबका भविष्य टिका हुआ है।

...आखिर सभा का दिन भी आ ही गया।बेचैनी इतनी थी कि मैं उद्धव, नानाजी व भैया के साथ समय से काफी पूर्व ही सभास्थल पहुंच गया था। आश्चर्य यह कि समय रहते इस तुरत-फुरत बुलवाई सभा में भी अपेक्षित भीड़ जमा हो चुकी थी। नजारा तो ऐसा कि मंच तो यादव-संभ्रांतों से खचाखच भरा ही पड़ा था, प्रांगण में भी जहां तक नजर दौड़ाओ, पांव रखने तक की जगह नहीं थी। आश्चर्य में डालने वाली बात तो यह कि सत्राजित, अक्रूर चाचा समेत अधिकांश यादव-प्रमुख समय से ही आ चुके थे। होगा, अभी उन सब बातों पर विचार करने का समय ही कहां

है? सच कहूं तो इस समय मैं अच्छा-खासा बेचैन था। क्योंकि मेरी योजना के मुताबिक मेरे सपने व मथुरावासियों के भविष्य के दरम्यान इस सभा की सफलता ही खड़ी थी। यदि इसमें सबकुछ मेरे मन-मुताबिक नहीं हुआ तो बड़ी गड़बड़ हो सकती थी। अत: व्यर्थ की बातों में उलझने के बजाए मैं अपना संतुलन बनाये रखने पर ही ध्यान लगाए हुए था। स्वाभाविक तौर पर यादव-प्रमुख होने के नाते सभा का प्रारंभ मुझे अपने ही संबोधन से करना था। और मैं जल्दी में था ही, सो सीधे संबोधन प्रारंभ कर दिया। आज मैं अपना स्थान छोड़ खड़ा भी मंच के कोने पर ठीक प्रजा के सामने हो गया था। दृश्य ऐसा कि सभी यादव-संभ्रांत समेत पूरी मंत्रिपरिषद मेरे पीछे बैठी हुई थी। मैंने कहना प्रारंभ भी बड़ी सहजतापूर्वक व पूरी संजीदगी से ही किया - मेरे आत्मीय व आदरणीय यादव बंधुओं! अत्यंत वेदना और व्यथा के साथ यह कहना पड़ रहा है कि हम आपका अभिवादन करने व आपसे बिदा लेने यहां उपस्थित हुए हैं? [5] ।

...स्वाभाविक तौर पर यह सुनते ही सब चौंक पड़े। खासकर सत्राजित, उसे तो लगा मानो उसका "मणि-चोर" उसके हाथों से भागा जा रहा है। उसकी हालत सचमुच देखने लायक हो गई थी। मजा यह कि सभा में छाए सन्नाटे का फायदा उठाते हुए मैं एक-दो बार गर्दन टेढ़ी कर उसकी तरफ देख भी चुका था। सच कहूं तो उसकी वर्तमान हालत देख मुझे हंसी भी आ रही थी। फिर भी समय की मांग को देखते हुए मैंने हंसी नियंत्रित कर अपना ध्यान संबोधन पर लगाना ही उचित समझा था। अत: मैंने तत्क्षण संजीदगी ओढ़ संबोधन आगे बढ़ाते हुए कहा- मेरी बात सुनकर आपका चौंकना स्वाभाविक है, खासकर सत्राजित जैसे मित्रों का। लेकिन यथार्थ यही है कि हमें मथुरा छोड़कर जाना ही होगा। ...क्या करूं, ऐसे गंभीर वक्त में भी आदत से मजबूर मैं सत्राजित को छेड़ने से स्वयं को नहीं रोक पाया। ...लेकिन यह अंतिम बार, मैंने तत्क्षण स्वयं को समझाया "कन्हैया सिर्फ संबोधन पर ध्यान दो", छेड़छाड़ के लिए तो पूरा जीवन पड़ा है।

इसके साथ ही पूरा ध्यान लगाते हुए मैंने दोबारा बोलना प्रारंभ किया, लेकिन अबकी पूरी संजीदगी से। मैंने कहा- हमने जब वृन्दावन छोड़ा था, तब भी हमें पीड़ा हुई थी। पर तब सोचते थे कौन-सा हमेशा के लिए जा रहें है? और फिर वृन्दावन एक योजन पर ही तो है, जब चाहेंगे वापस चले जाएंगे। लेकिन जैसा कि आप सभी जानते हैं कि आज तक वापस बृज जाना नहीं हो पाया। हालांकि वह हमारा जाती दु:ख है। प्रमुख बात तो यह कि अब मथुरा छोड़ने का समय भी आ ही गया है। दु:ख तो बहुत हो रहा है, लेकिन जहां हम जा रहे हैं वहां जाना हमारे जीवन की गंभीर अनिवार्यता है। विचित्र स्थिति है, ...सोचता हूँ जाऊं तो जाऊं कैसे? एक तरफ आपका प्रेम हमें रोक रहा है, तो दूसरी तरफ जाना हमारे जीवन की आवश्यकता है। ...मेरी बात सुनते ही सभा में एकदम सन्नाटा छा गया। कुछ लोगों ने तो यह भी सोचा कि शायद हम वापस वृन्दावन जा रहे हैं। चाहे जो हो, इस संबोधन के दौरान मेरी वाणी व शब्दों का चयन अपने सर्वोच्च शिखर पर था। वैसे सर्वोच्च शिखर पर तो लोगों की उत्सुकता भी जा बैठी थी। बस यही समय था अंतिम वार करने का। अत: बिना पल-भर की देरी के मैंने अपना संबोधन आगे बढ़ाते हुए कहा-आपको यह जानकर खुशी होगी कि बलराम भैया ने समुद्र किनारे से लगे "कुशस्थली राज्य" को जीत लिया है। और यही नहीं, वहां की राजकुमारी रेवती से विवाह भी कर लिया है। वैसे तो वह राज्य अब हमारा ही है, फिर भी हमने स्वयं के एक छोटे-से राज्य का निर्माण किया है। कुल-मिलाकर यह खुशखबरी सुनाने व आपसे इजाजत लेने यह सभा बुलवाई थी।

...यह बात सुनते ही आश्चर्य पूरी सभा पर चिपक गया। एक पल को तो किसी के समझ में ही नहीं आया कि यह मैं क्या कह गया? क्या हमारे सामने आए वृन्दावन के छोकरों की इतनी प्रगति संभव है...? सबके आश्चर्य को अपनी चरम सीमा पर पहुंचा देख मैंने मौका जानकर कुछ और प्रहार हेतु अपना संबोधन आगे बढ़ाया। मैंने कहा- जहां तक इस नए राज्य का सवाल है, वह समुद्र किनारे आर्यावर्त के पश्चिमी तट पर बसा हुआ है। मैंने आप लोगों से कभी इस राज्य के निर्माण की चर्चा नहीं की, क्योंकि आपकी आत्मीयता और अपार स्नेह के समक्ष आपको छोड़ने की चर्चा करने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। लेकिन अब जब अगले दस दिनों में ही हमें प्रस्थान करना है, तो बात बतानी ही पड़ी। आपकी जानकारी के लिए बता दूं कि हमने अपने राज्य का नाम "द्वारका" रखा है। ...बस इतना कहकर कुछ देर के लिए मैं फिर खामोश हो गया। मैं एक-एक कर प्रहार करना चाहता था ताकि लोगों का हाजमा न बिगड़ जाए। और जैसे ही सब सम्भले कि आगे की बात मैंने बड़े भावुकता का आवरण ओढ़ते हुए कही।नौटंकी को अपनी चरम सीमा पर पहुंचाते हुए अबकी बड़ी आत्मीयता से बोला- मन में तो आता है आप सबको लेता चलूं, पर हमको क्या अधिकार है कि हम आपसे कहें कि आप अपना बसा-बसाया घर उजाड़ें और हमारे साथ चलें। लेकिन फिर भी आप में से जो चलना चाहें, उन्हें हम इन्कार भी नहीं कर सकते।

...यह सुनते ही कइयों के चेहरे खिल उठे। कुछ असमंजस में भी दिखाई दिए। कुछेक अब भी विश्वास नहीं

कर पा रहे थे कि ऐसा कुछ भी हो सकता है। वहीं सत्राजित व यादव-संभ्रांत तो बुरी तरह झटका खा गए थे। सच कहूं तो मैं भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति चाहता था। तभी तो अपने पूरे संबोधन के दरम्यान मैंने द्वारका की भव्यता का वर्णन नहीं किया था और ना ही जरासंध या कालयवन के हमले की चर्चा ही की थी। कुल-मिलाकर कहूं तो कम-से-कम जाने के लिए तो किसी को नहीं ही उकसाया था। अब मैंने अपनी ओर से भले ही पूरी चतुराई बरती थी, लेकिन अनायास मन ने सोच की उल्टा ही दिशा पकड़ ली। दरअसल प्रांगण का मिला-जुला माहौल देख मेरा दिल धड़कना शुरू हो गया। अचानक डर पकड़ लिया कि कहीं गणित उल्टा न पड़ जाए। क्योंकि मैं जो चाहता था, स्पष्ट था। मैं यह कतई नहीं चाहता था कि पूरी मथुरा हमारे साथ चलने को उमड़ पड़े, वहीं यह भी जरूरी था कि और कुछ नहीं तो राज्य बसाने जितने लोग द्वारका जरूर आएं। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने पूरे संबोधन के दरम्यान यह संतुलन बनाये रखने की कोशिश भी की थी। निश्चित ही यदि द्वारका की भव्यता या जरासंध के हमले की बात कर देता, तो पूरी मथुरा जाने को उमड़ पड़ती। वहीं बहुत रूखी बातें करता तो शायद कोई आने को ही तैयार न होता। अब मेरी चालाकी व मेरा संतुलन अपनी जगह था, तथा लोगों की सोच अपनी जगह। सच कहूं तो प्रांगण का मिला-जुला माहौल देख मेरी हालत अजीब हो गई थी। कहीं ऐसा न हो जाए कि कोई भी न आए व हमीं राजा और हम ही प्रजा बनकर रह जाएं?

...कुल-मिलाकर मेरे मन में हजारों तूफान उठ रहे थे और थम रहे थे। कोई नहीं आया तो इतनी बड़ी द्वारका में हम अकेले क्या करेंगे? वहीं यदि सभी आने को तैयार हो गए तो? तो...तो द्वारका बसने के साथ ही मथुरा हो जाएगी। यही सब सोच-सोच इधर मेरी धड़कन बढ़ती जा रही थी, तो उधर सभा का माहौल कुछ भी स्पष्ट इशारा नहीं कर रहा था। हालांकि अपनी दृष्टि से देखूं तो मुझे अधिकांश लोग जाने को उत्सुक दिखाई दे रहे थे। लेकिन यह मेरी अपनी सोच थी। उसका कोई वास्तविक औचित्य तो था नहीं। अंत में सोच तो सभा की ही काम आनी थी। और मेरी कहूं तो मैं अब जल्द-से-जल्द बात पक्की कर चिंता से मुक्त हो जाना चाहता था। अत: एक अंतिम धक्का मारने के उद्देश्य से मैंने फिर कहना प्रारंभ किया। मैंने कहा- आप में से जो भी हमारे साथ जाना चाहते हैं, वे अपने रथ व बैलगाड़ियों में अपना सामान भरकर पूरे परिवार के साथ आज से ठीक दसवें रोज नगर के पश्चिमी द्वार पर एकत्रित हो जायें। सभी आने के इच्छुक यादवों से निवेदन है कि वे अपने साथ रास्ते के भोजन पानी की भी व्यवस्था करते चलें।

मेरे इतना कहते ही चारों ओर खुशी की लहर दौड़ गई। सबने मिलकर हमारी जयकार बोला दी। अब कहीं जाकर मैं निश्चिंत हुआ। माहौल ने बात पक्की कर दी। सिर्फ सत्राजित के होश उड़े हुए थे। उसका ''मणि-चोर'' जो उसके हाथ से निकल कर भाग रहा था। उसके मुंहलगे यादव-प्रमुखों का हाल भी कोई उससे बहुत ज्यादा अच्छा नहीं था। यानी उसके व उसके पिछल्लुओं के आने की संभावना नहिंवत् ही थी। तो, मेरी सेहत के लिए वे न आएं, यही अच्छा था। वरना मालूम पड़े वहां भी चैन से नहीं जीने दे रहे। सो, छोड़ो उनको। अभी तो यहां यथायोग्य लोगों के आने की संभावना प्रबल हो गई थी। ...और इसके साथ ही मेरे संबोधन के साथ प्रारंभ हुई यह यादव-सभा मेरे संबोधन के साथ ही समाप्त भी हो गई। इधर सभा समाप्ति के बाद हम तो सबकी मुबारकबादें स्वीकार कर चल भी पड़े, पर प्रांगण का जमावड़ा हिलने का नाम नहीं ले रहा था। चारों ओर हमारी जयकार बोलायी जा रही थी। हमारी बहादुरी की तारीफों के पुल बांधे जा रहे थे। सबका उत्साह यह दर्शा ही रहा था कि द्वारका बसी ही समझो। ...सच कहूं तो यह कार्य उम्मीद से कहीं ज्यादा आसानी से निपट गया था। मुझे अपने सटीक संबोधन पर काफी गर्व हो रहा था। निश्चित ही आज की इस सफलता का पूरा श्रेय मेरे शब्दों के चयन व मेरी बोलने की अदा को ही जाता था। ...अब जब काम खत्म हो चुका है तब तो अपनी कुछ तारीफ कर लेने दो।

खैर! वैसे अब कोई विशेष कार्य तो बचा नहीं था। सबकुछ मन मुताबिक निपट ही चुका था। सोचा, क्यों न दो दिन के लिए वृन्दावन हो आऊं। मां व राधा से मिलता आऊं। जब यहां रहे-रहे मौका नहीं मिला तो पता नहीं द्वारका जाने के बाद कब मौका मिले। पीछे भैया, उद्धव व सात्यकि सम्भालने के लिए हैं ही। ...यह तय क्या किया, मैं वृन्दावन के सपनों में ही खो गया। जब यह खुशखबरी भैया को सुनाई तो वे भी साथ आने की जिद करने लगे। वृन्दावन जाने के नाम से उनका भी उत्साहित होना लाजमी ही था। उद्धव भी यह सुनते ही पागल हो गया। उसकी तो दिली तमन्ना पूरी होने जा रही थी। और मेरी कहूं तो मेरे पांव तो जमीन पर पड़ने ही बंद हो गए थे। यह देख एक दिन के लिए ही सही, सबका जाना तय कर लिया। कल सुबह ही हमें निकलना था। उत्साह का मारा मैं तो सब काम छोड़कर जाने की तैयारियों में जुट गया। शानदार वस्त्र व गहने रख लिए थे। अब उनके बीच रहने वाला ग्वाला ''श्रीमंत और राजा'' हो गया है तो राजा-सा रुआब भी तो पड़ना ही चाहिए।

...वैसे सबके लिए ढेर सारे वस्त्र व जीवन का जरूरी सामान भी ले जा रहा था। अब आप से क्या छिपाऊं,

राधा को सजाने हेतु तो सामग्रियों की लंबी-चौड़ी सूची तक बना ली थी। यही नहीं, साथ में दसियों रथों व सेवक-सिपाहियों का काफिला भी ले जा रहा था। सीधी बात है, रुआब पड़े तो पूरा पड़े। आप मानेंगे नहीं कि दसियों काम छोड़कर सारा सामान खरीदने हेतु मैं स्वयं बाजार गया। एक-एक को याद कर सबके लिए वस्त्र व सामग्रियां खरीदी। खरीदारी करते-करते संध्या कहां हो गई पता ही न चला। और सामान, वह तो गाड़ा भर खरीद लिया था। क्यों न खरीदता, पहली बार तो अपने प्यारे वृन्दावनवासियों को कुछ देने का मौका मिल रहा था। ...वाकई आज का दिन मेरे जीवन का सर्वश्रेष्ठ दिन था। उत्साह अपनी चरम सीमा पर था। राधा व यशोदा तो वैसे ही मेरे अस्तित्व पर छाये रहते थे, आज तो वे मेरे अस्तित्व के मालिक भी हो गए थे। और वह भी इस कदर कि मैं खड़े-खड़े उन दोनों के पास वृन्दावन ही पहुंच गया था। देखना, राधा तो मेरे आने की खबर सुनते ही पागल हो जाएगी। और अपने कन्हैया का रुआब देख तो शायद बेहोश ही हो जाएगी। और...मां! मां तो अपने लाल की प्रगति देख वह अश्रुधारा बहाएगी कि यमुना में बाढ़ ही आ जाएगी।

...शायद मैं इतना खुश जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था। ...लेकिन मेरी खुशी कुदरत को कहां रास आने वाली थी। अभी घर पहुंचकर सामान सारा बरामदे में उतरवाया ही था, और एक बड़े गाड़े में भरने के निर्देश दे ही रहा था कि घबराया सात्यकि ऐसी भयानक खबर लेकर आया कि वृन्दावन तो दूर मथुरा की जमीन ही पांव तले से खिसकती नजर आने लगी। सामान रखे गाड़े में तो जैसे आग ही लग गई। आसमान की उंचाइयों पर उड़ रहे मुझको उस खबर-मात्र ने जमीन की गहराइयों में धंसने पर मजबूर कर दिया। वह कहीं से खबर लेकर आया कि कालयवन की सेना मथुरा के काफी निकट आ पहुंची है। अनगिनत पैदल सैनिकों की वजह से उनकी गति धीमी अवश्य है फिर भी ज्यादा-से-ज्यादा अगले दस-पन्द्रह दिनों में उनका मथुरा प्रवेश निश्चित है। ...खबर अपने-आप में दिल दहला देने वाली थी। हमें निकलने में अभी दस दिन बाकी थे। ऐसे में कालयवन अनुमान से करीब पन्द्रह दिन जल्दी आ टपका था। सूचना इतनी भयानक थी कि सुनते ही मैं बुत हो गया। हालत यह कि काटो तो खून नहीं। यदि सचमुच उसने मथुरा में प्रवेश कर लिया तो यह तय है कि द्वारका पलायन के लिए कोई जिंदा नहीं बचेगा। और फिर जब कालयवन आ पहुंचा है तो जरासंध भी आता ही होगा। ...मेरी तो बुद्धि ही चलनी बंद हो गई थी। कुछ सोचना समझना, किसी निष्कर्ष पर पहुंचना या निर्णय करना सब असंभव हो गया था। वृन्दावन तो कालयवन के आने की खबर सुनते ही छू हो गया था। मामला तो ऐसा कि बुद्धि चले या न चले चिंतन को तो क्रियाशील करना ही पड़े, ऐसा था। उधर नियमानुसार संकट के इस परम शिखर पर चिंतन को भी क्रियाशील होना ही था। यूं भी मामला ही अभी नहीं तो कभी नहीं वाला था। और आप तो जानते ही हैं कि एकबार चिंतन क्रियाशील हुआ तो समस्या का हल भी निकलना ही था।

...शुरुआती चिंतन से परिस्थिति के बाबत दो बातें स्पष्ट हुई। इसका पहला अर्थ तो यह हुआ कि सबसे पहले हमें मार्ग बदलना पड़ेगा। वहीं हरहाल में हमें यात्रा में तेजी भी बनाए रखनी होगी। कारण स्पष्ट था, कालयवन को हमारे मथुरा विस्थापन का पता चलते ही वह हमारा पीछा अवश्य करेगा। और एकबार पीछा किया तो काम तमाम भी कर डालेगा। क्योंकि समय के इतने कम फासले को देखते हुए उसका हमें पकड़ पाना ज्यादा मुश्किल नहीं था। ऐसे में हममें से कोई जिंदा नहीं बचेगा।देखते-ही-देखते बांस और बांसुरी दोनों का सामूहिक दहन समारोह हो जाएगा। अजब हालत हो गई थी मेरी। बरामदे की सीढ़ियों पर दीवार से टेका लगाये बैठा मैं सामने गाड़े में रखे जा रहे सामान को देख रहा था। सात्यकि यहीं मेरे पास में बैठा हुआ था।चाहे जो हो, मन कठोर करना ही पड़े, ऐसा था। ऐसे बदले माहौल में वृन्दावन जाने की सोचना ही बेमानी हो गया था। कुल-मिलाकर बाकी किसी बात का अन्जाम तो मुझे नहीं मालूम पर मैं दुखियारा... मां, पिताजी व राधा से मिलने के सुख से एकबार फिर वंचित रह गया था। यही नहीं, इसके साथ ही ''दगाबाज'' का अलंकरण भी मजबूती से ओढ़ लिया था।

खैर, पहले तो सर पर आयी मुसीबत का इलाज खोज लिया जाए, जिंदा रहे तो कभी इस बाबत भी सोच लिया जाएगा। अब मुसीबत का इलाज क्या खोजें? हालात यह थे कि लंबा समय बीत जाने के बावजूद मेरे व सात्यकि के बीच एक शब्द का आदान-प्रदान नहीं हुआ था। सबसे बड़ी बात तो यह कि सात्यकि तो सिर्फ कालयवन के बाबत ही जानता था। जरासंध भी आ रहा है, यह तो उसे मालूम ही नहीं था। अच्छा तो यह था कि वह उस तरफ कहीं गया होगा तो उसकी नजर सेना पर पड़ गई होगी। वरना तो यह खबर भी इस समय तक न पहुंची होती। मैं तो यह सोच रहा था कि कहीं जरासंध भी निकट ही न आ गया हो। अभी हमलोग सर पे हाथ रखे बैठे ही थे कि भैया व उद्धव भी आ टपके। खबर सुनते ही ना सिर्फ दोनों का उत्साह हवा हो गया बल्कि वहीं हमारे नीचे वाली सीढ़ियों पर वे दोनों भी विराजमान हो गए। लेकिन उससे भी होना क्या था? यह तो सबके समझ आ ही रहा था कि अभी हमारे हाथ में कुछ नहीं। हम जो कुछ भी कर सकते हैं यात्रा प्रारंभ होने के बाद ही कर सकते हैं। हां, मैंने एक बुद्धिमानी की

कि सात्यकि को जरासंध वाली बात बता दी। साथ में रहना व परदा भी करना - यह कम-से-कम संकट के समय कतई अच्छा नहीं। अब यह भी निपटा। आगे क्या...? बस हम सब उसी चिंतित मनोदशा में सोने चले गए।

उधर दूसरे दिन से तो हालात और भी अजीब हो गए। हम जहां चिंता की गहरी खाई में डूबे हुए थे वहीं पूरी मथुरा में मस्ती छायी हुई थी। माजरा कुछ ऐसा हो गया था कि इधर हमारी घिघ्घी बंधी हुई थी, और उधर मथुरावासी उत्साह के परम-शिखर पर जा बैठे थे। यानी आगे आने वाली सारी मुसीबतों से बेखबर ये बेचारे नए राज्य को जाने की तैयारियों में भिड़े हुए थे। और-तो-और, हम जहां से गुजरते वहीं हमें राजा-सा सम्मान मिलना भी अभी से प्रारंभ हो गया था। निश्चित ही इन सब बातों ने मिलकर मेरी हालत और भी अजीब कर दी थी। क्योंकि एक तो मथुरा पर जरासंध व कालयवन नामक मुसीबत मेरे कारण आ रही थी, ऊपर से मैंने उन्हें हसीन सपने अलग दिखा दिए थे; सोच तो यह रहा था कि कहीं मेरे ही कारण इन्हें अपने सपनों के साथ-साथ जान से भी हाथ न धोना पड़ जाए? हालांकि समय की नजाकतता देखते हुए मैंने जल्द ही स्वयं को सम्भाल भी लिया। और सम्भलते ही लोगों द्वारा दिए जा रहे उत्साह व सम्मान को मैंने सबको सुरक्षित द्वारका पहुंचाने की जिम्मेदारी के रूप में लिया। ...लेकिन सवाल यह कि जिम्मेदारी के रूप में लेने से भी होना क्या था? कालयवन की गति धीमी करना कोई मेरे हाथ में तो था नहीं। क्या करूं व कैसे करूं यह मेरी समझ में आ ही कहां रहा था। समय कम था, और सवाल हजारों के अस्तित्व का था। वैसे सवाल तो मेरे अस्तित्व के साथ-साथ मेरे सपनों व रुक्मिणी का भी था। अब आप कहेंगे, इसमें रुक्मिणी कहां से आ गई। अरे भाई, यदि कल उठ के मुझे कुछ हो गया तो फिर रुक्मिणी को मुझसे अच्छा वर कहां मिलेगा? बोलो सवाल रुक्मिणी का हुआ कि नहीं? ...देखा, गंभीर समय पर भी अपने मन से कैसी-कैसी मजाक कर लिया करता था? यदि यह कला न सीखा होता तो अब तक गंभीरता से ही न मर गया होता?

लो, गंभीरता से याद आया, सच कहूं तो इन दिनों मैं मन-ही-मन स्वयं से कुछ नाराज भी हो उठा था। क्योंकि मुझे समझ नहीं आ रहा था कि हमेशा सावधान रहने वाले मुझसे यह चूक कैसे हो गई? मैंने अपने गुप्तचर भेज कालयवन की यात्रा पर नजर क्यों नहीं रखी? हालांकि जरासंध व कालयवन के हमले की गुप्तता बनाये रखने व समय की अत्यधिक कमी व बेशुमार तैयारियों के चलते, और भैया व उद्धव की अनुपस्थिति जैसे अनेक कारणों के कारण यह चूक हो गई थी। लेकिन चूक तो चूक होती है; उसके लिए बहाने खोजना या उसके कारणों पर चर्चा करना व्यर्थ होता है। यह आदत अपनी गलती को छिपाने या अपनी कमजोरी ढांकने के अलावा कुछ नहीं। अब कारण कितना ही मजबूत क्यों न हो, गलती की सजा तो हर हाल में भुगतनी ही पड़ती है। ...क्योंकि बहाने और कारण कभी परिणाम को प्रभावित नहीं करते। अतः मैं चुपचाप अपनी गलती स्वीकारता हूँ, तथा अभी गलती दोहरा न दी जाए, उस हेतु स्वयं रथ दौड़ाकर उस मार्ग पर भी निकल गया जहां से जरासंध की सेना अपेक्षित थी। ऐसा न हो वह भी टपक ही पड़े। कालयवन बाबत तो चूक हो ही चुकी थी, कम-से-कम जरासंध की कूच पर तो नजर बना ली जाए। और मजा यह कि कोई दूसरी चूक न हो जाए, उस डर से मैं उस मार्ग पर काफी दूर तक हो आया। शुक्र था जो जरासंध की सेना का कोई नामोनिशान नजर नहीं आया था। ...यानी कालयवन के रूप में खतरा एक ओर से ही है।

खैर! जरासंध की ओर से हमारे कारवां पर कोई खतरा नहीं यह देख मेरा विश्वास जाग उठा था। इस उत्साह ने मेरे चिंतन को एक नईही दिशा दी। मैं सोचने लगा कि क्या कोई ऐसी संभावना नहीं कि जिससे कालयवन के कारवां को कुछ दिन के लिए अटका दिया जाए। बस चिंतन कालयवन के कारवां को विघ्न कैसे पहुंचाया जाए उस बाबत सक्रिय हो गया। हां नहीं तो, कोई इतनी आसानी से इतने बड़े सपने और अब तक की तैयारियों पर पानी थोड़े ही फेरने दिया जा सकता था। काफी सोच-विचार के बाद भी जब कोई उपाय समझ में नहीं आया, तो सोचा क्यों न सीधे दुश्मन से ही संपर्क कर लिया जाए। शायद उससे कोई उपाय निकल आए। अत: मैंने कालयवन के पास अपना दूत भेजना तय किया। और इस कार्य के लिए सात्यकि से बेहतर और कौन हो सकता था? मैंने तुरंत सात्यकि को अपना दूत बनाकर कालयवन के पास भेजा। साथ में उसको एक बंद घड़ा दिया जिसमें जीवित जहरीला सांप रखा हुआ था। बस उसे यह बंद घड़ा कालयवन को भेंट स्वरूप देना था। यह बंद घड़ा ही मेरा कालयवन के लिए संदेश था [6] । यूं भी मेरा एकमात्र मकसद उसकी यात्रा में पांच-दस रोज का विलंब करवाना था। शायद इस उटपटांग संदेश से कोई बात बन जाए। मुझे पूरी उम्मीद थी कि जब सात्यकि कालयवन को मेरी ओर से यह घड़ा भेंट करेगा, तो क्रोधित कालयवन कुछ देर के लिए तो सोच में पड़ ही जाएगा। हो सकता है, वह अपनी रणनीति पर पुनर्विचार करे और इसमें ही कुछ समय व्यतीत हो जाए। आखिर बात तो ले-देकर उसे अटकाने की ही थी। और कुछ नहीं तो कम-से-कम एक बात तो तय ही थी कि वह इस भेंट का जवाब जरूर देगा। मुझे यकीन था कि इस घड़े का अर्थ समझने व प्रत्युतर देने में कालयवन के दिन-दो-दिन तो बिगड़ेंगे ही। साथ में सात्यकि को भी यह समझाकर तो भेजा ही था कि कालयवन जहां मिले उसे किसी-न-किसी बहाने ज्यादा-से-ज्यादा वहीं रोकने की कोशिश करना। ...यानी मैंने अपनी

ओर से कालयवन को रोकने के प्रयास प्रारंभ कर दिए थे।

...इधर दिन-दो-दिन की राहत और क्या बढ़ी कि मैं पूरे उत्साह में आ गया। अब मुझे यहां विस्थापन के कार्यों में गति लाना भी अत्यंत आवश्यक नजर आ रहा था। मथुरा में कभी भी कुछ भी हो सकता था। सो, सबसे पहले भैया व उद्धव से कहकर सारे सैनिक, राजमहल के रथों, बैलगाड़ियों, घोड़ों व हाथियों को हमने दिन-रात एक कर नियत स्थान पर जमा कर दिया। साथ ही कभी भी किसी भी परिस्थिति का सामना करने हेतु सिपाहियों को भी सतर्क कर दिया। वैसे तो अभी निकलने में पांच रोज शेष थे। यानी एक अर्थ में काफी समय था, पर वास्तव में समय की कमी ही थी। यह समझते हुए ही हमने अगले दिन से यात्रा हेतु भोजन-पानी वगैरह की व्यवस्था करना भी प्रारंभ कर दिया। वैसे मैं इस बात का विशेष ध्यान रखे हुए था कि समाज के सभी वर्गों के लोग हमारे साथ आए। क्या लुहार, क्या ग्वाले, क्या धोबी, क्या व्यवसायी। क्योंकि एक राज्य को चलाने के लिए समाज के सभी वर्गों की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, नानाजी के पूरे मंत्रिमंडल को भी हमारे साथ ले जा रहे थे। क्योंकि एक राज्य को सुचारू रूप से चलाने हेतु अनुभव की भी आवश्यकता होती ही है। कुल-मिलाकर मैं कालयवन को भूल द्वारका बसाने की तैयारियों में पुरजोर भिड़ गया था। और एक चूक के बाद सावधान तो इतना हो गया था कि चिंतन कार्य करते वक्त भी चारों ओर सक्रिय रहता था। और चिंतन की उसी सक्रियता ने खतरे की एक और आहट मुझ तक पहुंचाई। बिल्कुल ठीक, जरासंध व कालयवन के अलावा खतरा तीसरे द्वार से भी दस्तक दे सकता था। एक तरफ जहां सत्राजित आएगा या नहीं, यह सवाल मुंह फाड़े खड़ा था, तो दूसरी तरफ यह चिंता भी बनी ही हुई थी कि स्यमंतक-मणि अपने हाथ से हमेशा के लिए जाता देखकर वह कहीं कोई बड़ी व अप्रत्याशित मुसीबत न खड़ी कर दे। क्योंकि मैं अच्छे से जानता था कि वह मणि हमेशा के लिए आसानी से भूल सके, ऐसा व्यक्ति नहीं था। बस यही सोच उसकी गतिविधियों पर भी तीखी नजर बनाए रखना प्रारंभ कर दिया। वाकई उसने कोई समस्या खड़ी की तो उससे भी निपट लिया जाएगा। कोई उससे उसके संभावित इरादों बाबत तो पूछने से रहा। सो, अभी तो जो समस्या सामने है, उनके निवारण में लगा जाए। इस समय यहां समस्याओं व कार्यों का वैसे ही अंबार लगा पड़ा था।

...यूं तो हमारी यात्रा तीन-चार रोज जल्दी की भी होती तो भी शायद हमलोग सुरक्षित निकल जाते। लेकिन अब यात्रा का समय या तिथि तो बदली नहीं जा सकती थी। क्योंकि इतने लोगों तक इसकी खबर पहुंचाना ही असंभव था। अत: कोई उपाय न देख हम अपना पूरा ध्यान तैयारियों में लगाए हुए थे। एक क्षण को भी सोने का या आराम करने का समय नहीं था। यूं देखा जाए तो सोना जरूरी भी क्या था? जरा-सी चूक हुई नहीं कि हमेशा के लिए सुलाने वाले लोग आ ही रहे थे। बस इन्हीं तैयारियों के चलते अनायास ही अगले दिन मैंने एक अद्भुत निर्णय लिया। भैया को पचास के करीब श्रेष्ठ वेश्याओं को भी साथ ले चलने के लिए कह दिया। यूं भी बगैर वेश्याओं के किसी ‘‘यादव-राज्य’’ की कल्पना नहीं की जा सकती थी। और फिर नाच-गाना तो कला है, दृष्टि तो देखने वाले की गलत होती है। ‘‘वेश्या, मदिरा व जुआ’’ यादवों की ये तीन ही समस्या थी, और थोड़ा गहराई से समझा जाए तो ये तीनों कमजोरी ही उनका जीवन था।

होगा! अभी तो चार दिन और पच्चीस हजार आदमियों का विस्थापन। विस्थापन भी कैसा? गोकुल से वृंदावन का नहीं... यह विस्थापन तो मथुरा से द्वारका का था। एक माह के करीब की लंबी यात्रा थी। और यात्रा भी ऐसी कि जिसके सर पर ‘जरासंध’ व ‘कालयवन’ नामक दो भयंकर मौत के साये मंडरा रहे थे। इसमें भी कोई दो राय नहीं कि वे दोनों आज की तारीख में आर्यावर्त के साक्षात् यमराज थे। अर्थात् बात सिर्फ मथुरा छोड़ने से नहीं निपट जाने वाली थी, यात्रा की सुरक्षा भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी। अब इसके लिए कोई युद्ध तो किया नहीं जा सकता था। बस यात्रा में गति बनाये रखना व कालयवन को मथुरा बने उतनी देर से पहुंचने देना, दो ही विकल्प थे। और दोनों पर एक साथ पूरी ताकत से भिड़े ही हुए थे। ...निश्चित ही मामले की जटिलता को देखते हुए इस समय मुझे शारीरिक व मानसिक तौर पर श्रेष्ठ संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता थी। मौत से तो कई बार टकरा चुका था; मौत को तो मात देने में माहिर भी हो चुका था; लेकिन आज तो मौत के सिर पर सवार होकर बच निकलने का प्रयास करना था। और मेरा तो मानना ही था कि यदि मनुष्य हर परिस्थिति में उम्मीद व आत्मविश्वास बनाए रखे, और अंतिम क्षण तक पूरी कर्मठता से कर्म करे तो संभावनाओं के द्वार खुल ही जाते हैं। वैसे भी मरते दम तक जीने के पूरे प्रयास करना मनुष्य का प्रथम-कर्तव्य है। और भला मैं अपने कर्तव्यों से पीछे कब हटने वाला था?

अब विचार व इरादे तो बुलंद थे, लेकिन चिंताएं व समस्याएं एक हो तो संतुलन बनाए रखूं। इधर निकलने में तीन रोज ही बाकी थे पर सात्यकि अब तक लौटकर नहीं आया था। अब इसके कई मायने निकाले जा सकते थे। एक तरफ जहां चिंता हो रही थी, वहीं दूसरी तरफ अच्छा भी लग रहा था। क्योंकि वह जितनी देर से लौटता है उसका एक अर्थ यह भी निकाला जा सकता है कि कालयवन अभी मथुरा से उतना दूर है। क्योंकि सात्यकि घोड़ा

लेकर गया था। और मेरा गणित यह कहता था कि यदि दिन-रात की यात्रा के बाद सात्यकि को कालयवन तक पहुंचने में एक दिन लगता है, तो कालयवन को बैलगाड़ियों, रथों, हाथियों व पैदल सिपाहियों के साथ मथुरा तक पहुंचने में पांच से छ: रोज लगने चाहिए। वैसे यही समस्या हमारे साथ भी थी। बच्चे, बूढ़े व जानवरों के साथ हम भी तेजी से नहीं जा सकते थे। अत: वे भी रथ व घोड़े दौड़ाकर हमारा पीछा कर ही सकते थे। ...वहीं दूसरी ओर सात्यकि का अब तक लौट कर न आना ह़जार शंकाएं पैदा करने वाला भी था। कहीं उसे पकड़ ही न लिया हो। या वे मथुरा के अति निकट न पहुंच गए हों। वैसे कालयवन की प्रतिष्ठा देखते हुए उसके दूत के साथ किसी अत्याचार की उम्मीद कम ही थी, पर संभावना यह भी बनी हुई तो थी ही। यानी मामला बहुत ही पेचीदा था। कुल-मिलाकर सात्यकि के लौट आने तक चुपचाप नहीं बैठा जा सकता था। तात्कालिक किसी और योजना पर भी सोचना आवश्यक हो गया था। क्योंकि इतना तो तय ही था कि कालयवन के मथुरा पहुंचने व हमारे मथुरा से पलायन होने में दस से पन्द्रह रोज का फासला पैदा किए बगैर सुरक्षित द्वारका नहीं पहुंचा जा सकता है। यह स्पष्ट ही था कि कालयवन के मथुरा पहुंचने के बाद जैसे ही उसे हमारे पलायन की सूचना मिलेगी और उसे पता चलेगा कि हमें निकले अभी तीन-चार दिन ही हुए हैं, तो निश्चित ही वह सिर्फ घोड़ों व रथों से अपने श्रेष्ठ सिपाहियों के साथ हमारा पीछा अवश्य करेगा। और यदि ऐसा हुआ तो यह भी तय ही था कि हम द्वारका कभी नहीं पहुंच पाएंगे। अब तक किए गए सारे कर्म व सारी मेहनत धरी-की-धरी रह जाएगी। यह क्या सोचने लगे कृष्ण? ऐसा तो होने ही नहीं दिया जा सकता। ...तो फिर इसका इलाज क्या? बस इन्हीं सब विचारों के चलते व इतनी जानों का सवाल देखते हुए मैंने एक अंतिम जोखिम उठाने का निर्णय लिया। योजना अच्छी थी व इससे निर्णायक परिणाम की भी उम्मीद थी। लेकिन आप सुनेंगे तो कहेंगे कृष्ण पागल हो गया है। आपको लगेगा कि कृष्ण परिस्थिति का दबाव नहीं सह पा रहा है तभी वह ऐसी उटपटांग योजना बना रहा है। आप जो चाहें समझें पर मेरे पास यही एक उपाय था। दरअसल कालयवन की यात्रा में विघ्न पहुंचाने हेतु मैंने स्वयं उससे मिलने जाना तय किया। जोखिम जान का था, पर सौदा महंगा नहीं था।

बस मैंने तुरंत भैया को अपनी मंशा बताई। वे भी आपकी तरह ही घबरा गए। क्योंकि कालयवन इतनी दूर से सिर्फ मुझे खत्म करने आ रहा था और मैं पागल स्वयं उस भयानक मौत के मुख में जाने की सोच रहा था। ...लेकिन मैं भी क्या करता? इसके अलावा कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा था। वरना मुझे अपनी जान जोखिम में डालने का शौक थोड़े ही है? मुझे यह स्पष्ट लग रहा था कि कालयवन के पास गए बगैर या उससे मिले बगैर उसे किसी बड़े चक्कर में नहीं पांसाया जा सकता है। और बड़े चक्कर में पांसाये बगैर उसकी यात्रा में दस-पन्द्रह दिनों का विघ्न नहीं डाला जा सकता है; वहीं उसकी यात्रा में लंबा विघ्न डाले बगैर हमारा यहां से सुरक्षित भाग निकलना भी असंभव है। यह सब तो इधर मैं सोच रहा था, लेकिन उधर भैया अड़ गए थे। वे मुझे किसी कीमत पर जाने देना नहीं चाहते थे। पासा तो उद्धव ने भी शानदार फेंका था। वह मेरे साथ चलने की रट लगा बैठा था। पर सवाल यह कि जहां एक व्यक्ति की मौत से काम चल सकता है वहां 'दो' को क्यों मरना? मेरी दृष्टि में साथ जीना तो समझ में आता है लेकिन अकारण साथ मरने की सोचना महामूर्खता है।

खैर! चाहे जो हो, मैं जाना तय कर चुका था। सौदा एक जान और हजारों जान का था। ऐसे में मैं अपनी एक जान की परवाह कहां करने वाला था? लेकिन यह भैया और उद्धव का क्या करूं? क्या..., क्या करूं? किसी तरह समझाना ही तो एक मात्र विकल्प है; ...तो समझाए देते हैं। बस मैंने भैया व उद्धव को समझाते हुए कहा- मैं जाकर यह कोशिश करूंगा कि किसी तरह कालयवन को दस-बारह दिन उलझा दूं। मैं वादा करता हूँ कि अपनी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखूंगा। सात्यकि मुझे रास्ते में मिल गया तो ठीक, वरना यह बात उसको भी समझा देना। आप लोग मेरी फिक्र किए बगैर अपनी यात्रा दूसरे मार्ग से नियत समय पर प्रारंभ कर देना। साथ ही यात्रा में बने उतनी तेजी भी बनाए रखना। जितना हो सके रात्रि को भी फासला तय करने की कोशिश करना। मैं कालयवन को अच्छे से उलझाकर आप लोगों को रास्ते में ही पकड़ लूंगा। ...यह तय जानो कि कालयवन को मैं किसी भी हाल में पन्द्रह दिनों से पहले मथुरा नहीं पहुंचने दूंगा। मेरी बात सुनकर दोनों कुछ सोच में अवश्य पड़े, पर मामला अभी पूरी तरह शांत नहीं हुआ था। साफ लग रहा था कि उन्हें मेरे बाबत एक तगड़े आश्वासन की आवश्यकता थी; तो लो वह भी हाजिर है। मैंने तत्क्षण दोनों को आश्वस्त करते हुए कहा- आप व्यर्थ फिक्र कर रहे हैं। मैं कोई कालयवन से युद्ध करने थोड़े ही जा रहा हूँ। मैं तो भेष बदलकर उसे चक्कर में उलझाने जा रहा हूँ। और इस समय हमारे पास दूसरा कोई उपाय भी नहीं। एक बात समझें, कालयवन से खतरा "कृष्ण" को है, मथुरा के दूत को थोड़े ही? और फिर चक्कर में डालना मुझे कितने अच्छे से आता है यह तो आप लोग जानते ही हैं। मैं ये गया और वो आया...

अब उनके कुछ कहने की गुंजाइश खत्म हो गई थी। यूं भी बात तो दोनों की समझ में कबकी आ गई थी, यह तो बस मोहवश बर्दाश्तगी के बाहर हो रही थी। तो बात अब भी उनकी बर्दाश्तगी के भीतर कहां थी? मेरा जाना तय

होते ही दोनों बिलख-बिलख कर रोना शुरू कर दिए। लेकिन आज उन लोगों को भी मन कड़ा करना सीखना ही पड़े, ऐसा था। आज सवाल व्यक्तिगत मोह, प्रेम या संबंधों से कहीं ऊपर का था। सवाल आज एक-दो नहीं, पच्चीस हजार लोगों की जान का था। उनके बेहतर जीवन का था। ...ऐसे में कुछ-न-कुछ कुर्बानी तो सभी को देनी थी। वैसे भा यह संभव ही नहीं था कि मेरे... भैया व उद्धव के बगैर विस्थापन हो सके, या द्वारका बसायी जा सके। सो आज भैया व उद्धव को भी सर्वहित में मेरा मोह छोड़ना ही पड़े, ऐसा था। उन्हें मेरी चिंता का दर्द सहन करना ही पड़े, ऐसा था। मैं भी तो अपने जीवन व अपने सपनों का मोह छोड़ रहा था। समस्त मथुरावासियों के बेहतर जीवन के लिए स्वयं की जान की बाजी लगाना आज समय की मांग थी। और समय-संजोग के साथ जो करना पड़े, वह मैंने हमेशा किया था। और उन्हें भी करना सीखना ही पड़े, ऐसा था। यूं भी ''समय की आवाज'' पर मेरा या मेरे सपनों का या भैया व उद्धव के दु:ख-दर्द का मूल्य दो कौड़ी का रह जाता है। सो बस दोनों को रोता-बिलखता छोड़ मैं निकल पड़ा। आज मौत के मुख में जाते वक्त मुझे न द्वारका याद आ रही थी, ना रुक्मिणी। आज मैं अपने साथ न राधा को लिए जा रहा था, ना वृन्दावन की सुनहरी यादों को। आज मेरे साथ कोई जा रहा था तो सिर्फ मेरा कर्तव्य। आज मेरे साथ कोई था तो सिर्फ मेरा संकल्प। हर कीमत पर इस काफिले को सुरक्षित द्वारका पहुंचाने का ''संकल्प''। मजा तो यह कि मैं जीवन में पहली बार और वह भी अकेला अश्व लेकर निकल पड़ा था। रथ चलाने में तो मैं माहिर था, लेकिन किसी घुड़सवारी का यह पहला अवसर था। क्या करता, आज समय की मांग ही अश्व थी। आज महत्त्व ही जल्दी-से-जल्दी कालयवन तक पहुंचने का था। आज का उद्देश्य ही मथुरा से जितनी दूर उसे रोका जा सके, रोकने का था। हथियार के नाम पर चक्र पास में था व सुरक्षा के तौर पर भेष बदलकर जा रहा था। आप मानेंगे नहीं कि बावजूद इसके मेरा घोड़ा ऐसा दौड़ रहा था मानो मैं कोई मजा हुआ घुड़सवार होऊं। यूं भी जब मौत सर पर खड़ी हो तो सब पहली बार में भी अच्छे से हो ही जाता है। देखा कुदरत का करिश्मा? कहां तो द्वारकाधीश बनने के और रुक्मिणी को पाने के सपने देख रहा था और कहां मेरे स्वयं के द्वारका पहुंचने के लाले पड़ गए थे। कहां वृन्दावन जाने की तैयारियां किए बैठा था व कहां मौत के मुंह में जाना पड़ रहा था। सचमुच पल-पल में आने वाले इन्हीं उतार-चढ़ावों के कारण तो यह मनुष्यजीवन इतना अद्‌भुत है। वरना सूर्य तो जो तप रहा है तो लाखों वर्षों से तप ही रहा है। ...उसके जीवन में कोई नयापन नहीं।

खैर! दोपहर को निकला था व अब संध्या भी होने को थी। लेकिन घोड़ा था कि दौड़ाये चला जा रहा था। निश्चित ही पहली बार घोड़े पर बैठा था सो बैठना मुश्किल हो रहा था; पर आज कालयवन से ज्यादा मुश्किल कुछ नहीं था। उसकी याद आते ही सब ठीक लगता था। आज न भूख लग रही थी न प्यास। लगती भी कैसे? आज खाने-पीने में समय बर्बाद करने का समय ही कहां था? ...तभी दूर से एक घोड़ा आता दिखाई दिया। एक पल को तो मैं घबरा गया। कहीं कालयवन आसपास तो नहीं? ऐसा है तो वह जल्द ही मथुरा-प्रवेश कर लेगा। ...लेकिन आ...हा! घोड़ा निकट आते ही मैं मारे खुशी के उछल पड़ा। वह सात्यकि था। आश्चर्य यह कि मेरा दिया घड़ा अब भी वह हाथों में ही थामे हुए था। यह बात समझ के बाहर थी। उधर सात्यकि भी इस समय मुझे यहां पाकर चौंक गया था। उसका चौंकना लाजमी ही था। यह चौंकना-चौंकाना तो चलता रहेगा, आज समय की महत्ता से दोनों वाकिफ थे। वाकई मैं जीवन में पहली बार समय की इतनी कमी महसूस कर रहा था। अब तक हजारों बार समय की मांग पर अपने हजारों रूप बदल चुका था। कई अच्छे क्षणों में समय को तेजी से उड़ते भी देख चुका था। कई बार संकट के समय या इन्तजार करते वक्त 'समय' काटे नहीं कटता, इसका अनुभव भी किया था। लेकिन ''समय की कमी'' के रूप में मैं आज 'समय' के एक नए ही रूप का अनुभव कर रहा था। निश्चित ही समय के हजारों रूप हैं। और जीवन के ''सर्वोच्च शिखर'' पर पहुंचने के लिए 'समय' के सभी रूपों को ठीक से पहचानना अत्यंत आवश्यक है, और उतना ही आवश्यक उसके अनुरूप बरतना भी है। यदि गौर से देखा जाए तो मनुष्यजीवन भी 'समय' के सिवाय और क्या है? जन्म भी एक समय है, और मृत्यु भी एक समय है। सुख-दु:ख, सफलता-असफलता सबकुछसमय के ही तो रूप हैं। यूं देखा जाए तो जीवन भी क्या है? जन्म और मृत्यु के बीच के समय का फासला ही तो है।

खैर! जब समय की इतनी बात कर रहा हूँ तो ''समय'' को लेकर सात्यकि की तारीफ भी करनी ही होगी कि उसने समय की कमी वाले रूप को ठीक-ठीक पहचाना था। तभी तो वह बगैर एक क्षण भी बर्बाद किए तुरंत मेरी तमाम शंकाओं के समाधान पर उतर आया था। उसने सर्वप्रथम तो मुझे यह खुशखबरी दी कि वह कालयवन का एक दिन बर्बाद करने में सफल हो चुका है। यह सुनते ही मैंने तत्क्षण उसे गले लगाकर मुबारकबाद दी। ...कमाल तो यह कि मुबारकबाद भी पलभर में स्वीकारते हुए तुरंत उसने आगे बताना प्रारंभ किया। वह बोला- मैंने जाते ही सबसे पहले कालयवन के हाथों में घड़ा थमा दिया था। घड़े में जीवित नाग को देखकर क्षण भर के लिए तो वह चौंक गया था। हालांकि, फिर जल्द ही वह सम्भल भी गया था। बस उस दिन बात यहीं समाप्त हो गई। वह चला गया व जाते-

जाते मुझे कड़ी सुरक्षा के बीच ठहरवाने का आदेश देता गया। अगले दिन सुबह उसने वही घड़ा मुझे वापस देते हुए कहा- यह तुम कृष्ण तक पहुंचा देना, वह सबकुछ समझ जाएगा।

सचमुच पूरी बात संक्षेप में बताकर सात्यकि ने भी समय तो बचा ही लिया था। इधर मैं उसकी बात सुन बुरी तरह चक्कर में पड़ गया था। क्योंकि घड़ा तो वैसा-का-वैसा दिख रहा था। इसमें समझने का क्या था? फिर भी मैंने घड़ा खोला, देखा तो उसमें लाखों चीटिंया घूम रही थी; और घड़े में रखा नाग मर चुका था? [7] । क्षणभर के लिए तो मैं स्तब्ध रह गया। क्या कालयवन के सिपाही मेरा यह हाल करेंगे? निश्चित ही यदि धर लिया गया तो... हालांकि तुरंत मैं सम्भल भी गया। और सम्भलते ही कालयवन की बुद्धिमत्ता का कायल हो गया। संदेश स्पष्ट था; यदि तुम नाग जितने खतरनाक व जहरीले हो, तो हमारे पास सिपाहियों के रूप में लाखों चींटियां हैं जो तुम्हें क्षणभर में मार डालेगी। यानी कि शत्रु ताकतवर भी है और बुद्धिमान भी। अब यह कोई अच्छी बात तो थी नहीं। इसका अर्थ स्पष्ट था कि कालयवन को चक्कर में लेना इतना आसान नहीं होगा। उसे कूटनीति और कपट के कई मोर्चों पर एक साथ घेरना होगा। ...तो घेरेंगे। अब उद्देश्य के बाबत तो कोई शंका थी नहीं। रोकना तो उसे हर हाल में था। और जहां तक सवाल है कैसे? ...तो घड़े का हाल देखने के बाद यह उलझन और गहरा गई थी। मैं अभी यह सब सोच ही रहा था कि मेरी नजर सामने दिख रही एक गुफा पर पड़ी। गुफा देखते ही एक खतरनाक योजना मेरे चिंतन में जागी। आज योजनाएं भी क्षणभर में ही जहन में उतर रही थी। शायद आज योजनाओं को भी समय की कमी का एहसास था। मैंने तत्क्षण सात्यकि से पूछा- तुम्हारे हिसाब से इस गुफा तक पहुंचने में कालयवन को कितना समय लग सकता है?

सात्यकि ने कहा- ज्यादा-से-ज्यादा चार से पांच रोज।

...तब तो मेरी यह योजना सटीक हो सकती थी। उम्मीद की किरण जागते ही, कार्य में तेजी आ गई। मैंने और सात्यकि ने मिलकर गुफा के भीतर सूखी लकड़ियां भरना प्रारंभ कर दिया। पहले सूखी लकड़ियां तोड़ना, फिर उन्हें गुफा तक ले जाना। करीब-करीब पूरी रात्रि इसी कार्य में बीत गई। लेकिन थकान का नामोनिशान नहीं था। आज थकने के लिए भी समय ही कहां था? यह सब तो ठीक पर उधर सात्यकि को गुफा में इतनी लकड़ियां रखने का कोई औचित्य समझ में नहीं आ रहा था। वह सोच रहा था कि कालयवन को रोकने का गुफा में लकड़ी भरने से क्या ताल्लुक? हो सकता है वह यह भी सोच रहा हो कि अत्यधिक परेशानियों के कारण कहीं कृष्ण की खिसक तो नहीं गई है? अब कोई क्या जाने कि परेशानियों के वक्त तो कृष्ण का चैतन्य अपने पूरे उफान पर होता है। तभी तो कहता हूँ, ‘‘मेरी लीला मैं ही जानूं।’’ सच तो यह है कि कालयवन को पांसाने के लिए एक साथ कई जाल बिछाने आवश्यक थे। यह उनमें से एक था। पता नहीं वह कब किस में पांस जाए? और कब किस चीज की जरूरत आन पड़े।

होगा! अभी तो सुबह होने को थी। कालयवन के पहुंचने में अभी देरी थी। गुफा में योजनानुसार लकड़ियां रखी जा चुकी थी। ...बस मैं निश्चिंततापूर्वक सात्यकि के साथ मथुरा जाने के लिए रवाना हो गया। उत्साह का कारण यह कि अभी दो-तीन रोज का समय मुझे और मिल गया था। क्योंकि कुल-मिलाकर मुझे कालयवन से इसी गुफा के आस-पास मुलाकात करना बेहतर नजर आ रहा था। और फिर कम-से-कम इस दौरान मथुरा के कुछ कार्य सलटा लूं। ...सच कहूं तो भैया की चिंता भी मुझे सता रही थी। वे मुझसे बहुत प्रेम करते थे। मेरे बगैर के जीवन की वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे। निश्चित ही वे इस समय मृत्यु से भी बड़ा दंड भोग रहे होंगे। ...साथ ही मैंने यह भी सोचा कि जब समय मिल ही गया है, तो क्यों न कारवां को अपनी आंखों के सामने रवाना करूं? वरना व्यर्थ सबके लिए हजार नई मुसीबतें खड़ी हो जाएगी। क्योंकि यदि कारवां के विस्थापन के समय मैं वहां उपस्थित न रहा तो हो सकता है मेरे शत्रु जो पिछले एक-डेढ़ वर्ष से खामोश बैठे हैं, मौका मिलते ही पलटवार कर बैठे। कहें, अरे! नईराजधानी बनाना कोई मजाक है? बात बनाता है... यदि ग्वालों की भी राजधानी होने लगी तो ...तो आर्यावर्त का हो चुका! ...वैसे होने को तो यह भी हो सकता था कि वे यादवों को यह कहकर भड़काए कि ‘‘कृष्ण’’ तो छलिया है ही; तुम कहां उसकी बातों में आ गए? ...वह तुम सबको मूर्ख बना रहा है। उसने कहीं कोई राजधानी नहीं बनायी है। बस तुम्हारा मजाक उड़ाने के लिए तुम्हें यहां एकत्रित किया है। यह सब सुनकर अपना बसा-बसाया घर छोड़कर जा रहे लोग कहीं घबरा न जाएं? वे वापस न लौट जाएं? ऐसे में भैया व उद्धव का उन्हें सम्भाल पाना असंभव हो जाएगा। चिंता का परम विषय यह कि कहीं हम बगैर प्रजा के राजा ही न हो जाएं। ...मेरे साथ तो यूं भी कुछ भी हो सकता था। कुल-मिलाकर इन्हीं सब बातों पर विचार कर मैंने कालयवन को गुफा के आसपास रोकना उचित समझा था; ताकि कारवां भी निकल जाए व समय रहते कालयवन को भी रोका जा सके।

...उधर मुझे व सात्यकि को सकुशल वापस आया देखकर भैया व उद्धव की खुशी का ठिकाना न रहा। वे इतने खुश थे कि मानो उन्हें नया जीवन मिल गया हो। भैया ने तो जाने कितनी बार मुझे गले से लगा लिया था।

अब वे बेचारे क्या जाने कि मैं फिर जाने ही वाला था। लेकिन इस समय उन्हें आगे का दुःख देने का कोई औचित्य नहीं था, सो खामोश ही रहा। इधर मुझे व सात्यकि को रात भर का जागरण भी था, सो हम दोनों विश्राम के लिए अपने कक्ष में चले गए। खबर भी कुछ राहत की लेकर आए थे सो नींद भी लग गई। उठते ही तैयार होकर हम सभी कारवां की तैयारियां देखने जा पहुंचे। संध्या होने को थी व सूर्य की डूबती किरणें चारों ओर पड़ रही थी। रथ,गाड़े, सैनिक, सिपाही व सेवक वहीं मौजूद थे। सभी खाने-पीने की सामग्रियां जुटाने व उसे अवेरने के काम पर लगे हुए थे। तैयारियों से संतुष्ट हो रात्रि होते-होते हम घर लौट आए। भोजन वगैरह कर सात्यकि अपने घर चला गया व बाकी सब सोने चले गए। ...पर मेरी आज की रात भारी गुजरने के सारे इन्तजाम अनायास ही हो गए थे। दरअसल भैया ने वृन्दावन जाना निरस्त होते ही गाड़े में भरा वहां ले जाने का सामान घर पर रखवा दिया था। और वह सामान मेरी आंखों के सामने चारों ओर बिखरा पड़ा था। ...जैसे ही मैंने आंखों के सामने बरामदे में वह सारा सामान पड़ा देखा तो मैं पूरी तरह टूट गया। एक तो वृन्दावन जाना नसीब नहीं हुआ था और ऊपर से यह सारा सामान धरा-का-धरा रह गया था। यूं सामान तो मेरे गए बगैर भी भिजवाया जा सकता था, लेकिन वैसा कर मैं प्यारे वृन्दावनवासियों का दिल और दुखाना नहीं चाहता था। एक तो इतने सालों न जाकर वैसे ही उनका काफी दिल दुःखा चुका था। ऊपर से बगैर मेरे गए सामान भिजवाकर उनके निर्दोष प्यार की तौहीन नहीं करना चाहता था। निश्चित ही इससे उनका दिल और ज्यादा दुखता। वे तो मेरे साथ के व मेरे प्यार के भूखे थे, कोई सामान के लोभी तो थे नहीं। सच कहूं तो आज मैं स्वयं को उनके प्यार के काबिल ही नहीं पा रहा था। खुद तो हजारों व्यक्तियों को लेकर स्वर्ग-सा जीवन जीने द्वारका जा रहा था, और दूसरी तरफ इतने वर्षों में उनसे मिलने जाने तक का समय नहीं निकाल पाया था। हताशा के इन पलों में जब मुझसे कुछ न बन पड़ा तो यहां-वहां पड़े सामान पर ही बैठ गया। एक-एक कर उन्हें देखने भी लगा। राधा और मां की चुनरी हाथ में आते ही काफी ढीला भी पड़ गया। आधी रात होने को थी फिर भी वहां से उठ के सोने जाने तक की इच्छा नहीं हो रही थी।

...चलो यह तो मेरा हाल था। पर उधर वृन्दावनवासियों का क्या? मेरी भावना व मेरा प्रेम अपनी जगह है, लेकिन हकीकत तो यही है कि मैं उनसे मिलने नहीं जा पाया तो नहीं ही जा पाया। अब ऐसे में सभी मुझे धोखेबाज व मौकापरस्त न समझें तो क्या समझें? मुझे मतलबी न कहें तो क्या कहें? मुझे छलिया क्यों न समझे? लेकिन आज मेरे दिल पर जो गुजर रही थी वह मैं ही जानता था। शायद ही किसी ने ऐसा ''दर्द'' कभी भोगा होगा। प्यारी राधा को अपनी शक्ल तक नहीं दिखा पाया, मां के आशीर्वाद तक नहीं ले पाया; ''आज जाऊंगा-कल जाऊंगा'' में पूरा समय बीत गया। वैसे पूरी दुनिया मुझे चाहे जो कहे या चाहे जो समझे, आपके सामने तो मैंने अपना दिल खोलकर रख दिया है। आपने न जा पाने के गम में मेरा हाल भी देख ही लिया है। आप समझ ही गए होंगे कि यह सारा खेल समय का था। मैंने तो सिर्फ समय का साथ दिया था। और सुबह उठते ही फिर अपनी कर्मठता दिखाकर समय का साथ देना था। बस इस विचार के साथ ही उदासी के बावजूद सोने चला गया।

खैर! सुबह समय से उठते ही वृन्दावन पूरी तरह भुलाकर फिर काम पे लग गया। मेरी जाती भावनाएं किसी कर्म के आड़े थोड़े ही आनी थी। वैसे कारवां निकलने में अभी दो दिन बाकी थे; परंतु हम लोगों ने अभी से मथुरा के पश्चिमी द्वार पर अपना डेरा जमा लिया था। यूं भी अब तैयारियों पर एक निगाह बनाये रखना जरूरी था। अंतिम समय की थोड़ी-सी चूक भी बड़ी भारी पड़ सकती थी। वैसे हम ही नहीं, काफी लोगों का अभी से यहां डेरा डालना शुरू हो गया था। जो आता ''जय-द्वारका'' भी चिल्लाता व हमारी जयकार भी बोलाता। राजमहल के रथ, सेवक व सिपाही तो पहले से यहां मौजूद थे, और अब यादवों के आगमन ने तो रौनक ही बढ़ा कर रख दी थी। वहीं जमे हुए दृश्य की बात करूं तो सड़क के सामने वाला खुला मैदान तो पहले ही सैनिक, रथों व अश्वों से भरा हुआ था, और अब तो मुख्य मार्ग पर भी दूर-दूर तक लोगों के गाड़े नजर आने लगे थे। कुल-मिलाकर नजारा ऐसा जमता जा रहा था कि यहां से हटने का मन ही न करे। भैया, उद्धव, सात्यकि सभी दौड़ा-भागी में लगे हुए थे। सुभद्रा भी हमारे साथ ही घूम रही थी, पर उसे अब भी विश्वास नहीं हो रहा था कि यहां मथुरा आके उनके भाइयों ने इतनी प्रगति कर ली कि अपना राज्य ही बना लिया। होगा, अभी तो यहां सुबह से ही जो लोगों के आगमन का यह सिलसिला प्रारंभ हुआ था तो देर रात तक चलता रहा। और मध्यरात्रि तक बैलगाड़ियों व रथों का अच्छा-खासा जमावड़ा लग चुका था। यही लोगों का उत्साह दर्शा रहा था। सबने अपनी गाय-भैंसें भी ले ली थीं। सच ही तो है, वही तो हमारी जीविका थी। उन्हें ले जाना आवश्यक भी था और उन्हीं के कारण हमारे कारवां की गति अत्यंत धीमी रहने का अंदेशा भी था। यही तो जीवन की खूबी है। कई बार जिस चीज के बगैर जीना असंभव होता है, वही मौत का स्वरूप धारण किए हुए सामने आ खड़ी होती है।

...चलो, आज की रात तो साधारण-सी नींद लेकर जश्न के माहौल में गुजार दी, पर अगले दिन सुबह होते-

होते तो लोगों का तांता लग गया। लगना ही था। आज नहीं तो कब आते सब? कल सुबह तो प्रस्थान की तिथि थी। चाहे जो हो, सबका उत्साह देखते ही बनता था। हालांकि उनका यह उत्साह सबको सलामत द्वारका पहुंचाने की जवाबदारी की ओर भी इशारा कर रहा था। होगा, अभी तो यहां सब तो ठीक पर मैं यह बात कुछ ज्यादा ही अच्छे से समझ रहा था। वहां गाय-भैंस, अश्व व ऊंटो के साथ चारों ओर से लोगों का आना लगातार जारी था। संध्या होते-होते तो अक्रूर चाचा, दारुक, नानाजी, माता-पिता सभी पहुंच चुके थे। हालांकि दूसरी ओर लोगों के आने का सिलसिला रातभर जारी रहा। कई लोग ढोल-ढमाके बजाते हुए, तो कई नाचते-गाते भी आ रहे थे। निकलना तो कल सुबह था परंतु उत्सव का माहौल अभी से हो गया था। सबसे ज्यादा सुभद्रा चहक रही थी। बहन की यह खुशी देख कौन भाई तृप्त नहीं होगा। ...लेकिन क्या उसकी यह खुशी टिक पाएगी? क्या कारवां सलामत द्वारका पहुंच जाएगा? क्या करूं, मुसीबत ही ऐसी भयानक आन पड़ी थी कि हर एक की खुशी व उत्साह देख यही ख्याल दिल को सताने लगता था।

खैर! इस दर्द से हाल-फिलहाल तो कोई छुटकारा था नहीं। वहीं आज की रात हमारे सोने का भी सवाल नहीं उठता था। जहां एक ओर उद्धव व सात्यकि यात्रा के लिए कतार बनवाने में रातभर लगे रहे, वहीं मैं भी मन में हजारों संभावनाएं पाले व्यवस्था में लगा ही हुआ था। भैया राजमहल के सैनिक, सेवकों व कर्मचारियों को जमाने में लगे हुए थे। हां, हमारी व्यस्तता देखते हुए माता-पिता के आते ही सुभद्रा उनके साथ हो ली थी। वहीं यदि भीड़ की बात करूं तो अब तक मेरी उम्मीद से ज्यादा लोग एकत्रित हो चुके थे। शायद सभी मथुरा के दु:ख भरे जीवन से छुटकारा चाहते थे। उधर मेरा मन बार-बार यह सोचकर घबरा जाता था कि कहीं मेरे चक्कर में इन बेचारों को हमेशा के लिए छुटकारा न मिल जाए। उधर प्रभात होते-होते सबके आश्चर्य के बीच भैया पचास वेश्याओं को भी ले आए। क्या करें, यह युग ही नारी, मदिरा व जुए के इर्द-गिर्द घूम रहा था; और सबूत यह कि वेश्याओं को आया देख अधिकांश पुरुषों के चेहरे का रंग ही बदल गया था।

...वैसे यह भी मेरे स्वभाव की अपनी ही एक विशेषता थी। मैं मनुष्य के जाती मामलों में कभी दखल नहीं देता था। हर मनुष्य की अपनी जाती जिंदगी व जाती शौक होते ही हैं, और होने ही चाहिए। वैसे भी मैं युग नहीं, मनुष्य के भीतर को बदलने का पक्षधर था। क्योंकि सारा खेल तो भीतर का है। बाहर के कर्मों में क्या अच्छा-बुरा है? एक नृत्य के ये मथुरावासी शौकीन हैं तथा एक नृत्य ''राजा जनक'' निहारा करते थे। नृत्य के दीवाने दोनों मालूम होते हैं, फिर भी दोनों में बड़ा फर्क था। एक बेहोश है, उसमें वासना है; जबकि दूसरा आत्मज्ञानी है। वह दीवाना तो है पर अलिप्त है। पानी में रहने में कोई बुराई नहीं, परंतु पानी में रहने के लिए कमल के पत्तों का गुण होना विशेषता है। अत: मैंने किसी कृत्य को अच्छा या बुरा कभी नहीं माना। जब पाप-पुण्य जैसी कोई चीज इस दुनिया में होती ही नहीं तो भला मैं विरोध किसका करूं? मेरी इसी विकसित समझ के कारण ही मैंने मनुष्य के जाती जीवन में कभी दखलंदाजी नहीं की। यदि मैंने विरोध किया तो उन व्यक्तियों का जिसके कारण हजारों जीवन खराब हो रहे हैं, या फिर उन परंपराओं का जो मनुष्य के जन्मों-जन्मान्तर को बिगाड़ रही हो। ...मैंने पंचजन, शृंगलव और कंस जैसों का वध किया, क्योंकि एक उनके कारण हजारों जीवन तबाह हो रहे थे। लेकिन अपना जीवन बिगाड़ने वाले को मैंने कभी परेशान नहीं किया। वहीं मैंने इन्द्रपूजा जैसी परंपराओं का विरोध किया, क्योंकि वह भी मानसिक तबाही मचाये हुए थी। लेकिन वेश्याओं या जुए का विरोध कभी नहीं किया। यह समझने योग्य बात है कि कर्मों में सामूहिक आसक्ति का विरोध करने से समाज के प्राण निकल जाते हैं। ऐसा प्राण-विहीन समाज जीकर भी क्या करेगा? यदि इस समय आर्यावर्त में से नारी का आकर्षण, मदिरा व जुआ हटा दिया जाए, तो इसमें कोई दो राय नहीं कि पूरे आर्यावर्त का जीवन नीरस हो जाएगा। सभी रातों-रात मृतप्राय हो जाएंगे।

अरे! मनुष्य कुदरत की श्रेष्ठ रचना है। और उसके सुख और आनंद से मूल्यवान इस कुदरत में कुछ भी नहीं। भले ही उनका यह सुख और आनंद हमें गलत मार्गों से आता हुआ दिखाई पड़ रहा हो, फिर भी वह मायुस या नीरस जीवन जीने से तो बेहतर ही है। संन्यासी यहीं तो मार खा गए। सदियों से वे मनुष्य को सुखों से विचलित करने में लगे हुए हैं; लेकिन कुदरत के होते-सोते गलत कार्यों में सफलता कैसे हासिल हो सकती है? यही कारण है कि सदियों की कोशिश के बावजूद एक संन्यासी है, तो हजारों संसारी। ...बल्कि अब तो उल्टा हो गया है। संन्यासी संसारियों पर निर्भर है।दुखी व हताश है। कोई सुनता नहीं। संसारी मेहनती, सुखी व आत्मनिर्भर हैं। ...इसलिए कि संसारी होशियार हैं। होशियार इसलिए कि संन्यासियों को थोड़ा सम्मान व थोड़ा पुण्य-भाव देकर अपने से दूर रखे हुए हैं, ताकि खुद चैन से जीवन बसर कर सके। ...मेरी यह बात हर संन्यासी सुन ले कि मनुष्य को सुख दे रही किसी भी लोक-परंपरा का विरोध कर किसी के हसीन जीवन में अनासक्ति पैदा करना, मनुष्यता को मारने जैसा पाप है। और वे इस पाप की जड़ हैं, अत: वे ना कभी पनपे हैं ना पनप सकते हैं। क्योंकि जब सब ''माया'' है तो सुख दे रही लोक-

परंपरा भी सिवाय माया के और क्या है? फिर उसका विरोध क्यों? आपको याद होगा कि यही बात मैंने अर्जुन से गीता में कही थी। मैंने कहा था न कि ''साधारण संन्यासी ही नहीं, ज्ञानियों को भी सावधानीपूर्वक वे ही कर्म करने चाहिए जो अज्ञानी बेहोशी में करते हैं। ज्ञानियों को लोकसंग्रह का ध्यान रखते हुए समस्त कर्म करना चाहिए।'' अर्थात किसी भी ज्ञानी को अज्ञानियों द्वारा किए जा रहे सामूहिक कर्मों में अनासक्ति पैदा करने का कोई अधिकार नहीं। ज्ञानी को युग नहीं बदलना है, अपितु युग के साथ चलते हुए मनुष्य का 'अंतर-मन' बदलना है [8] । इसी बात को थोड़ा और समझें! किसी भी आत्मज्ञानी का स्थायी आनंद की ओर इशारा करना समझ में आता है। ज्ञान पाने हेतु इशारे करना भी समझ में आता है। लेकिन आम मनुष्यों को मिल रहे सामूहिक सुख में अनासक्ति पैदा करना कतई समझ में नहीं आता है। बात साफ है; ज्ञान, आनंद और आत्मा तो मिलेंगे तब मिलेंगे, उसके लिए आज मिल रहे सुखों का त्याग क्यों करना? सुख, आनंद का ही सूक्ष्म स्वरूप है। मन, आत्मा का ही दर्पण है। भला मुझे कोई यह समझाए कि सुख मारकर, या आनंद व मन मारकर आत्मा कैसे पाई जा सकती है? मनुष्य के सुख को छीनकर या उस बेचारे के मन को मारकर कौन-सा आत्मज्ञान उपलब्ध करवाना चाहते हैं ये लोग? मैं तो कहता हूँ कि इन तथाकथित ''आत्म-ज्ञानियों'' के अंतिम अज्ञान की वजह से ही आत्मज्ञान की वह घटना जो सहज होनी चाहिए थी, इतनी दुर्लभ हो गई है। ...और यही कारण है कि मैंने कभी किसी को ज्ञान नहीं दिया। कभी किसी चीज को बुरा नहीं कहा। क्योंकि जब जीवन को अपनी पूर्णता में स्वीकार कर हंसते-खेलते सहजता से ''परम-आनंद'' पाया जा सकता है, तो फिर व्यर्थ जीवन को नीरस क्यों बनाना? ...लो, खुद के बचने के लाले पड़े हुए हैं, हजारों की जान जोखिम में हैं और चिंतन तो देखो; युग-युगान्तर के मनुष्यों की चिंता करने लग गया। अरे! यही तो मेरी वो ''करुणा'' है जिसे कोई नहीं छू सकता।

खैर! अभी अपनी करुणा युग-युगान्तर के मनुष्यों से खींच वर्तमान में मेरे आसरे जा रहे लोगों पर बरसाऊं तो बेहतर है। और उस संदर्भ में वर्तमान माहौल की चर्चा करूं तो सुबह होते-होते तो इतनी भीड़ एकत्रित हो चुकी थी कि उसे नियंत्रित करना ही मुश्किल हो गया था। वैसे अब कारवां के प्रस्थान का समय भी हो ही चुका था। और अंत में वह घड़ी भी आ ही गई जिसका मुझे इन्तजार था। हमारा कारवां चल पड़ा था। इसे कारवां कहूं या हमारे सपनों का जुलूस, समझ नहीं आ रहा था। ...कारवां का वर्णन करूं तो सबसे आगे सुरक्षा हेतु कुछ सैनिक चल रहे थे। उनके पीछे महिला व बच्चों के गाड़े चल रहे थे। फिर महत्वपूर्ण व्यक्तियों के रथ चल रहे थे, जिनको चारों ओर से सैनिकों ने घेर रखा था। उनमें नानाजी, माता-पिता, सुभद्रा, सभी यादव-प्रमुख और चन्द महत्त्वपूर्ण व्यवसायी शामिल थे? [9] । मैं, भैया, उद्धव, सात्यकि समेत हम सभी नौजवान पैदल ही चल रहे थे। कारवां के अंत में भी सैनिक चल रहे थे। यानी कि किसी भी अप्रत्याशित हमले से कारवां को दोनों ओर से सुरक्षा प्रदान की गई थी। और कारवां इतना बड़ा था कि देखते ही बनता था। शायद ही मनुष्य जाति के इतिहास में इतना बड़ा कारवां कभी निकला हो या इतना बड़ा विस्थापन कभी हुआ हो। कारवां की विशालता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उसका पहला भाग तो सूरज की पहली किरण के साथ ही निकल पड़ा था, परंतु अंतिम सिरे को हलचल में आते-आते दोपहर हो चुकी थी। ...इतने विशाल कारवां को देखकर मेरी आंखों में आंसू आना स्वाभाविक था। साथ ही खुशी भी थी कि इतने लोग मौत से बदतर जीवन से निकलकर सुनहरे जीवन की खोज में ''द्वारका'' जा रहे हैं। वहीं एक चिंता भी खाये जा रही थी कि क्या वे सुरक्षित रूप से द्वारका पहुंच पाएंगे या हमेशा के लिए मौत के मुख में समा जाएंगे? क्या मुझपर विश्वास करने की सजा ''सजा-ए-मौत'' तो नहीं होगी? नहीं...यह तो हो ही नहीं सकता। जिसने मुझपर विश्वास किया उसका उद्धार करना तो मेरा ''परम-कर्तव्य'' है; चाहे इसके लिए मुझे अपनी जान क्यों न गवानी पड़े या इसके लिए मुझे जमीन-आसमान ही एक क्यों न करना पड़े... यह कारवां तो द्वारका पहुंचकर ही रहेगा। हालांकि मुसीबत यह कि यह मामला जान देने से भी पटे, ऐसा नहीं था। यहां तो जान देनी भी थी तो कुछ इस तरह कि जो कालयवन के आठ-दस रोज बिगाड़ सके। वैसे कालयवन को इतना-भर चक्कर में डालना मेरे लिए कोई बहुत मुश्किल कार्य भी नहीं था। यानी सौ बातों की एक बात चाहे मैं जीवित रहूं या न रहूं, यह कारवां द्वारका पहुंचकर ही रहेगा। बस धीरे-धीरे इस हेतु मैं कटिबद्ध होता जा रहा था।

खैर! यह सब तो मेरे मन में चल रहे विचार थे। मैं कारवां के हलचल में आते ही स्वाभाविक रूप से आगे के चिंतन व आगे की योजनाओं में उलझ गया था। दूसरी ओर हमारा अच्छाखासा व्यायाम भी हो ही रहा था। दोपहर चढ़ चुकी थी व हमलोग अब भी कारवां के एक सिरे से दूसरे की ओर घूमते हुए व्यवस्था में ही लगे हुए थे। व्यवस्था क्या, ध्यान एक ही ओर केन्द्रित था कि कुछ भी कर कैसे कारवां को गति प्रदान की जाए। पर इतने बड़े कारवां व इतने पशुओं व पैदल चल रहे लोगों के साथ... दे-देकर भी कारवां को क्या गति दे पाने थे? और यह सब मुझे कुछ भी

कर कालयवन को पन्द्रह रोज उलझाने की आवश्यकता की ओर इशारा कर ही रहे थे। ...कुछ हद तक सात्यकि को भी यह चिंता सता ही रही थी। भैया और उद्धव को तो कालयवन कहां तक पहुंचा है, इसका ही अंदाजा नहीं था। और कारवां को तो दूर-दूर तक इसका कोई अंदाजा नहीं था। वह तो हमारी जयकार करते हुए बढ़ा जा रहा था। ढोल व नगाड़ों की आवाज ने सारी सड़कें गुंजा रखी थी। इस माहौल में यदि कोई गंभीर था तो मैं और सात्यकि। ...वाकई यदि सर पर जरासंध नामक बीमारी नहीं मंडरा रही होती, तो इस समय हम भी हवा में न उड़ रहे होते? निश्चित ही जीवन की सबसे बड़ी खुशी न मना रहे होते?

खैर; अभी कारवां कुछ दूर ही निकला था कि सबके परम आश्चर्य के बीच सत्राजित अपना स्वयं का भव्य काफिला लेकर आ पहुंचा। उसमें दस बैल-गाड़ियां, बीस रथ, कई अश्व व गाय-भैंसों के अलावा पच्चीसों सेवक-सिपाही भी थे। सारे गाड़े सामानों से भरे पड़े थे। हां, साथ में सत्यभामा भी थी। स्पष्ट था, वह द्वारका स्थानांतरण की तैयारी से ही आया था। सभी उसके आगमन से आश्चर्यचकित थे। कहने की जरूरत नहीं कि भैया व उद्धव उसके आने से बिल्कुल खुश नहीं थे। जाहिरी तौर पर उनकी निगाह में वह हमारा जाती शत्रु था जो कभी भी द्वारका के हमारे हसीन जीवन में जहर घोल सकता था। अब उनकी भी क्या गलती, पिछले एक-डेढ़ वर्ष से सत्राजित के बदले व्यवहार का या मथुरा की बदली परिस्थितियों का उन्हें कुछ अंदाजा नहीं था। वे पूरे समय द्वारका-निर्माण में व्यस्त रहे थे। लेकिन मैं उसे आया देखकर बड़ा खुश हुआ। मेरे खुश होने का सबसे प्रमुख कारण तो यह कि उसका अपना एक राज्य था, राजा था वह; ऐसे में मेरा सोचना था कि यदि ऐसे सम्माननीय व्यक्ति भी द्वारका को स्वीकारे तो निश्चित ही यह द्वारका के लिए गौरव की बात होगी। अत: मुझ राजनीतिज्ञ को तो उसका शानदार स्वागत करना ही था। और उधर भैया को मेरे इस व्यवहार से आश्चर्यचकित ही नहीं, क्रोधित भी होना ही था। उनको कैसे समझाऊं कि वह बेचारा कोई अपनी मर्जी से द्वारका थोड़े ही आ रहा है, वह तो ‘‘स्यमंतक-मणि’’ का मोह उसे जबरदस्ती खींच लाया है। और फिर मणि था तब तक वह शेर था, अब तो भींगी बिल्ली हो चुका है।

छोड़ो, अभी यहां रसप्रद बात यह कि मेरे द्वारा स्वागत किए जाने से सत्राजित तो खुश हुआ ही हुआ पर सत्यभामा तो पगला ही गई। साफ दिखाई दे रहा था कि द्वारका जाने के नाम से ही उसके पांव जमीन पर पड़ने बंद हो गए थे। कारण साफ था; उसे मेरे साथ रहने का मौका जो मिलने वाला था। ...वहीं नितांत मेरी बात करूं तो मुझे तो एक नहीं अनेक कारणों से सत्राजित व सत्यभामा दोनों का तहेदिल से स्वागत करना ही था। मैं कोई एहसान-फरामोश तो था नहीं, मैं यह कैसे भूल जाऊं कि द्वारका निर्माण में प्रमुख योगदान सत्राजित की ‘‘स्यमंतक-मणि’’ का ही है। साथ ही सत्यभामा के समर्पण को भूलने का भी सवाल ही नहीं उठता था। और यूं भी उसे तो कई अन्य कारणों से भी भुलाना आसान न था। ...सोचो, यदि राधा ने मेरा दिल तोड़ दिया होता तो मेरा क्या होता? आज भी ग्वाला बनकर वृन्दावन की गलियों में भटक रहा होता। तो फिर मैं सत्यभामा का दिल कैसे तोड़ सकता था? उसके लिए तो बस दिल से हरदम दुआ निकलती थी कि कुदरत उसका जीवन खुशियों से भर दे।

खैर छोड़ो! वापस कारवां पर लौट आऊं तो कारवां इतना विशाल था कि उसका ओर-छोर ही नजर नहीं आ रहा था। करीब दो सौ बैल गाड़ियां, दो सौ रथ, सैकड़ों पालतू जानवर, एक हजार पैदल सैनिक व एक हजार अन्य सिपाही-सेवक, और यह कम पड़ रहा हो तो उग्रसेन, सत्राजित व भैया जैसे तीन-तीन राजा, और शायद मैं ‘‘द्वारकाधीश’’ ...अगर जीवित बचा तो! ...करीब दो हजार परिवार व पच्चीस-तीस हजार लोग। विचित्र स्थिति थी; एक ओर अपने बने-बनाए घर को उजाड़ने की पीड़ा थी तो दूसरी ओर नए घर पहुंचने का आकर्षण भी था। यानी जहां एक ओर विषाद ने मन को घेरा था तो दूसरी ओर उत्साह भी था। साथ ही, साथ चलने वाला संघर्ष भी था व आगे मिलने वाली शांति भी। वर्तमान का यथार्थ भी था और भविष्य का सपना भी। ...और निश्चित ही इन सबके सपने पूरे करने, और सबको सुरक्षित रूप से द्वारका पहुंचाने की पूरी जिम्मेवारी मेरे कंधों पर थी। इन सबने मुझपर विश्वास किया था। वे मेरी शरण आए थे। अत: मेरे कर्तव्य में अब वे मथुरावासी नहीं, द्वारकावासी थे। मेरी प्रजा थे, और एक अच्छे राजा का कर्तव्य है कि हरहाल में अपनी प्रजा की रक्षा करे। यूं भी यह मेरा बचपन से स्वभाव था कि जो एकबार मुझपर भरोसा कर ले, मेरी शरण आ जाए ...फिर उसके जीवनोद्धार की पूरी जवाबदारी मैं अपनी समझता था। जो मेरी शरण आया उसका तो मैं बाल भी बांका नहीं होने देता था। और यही बात मैंने ‘‘गीता’’ में बार-बार अर्जुन से कही भी थी कि ‘‘मेरी शरण आ, मेरा भक्त बन, मुझे पूज्?[10]।’’ लेकिन उर्जन का अहंकार कहां मेरी शरण आने वाला था? अर्जुन तो अर्जुन था; आपको याद होगा वह अंत तक समर्पण नहीं कर पाया था; ...परंतु ये सब तो समर्पण कर चुके थे।

यह सब तो ठीक, पर उधर कारवां जिस गति से चल रहा था... यह तय था कि उसे लवण-घाटी पार करने में कम-से-कम बीस दिन लगेंगे। मेरी दृष्टि में जब तक कारवां लवण-घाटी पार नहीं कर लेता, सुरक्षित नहीं कहा जा

सकता। और कारवां पर एक ही खतरा मंडरा रहा था और वह था "कालयवन" का। यदि उसे चन्द दिनों तक मथुरा प्रवेश करने से किसी तरह रोका जा सके तो फिर कारवां पर कोई खतरा नजर नहीं आ रहा था। और उसे रोकने की जिम्मेदारी मेरी थी व जिसे निभाने हेतु मैं पूरी तरह तैयार था। बस संध्या होते-होते जैसे ही कारवां मथुरा राज्य की सीमा के पार निकला मैं... भैया, उद्धव व सात्यकि की इजाजत लेकर कालयवन के पास जाने के लिए निकल पड़ा। निश्चित ही इस बार भैया की इजाजत लेने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ी थी। उद्धव व सात्यकि भी अंत तक मेरे साथ चलने की जिद्द कर रहे थे। लेकिन अर्जुन की ही तरह उन लोगों का मोह भी असमय का मोह था। और मैं ऐसे असमय हुए मोह के वश में कहां आने वाला था? बस सबको उदास व दुखी छोड़ मैं अपना कर्तव्य निभाने चल पड़ा था। हां, जाते-जाते कारवां को अंतिम बार देखना नहीं भूला था। आपको क्या बताऊं कि कारवां को निहारना कितना अच्छा लग रहा था। कितने लोग सिर्फ मेरे भरोसे मौत के मुंह से निकलकर जीवन की आशा में जा रहे थे। आज उनकी आशा ही मेरी हिम्मत थी। क्या कहूं आपसे, उत्साह से भरे कारवां को जाते देखकर मैं अपने को भावुक होने से नहीं रोक पाया, और कहने की जरूरत नहीं कि उसी भावुकता के चलते मैंने कारवां को अंतिम बिदाई दी तथा घोड़ा कालयवन के कारवां की दिशा में दौड़ा दिया।

...अब कारवां निकल तो चुका था परंतु अभी उसका सलामत पहुंचना बाकी था। इस समय मेरी हालत मैं ही जानता था। अश्व दौड़ाते हुए कारवां की सलामती के लिए कालयवन को रोकने निकल तो पड़ा था, पर कोई पक्की योजना या आसरा तो था नहीं। ऊपर से सवाल भी ऐसा-वैसा नहीं हजारों मनुष्यों के जीवन का था। हालत ऐसी थी कि अभी कुछ दूर ही पहुंचा था कि रास्ते में एक नई ही चिंता ने आ घेरा। कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरी गणना में भूल हुई हो और कालयवन ने वह गुफा पार कर ली हो। यदि ऐसा हुआ तो फिर उसे रोक पाना असंभव हो जाएगा। एक क्षण को तो मेरे प्राण ही निकल गए। लेकिन तत्क्षण स्वयं को सम्भाला, क्योंकि जो कार्य मैं करने जा रहा था उसके लिए चिंतित मनोदशा अच्छी न थी। और फिर वैसे भी हारने से पहले हारना अक्सर हार को निमंत्रण देना साबित होता है। बस मैंने तत्क्षण स्वयं को "विश्वास" नामक जड़ी-बूटी सुंघाई। यदि उसने गुफा पार नहीं की होगी तो-तो अच्छी बात है, और अगर कर ली होगी तो कुछ नया सोच लिया जाएगा। ...इसमें अड़चन ही क्या है? सोचना तो घर की खेती है, जितनी जरूरत होगी उतना सोच लूंगा। पर चाहे जो हो, कालयवन को कारवां तक नहीं पहुंचने दूंगा। और जब कुछ और नहीं सूझा तो बस मन-ही-मन यह संकल्प दोहराना प्रारंभ कर दिया। यानी इधर मैं मन में संकल्प दोहरा रहा था और उधर घोड़ा पुरजोर गति से दौड़ा जा रहा था। निश्चित ही मैं जल्द-से-जल्द उस गुफा तक पहुंचना चाहता था जहां कालयवन को उलझाने की योजना बनाये बैठा था।

खैर! रातभर घोड़ा दौड़ाने के बावजूद उस गुफा तक पहुंच दूसरे दिन सुबह ही पाया। कालयवन की सेना आस-पास कहीं नजर नहीं आ रही थी। स्वाभाविक रूप से यह देख मेरी जान-में-जान आ गई थी। यानी मैं तो कालयवन तक पहुंच चुका था, पर अभी उसका मुझ तक पहुंचना बाकी था। रात भर की थकान के बावजूद मारे सतर्कता के पलक झपकने तक का नाम नहीं ले रही थी। मैं अश्व को एक पेड़ से बांध आसपास से उसके भोजन हेतु कुछ घास ले आया। फिर कुछ फल वगैरह तोड़ उसी पेड़ के नीचे आसरा लिया। चारों ओर घने पेड़ों व छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरी वह गुफा सामने ही नजर आ रही थी। और इस सुहावने दृश्य में एकबार फिर मौत का इन्तजार प्रारंभ हो गया था। वैसे तो जीवन में कई तरह के इन्तजार किए थे, लेकिन आज का इन्तजार अपनेआप में कुछ निराला था। क्योंकि यह इन्तजार दो-तरफा था; एक तरफ जहां मैं कालयवन रूपी मौत के आने का इन्तजार कर रहा था तो वहीं दूसरी ओर कारवां रूपी जीवन के सही-सलामत द्वारका पहुंचने का इन्तजार भी कर ही रहा था। हालांकि प्रथम इन्तजार एक और कारण से अनूठा था। वह जितना लंबा हो, उतना अच्छा था। और अभी तो हर गुजरते पल के साथ यह इन्तजार लंबा होता ही जा रहा था। आखिर इन्तजार करते-करते संध्या हो गई, पर वह नहीं आया। इससे बड़ी खुशखबरी तो हो ही नहीं सकती थी। अब तो उसके कल दोपहर के पहले आने की संभावना नहिंवत् थी। क्योंकि इतने पैदल सिपाही के साथ कोई रात्रि को सफर करे, अशक्य जान पड़ रहा था। चैन की रात नसीब होते ही मैंने कालयवन को अपने जहन से निकाला व वंशी की शरण चला गया। पता नहीं, फिर कभी वंशी बजाने को मिले-न-मिले। आज रात सिर्फ मैं और मेरी वंशी थे। न किसी की याद थी, न किसी का इन्तजार था। भला जीवन के अंतिम क्षण में क्यों किसी को याद करना और क्यों किसी का इन्तजार करना। आज तो सिर्फ स्वयं के साथ रहने का दिन था। सिर्फ अपने लिए जीने का दिन था। सच कहूं तो आज जैसा सुकून मुझे पहले कभी नहीं मिला था।

...उधर सुबह होते-होते मुझे नया विचार आया। मैंने सोचा, यहां बैठकर कालयवन का इन्तजार करने से तो मैं स्वयं उसकी सेना की तरफ कूच क्यों न करूं? उसको जितनी दूर रोका जा सके उतना ही कारवां के लिए अच्छा होगा। विचार उत्तम था, तुरंत मौत के मुंह में जाने के लिए निकल पड़ा। करीब आधे प्रहर की घुड़सवारी के बाद भी

कारवां कहीं दूर-दूर तक नजर नहीं आया। मैं बड़ा खुश हुआ। शायद विशाल सेना की वजह से कारवां मेरी उम्मीद से कहीं ज्यादा धीमा चल रहा था।

हालांकि यह खुशी लंबी न टिक पाई। दोपहर होते-होते मंजिल दिखाई पड़ ही गई। कालयवन की विशाल सेना सामने ही नजर आ रही थी। एक पल को तो इतनी विशाल व खूंखार सेना देखकर ही मैं घबरा गया। तभी ध्यान आया, मैं क्यों घबराऊं? मैं तो मरने ही निकला हूँ, ...बस बेधड़क सेना के सामने जा पहुंचा। उधर जैसी की उम्मीद थी, एक अनजान घुड़सवार को अपने निकट आया देखकर कालयवन के सिपाहियों ने मुझे घेर लिया। कौन हो तुम? कहां जाना चाहते हो? किससे मिलना चाहते हो? ...प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

मैंने भी बड़े आत्मविश्वास से कहा- मैं मथुरा के महाराज उग्रसेन का दूत हूँ; और आपके महाराज कालयवन के लिए संदेश लाया हूँ।

यह सुनते ही छः सिपाहियों ने मुझे घेर लिया। एक तरीके से तो नजर-कैद ही कर लिया गया। अब मैं तो इस परिस्थिति के लिए तैयार ही था। मुझे दुश्मन सिपाहियों से ऐसे ही स्वागत की उम्मीद थी। इसीलिए मैं वेशभूषा बदल कर ही निकला था। स्वाभाविक रूप में प्रकट हुआ होता तो शायद बलि ही चढ़ा दी गई होती। भला दूरदृष्टि व सतर्कता में मेरा कोई सानी हो सकता है? यूं भी सोचा कि गर्व कर ही लूं, फिर दोबारा गर्व करने को मिले न मिले?

खैर, अभी तो मुझे वहीं सैनिकों की निगरानी में छोड़ उनमें से एक सैनिक कालयवन को सूचना देने चल पड़ा। मैं क्या करता, बस कालयवन की आती सेना को निहारने लगा। और उसकी सेना की क्या बात करूं, जहां तक नजर पड़ रही थी उसकी सेना नजर आ रही थी। अब तक तो कई अश्वारोही सैनिक मुझ तक पहुंच चुके थे। अब तो आठ घोड़ों से बंधा कालयवन का विशाल रथ भी नजर आ गया था। सचमुच इस समय कालयवन की इतनी सुसज्जित व विशाल सेना देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए थे। वाकई यदि यह सेना समय रहते मथुरा पहुंच जाती तो शायद मथुरा से मेरे समेत सभी यादवों का हमेशा के लिए नामो-निशान मिट जाता। यही क्यों, यदि भूले-भटके अब भी कारवां इनकी पकड़ में आ गया तो भी काम तमाम ही समझो। यह तो भला हो श्वेतकेतु का जो समय रहते खबर करने आ गया था। वरना तो मुसीबत आने का पता चलने से पहले ही पूरी मथुरा का नामो-निशान मिट गया होता। हो सकता था इसके छींटे वृन्दावन तक भी पहुंचते, और मेरे माता-पिता होने के नाते प्यारे नंद-यशोदा का भी काम तमाम हो जाता। इन पागलों का क्या भरोसा, हो सकता था पूरे वृन्दावन को ही तहस-नहस कर देते। ...जब इतनी बात चली है तो आज जीवन के इस मोड़ पर मैं आपसे एक दिल की बात भी कह देता हूँ। मेरा वृन्दावन जाने का पूरा मन न बन पाने की यह भी एक वजह थी। कहीं ऐसा न हो जरासंध वृन्दावन को मेरी दुखती नस जानकर मेरे साथ-साथ वृन्दावन को भी खत्म करने पर उतारू हो जाए। परिस्थितियों के साथ-साथ यह भय भी एक कारण था जो मुझे वृन्दावन से दूर रखे हुए था।

खैर! उधर जैसे ही कालयवन को महाराज के दूत के आने की सूचना दी गई कि उसने कारवां ही रोक दिया। फटाफट तंबू गाड़ दिए गए। सैनिक-सिपाही अपने-अपने हिसाब से पसरने में व्यस्त हो गए। सारे अश्व खोल दिए गए। परंतु इधर मैं अब भी सैनिकों से ही घिरा खड़ा था, और उसी मुद्रा में खड़ा-खड़ा यह सारा तमाशा निहार रहा था। अब तो कालयवन तंबू में आसरा भी ले चुका था व कुछ विश्राम कर तैयार भी हो गया था। कहने की जरूरत नहीं कि इन सबमें संध्या हो गई थी। मुझे खुशी यह कि और कुछ नहीं तो भी मेरे आने-मात्र से उसका एक दिन तो बिगड़ ही चुका था। वैसे अब कालयवन का बुलावा आ चुका था। वहां मौत ने पुकारा था और यहां मेरी हालत पहले से मरियल थी। रातभर अश्व दौड़ाया था व पूरे एक प्रहर तक यहां खड़ा कर दिया गया था। सच कहूं तो पांव में ऐसी अकड़ पैदा हो गई थी कि लंगड़ा कर ही चल पा रहा था। सिपाहियों को इससे क्या, बस इसी हालत में तत्क्षण मैं कालयवन के शिविर में हाजिर किया गया। विशालकाय शरीर होते हुए भी उसकी आंखों में गजब की चमक थी। उसकी आंखों से ही एक गहरा आत्मविश्वास झलक रहा था। क्या प्रभावशाली व्यक्तित्व था उसका। प्रभावशाली तो उसका शिविर भी था। मैंने जीवन में तंबू ही पहली बार देखा था। कुछ पल को तो मैं सब भूल तंबू को निहारने में ही लग गया। कालयवन सामने ही ऊंचे आसन पर विराजमान था। चारों ओर सैनिकों से घिरा मैं उसके सामने ही खड़ा हुआ था। शिविर अपनेआप में किसी बेहतरीन शयनकक्ष से कम नहीं था। उधर इससे पहले कि मैं पूरी तरह यहां लाए जाने का मकसद ही भूल जाऊं, वह गरजते हुए बोला- क्या नाम है तुम्हारा? और अब क्या भेंट में महानाग लाए हो?

सवाल व व्यक्तित्व दोनों बुरी तरह चौंकाने वाले थे। इधर उसकी सेना देख पहले से सहमा बैठा मैं उसकी गरजदार आवाज व सीधे सवाल से पूरी तरह हड़बड़ा गया। हालांकि जल्द ही सम्भल भी गया। यही नहीं, तत्क्षण परिस्थिति की मांग पर मेरी क्षणिक-चेतना अपने सर्वोच्च शिखर पर जा पहुंची। फिर क्या था, मैंने बड़ी ही

विनम्रतापूर्वक पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा- दूतों के नाम नहीं होते महाराज! दूत तो दूत होते हैं। दरअसल आपको नाग भिजवाना आप जैसे शक्तिशाली को डगमगाने की एक नाकाम कोशिश-मात्र थी जो अंत में हमारी मूर्खता ही साबित हुई। इस गलती के लिए महाराज उग्रसेन आपसे क्षमा चाहते हैं तथा इस समय मुझे मात्र महाराज उग्रसेन का ही संदेश वाहक समझा जाए।

अब एक तो युवा, ऊपर से कहने में इतनी नम्रता। यह कम था तो महाराज की ओर से उनकी मूर्खता की माफी भी मांग रहा था। सो उसे तो शांत होना ही था। उसने अबकी पूछा भी बड़े शांत भाव से ही - यदि हम तुम्हें बंदी बना लें तो...?

अब पूछने का भाव भले ही शांत हो पर सवाल बड़ा ही कड़क था। फिर भी मैंने बड़े ही कूटनीतिक अंदाज में कहा- महाराज! आप युद्ध व राजनीति की तमाम नीतियों के परम ज्ञाता हैं। और आपकी ख्याति भी उसका पालन करने वाले राजाओं में ही होती है। आप पर महाराज उग्रसेन व मथुरा को पूर्ण विश्वास है। इसीलिए तो पिछली बार नाग भिजवाने के बावजूद मैं अकेला व निहत्था आपके पास चला आया हूँ।

सचमुच अहंकार वह हथियार है जिसके चलाते ही बड़े-बड़े नतमस्तक हो जाते हैं। यह वो हथियार है जिसे सहलाकर बड़े-बड़े पत्थरों को भी मोम बनाया जा सकता है। कालयवन भी अपनी तारीफ सुन बहुत खुश हुआ, यही नहीं अबकी थोड़ा तन कर बोला- आप लोगों ने ठीक सुना है। तुम बेफिक्र होकर अपना संदेश कहो।

अब संदेश क्या था...? मुझे तो कुछ-न-कुछ कर बातों का दौर ऐसा उलझाना था कि कालयवन का ज्यादा-से-ज्यादा समय बिगाड़ सकूं। बस मैंने कहा- महाराज उग्रसेन बगैर युद्ध किए मथुरा आपको समर्पित करना चाहते हैं।

यह सुनते ही कालयवन खुशी से उछल पड़ा, फिर थोड़ा आश्चर्यचकित होता हुआ बोला- परंतु क्यों?

वह मैं आपसे नहीं कह सकता। यह मथुरा के साथ विश्वासघात होगा - मैंने बड़े नाटकीय ढंग से कहा।

स्वाभाविक रूप से मेरी नाटकीयता ने उसकी जिज्ञासा जगाई। अब जिज्ञासा जगाने हेतु ही तो नाटकीयता दर्शायी थी। परिणाम यह हुआ कि ना सिर्फ मेरा पहरा हटा दिया गया, बल्कि वह कारण जानने को इतना जिज्ञासु हो उठा था कि करीब-करीब मुझे पटाता हुआ बोला- बताना तो तुम्हें होगा ही। क्योंकि बगैर वास्तविक कारण जाने इस बात की सत्यता को समझना असंभव है।

मेरा क्या था...? मैंने अबकी समझने का नाटक करते हुए कहा- आपकी बात एकदम ठीक जान पड़ती है। अत: सच तो मुझे आपसे कहना ही होगा, और सच यह है महाराज कि हम लोग आप जैसे शक्तिशाली राजा से लड़कर बेमौत मरना नहीं चाहते। जहां तक जरासंध का सवाल है उसे तो मथुरा दो बार हरा चुकी है। जरासंध के जमाता कंस ने मथुरा पर काफी जुल्म किए थे। जरासंध भी उसी परंपरा को आगे बढ़ाना चाहता है। इसलिए महाराज उग्रसेन चाहते हैं कि मथुरा पर आपका शासन हो ताकि मथुरावासी आराम से जी सकें।

यह सब सुनकर कालयवन तो मोम की तरह पिघल गया। फिर बड़े ही दोस्ताना अंदाज में बोला- अपने अहंकार को त्यागकर प्रजा के बारे में इतना सोचना निश्चित ही यह महाराज उग्रसेन की महानता है। लेकिन उन दोनों छोकरों का क्या?

मैंने कहा- वे दोनों तो महाराजा उग्रसेन के नाती हैं। उनसे तो जरासंध अपनी जाती दुश्मनी निकालना चाहता है। कंस के वध का बदला लेना चाहता है। क्योंकि मथुरावासियों को जुल्म से बचाने हेतु उन दोनों ने ही कंस का वध किया था।

कालयवन थोड़ा चौंका- लेकिन शाल्व तो दोनों छोकरों के विषय में कुछ और कह रहा था। खैर, जाने दो इस बात को। लेकिन तुम लोग निश्चिंत रहो! मथुरा पर तो यूं भी मेरा ही शासन रहने वाला है। यही मेरी शाल्व से संधि है। मैं वचन देता हूँ कि मैं मासूम मथुरावासियों पर कोई जुल्म नहीं करूंगा।

यह सुनते ही मैंने हंसते हुए परंतु बड़े नाटकीय ढंग से कहा- पूरा आर्यावर्त जानता है कि जरासंध का वायदा व योजना दोनों हमेशा अलग-अलग होती है।

कालयवन अब पूरी तरह चौंक गया। उसका विश्वास जरासंध के प्रति थोड़ा लड़खड़ाया। बस मेरा काम हो चुका था। सबूत यह कि अबकी उसने बड़ी असमंजस की मुद्रा में पूछा- ...मतलब?

मैंने भी बड़ी लाचारी का भाव लाते हुए कहा- यह मैं आपसे कैसे कह सकता हूँ महाराज? मैं तो सिर्फ मथुरा की शरणागति का संदेश लेकर आया हूँ।

यह सुनते ही कालयवन की हालत अजीब हो गई। बात तो उसे जाननी ही रही। अब मुझ बालक पर जोर-जबरदस्ती का तो कोई तुक बनता नहीं था। ऊपर से मैं दूत था व उसका अहं भी अच्छे से सहला ही चुका था। बस

उसने बात निकलवाने हेतु इशारे से मुझे अपने पास बुलाया व अपने सामने ही बैठने के लिए एक आसन उपलब्ध भी करवा दिया। यह तो सचमुच बड़ी सफलता हासिल हुई। कैद से सीधे बराबरी पर बैठने का गौरव प्राप्त हुआ। यहां तक भी ठीक, पर फिर वह थोड़ा मेरी तरफ झुकते हुए बड़े प्रेमपूर्ण तरीके से बोला- तुम समझते क्यों नहीं? यदि बात पूरी नहीं बताओगे तो हम निष्कर्ष पर कैसे पहुंचेंगे?

मेरा क्या था...! जब वह इतनी तवज्जो दे ही रहा था तो मैंने भी अबकी समझने का अभिनय करते हुए एक जोरदार कहानी ही गढ़ डाली। सीधी बात है, शत्रु ज्यादा ताकतवर हो तो उनमें फूट डालो। बस मैंने बड़ी संजीदगी से किसी गहरे राज पर से परदा उठाने का अभिनय करते हुए कहा- आपकी बात तो सर्वथा उचित जान पड़ती है। सच तो यह है कि जरासंध ना सिर्फ आपका उपयोग कर रहा है, बल्कि आपके साथ बहुत बड़ा धोखा भी कर रहा है। यह बात पूरा आर्यावर्त जानता है और आप भी जानते ही होंगे कि जरासंध "चक्रवर्ती-सम्राट" बनना चाहता है। लेकिन आप उसके चक्रवर्ती-सम्राट बनने की राह में सबसे बड़ी बाधा हैं। क्योंकि आप किसी को अपना चक्रवर्ती-सम्राट मानना कभी नहीं स्वीकारेंगे। सब जानते हैं कि उसकी गुलामी व चमचागिरी आपसे कतई नहीं होगी। इसलिए उसे यदि चक्रवर्ती-सम्राट बनना है तो आपको युद्ध में हराना ही होगा, और जो आप पर हमला किए बिना संभव नहीं। अत: उसने मथुरा को मोहरा बनाकर आपके खात्मे की एक योजना बनाई है। दरअसल वह आपको यहां घेर कर मारना चाहता है। ऐसा होने पर अगले दिन ही वह स्वयं को चक्रवर्ती-सम्राट घोषित कर देगा।

इधर बोलते वक्त भी लगातार मेरी निगाह कालयवन पर बनी ही हुई थी। स्पष्ट दिख रहा था कि वह मेरी बातों में उलझ गया है। परिणामस्वरूप बात खत्म होते ही एक लंबी सांस लेते हुए वह गहरे विचारों में खो गया। उस पर मेरी बातों का असर होता देख मैं भीतर-ही-भीतर काफी निश्चिंतता महसूस करने लगा, मगर नौटंकीबाज ऐसा कि बाहर वही चिंतित एवं गंभीर मुद्रा बनाये हुए था। ...और बैठा तो ऐसी मासूमियत से था कि क्या कहूं? हालांकि कालयवन भी कम कमाल न था, वह मेरी अभिनय क्षमता की पूरी-पूरी परीक्षा ले रहा था। ...तो क्या, अभिनय तो मुझमें कूट-कूट कर भरा ही हुआ था। भला जिसकी दृष्टि में जीवन ही एक अभिनय हो, उसमें अभिनय के भिन्न-भिन्न रंगों की क्या कमी? ...विशेष कर मेरा जीवन तो पूरा-का-पूरा अभिनय है। यदि इसमें कुछ स्थिर है तो मेरा स्वभाव, मेरी आत्मा, मेरा प्रेम, मेरा आनंद, मेरी शांति और मेरी मस्ती। बाकी यह युद्ध, यह छल, यह द्वारका, माता-पिता, वृन्दावन, रुक्मिणी सबकुछ अभिनय ही तो है। लेकिन खूबी यह कि वह भी पूर्णता के साथ; सत्य से भी ज्यादा सत्य व मोह से भी गहरा। ...फिर भी है तो अभिनय ही। इन तमाम कामों के दरम्यान भी हूँ तो मैं द्रष्टा ही। ...और फिर आत्मा की अमरता को मुझसे बेहतर कौन जान सकता है? भूल गए क्या? मैंने गीता में अर्जुन को आत्मा की अमरता के कितने गुणगान सुनाए थे। खैर; छोड़ो उस बात को। अभी तो कालयवन अब भी गहरी सोच में डूबा हुआ था, और यही मौका था उसके मानस पर अंतिम वार करने का। अत: खामोशी तोड़ते हुए मैंने बड़ी गंभीरतापूर्वक कहा- आप ही सोचें महाराज, इतने सारे राजा व इतनी विशाल सेना क्या जरासंध सिर्फ मथुरा को जीतने के लिए ला रहा है? सोचने वाली बात तो यह है महाराज कि इतनी विशाल सेना के सामने तो मथुरा यूं भी नतमस्तक हो जाती। इस छोटे से एक-तरफा युद्ध के लिए उसे आपको यहां तक बुलाने की क्या आवश्यकता थी?

अब कालयवन जिसे पहले ही कोई बात पल्ले नहीं पड़ रही थी, मेरी इस बात ने उसे और बड़ी उलझन में डाल दिया। उसकी बुद्धि चलनी ही बंद हो गई। वह अब उसी तरह से सोचने को मजबूर था, जैसा मैं चाहूं। यानी उसकी सोच ने "कृष्ण के चक्करों" की शरणागति स्वीकार ली थी। परिणाम यह कि जरासंध की इतनी भयानक कूटनीति जानकर उसका मुंह खुला तो खुला ही रह गया। ...जब कुछ समझ नहीं आया तो कुछ देर पश्चात् वह क्रोध में उबल पड़ा - दुष्ट जरासंध पर तो मैं यूं भी भरोसा नहीं करता, यह तो शाल्व मेरा मित्र है इसलिए मैं फांस गया... इतना कहकर उसने एक ठंडी सांस ली। फिर कुछ देर बाद ही जाने क्या हुआ कि क्रोध में लाल-पीला हो गया, व मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए बोला- तुम उग्रसेन का संदेश मुझतक पहुंचाने आए हो, अब मेरा एक संदेश अपने महाराज तक पहुंचाओ। जाओ जाकर अपने राजा महाराजा उग्रसेन से कह दो कि जरासंध, शाल्व या अन्य कोई राजा मथुरा से जीवित वापस नहीं जा सकेगा। इतना कहते-कहते तो उसने तलवार ही खींच ली।

...यह हुई न बात। यानी अब कालयवन पूरी तरह मेरी मुट्ठी में आ गया था। बस क्या था? शरीर उसका सोच मेरी। यानी अब द्वारका बसी ही समझो। इस समय मेरी हालत यह थी कि एक तरफ द्वारका के सपनों में खो गया था तो दूसरी तरफ लगातार बोले गए सफेद झूठ पर मन-ही-मन हंसी भी खूब आ रही थी। क्योंकि हकीकत तो यह थी कि पिछले कटु अनुभवों के कारण जरासंध अत्यंत छोटी सेना लेकर आ रहा था। लेकिन कालयवन को जरासंध की विशाल सेना का ऐसा शानदार वर्णन किया था कि उसका मन शंकित हुए बिना रह ही नहीं सकता था। सोचो, मैं कितना बुद्धिमान होऊंगा कि मेरे सामने कालयवन जैसे बुद्धिमान की बुद्धि ने भी कार्य करना बंद कर दिया

था। मैं तो कहता ही हूँ कि मुझसे ना जीते-जी उलझना न मृत्यु के बाद ही। यह बात अहंकार के वश में आकर नहीं कह रहा, वाकई मुझसे सदैव विजयी रहने की कला सीखने की है। पहले सामने वाले की बुद्धि का चलना बंद कर दो; फिर उसके मानस पर इतनी चोट करो कि वह हर सोच के लिए आप पर आश्रित हो जाए; और अंत में उसे अपने मन माफिक अपनी बुद्धि से चलाओ। ...और फिर उसके ही हाथों उसका खात्मा करवाओ। यही हाल तो मैं इस समय कालयवन का करने की कोशिश में लगा हुआ था। ...तो पहले कोशिश को अन्जाम तक पहुंचाओ फिर बड़ास मार लेना। जरा-सी गड़बड़ हुई नहीं कि यहीं काट के रख दिए जाओगे। बात तो बिल्कुल सही है। मैं तुरंत जमीनस्थ हो गया। उधर कालयवन के हाव-भाव भी कुछ ऐसा ही इशारा कर रहे थे। स्पष्ट लग रहा था कि मेरी तमाम कोशिशों व सुनाई गई एक-से-एक कहानियों के बावजूद वह पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पा रहा था। अत: मौका जान मैंने एक और प्रहार कालयवन के मानस पर करना जरूरी समझा। अबकी गजब की दृढ़ता व विश्वास दिखाते हुए मैंने कहा- यदि सचमुच आप जरासंध का वध करने में सक्षम हैं तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि पूरी मथुरा आपका साथ देगी। मथुरा की सेना बहुत सुनियोजित नहीं है, माना उनके पास अत्याधुनिक हथियार भी नहीं है; फिर भी मथुरा के पांच-छ: हजार सिपाही जरासंध के साथ युद्ध में पूरी तरह आपके साथ रहेंगे। और एकबार आप जैसे का मार्गदर्शन मिला तो मैं दावे से कह सकता हूँ कि वे वीरता में किसी से कम सिद्ध न होंगे।

यह सुनते ही उसके चेहरे पर चमक आ गई, वह थोड़ा प्रसन्न भी हुआ। उसकी यह प्रसन्नता इस समय मेरे बड़े काम की थी। बस मैंने तपाक् से अंतिम पासा भी फेंक दिया जो महत्त्वाकांक्षा का था। अब इतना सबकुछ हो जाने के बाद जिसके विफल होने की कोई संभावना नहीं थी। बस मैंने अबकी पूरी विनम्रता से कहा- यदि आपने जरासंध को मार दिया तब तो आप ही चक्रवर्ती-सम्राट होंगे। पूरा आर्यावर्त आपके कदमों में होगा। और हकीकत यह है कि आप जैसा सहृदय चक्रवर्ती-सम्राट पाकर पूरा आर्यावर्त धन्य भी हो जाएगा।

...मेरा तीर ठीक निशाने पर जा लगा था। उसकी आंखों में चक्रवर्ती-सम्राट बनने के सपने उभरे स्पष्ट देखे जा सकते थे। उत्साह से तो इतना भर गया था कि फुर्ती से खड़ा ही हो गया, और फिर अपने सेनापति की ओर दृष्टि घुमाता हुआ बोला- आज जा के विश्राम करो व कल सुबह पूरी गति से मथुरा की ओर कूच करने की तैयारी करो। हमें जल्द-से-जल्द जरासंध का खात्मा बोलाना है।

...अबकी चौंकने की बारी मेरी थी। बमुश्किल अभी एक दिन ही बिगाड़ पाया था। सुबह-ही-सुबह मथुरा की तरफ कूच करने का अर्थ था मुझपर व कारवां पर संकट के बादल गहराना। तत्काल मेरी सारी निश्चिंतता हवा हो गई। इतनी लंबी-चौड़ी हांकने व पचासों झूठ बोलने का परिणाम फुस्स...! यानी कर्म अब भी अधूरा था। कुछ भी कर उसे तीन-चार रोज यहीं रोकना बहुत जरूरी था। पासे ने पलटी क्या खायी, मेरा सारा गर्व व गुमान जमीन में ध्वस्त हो गया। अब उसे चक्रवर्ती-सम्राट तो बना दिया। अब क्या विश्व के मालिक बनने के सपने दिखाऊं? मैं मन-ही-मन कुछ झल्ला भी उठा। इधर रात भी हो चुकी थी। शिविर मशालों से कबकी प्रकाशमान कर दी गई थी। पर हमारे जीवन पर मौत रूपी जो अंधकार छाया था वह छंटने का नाम ही नहीं ले रहा था। अब यदि तत्काल कोई चक्कर नहीं चलाया तो द्वारका का सपना ''सपना'' रह जाना तय नजर आ रहा था। ...लेकिन ...ऐसे कैसे? आप तो जानते ही हैं कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। तुरंत मेरे चैतन्य में एक नई योजना का आविष्कार हुआ। योजना क्या? एक और झूठ ...एक और कहानी। मैंने तुरंत बड़ी मासूमियत ओढ़ते हुए कालयवन से कहा- महाराज मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ। जिस मार्ग से इस समय हम जाने की सोच रहे हैं, वह मार्ग लंबा है। इस मार्ग से हमारी व जरासंध की सेना के साथ-साथ मथुरा पहुंचने का अंदेशा है। उस परिस्थिति में हम मथुरा की सेना का ठीक से उपयोग नहीं कर पायेंगे। हमें मथुरा जरासंध से दस-एक दिन पहले पहुंचना चाहिए ताकि आप मथुरा के सेना की कमान अपने हाथ में ले सकें। और तभी आप अपनी रणनीति अनुसार युद्ध कर पायेंगे। यूं भी युद्ध पूर्णतः आपकी ही रणनीति से लड़ा जाए वह बेहतर है, क्योंकि इस समय मथुरा के पास युद्ध की रणनीति में आप जैसा माहिर कोई नहीं है। वैसे भी यदि युद्ध एक ही व्यक्ति द्वारा बनाई गई रणनीति से लड़ा जाए तो ही बेहतर होता है।

कालयवन तुरंत बोल पड़ा- तो क्या...! मथुरा पहुंचने का कोई दूसरा मार्ग भी है?

मैंने तपाक् से कहा- हां, एकदम संक्षिप्त मार्ग है। मैं उसी मार्ग से आया हूँ। उस मार्ग से हम तीसरे दिन ही मथुरा की सीमा में प्रवेश कर जाएंगे।

...बोलते तो बोल गया था, लेकिन मथुरा जाने का कोई दूसरा मार्ग तो था नहीं, पर अब तो कोई उपाय न देख झूठ-पर-झूठ चालू हो गया था। दूसरी तरफ कालयवन पर तो मेरा जादू ऐसा छाया हुआ था कि वह तुरंत बोल पड़ा- ठीक है, फिर कल उसी मार्ग से चलेंगे।

मैंने मन ही मन सोचा, मेरे बाप! मार्ग हो तो ले चलूं। लेकिन मथुरा जल्दी पहुंचने का सुझाव भी मेरा ही

था, अत: अब उसे मार्ग सुझाने का कर्तव्य भी मेरा ही था। इसी के चलते अनायास मेरे मुंह से निकल पड़ा- पहले चलकर आप वह मार्ग देख तो लीजिए। क्योंकि यह मार्ग थोड़ा संकरा व पथरीला है। ऐसा न हो सेना पांस जाए और फिर हमें वापस इसी मार्ग का सहारा लेना पड़े। हम सुबह निकलेंगे तो मार्ग देखकर संध्या तक लौट आएंगे। क्या होगा? ज्यादा-से-ज्यादा एक दिन बिगड़ेगा पर हमारा कारवां तो नहीं भटकेगा।

अजब हालत थी कालयवन की। मैं जैसा घुमाऊं वह तुरंत घूमने को तैयार हो जाता था। मैं जानता था कि वह गलत हाथों में खेल रहा है। ...होगा, उसका दुर्भाग्य। मेरे लिए तो खुशी की बात यह कि मेरा सुझाव सुनते ही वह तुरंत उस हेतु राजी हो गया। यही नहीं, निश्चिंतता से सोने भी चला गया। उधर मुझे भी कड़े पहरे के बीच एक शिविर में ही आसरा दे दिया गया। थकान पूरी थी पर सर पर लटकती मौत व चारों ओर लेटे सैनिकों के मध्य नींद कहां आनी थी। एक दिन तो और बिगाड़ने का इन्तजाम कर ही चुका था, पर उसके आगे क्या? बस इसी चिंतन में सुबह हो गई।

उधर उत्साहित कालयवन तो सुबह होते ही हथियारों से लैस होकर व कुछ सिपाही साथ लेकर मेरे साथ मार्ग देखने चलने हेतु तैयार हो गया। मुझे तो ऐसा लगा मानो मुझे अपनी ही मौत का सामान अपने साथ ले जाना पड़ रहा है। ...और पुरानी कहावत है, ‘‘मौत का सामान जितना कम हो उतना अच्छा।’’ यही सोचकर मैंने विनम्रतापूर्वक एक सुझाव देते हुए कहा- मार्ग देखने के लिए जाना है ...उसके लिए तो दो-चार सिपाही ही काफी हैं। ...फिर हथियारों की भी क्या आवश्यकता है? ...क्योंकि ज्यादा सिपाही व हथियार हमारी ही गति में बाधक सिद्ध होंगे। और फिर मैं भी तो निहत्था ही आया हूँ। रास्ता भी पास ही है, कहीं कोई खतरा नहीं। व्यर्थ एक दिन क्यों बिगाड़ना?

यूं भी इस समय कालयवन की बुद्धि चल ही कहां रही थी? वह तो पूरी तरह से मेरी बुद्धि पर आश्रित हो चुका था। कालयवन तक तो ठीक है, परंतु उसके सेनापति व मंत्रियों तक की बुद्धि ने उनका साथ छोड़ दिया था। उनका तो सर ही चकरा गया था। उन्हें तो समझ ही नहीं आ रहा था कि जरासंध व शाल्व जो मित्र थे, अचानक शत्रु कैसे हो गए। हम तो मथुरा हमला करने जा रहे थे, यह मथुरा के साथ मिलकर किससे युद्ध लड़ना है? बेचारों को संपट ही नहीं बैठ रही थी कि हम हमला करने जा रहे हैं या हमपर कोई हमला करने आ रहा है। ...कैसे कहूं कि कृष्ण की उलझायी गुत्थियां सुलझाने के चक्कर में मत पड़ो सेनापतिजी, बगैर युद्ध किए पागल हो जाओगे।

खैर; छोड़ो इन मजाकिया बातों को। अभी तो अच्छी खबर यह कि मेरे मुख से सुझाया ‘‘शुभ-विचार’’ सुनते ही कालयवन ने सारे हथियार त्याग दिए व साथ में सिर्फ चार सिपाही लेकर मेरे साथ चल पड़ा। मैंने भी कुछ राहत की सांस ली, निश्चित ही मौत का सामान काफी कम हो चुका था। हालांकि सामान भले कम ही सही, पर था तो मौत का ही, और साथ भी अपने ही लिए जा रहा था; पता नहीं आगे क्या गुजरे? ...क्योंकि संध्या तक तो पता चल ही जाएगा कि मैं उन्हें सिर्फ मूर्ख बना रहा हूँ; और तब उनके पास मुझे खत्म करने के अलावा कोई उपाय नहीं बचेगा। ...अब तब जो होगा, देखा जाएगा... अभी तो मेरे व कालयवन के घोड़े साथ-साथ दौड़ रहे थे। चारों सैनिक पीछे-पीछे चले आ रहे थे। मार्ग हमने गुफा की ओर का ही पकड़ा हुआ था। करीब एक घंटे तक हमारे अश्व दौड़ चुके थे लेकिन कोई दूसरा मार्ग नजर नहीं आ रहा था। अब होता तो नजर आता? ...उधर कालयवन के हाव-भाव व बातों से स्पष्ट था कि वह कुछ-कुछ शंकित होने लगा है। मैं भी समझ गया था कि अब यह नाटक लंबा नहीं चलने वाला। नाटक का पर्दाफाश किसी भी समय संभव था। ऊपर से गुफा थी कि आने का नाम ही नहीं ले रही थी। मैं बुरी तरह व्यग्र हो चुका था। हालांकि इससे पहले कि व्यग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुंचे, गुफा दिखाई दे गई थी। जी हां, वही गुफा जिसमें मैंने व सात्यकि ने किसी ऐसे समय के लिए ही सूखी लकड़ियां रख छोड़ी थी। स्वाभाविक तौर पर गुफा देखते ही मेरी जान में जान आ गई थी। मैंने धीरे से अश्वों को गुफा की ओर मोड़ दिया। मार्ग बदलते ही उधर कालयवन का विश्वास भी लौट आया। उधर गुफा काफी बड़ी व गहरी थी। किसी संकट के समय यदि कालयवन से जान बचाकर भागना पड़े या उसको लंबा उलझाने की आवश्यकता पड़े तो इस गुफा का उपयोग किया जा सकता है, बस यही सोचकर मैंने उस समय इस गुफा का चुनाव किया था। बात साफ थी, कालयवन को मथुरा के मार्ग पर यह गुफा पड़नी ही थी। मुझे भी उसे अटकाने का प्रयास करने हेतु कहीं-न-कहीं मिलना ही था। ...तो फिर यह गुफा क्यों नहीं? कुछ नहीं तो गुफा में थोड़ी देर के लिए जान बचाने का उपाय तो खोजा ही जा सकता था। दूसरा, गुफा इतनी अंधियारी थी कि रात्रि को तो यहां हाथ को हाथ सुझाई नहीं देना था। निश्चित ही ऐसे ही किसी समय के लिए गुफा में लकड़ियां रखवायी थी। ताकि जरूरत पड़ने पर गुफा में आग लगाकर रोशनी भी की जा सके। यूं इस अंधियारी गुफा का एक और फायदा था। भले ही मेरी मृत्यु अटल सही, पर गुफा प्रवेश के साथ ही कालयवन के दिन-दो-दिन बिगड़ना तय था। क्योंकि इस अंधियारी गुफा में मुझे मारने व मेरा मृतदेह खोजने में कुछ समय व्यतीत होना

निश्चित था। और इधर मुझे कालयवन के दिन-दो-दिन बिगाड़ने के एवज में जान गंवाना मंजूर था।

...वैसे यही क्यों, होने को तो और बहुत कुछ हो सकता था। यह भी संभावना थी कि मुझे इस कदर झूठा पाकर वह इतना शंकित हो जाए कि अपनी यात्रा यहीं रोककर वास्तविक परिस्थिति जानने हेतु वह पहले अपना कोई दूत मथुरा भेजे। यदि ऐसा हो जाए तो...तो कारवां द्वारका पहुंचा ही समझो। अर्थात् मेरी इस एक चालबाजी ने एक साथ संभावना के कई द्वार खोल दिए थे। बस मैं मन-ही-मन यही सब सोचते हुए गुफा की तरफ बढ़े चला जा रहा था। दोपहर भी होने को ही थी। अब तो गुफा भी पूर्णरूपेण प्रकट हो गई थी। लेकिन तभी एक अप्रत्याशित घटना घटी। अभी मैं गुफा तक पहुंचने को ही था कि दुर्भाग्य ने दस्तक दी। कुछ स्थानीय नगरवासी गायें चराते-चराते हमारे निकट आ पहुंचे। स्वाभाविक तौर पर शिष्टाचारवश सबने मुझे प्रणाम किया। यहां तक तो ठीक; पर उनमें से एक बुजुर्ग बोल पड़ा- अरे कृष्ण! आप यहां? आप तो द्वारका जाने वाले थे न! यह सुनते ही मैंने आव देखा न ताव, अपना घोड़ा गुफा की दिशा में पुरजोर दौड़ा दिया। ...अब सबकुछ तो स्पष्ट हो चुका था।

उधर कालयवन यह सुनते ही क्रोध से लाल-पीला हो गया। एक क्षण को तो उसे समझ ही न आया कि अब वह क्या करे? इस एक पल में हजारों विचार उसके मन में आए व गए। हालांकि जल्द ही वह सम्भल भी गया। और सम्भलते ही तत्क्षण उसने मेरा पीछा करना प्रारंभ किया। हथियार तो उनके पास थे नहीं कि दूर से वार करते। उनकी मजबूरी थी कि मुझे पकड़कर ही मेरे साथ कुछ किया जा सकता था। बस इसी हताशा में वह पीछा करते वक्त भी पागलों की तरह चिल्ला रहा था- तो तुम दूत नहीं ''कृष्ण'' थे? तुमने अपनी पहचान छिपाई? झूठ बोला? यानी जो कहा सबकुछ झूठ था? तुम झूठे हो। छलिया हो, कपटी हो। मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूंगा।

...चिल्लाने दो। मुझे क्या करना! मैं सुना-अनसुना कर तेजी से अपना घोड़ा गुफा की ओर दौड़ाए चला जा रहा था। पीछे मेरी मौत भी तेजी से मेरा पीछा करती हुई मेरे निकट आने की कोशिश कर ही रही थी। वैसे मौत का क्या था, वह तो वैसे ही अटल हो चुकी थी। पकड़ा गया तो तत्क्षण मौत, और यदि गुफा में घुस पाया तो दिन-दो-दिन बिगाड़ के मौत। होगा, अभी तो खुशखबरी यह कि मैं गुफा के सामने ही था। बस तुरंत चलते घोड़े पर से कूदा व दौड़ के गुफा में सकुशल प्रवेश कर गया। अब कहीं जाकर मेरी जान-में-जान आई। एक तो गुफा यूं भी अंधियारी थी, ऊपर से दोपहर भी ढल चुकी थी। अभी मुझे गुफा में प्रवेश किए कुछ ही देर हुई थी कि महाराज कालयवन भी आ टपके। उन्हें तो आना ही था। अच्छा यह कि फिर भी मारे शंका के कुछ देर वह गुफा के बाहर ही खड़े रहे। शायद एक धोखा खाने के बाद वह जल्दबाजी में कोई दूसरा धोखा खाना नहीं चाहता था। ऊपर से अंधियारी गुफा ने उसे कुछ ज्यादा ही शंकाशील कर दिया था। इन सबके चलते उसने सावधानी बरतना ही बेहतर समझा। बस छप-छप करते वो और उसके सैनिक गुफा के बाहर ही मंडरा रहे थे। पता नहीं कहीं अंदर में पूरी सेना लेकर ही न बैठा हुआ होऊं। इधर मेरा क्या था? सोचता रहे वह यह सब, मैं तो गुफा के एक कोने में चुपचाप दुबककर बैठा हुआ था। मेरे लिए तो वह इसी असमंजस में अपना गुफा-प्रवेश सुबह तक के लिए टाल दे तो और अच्छा था। लेकिन कालयवन भी कालयवन था। वह ज्यादा देर इंतजार नहीं कर पाया। शायद अपने ही सैनिकों के सामने मूर्ख बनने पर उसका अहंकार चोट खा गया था। अत: जब काफी देर तक गुफा में कोई हलचल नहीं हुई तो उसने सैनिकों समेत गुफा में प्रवेश कर ही लिया। उसे यह तो पहले से ही मालूम था कि मैं निहत्था हूँ, इधर गुफा प्रवेश के साथ उसे यह भी यकीन हो चला कि गुफा में मैं अकेला हूँ। कमाल था! पलभर पहले जिसे मेरी हर बात पर पूर्ण विश्वास था, अब उसे मेरी किसी बात पर कोई भरोसा नहीं रहा था। वैसे इसमें उस बेचारे का क्या दोष? मैं चीज ही ऐसी हूँ। भरोसे लायक व्यक्ति हूँ ही कहां?

खैर! इस समय एक बात मेरे पक्ष में थी कि मैं इस गुफा में पहले भी आ चुका था। वहीं जब मैंने प्रवेश किया था तब कुछ उजाला भी था, अत: मैं गुफा से अच्छा-खासा वाकिफ हो चुका था। ...जबकि एक तो कालयवन के लिए गुफा वैसे ही पूरी तरह अनजान थी, और ऊपर से जब उसने प्रवेश किया था तब तक अंधेरा भी हो चुका था। फलस्वरूप वह गुफा में घुस तो गया पर उसे कहां जाना, मुझे कैसे खोजना, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैं तो सांस भी एकदम धीरे-धीरे ले रहा था। हां, यहां-वहां खोजती हुई उनके कदमों के चलहकदमी की आवाज अवश्य मेरे कानों तक पहुंच रही थी। जैसे ही उनसे कुछ टकराता वे सतर्क हो जाते, पर निश्चित ही वहां मैं नहीं होता था। यूं भी मैं एक ऐसे कोने में दुबककर बैठा था कि वहां तक पहुंचकर मुझे ढूंढना आसान नहीं था। हां; कदमों की आवाज निकट आती तो मैं सतर्क अवश्य हो जाता; और जैसे ही आवाज दूर हो जाती मैं राहत महसूस करता। अब तक यह भी तय हो चुका था कि मुझे खोजे व निपटाये बगैर कालयवन यह गुफा छोड़ने के पक्ष में नहीं, यानी उसका अच्छाखासा समय व्यर्थ जाना तो तय हो ही चुका था। ऐसे में स्वाभाविक तौर पर बीतते समय के साथ कारवां के सकुशल पहुंचने की उम्मीदें भी बढ़ती जा रही थी। और उसके साथ ही मेरा विश्वास भी बढ़ता ही जा रहा था।

...तभी अचानक मेरा हाथ अपनी ही रखी लकड़ियों से टकराया, और इसके साथ ही अनायास मुझे एक

मौका सूझा। मेरे पूरे तन-बदन में बिजली कौंध गई। लो, यह तो पूरा मामला ही उल्टा हो सकता है। यदि ऐसा हो जाए तो मेरा तो काम ही हो जाए। बस मैंने तुरंत चक्र निकालकर अपनी उंगली में पांसा दिया। आज मुझे अपने हथियार पर नाज हो रहा था। क्योंकि यदि चक्र की जगह कोई भी दूसरा हथियार होता, तो वह पहले ही जब्त कर लिया गया होता। भला चक्र कोई हथियार थोड़े ही है? ...इस समय मैं पूरी तरह चौकन्ना था। मेरे कान लगातार गुफा की हलचल भांपने में लगे हुए थे। कुछ ही देर बाद कालयवन के कदमों की आहट स्पष्ट सुनाई देने लगी। धीरे-धीरे वह एकदम निकट आ गई थी। मैं पूरी तरह से सजग था ही, बस मैंने तत्क्षण थोड़ी सी रोशनी की और इसके पहले कि वह कुछ समझ पाता या मुझे देख पाता, मेरा चक्र काम कर चुका था। कालयवन का सिर धड़ से अलग हो चुका था। कहने की जरूरत नहीं कि कालयवन के मरते ही मैंने राहत की सांस ली। जान तो बच गई थी पर जश्न मनाने का मौका अब भी नहीं था। क्योंकि अभी भी युद्ध पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था। अभी तो जिस प्रकार कालयवन को मारा था, उसी तरह बचे हुए सैनिकों को भी मेरे चक्र का निशाना बनना था। कहीं ऐसा न हो मैं खुशी मनाता रह जाऊं, और वे चारों मिलकर मेरा काम तमाम कर दे। खैर; तीन को तो मैंने बड़ी आसानी से अपने चक्र का निशाना बना लिया, लेकिन चौथे को मैंने मारने की बजाय धर-दबोचा। हां, एक मुक्का मारकर उसे घायल अवश्य किया। अब वह पूरी तरह मेरे नियंत्रण में था। पर सच कहूं तो मुझे इतने से भी संतोष नहीं था। इतना बड़ा मामला और उसपर लगी हुई जीवन की सबसे बड़ी बाजी; बात जितनी पक्की हो जाए बेहतर था। उधर गुफा में ढेर लकड़ियां तो पड़ी ही हुई थी। पड़ी क्या हुई थी, मैंने ही डाली थी। और चूंकि अंधेरे के कारण यह यकीन से नहीं कहा जा सकता था कि कालयवन व उसके सिपाही मरे भी हैं या सिर्फ घायल हुए हैं; अत: जब सामान है तो व्यर्थ क्यों मौका चूकना? कहीं ऐसा न हो हाथ आई बाजी फिर पलट जाए? बस यही सोचकर घायल सिपाही को बाहर खींचते हुए तत्क्षण मैंने पूरी गुफा में आग लगा दी। देखते-ही-देखते पूरी गुफा भभक कर जल उठी। अब कहीं जाकर मैं निश्चिंत हुआ कि चलो यदि कोई मरा नहीं भी होगा तो भी अब वह इस आग से नहीं बच पाएगा, जलकर भस्म अवश्य हो जाएगा।

लेकिन संतोष मानने का वक्त अब भी नहीं आया था। इस समय मेरा चैतन्य अपने सर्वोच्च शिखर पर सक्रिय था। मैं गुफा के बाहर अपने घोड़े के निकट ही खड़ा था। कालयवन व उसके सिपाहियों के घोड़े भी सामने ही खड़े थे। उस घायल सिपाही की गर्दन अब भी मेरे हाथों में ही थी, और स्वाभाविक तौर पर हम दोनों गुफा में लगी भीषण आग निहार रहे थे। मध्यरात्रि कबकी बीत चुकी थी। फसाद की जड़ कालयवन के मरने में अब मुझे कोई संदेह नहीं रह गया था, फिर भी हम पूरी तरह सुरक्षित अब भी नहीं कहे जा सकते थे। अभी एक और अंतिम कार्य बाकी था। और जब तक वह काम नहीं हो जाता कार्य पूर्ण हुआ नहीं कहा जा सकता था। ...अब उसके लिए ही तो इस चौथे सिपाही को नहीं मारा था। बस मैंने तुरंत उसको वापस अपनी सेना के पास जाने का आदेश दिया, साथ में एक संदेश भी भिजवाया। संदेश सेनापति के लिए था व पूरी तरह स्पष्ट था। संदेश का सार यह था कि कालयवन को जरासंध ने धोखे से मार डाला है और इससे पहले कि वह साथ आई सेना का भी खात्मा कर दे, लौट जाओ।

बस सैनिक के रवाना होते ही मैं पूरी तरह निश्चिंत हो गया था। ''कालयवन-वध'' शायद मेरे अब तक के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। अब तो द्वारका का सपना साकार होना तय था। रुक्मिणी पाने की संभावना भी मजबूत हुई थी। मेरे मन को खुशी के पर लग गए थे। लेकिन यह समय खुशी में पागल होने का भी नहीं था। होश बनाए रखना अब भी आवश्यक था। खतरे की संभावना अब भी बनी ही हुई थी। मैंने तत्क्षण स्वयं को बहकने से रोका, और पूरी स्फूर्ति से अपना घोड़ा कारवां की दिशा में दौड़ा दिया। लेकिन कुछ ही देर की यात्रा में यह उत्साह ठंडा पड़ गया। एक तो मार्ग सीधा नहीं पथरीला था; ऊपर से अंधियारी रात थी। रास्ता सुझाई ही नहीं दे रहा था। यह कम था तो थकान भी अपनी चरम सीमा पर थी ही। यानी ज्यादा लंबी यात्रा करने की ना तो परिस्थिति थी, ना ही शरीर में वो जान थी। अत: अंत में कुछ दूर चलकर ही मैंने अपनी यात्रा को विश्राम देते हुए घोड़े को एक पेड़ से बांध दिया, और फिर उसी पेड़ की डाली पर चढ़कर सोने का प्रयत्न करने लगा। नींद तो तुरंत गहरा गई, लेकिन चारों ओर जंगली जानवरों की भयानक आवाजें सोने नहीं दे रही थी। मैंने भी हिम्मत कर जागने का ही निश्चय किया। कहीं ऐसा न हो कि कालयवन से तो बच गया, किन्तु नींद-ही-नींद में किसी हिंसक पशु का शिकार हो जाऊं। तभी मुझे आचार्य सांदीपनिजी की बात याद आ गई। उन्होंने कहा था न कि यदि तुम्हारा चित्त अहिंसक है तो खतरनाक-से-खतरनाक जानवर भी तुम्हें कभी नहीं छुएगा। और मेरा चित्त तो इस समय अहिंसा की चरम सीमा पर था, फिर भला मैं क्यों फिक्र करूं?

...बात साफ भी थी व समझने लायक भी। स्वार्थ हिंसा है। मैं तो इस समय पूर्ण नि:स्वार्थ भाव से अपनी जान की बाजी लगाकर पच्चीस हजार यादवों को ना सिर्फ बचा चुका था, बल्कि उन्हें श्रेष्ठ जीवन देने भी जा रहा था।

फिर मुझे चिंता का क्या कारण? यह विचार आते ही जो आंख लगी, तो सीधे सुबह चढ़ते ही उठा। उठते ही बिना मुंह धोये मैंने अपना घोड़ा सीधे कारवां की तरफ दौड़ा दिया। संध्या होते-होते मैं कारवां के साथ था। कारवां की गति मेरी उम्मीद से अत्यंत धीमी थी। कोई बात नहीं, अब चिंता की कोई विशेष बात भी कहां थी? हां, साधारण से खतरे की एक नगण्य-सी संभावना बनी हुई थी, जिस कारण से मैं थोड़ा सावधान भी था; वरना तो कबका जश्न में डूब न गया होता? ...दरअसल जो संभावना मुझे सता रही थी, वह यह कि कहीं सेनापति मेरी सूचना की अवहेलना कर अपने राजा की मौत का बदला लेने हेतु मुझे खोजने न निकल पड़े? हालांकि यदि वह ऐसा करेगा तो भी अपने साथ कोई पूरी सेना लेकर तो आएगा नहीं, साथ ही मुझे खोजने हेतु पहले तो वे मथुरा ही जाएंगे। फिर वहां से सूचना मिलने पर कारवां का पीछा करेंगे। निश्चित ही इन सबमें काफी वक्त बीत ही जाएगा। हालांकि बावजूद इसके मेरी सोच में ‘‘सावधानी बरतने में तो कोई बुराई होती नहीं’’; खासकर तब जब बाजी एक नहीं, हजारों जान की लगी हो। वैसे खतरा तो जरासंध से भी हो सकता था, लेकिन सच बताऊं तो मुझे व्यक्तिगत तौर पर उसकी संभावना न के बराबर नजर आ रही थी। क्योंकि एक तो जरासंध का कारवां अब तक मथुरा नहीं पहुंचा होगा; और फिर जरासंध जिस मार्ग से मथुरा प्रवेश कर रहा है, वहां से हमारा कारवां बिल्कुल विपरीत दिशा में जा रहा था। इसलिए मेरे मन तो जरासंध से कोई खतरा पहले भी नहीं था और अब भी नहीं है। यानी कि कुल-मिलाकर हम अपने को सुरक्षित समझ सकते थे।

मेरा द्वारकाधीश बनना

कारवां इतना बड़ा व विशाल था कि देखते ही बनता था। एक ही नजर में पूरा कारवां देख पाना भी असंभव था। होगा, अभी तो मैंने तुरंत भैया, उद्धव व सात्यकि की खोज शुरू की। हालांकि इतने भीड़-भड़क्के में उनको खोजना आसान न था। ऊपर से टकराने वालों को जवाब देने में भी काफी समय जा रहा था, पर ढूंढना तो था ही। ...आखिर पिताजी व रिश्तेदारों के साथ चला जा रहा उद्धव सबसे पहले मिला। वह तो मुझे जीवित वापस आया देखकर मारे खुशी के उछल पड़ा। कहने की जरूरत नहीं कि तुरंत वह भैया व सात्यकि को भी खोज लाया। भैया तो मुझे देखते ही बिलख पड़े। मैंने तुरंत उन्हें गले लगाकर बड़े चहकते हुए कहा- अब रोने की बारी हमारी नहीं, दुश्मनों की है। आप मानेंगे नहीं भैया कि मैंने कालयवन का वध कर दिया। ...यह सुनते ही तीनों के मुख आश्चर्य से जो खुले तो खुले ही रह गए। किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि ऐसा भी हो सकता है। लेकिन जब मैंने उन्हें पूरी बात विस्तार से बताई, व उन्हें मेरी बात का पक्का यकीन हो गया तो भैया से नहीं रहा गया। वे तुरंत बोल पड़े- फिर तो आज की रात जश्न होना चाहिए। ...इन्कार का सवाल नहीं था। एक तो बात ही जश्न की थी, और न भी हो तो क्या...? जश्न, जलसा, उत्सव, रास, खेल-कूद यह सब मेरी इतनी पसंदीदा चीजें थीं कि मैं तो वैसे ही इन सबके मौके ढूंढता रहता था। यह बात अलग थी कि कुदरत मुझे कड़े संघर्ष के बाद ही इन चीजों का मौका देती थी। यानी कि जश्न भी मुझे कड़े कर्म के बाद ही नसीब होता था। ...पर आज तो कर्म के मुकाबले उपलब्धि बड़ी थी। जीवन ने सबसे ऊंची छलांग लगाई थी। मुकाम वह पाने जा रहे थे कि इस बात का जश्न जीवनभर मनायें तो भी कम था। नजारा कुछ ऐसा जमा था कि...इस समय हम उछल-उछलकर बार-बार एक-दूसरे के गले लगकर बधाइयां दे रहे थे।

खैर! उधर जैसे ही बधाइयों का दौर थमा, सोचा... क्यों न पहले सबको मुंह-दिखाई की रस्म अदा कर ली जाए? फिर अच्छे से नहा-धोकर भोजन कर कुछ सुस्ता लिया जाए। वैसे भी इतनी बड़ी उपलब्धि का जश्न मनाने हेतु इन्सान बनना जरूरी था, वरना मालूम पड़े यहां जश्न प्रारंभ किया और वहां कृष्ण महाराज के मारे थकान के खर्राटे बोलने लग गए। उधर सच कहूं तो इस समय चक्कर लगाने की ताकत भी नहीं थी, पर मुंह-दिखाई का महत्त्व मैं जानता था। एक तो इससे सबकी हिम्मत बनी रहती है, दूसरा मुझे अनुपस्थित मान फिर कोई अफवाह फैलाना चालू न कर दे; या फिर जल्दबाजी में कोई षडयंत्र रचने की ही न सोच ले। जब इतना सब अच्छे से पार पड़ गया है तो यह मौका भी क्यों लेना? वैसे भी मुंह-दिखाई की रस्म ही निभानी थी, कोई मेल-मुलाकात तो करनी नहीं थी। सत्राजित जैसों को शक्ल दिखानी थी, और ज्यादा-से-ज्यादा नानाजी वगैरह के हाल-चाल पूछने थे। यह कार्य जल्द ही निपट गया। सुस्ताने का भी समय मिल गया व अच्छे से नहाने धोने का भी। ...ऐसे में संध्या ढलने में क्या देर लगनी थी?

...जश्न के लिए मैंने एक बंद गाड़ा चुना। क्योंकि मैं जानता था कि भैया के लिए जश्न का एक ही मतलब है, मदिरा-पान। उधर भोजन सामग्री की व्यवस्था उद्धव पहले ही कर चुका था। बस संध्या ढलते ही व कारवां अपना पड़ाव लेते ही हम चारों उस बंद गाड़े पर सवार हो गए। और गाड़े पे सवार होते ही एकबार फिर बधाइयां देने का व गले लगने का दौर चालू हो गया। इस समय इस बंद गाड़े में पूरे जहान की खुशियां उतर आई थी। ग्वाले ना सिर्फ राजा बनने जा रहे थे, बल्कि एक इतिहास भी रचने वाले थे।

इधर बधाइयों का दौर थमते ही भैया ने गटागट पीना शुरू कर दिया। सात्यकि भी बराबरी पर भैया का पूरा साथ निभा रहा था। उद्धव तो मदिरा छूता तक नहीं था, इधर मेरा ध्यान भी सिर्फ भोजन पर ही था। यूं भी पिछले दो दिनों से भोजन नसीब ही कहां हुआ था? वहीं भैया आज कुछ ज्यादा तेजी से मदिरा चट कर रहे थे। मैं उनकी मनोदशा समझ रहा था। निश्चित ही मेरे जाने से आने तक के ये दिन भैया ही नहीं, उद्धव व सात्यकि ने भी मर-मर कर ही गुजारे होंगे। ऐसे में स्वाभाविक रूप से इस समय तेजी से मदिरा पीकर भैया अपनी मानसिक थकान मिटा रहे थे। मैं तो एकबार को मरने गया था, लेकिन इन दो दिनों में भैया ने तो हजारों बार मौत का अनुभव किया होगा। हालांकि वे बोल कुछ नहीं रहे थे पर हरकत बड़ी अजीब कर रहे थे। बस बार-बार मुझे देख रहे थे और साथ-साथ ही मदिरा के गिलास-पे-गिलास उड़ेलते जा रहे थे। शायद वे अपने अंतरमन तक यह पक्का कर लेना चाहते थे कि मैं जीवित वापस आ गया हूँ।

वैसे भैया भले ही खामोश थे पर हम तीनों में आपसी बातचीत जारी थी। और बातचीत क्या, बस

करिश्माई तौर पर मिली कालयवन-वध की विजय का जश्न मनाने में डूबे हुए थे। तभी ऐसे ही बात-बात में सात्यकि ने कहा- बेचारा जरासंध! कितने प्रयत्न के बाद कितना सुनियोजित हमला करने आया था; साथ में कालयवन को भी लाया था, कैसे-कैसे सपने देखे होंगे और हालत देखो कि उसके यहां पहुंचने से पहले ही उसका प्रमुख मोहरा बलि चढ़ गया। ...यह सुन उद्धव बड़ा ताव खाता हुआ बोला- जरासंध क्या, अब आर्यावर्त में कोई कृष्ण से टकराने की जुर्रत नहीं करेगा। कंस, पंचजन, शृंगलव और अब...कालयवन। आर्यावर्त के वे राजा जिन्हें छूने की कोई हिम्मत नहीं कर सकता था, कृष्ण ने उनका ही वध कर दिखाया। और इन सबका सरदार जरासंध तो वैसे ही कई बार कृष्ण से मुंह की खा चुका है। वास्तव में कन्हैया इस समय आर्यावर्त का "बेताज बादशाह" हो चुका है। मेरी दृष्टि में तो शायद इस समय आर्यावर्त का सबसे बड़ा नाम ही "कृष्ण" है।

अब जब मित्र ही तारीफ करने पर उतारू हो गए थे, तो मुझे आगे बढ़कर अपने मुंह मियां-मिट्ठू बनने की कहां आवश्यकता थी? मेरा अहंकार तो यूं ही यह सब सुन-सुनकर तृप्त हो रहा था। वैसे उनकी बात सही भी थी। अभी वृन्दावन से निकले दस वर्ष ही हुए थे, पर इन दस वर्षों में कितना कुछ बदल गया था। इस ग्वाले ने सफलता के सारे शिखर सर कर लिए थे। अठ्ठाइस वर्ष की उम्र में अपने बलबूते पर इतना कुछ पाया था, और वह भी कब जब उसने अठारह वर्ष वृन्दावन में ग्वालों-सा जीवन गुजारा था। ऐसी महान उपलब्धि पर अहंकार को फूलने का या खुश होने का ही नहीं, अपनी विजय पर जश्न मनाने का भी पूरा अधिकार था। कहने का तात्पर्य, बाहर से भले ही मैं खामोश था पर भीतर-ही-भीतर अपने अहंकार को हवा देना शुरू कर दिया था। उधर भैया अब भी खामोश ही थे। मैंने उनसे बातचीत के एक-दो विफल प्रयास किए भी, लेकिन बात न बनी। स्पष्ट था, वे अब भी सदमे से नहीं उबर पाए थे। यह सब तो ठीक, समझे ...पर उधर जैसे ही अच्छी-खासी मदिरा अंदर चली गई तो वे रोना शुरू हो गए। फिर रोते-रोते ही बोले-जानता है कन्हैया! यदि हमारे द्वारका पहुंचने तक तू लौटकर नहीं आता तो मैं जरासंध ही नहीं, पूरे मगध को खाक में मिला देता। ...शायद आर्यावर्त में किसी को न छोड़ता।

लो, यह तो अब भी बड़े गहरे सदमे में है। अब इसका क्या इलाज? क्योंकि मैं तो अपनी ओर से गाड़े पे सवार हुआ तब से ही भैया को सामान्य करने के प्रयास में लगा हुआ था, परंतु मेरे प्यारे भैया अब भी उस संभावित सदमें से नहीं उबर पा रहे थे जिसकी अब कोई संभावना नहीं थी। मैं जीवित लौट आया था, और यही वर्तमान था। लेकिन भैया को सदमा इतना गहरा था कि वे शायद सबकुछ सकुशल निपट जाने का अब भी यकीन नहीं कर पा रहे थे। मैंने उन्हें सामान्य करने का एक और प्रयास करते हुए कहा भी कि भैया, जब तक आप मेरे साथ हैं... बताइए भला मुझे कुछ हो सकता है? यह सुन भैया एक ठंडी सांस लेते हुए बोले- मैं साथ होऊं तब न? तू तो अपनी ही चकरी चलाता रहता है। जब देखो तब अपनी ही योजनाओं में खोया रहता है, उसका क्या...? यानी बात फिर घुमा-फिराकर मुझपर आ गई। तो उसमें कुछ गलत भी नहीं था। लेकिन भला सोचिए कि चकरियों के वक्त मैं भोले भैया को साथ कैसे रख सकता था? खैर, यह बात तो आगे बढ़ाई नहीं जा सकती थी। बोलने को मेरे पास कुछ था नहीं। अत: मैं कुछ इस तरह मुस्कुराया कि मानो मैं अपनी गलती की माफी मांग रहा हूँ। बस भैया पिघल गए। तुरंत मुझे गले लगा लिया व गले लगाते ही तुरंत वर्तमान में लौट आए। और वर्तमान में आते ही सब सकुशल निपट गया है, इस बात का उन्हें यकीन भी हो चला। ...फिर तो वह अश्रुधारा बही जो पूरा दर्द बहाए बगैर शांत नहीं हुई। सचमुच भैया मुझसे बेइंतिहां प्यार करते थे। यही उनके व्यक्तित्व की खूबी थी। बातें कड़क व बड़ी-बड़ी; और भीतर...? भीतर की पूछो ही मत। ...कमजोर, एक कमजोर मां से भी कमजोर।

इधर भैया सामान्य क्या हुए, मैं चहक उठा। मेरे मन ने एक नया ही फितुर पकड़ लिया। मुझे रह-रहकर जरासंध की हालत पर हंसी आने लगी। गोमंत-पर्वत पर भी उस बेचारे को अकारण हार का मुंह देखना पड़ा था, बड़ी जिल्लत उठानी पड़ी थी। ...और इधर तो उस बेचारे ने क्या-क्या सपने देखे होंगे भगवान ही मालिक था। और ऊपर से कालयवन जैसे राजा का साथ पाकर कितना तो इतरा नहीं गया होगा! निश्चित ही पच्चीसों राजाओं को अपनी वीरता दिखाने साथ लाया होगा, ताकि गोमंत-पर्वत पर मिली जिल्लत कुछ कम की जा सके। ...लेकिन जब बेचारे को मथुरा पहुंचकर कालयवन की मृत्यु व हमारे मथुरा से चंपत होने की खबर मिलेगी, तो साथ लाए राजाओं को क्या मुंह दिखाएगा? कहीं ऐसा न हो कि जीवनभर घुंघट ओढ़ कर घूमता फिरे। वाकई मथुरा पहुंचते ही उस मासूम के सपने तो सूखे पत्तों की तरह झर जाएंगे। इधर हमारा कारवां तो अपना मुकाम तय कर चुका होगा; और उधर वह नादान बस मथुरा का गुबार देखता रह जाएगा। सोच ही ऐसी थी कि हंसी आ ही जाए। लेकिन शायद उद्धव को मेरा मंद-मंद मुस्कुराना रास नहीं आया। उसने बात को अचानक एक गंभीर मोड़ दे दिया। वह बोला-कन्हैया पता है; तुम तो वहां चले गए और इधर हम लोग यहां तुम्हारी अनुपस्थिति के कारणों का जवाब दे-देकर थक गए।

बात तो उद्धव की ठीक ही थी। वाकई इन तीन दिनों में इन्होंने मुझसे ज्यादा परेशानी उठाई थी। क्योंकि मेरी परेशानी सिर्फ शारीरिक थी। मेरा उद्देश्य व कर्म दोनों साफ थे। जान देकर भी कुछ दिनों के लिए कालयवन को मथुरा पहुंचने से रोकना था। लेकिन ये लोग तो एक नहीं अनेकमानसिक परेशानियों से गुजरे थे। एक तो मैं जीवित लौटूंगा या नहीं, यह दर्द सह रहे थे। उस पर जुल्म यह कि दर्द खामोशी के साथ सहना था। और दर्द का यह नियम है कि दिखा पाओ तो कम हो जाता है जबकि भीतर सहो तो कई गुना बढ़ जाता है। और ऊपर से मेरे बाबत पूछे जाने वाले तरह-तरह के हजारों सवालों ने उन्हें थका दिया होगा, सो अलग। तीसरा, कोई मेरे रोकने से कालयवन थोड़े ही रुकने वाला था? कहीं मुझे निपटाकर उसने हमला कर दिया तो...? अत: कारवां बचाने की तैयारियों पर भी ध्यान देना था। कहने का तात्पर्य यह पूरे दो-तीन दिन उन्होंने हर पल ''मर-मर'' के गुजारा था। जबकि मैं जो कार्य करने गया था, उसमें मेरा मरना ज्यादा-से-ज्यादा एकबार का संभव था। ...तभी तो कहता हूँ कि शरीर के प्राण तो एकबार छूटते हैं, मन तो एक पल में हजार बार मरता है। अर्जुन गीता में क्या कर रहा था? उसको शरीर के मरने का भय क्या पकड़ा कि पूरी गीता के दरम्यान वह पल-पल मरता रहा। मैं उसे यही तो समझा रहा था कि शरीर का मरना क्या बड़ी बात है, उस एक मरने के लिए तू अभी हजार बार क्यों मर रहा है? लेकिन अर्जुन कहां समझने को तैयार था? वैसे समझने को तो आप भी कहां तैयार हैं? जरा-सा कुछ हुआ नहीं कि मरे नहीं। इस छोटे-से जीवन में होता कुछ नहीं, बस हजारों काल्पनिक समस्याएं ओढ़े फिरते हैं; फिर बात-बेबात मरते रहते हैं।

खैर! अभी तो बातें करते-करते कब सो गए, कुछ पता नहीं। और फिर आंख खुलने के साथ ही जीवन की सबसे सुनहरी सुबह हुई। आज की सुबह की बात ही कुछ और थी। मेरे आने वाले नए जीवन की पहली सुबह थी। ग्वाला करीब-करीब राजा बन चुका था। ...वरना आजतक जो जीवन मैंने जीया था, वह किससे अनजान है? आपको मालूम ही है कि पैदा होने से अभी कल तक न जाने कितने संघर्षों में कितनी बार मौत को मात दे चुका था। यदि ''जिंदा-था'' तो यह मेरी काबीलियत का कमाल था, लेकिन इससे यह सच थोड़े ही बदल जाता है कि मेरा अब तक का पूरा जीवन मौत के साये में गुजरा था। परंतु शायद अब द्वारका जाकर मैं अपने वास्तविक स्वभाव से जी पाऊंगा। मैं और मेरी वंशी। नित श्रेष्ठ भोजन। रोज उत्सव और नाच-गान। दिन-भर बेधड़क रथ दौड़ाना। रोज संध्या समुद्र किनारे टहलना। जहाज में घूमना। ...और शायद रुक्मिणी का हसीन साथ। यही क्यों, साथ ही चकरी, योजना, संघर्ष व युद्ध से हमेशा के लिए छुटकारा।

...सही ही तो है... भला छल, कपट और झूठ से अब ''द्वारकाधीश'' का क्या वास्ता? ऐसा जीवन ही तो मैं जीना चाहता था। ऐसी शांति व मस्ती का नाम ही तो जीवन है। वैसे भी कल सुनहरी सुबह देखनी हो तो हर 'आज' से संघर्ष करना ही पड़ता है। फिर मैं यह कैसे भूल जाऊं कि जीवन में इन संघर्षों के चलते ही मैं उपलब्धियों की दुनिया में इतना आगे निकल पाया था। आज मैं जिस मुकाम पर हूँ, क्या वहां बगैर संघर्षों के पहुंच सकता था? अत: वास्तव में मेरे मन से तो संघर्ष और शांति में कोई फर्क नहीं। दोनों कुदरत की भेजी नेमत है। ...फिर भी संघर्ष व शांति का फर्क तो बना ही रहता है। शांति कम-से-कम इस बात का तो सबूत है कि आस-पास सब ठीक-ठाक है। वहीं यदि दूसरी दृष्टि से देखूं तो इन संघर्षों के चलते मैं जीवन की वास्तविक दौड़ में बहुत पीछे भी रह गया था। शिक्षा ही बमुश्किल नसीब हुई थी और वो भी समय निकल जाने के बाद। ...और विवाह तो अब तक नसीब नहीं हुआ था। मेरे जैसा सुंदर, कलाकार, सक्षम व योग्य व्यक्ति अब तक कुंवारा है। ...है न कमाल की बात! अरे भाई तो रंज क्यों करते हो? एकबार द्वारका पहुंच जाओ, फिर जीने की सारी कसर पूरी कर लेना। जो अब तक चूके हो, उससे हजार गुना भोग लेना। तभी मैं सम्भला; अरे... यह जीवन की नई सुबह क्या हुई तुमने अपने ही मन से खेलना प्रारंभ कर दिया? बस यह विचार आते ही मैं वापस कारवां पर लौट आया।

...कारवां अपनी गति से चला जा रहा था। उसके रास्ते में पड़ने वाली पहाड़ियां तो देखते ही बनती थी। वहीं नदी या तालाब को तो देखते ही पूरा कारवां झूम उठता था। कभी छोटा गांव तो कभी बड़ा नगर। इतना बड़ा कारवां कभी किसी ने नहीं देखा था। जो देखता, देखता रह जाता। साथ ही जिज्ञासा भी अवश्य करता। और जब उनसे कहा जाता कि यह कारवां ''कृष्ण'' के नेतृत्व में अपनी नई राजधानी ''द्वारका'' जा रहा है, तो मैं फूला नहीं समाता। क्योंकि इस बहाने नगरी बसने से पहले और राजा बनने से पूर्व ही मैंने लोकप्रियता के नए शिखर छूना शुरू कर दिया था। ...तभी मुझे होश आया। उड़ो मत कृष्ण, अभी कारवां द्वारका पहुंचा नहीं है। खतरा अब भी पूरी तरह से नहीं टला है। कम-से-कम लवण-घाटी पार कर लो ...फिर जितना मन करे, उड़ लेना। कहीं ऐसा न हो जरासंध मथुरा तुम्हारी उम्मीद से पहले पहुंच गया हो। कहीं उसने तेज-तर्रार घोड़ों के साथ तुम्हारा पीछा करना प्रारंभ न कर दिया हो। वहीं यह क्यों भूलते हो कि कालयवन के सेनापति का भी खतरा तो बना ही हुआ है। हां...हां जानता हूँ, इसीलिए तो पूरी तरह से नहीं उड़ रहा हूँ। जब पूरे नहीं उड़ रहे, तो बार-बार आधे-अधूरे उड़ने से क्या फायदा?

तुम कब से आधे-अधूरे काम करने लगे? बस अपने से यह संवाद कर मैं फिर सतर्क, सावधान व गंभीर हो गया।

उधर न जाने कितने ही जंगल व पहाड़ियों को चीरता हुआ हमारा कारवां निर्विघ्न रूप से चला जा रहा था। एक मुझे छोड़ सभी उत्साह में थे। एक-एक दिन कर करीब बारह दिनों की यात्रा कर चुके थे। निश्चित ही जैसे-जैसे दिन निकल रहे थे, संकट की संभावना भी कम होती जा रही थी। तभी अठारहवें रोज आशा की सबसे बड़ी किरण ने दस्तक दी। ''लवण-घाटी'' दूर से ही नजर आ गई। यानी अंतिम बाधा भी दूर होने को ही थी। अजब दृश्य था।छोटी-छोटी पहाड़ियों के मध्य एक लंबी पहाड़ी दूर से ही नजर आ रही थी। और मार्ग उसके मध्य से ही निकल रहा था। दूर से देखने पर ही उसकी पहाड़ियों से निकल रहा मार्ग काफी संकरा नजर आ रहा था। यानी उसे पार करना इतना आसान न था। बस एकबार यह पार हो जाए... फिर मेरा स्वरूप देखना।

खैर, अभी तो इधर हमारा कारवां लवण-घाटी के करीब पहुंच तो गया, पर पहुंचते-पहुंचते संध्या हो गई। और रात्रि को लवण-घाटी पार करना जोखिम भरा नजर आ रहा था। अत: लवण-घाटी से थोड़ी दूर हमने अपना डेरा जमा लिया व प्रभात की पहली किरण के साथ हमने घाटी में प्रवेश किया। हालांकि लवण-घाटी पार करना मैंने जितना सोचा था, उससे भी कहीं ज्यादा कठिन सिद्ध हो रहा था। एक तो घाटी काफी संकरी थी, दूसरा मार्ग भी पथरीला था। फिर भी यह अंतिम बाधा पार तो करनी ही थी। यह घाटी पार करने में पूरे तीन रोज लगे और वह भी दिन-रात की यात्रा करने पर। ...मशालें जलाकर व बड़ी मुश्किलें उठाकर। यूं भी मनुष्यजीवन में बगैर कष्ट उठाए कुछ मिलता कहां है?

होगा, अभी तो आप तो जानते ही हैं कि मुझे बस लवण-घाटी पार होने का इन्तजार था। पार होते ही मैंने चैन की एक लंबी सांस ली। जैसा कि मैंने कहा, जब तक लवण-घाटी पार न हो जाए, कभी भी कुछ भी होने की संभावना बनी हुई थी। वैसे तो कालयवन के सेनापति या जरासंध की सेना का हमारा पीछा करने की संभावना अब नगण्य-सी थी, परंतु थी तो सही। और फिर मेरा गणित गलत भी तो हो सकता था। जरासंध मथुरा जल्दी भी तो पहुंच सकता था। आखिर सारा खेल गुप्तचरों की खबरों पर ही तो निर्भर था। लेकिन अब मैं यकीन से कह सकता हूँ कि अब कहीं कोई खतरा नहीं। इतनी दूर तक पीछा करना व लवण-घाटी पार करना उनके लिए असंभव था। सच कहूं तो पहली बार मेरा मन पूरी तरह प्रफुल्लित हुआ था। वहीं जैसे-जैसे द्वारका निकट आ रही थी, उत्साह के मारे कारवां भी गति पकड़ता जा रहा था। चक्कर कुछ ऐसा चल पड़ा था कि उत्साह गति बढ़ाने का काम कर रहा था; और गति उत्साह बढ़ाने के काम आ रही थी।

इधर करीब अठ्ठाइस दिनों की लगातार यात्रा के बाद हमारा कारवां कुशस्थली पहुंचा। नहीं समझे, अपने बल्लू भैया के ससुराल पहुंचा। हमने राज्य की सीमा के आसपास ही अपना पड़ाव डाल दिया। निश्चित ही कुछ विश्राम की आवश्यकता थी ही। और इतना बड़ा कारवां कोई राज्य में तो घुसेड़ा नहीं जा सकता था। हां, पड़ाव डालते ही रेवती भाभी को खबर भिजवा दी गई। और कहने की जरूरत नहीं कि खबर भिजवाते ही भैया की बेचैनी बढ़ गई। हालांकि उन्हें लंबा इन्तजार नहीं करना पड़ा, ककुमदी व रेवती भाभी सौ के करीब सेवक-सिपाही लेकर आ पहुंचे। सबसे पहले तो उन्होंने हमें नए राज्य की बधाई दी। ...और फिर कारवां की विशालता देखते हुए तुरंत दो-सौ के करीब सेवक और बुलवा लिए। फिर तो देखते-ही-देखते खान-पान के साथ-साथ अन्य जरूरतों के सामान के गाड़े भी आने शुरू हो गए। मैं तो ककुमदी की समझदारी व तत्परता देखता ही रह गया। सचमुच कुशस्थली पहुंचते ही ऐसा लगा मानो द्वारका ही पहुंच गए हों। यूं भी कायदे से तो हमीं वहां के राजा होने थे, यह तो भैया की मेहरबानी..., छोड़ो उस बात को। जो होता है, अच्छे के लिए ही होता है। इसी बहाने हमारी अपनी द्वारका तो बन गई। लो, यह मैं बात कहां-से-कहां ले गया? अभी तो चर्चा हमारी हो रही आव-भगत के अलावा दूसरी हो ही नहीं सकती। मानना होगा कि कुशस्थली ने अपने जमाता का शानदार स्वागत किया था। मैं ही नहीं, पूरा कारवां इतने शानदार स्वागत से काफी खुश था। सचमुच, मैं आज कह सकता हूँ कि भैया का ककुमदी को गद्दी पर बिठाना कोई गलत निर्णय नहीं था। देखा, मैं कितना सरल था। एक ही आव-भगत से मैंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया।

खैर, वहीं कहने की जरूरत नहीं कि रेवती भाभी तो भैया के आगमन-मात्र से पागल हुई जा रही थी। भाभी को मैंने ही नानाजी व माता-पिता से मिलवाया। मां तो भाभी को छोड़ने को ही तैयार नहीं थी। मां ही क्यों, भाभी से मिलकर सभी खुश थे। रेवती भी सबका प्रेम पाकर धन्य हो रही थी। इसका सुखद परिणाम यह आया कि कुछ ही मिन्नतों के बाद भाभी को भी हमने अपने साथ द्वारका चलने के लिए राजी कर लिया। यूं भी ककुमदी अब पूरी तरह ठीक नजर आ रहे थे। वे अपना राजपाट सम्भालने में सक्षम दिखाई जान पड़ रहे थे। ऐसे में भैया-भाभी को व्यर्थ विरह का भोग क्यों सहना? इधर मेरे लट्ठू भैया तो भाभी के राजी होते ही उछल पड़े थे। यह सब तो ठीक पर उधर ककुमदी का आग्रह था कि हम लोग कुछ दिन यहां रुक जाएं। एक तो आग्रह तहेदिल से था व दूसरा हमारी

थकान भी रुकने के ही पक्ष में निर्णय दे रही थी। पूरे तीन दिन हमने कारवां समेत कुशस्थली में बिताए। इन तीनों दिन ककुमदी ने अपनी ओर से आव-भगत में कोई कमी नहीं रख छोड़ी। वहीं एक राज की बात बताऊं तो इस दरम्यान हमें एक खेल खेलना भी नसीब हुआ। स्वाभाविक तौर पर भैया का मन भाभी के साथ घूमने व एकान्त में कुछ समय बिताने के लिए मचल रहा था। परन्तु क्या कहूं, मुझे, उद्धव व सात्यकि को मस्ती सूझ रही थी। बस क्या था, हम उन दोनों से ऐसा चिपके कि उन्हें एकान्त का मौका ही नहीं दे रहे थे। बेचारे भैया कह तो कुछ नहीं पा रहे थे, परन्तु उनके बेचैन हाव-भाव सबकुछ स्पष्ट बयां कर रहे थे। फिर भी तरस खाने का तो सवाल ही नहीं उठता था; क्योंकि भैया की लाचारी देखने हेतु ही तो यह पूरा खेल खेला जा रहा था। अत: हमें तो उनके हाव-भाव समझ कर भी अनजान ही बने रहना था। वैसे भी भैया को सताने के मौके कम ही मिलते थे, ऐसे में जो हाथ लगा उसे व्यर्थ थोड़े ही गंवा सकते थे?

यहां तक तो सब ठीक, पर उधर सत्राजित तो ऐसा स्वागत देखकर ही आश्चर्यचकित रह गया था। एक तो कालयवन के मौत की खबर सुनकर उसकी हवाइयां पहले ही उड़ी हुई थी। यह शुभ-खबर मैंने खासतौर पर उसको दी थी, ताकि वह कोई षडयंत्र करने की सोच भी रहा हो तो होश में आ जाए। ...अब मुझे तो अपनी ओर से सावधानी बरतनी ही थी, कोई हमारा कारवां अभी द्वारका पहुंच थोड़े ही गया था। यूं तो ''सात्यकि'' के रूप में उसे एक बड़ा झटका वैसे ही पड़ चुका था, क्योंकि सात्यकि जैसा वीर उसे छोड़कर मेरा अजीज हो गया था। कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि वैसे तो हाल-फिलहाल सत्राजित कोई षडयंत्र रचने की सोचे ऐसा नहीं लग रहा था, फिर भी कहा जा सकता है कि कुशस्थली की आव-भगत ने इस संभावना पर पूरी तरह पूर्णविराम लगा दिया था।

...लो! सत्राजित से याद आया। एक हसीन बात तो मैं आपको बताना ही भूल गया। इस यात्रा के दरम्यान एक हसीन घटना बार-बार घट रही थी। पता नहीं इसका जिक्र करना मैं कैसे भूल गया? जी हां, सत्यभामा से अक्सर मुलाकात हो जाया करती थी। और हां, जब भी मैं उससे मिलता वह प्यार भरी निगाहों से देखना व पकवान खिलाना नहीं भूलती थी।

खैर! एक तो हम लोग ककुमदी के स्वागत व आव-भगत से यूं ही गद-गद हुए जा रहे थे, ऊपर से जाते वक्त ककुमदी ने हमें जीवनोपयोगी वस्तुओं से भरे बीसियों गाड़े भेंट स्वरूप दिए। उसका कहना था कि नया राज्य है, ऐसे में जीवन सामान्य होने में समय लग सकता है; अत: इन सब सामानों की आपको द्वारका पहुंचते ही बड़ी आवश्यकता महसूस होगी। बात तो उसकी सही थी। इन सामग्रियों के कारण द्वारका में नए सिरे से जीवन प्रारंभ करना काफी आसान हो जाएगा। सचमुच ककुमदी की दूर-दृष्टि व उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार दोनों ने मुझे काफी प्रभावित किया था।

आखिर हमने भावभीनी बिदाई के बीच कुशस्थली छोड़ा। और इसके साथ ही हमारा कारवां पूरे उत्साह से अपने अंतिम पड़ाव की ओर निकल पड़ा। वैसे तो यहां से द्वारका काफी पास था। लेकिन सपनों को साकार करने वाली यह अंतिम यात्रा छोटी होते हुए भी काफी लंबी जान पड़ रही थी। उधर एक मैं ही नहीं, ककुमदी की आव-भगत ने पूरे कारवां का दिल जीत लिया था। पूरे कारवां में बस उसी की वाहवाही चल रही थी। और अब तो रेवती भाभी भी हमारे साथ थी। बाकी सब तो ठीक पर निश्चित ही यह वाहवाही उनको सबसे घुलमिल जाने हेतु बड़ी सहायक सिद्ध हो रही थी। ...यूं अबकी यात्रा भी बड़े मजे में गुजर रही थी। एक तो ककुमदी के यहां विश्राम कर सबकी थकान वैसे ही दूर हो चुकी थी, ऊपर से मंजिल निकट होने का उत्साह भी बना ही हुआ था। और जब आनंद व उमंग कर्म के साथ जुड़ जाए तो ''कर्म'' वैसे ही खेल हो जाता है; और खेल में थकान का प्रश्न ही नहीं उठता। बस, इसी उत्साह के चलते सात रोज की यात्रा सात घंटे की तरह पसार हो गई। ढोल-नगाड़ों की आवाज के साथ नाचते-कूदते हमलोगों ने द्वारका के द्वार पर दस्तक दी। और कहने की जरूरत नहीं कि इस एक ही पल में मेरे सारे सपने साकार हो गए।

...द्वारका का समुद्र-किनारा दूर से ही नजर आ रहा था, और समुद्र का मैं वैसे ही दीवाना हो चुका था। आप तो जानते हैं कि आकाश में चन्द्रमा व धरती पर समुद्र, ये दोनों जब भी देखता, मैं पागल हुए बिना नहीं रह पाता था। और फिर इस समुद्र तट की तो बात ही कुछ और थी। यह हमारा अपना था। उत्साहित मैं, भैया, सात्यकि व उद्धव तो कारवां के सबसे आगे दौड़े चले जा रहे थे। उधर द्वारका पहुंचने की आहट ने सभी को जोश से भर दिया था। ढोल-नगाड़ों की आवाज तो जगह-जगह से आ रही थी। कई युवा तो नाचते-कूदते भी चले आ रहे थे। ...और अब तो कुछ और सफर काटते ही तट से लगा द्वारका का भव्य प्रवेश-द्वार भी नजर आने लगा था। मैं तो टकटकी लगाए अपने सपनों की नगरी का प्रवेश-द्वार ही देखता रह गया। यह तो ठीक, पर मुझे तो उस प्रवेश-द्वार में रुक्मिणी की शक्ल नजर आने लगी। ...यह तो दीवानगी की हद हो गई। मैंने स्वयं को समझाया। कुछ तो धीरज रखो कन्हैया... जब द्वारका का सपना सच हुआ है तो रुक्मिणी को भी ले आयेंगे। ...ठीक है, लेकिन मेरी परिस्थिति भी तो समझो।

द्वारका-प्रवेश और वो भी बिना रुक्मिणी के, क्या उसकी याद नहीं आएगी? ...दिल नहीं दुखेगा?

होगा, अभी तो प्रमुख-द्वार जितना भव्य नजर आ रहा था, उतना ही सुरक्षित भी जान पड़ रहा था। प्रमुख-द्वार से चारों तरफ लगी हुई द्वारका की दीवारें अब साफ नजर आने लगी थी। सचमुच विश्वकर्माजी ने कमाल कर दिखाया था। जिंदगी भर के लिए मुझे अपनी शिल्पकारी के एहसान तले दबा दिया था। सच कहता हूँ, समुद्र के किनारे खड़ा यह ग्वाला अपनी नगरी का प्रवेश-द्वार देख कर कितना प्रसन्न हुआ होगा यह वही समझ सकता है जिसने इतना बड़ा सपना कभी साकार होते देखा हो। चलो छोड़ो इस बात को। ...अभी तो इधर प्रमुख समुद्र तट पर पहुंचते ही हमारा कारवां पूरी तरह थम गया था। अब तो लोगों का भी रथों और बैल-गाड़ियों से उतरना चालू हो गया था। वैसे भी समुद्र दर्शन का यह इनका पहला अनुभव था। बेचारों ने समुद्र देखा ही कहां था? जहां नजर दौड़ाओ - बस...पानी-ही-पानी। एक तो समुद्र की विशालता, ऊपर से ठीक सामने नजर आ रहा द्वारका का प्रवेश-द्वार; सच कहता हूँ लोगों की मस्ती का आलम अंदाजे-बयां ही नहीं था। किसी को अपनी आंख पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। कोई खुशी से नाच रहा था तो कोई चिल्ला रहा था। कई लोग फटी-फटी आंखों से कभी समुद्र को तो कभी प्रवेश-द्वार को निहार रहे थे। चारों ओर उत्साह और आनंद का ऐसा वातावरण था जो स्वर्ग तक को शरमा दे।

दृश्य भी बड़ा कमाल था। हजारों लोग समुद्र-तट पर बैठे-बैठे द्वारका के प्रवेश-द्वार को निहार रहे थे। मैं कभी उनको तो कभी प्रवेश-द्वार को देख रहा था। और समय कहूं तो ...सूरज भी अभी पूरी तरह नहीं चढ़ा था। वहीं मस्ती के आलम की बात करूं तो जहां देखो वहां सब एक-दूसरे से गले लग रहे थे। आपस में बधाइयां देने का तो ऐसा दौर चल पड़ा था जो थमता नजर ही नहीं आता था। हालांकि इन सबमें भी मेरी मस्ती का आलम सबसे निराला था, कभी जमीन पर बैठ जाता तो कभी तपाक् से उठ खड़ा होता। कभी भैया के गले लगता, तो कभी उद्धव को बधाई देने बैठ जाता। और वहीं सात्यकि को चूमना तो बार-बार का हो गया था। मन में लड्डू तो इतने फूट रहे थे कि स्वयं को सम्भाले रखना ही मुश्किल हो गया था। और स्वयं पर "गर्व" तो इतना महसूस हो रहा था कि फूल के कुप्पा हुआ जा रहा था।

...तभी याद आया, अरे! इस नगरी के निर्माण का असली योगदान तो भैया व उद्धव को जाता है। कन्हैया, तुम व्यर्थ पूरा श्रेय स्वयं को दिए चले जा रहे थे। यह विचार आते ही गर्व के गुब्बारे की काफी कुछ हवा वैसे ही निकल गई। यूं यह जरूरी भी था, क्योंकि इस समय उत्साह व खुशी पर नियंत्रण रखना आवश्यक था। खासकर यह बात मुझपर तो लागू होती ही थी। क्योंकि मैं एक कर्मवीर था और फलस्वरूप मेरी निगाह हमेशा आगे के कर्म पर लगी रहती थी। अभी तो द्वारका पहुंचे ही थे, कोई द्वारका प्रवेश थोड़े ही कर लिया था? और फिर इतने सारे लोगों का रथों, गाड़ों, जानवरों व सामान के साथ समुद्र किनारा पार कर द्वारका प्रवेश कोई आसान तो था नहीं? हालांकि जहाज व नौकाएं किनारे पर तैयार ही खड़ी हुई थी। विश्वकर्माजी के पचास व्यक्ति भी वहीं तट पर हमारा इन्तजार कर ही रहे थे। उनमें से अधिकांश जहाज को हांकने वाले बलिष्ठ केवट ही थे। मैं तो विश्वकर्माजी की दूरदृष्टि व कर्तव्यपरायणता का कायल हो गया था। वैसे तो अब मेरे लिए भी अपनी कर्तव्यपरायणता सिद्ध करने का मौका आ ही गया था। विश्वकर्माजी की व्यवस्था लाख सटीक सही, परंतु आगे के कार्य पार पाड़ना हमारे लिए भी किसी बड़ी चुनौती से कम नहीं थे।

बस कर्मों का एहसास होते ही तुरंत मैंने अपनी चौकड़ी को आगे के कार्यों से अवगत कराया, और उसके साथ ही इस पर विचार-विमर्श प्रारंभ हो गया। कार्य सामने पड़ा था, अत: रूपरेखा बनाने में क्या समय लगना था? तत्काल प्रभाव से जहाजों व नौकाओं पर सवार होकर हमने द्वारका प्रवेश प्रारंभ किया। सबसे पहले हमने बुजुर्ग, महिलाओं व बच्चों को रवाना किया। हम लोग दूसरे तट पर खड़े-खड़े बुजुर्ग, महिला व बच्चों को जहाजों व नावों पर जाते हुए देख रहे थे। हालांकि बुजुर्ग हो या महिला, द्वारका में प्रवेश करते ही नाच उठते थे। सच, लोगों को ले जाते हुए जहाजों और नावों की आवाजाही देखते ही बनती थी। चारों ओर आश्चर्यमय उत्साह था। अब सबका उत्साह तो अपनी जगह था परंतु इधर संध्या होने को थी फिर भी बुजुर्गों, महिलाओं व बच्चों की ही आवाजाही चालू थी। यह देखते हुए आज की अंतिम यात्रा में मैंने उद्धव के साथ कुछ भोजन साम्रगी भिजवा दी। साथ ही बनाये गए तीन विश्रामालयों में ही सबको ठहराने का सुझाव भी दिया। इस तरह द्वारका-प्रवेश का पहला दिन ढल गया। रात्रि को जहाज की आवाजाही जोखिम भरी होती है, यह पंचजन के यहां जाते वक्त हम सीख ही गए थे। अत: ऐसा जोखिम उठाने का तो सवाल ही नहीं उठता था।

...अर्थात् जितने कारवां गुजरने थे, गुजर गए थे। अब बचे हुए लोगों को तो किनारे पर खड़े-खड़े गुबार ही देखने थे। वैसे काफी बुजुर्गों, बच्चों व महिलाओं के चले जाने से हमारा सबसे बड़ा कार्य निपट गया था। यह भी अच्छा हुआ था कि ध्यान रखकर अंतिम यात्रा में उद्धव व उसके साथ कुछ भोजन सामग्री भिजवा दी थी। यूं भी इस बहाने

उद्धव को सबका ध्यान रखने का उसका पसंदीदा कार्य हाथ लग गया था। यही नहीं, साथ में "भोले भाग्यवान होते हैं" यह कहावत भी उसने यथार्थ साबित कर दी थी। तभी तो सबसे पहले द्वारका देखने का सौभाग्य उसे ही मिला था। वैसे अच्छा तो यह भी था कि अब तट पर ज्यादातर हम जवान स्त्री-पुरुष ही बचे हुए थे। यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि अब चाहते-न-चाहते हुए भी रात तो हमें यहीं गुजारनी थी, ऐसे में जवानों का साथ ज्यादा रसप्रद था। ...मारे उत्साह के नींद तो किसी को आनी नहीं थी, बस अधिकांश लोगों की रात्रि तट पर घूमते-घूमते ही कट रही थी। वैसे रात्रि चढ़ते-चढ़ते कुछ लोग सो भी गए थे। आखिर उत्साह बनाये रखने के लिए भी ऊर्जा तो चाहिए।

यह सब तो ठीक, पर इधर मेरी हालत वाकई बड़ी अजीब हो गई थी क्योंकि मैं तो बस प्रवेश-द्वार तथा नगरी को किले की तरह घेरी हुई दीवारों को ही देखे जा रहा था। जब उससे थक जाता तो नगरी के तीनों ओर दूर-दूर तक सर उठाए खड़ी लंबी-चौड़ी पहाड़ियां निहारने लग जाता। और जब उससे भी थक जाता तो किनारे पर खड़े जहाज देखने लग जाता। हां, जहाजों से याद आया; विश्वकर्माजी की शिल्पकारी ही नहीं, बल्कि जहाजों की बनावट व उनके द्वारा की गई व्यवस्था की भी तारीफ करनी होगी। ...यदि हमारे यहां पहुंचने पर हमें जहाज किनारे पर तैयार खड़े न मिलते या जहाज के जानकारों की पूरी फौज हमारा इन्तजार न कर रही होती तो पता नहीं कितने रोज यूं ही तट पर बिताने पड़ते। सचमुच! मुझे थोड़ा अकेले श्रेय लेने की आदत छोड़नी होगी। बस यह विचार आते ही भैया व उद्धव द्वारा किए गए जगह के चुनाव का भी मैं कायल हो गया। नगरी इतनी सुरक्षित थी कि जरासंध तो क्या, आर्यावर्त के सभी राजे एक हो जायें तो भी द्वारका को नहीं जीता जा सकता था। हम जिस तट पर खड़े थे, पहले तो उस तट तक पहुंचना ही बहुत मुश्किल था। दूसरा, यह तट पार कर सामने के तट तक सिर्फ जहाजों से पहुंचा जा सकता था। ऐसे में आप ही सोचिए, भला जहाज यहां तक कोई कैसे ला सकता था? जहाज या तो समुद्र के रास्ते से लाए जा सकते थे या यहीं इसी तट पर बनवाये जा सकते थे। दोनों बातें असंभव थी। जहां तक हमारे जहाज का सवाल है, वे तो हम प्रवेश-द्वार वाले तट पर ही खड़े रखते। और मान लो यदि कोई समुद्र पार कर भी ले, तो भी प्रवेश-द्वार तोड़ने, खोलने व लांघने में ही महीनों बीत जाना तय था। इतना लंबा डटे रहने का सामान कोई कैसे यहां तक ला सकता था? कहने का तात्पर्य जीवन में पहली बार न किसी बाहरी हमले का खतरा था, न जानवरों का। ...ना ही इस समय कुदरत की ओर से कोई खतरा नजर आ रहा था। और सबसे बड़ी बात तो यह कि जरासंध नामक खतरा भी अब पूरी तरह टल चुका था। कुल-मिलाकर कहूं तो अब बेफिक्र होकर जीने के दिन आ गए थे। और विस्तार से कहूं तो अपनी सारी तमन्नाएं दिल खोलकर पूरी करने का मौसम आ गया था। कहा जा सकता है कि जीवन में युद्ध व संघर्षों पर अब पूर्णविराम लग चुका था। मौत का साया हमेशा के लिए टल गया था। कह सकता हूँ कि मनुष्यजीवन के असली आनंद लूटने का मौका अब कहीं जाकर मुझे मिलने वाला था।

...बस यहीं गड़बड़ हो गई। मस्ती से जीने की सोचते ही मुझे मां यशोदा की याद सताने लगी। वाकई कितने कष्टों से उसने मुझे पाला था। मुझ बदमाश ने उसे सताने में कहां कोई कसर छोड़ी थी? फिर भी उसका लाड़-प्यार था जो हमेशा बरकरार बना रहा। और आज जब मैं उसे लाड़ प्यार से रख सकता था, उसकी सेवा कर सकता था; तब वह मेरे साथ न थी। आज जब उसके ऋण चुकाने का मौका आया था तब उसने मुझे उस अवसर से वंचित कर दिया था। यूं भी महान लोगों का ऋण चुकाना आसान नहीं होता। न यशोदा का न सांदीपनिजी का। हालांकि और कुछ नहीं तो सांदीपनिजी को कम-से-कम कुछ दिन विश्राम के लिए द्वारका तो बुलाया जा सकता है, लेकिन "मां" का कर्ज तो कुछ भी करके चुकाने का अवसर मिलता नजर नहीं आ रहा।

बस इस खयाल के साथ ही मैं काफी उदास हो गया। कमाल यह कि ये सारे खेल मैं अपने मन से उस समय खेलना शुरू कर दिया था, जब अधिकांश लोग थककर लेट गए थे। हां, सात्यकि व भैया अवश्य अब भी कुछ युवाओं के साथ यहां-से-वहां टहल रहे थे। निश्चित ही भैया सबको द्वारका-निर्माण के अनुभव सुनाने में व्यस्त थे। उनकी मेहनत को देखते हुए अहंकार की यह तृप्ति उनका अधिकार भी बनता था। वहीं यदि सम्पूर्ण माहौल पर लौट आऊं तो यहां मध्यरात्रि कबकी बीत चुकी थी। मैं अब भी किनारे पर खड़ा द्वारका का प्रवेश-द्वार ही निहार रहा था, तथा मेरे पीछे हजारों लोग यहां-वहां सोये पड़े थे। वैसे कुछ बेचैन लोग अब भी झुंड बनाकर बातों में व्यस्त थे। वहीं दूर तक नजर दौड़ाओ तो कुछेक इक्का-दुक्का टहलते भी नजर आ जाते थे। होगा, अभी तो मैं मां यशोदा को याद कर दुःखी हुआ ही था कि अचानक मन एक नई ही उड़ान भर प्रफुल्लित हो उठा। वह पांडवों को द्वारका बुलाने को मचल उठा। कितना मजा आएगा, पांडव, सात्यकि, भैया, उद्धव और मैं। हम सब मिलकर द्वारका को सर पर उठा लेंगे। देखा आपने, उम्र के साथ मेरी चंचलता घटने की बजाए बढ़ती ही जा रही थी। वैसे भी आप जानते ही हैं कि गंभीरता से मुझे कितनी सख्त नफरत थी। अरे, गंभीर तो जब मैं कालिया-नाग के फन में उलझ गया था, तब भी नहीं हुआ था। खुद चलकर जब कालयवन के मौत रूपी मांद में कूद गया था, तब भी क्षण-भर को गंभीर कहां हुआ

था? भय व गंभीरता नामक रोग से तो मैंने स्वयं को हमेशा बचाये ही रखा था। ऐसे में यशोदा का गम भी तहेदिल से भाव जागने के साथ ही छू तो हो ही जाना था।

खैर! यही सब करते-कराते आखिर इस रात्रि की भी सुबह हो गई। सूर्य निकलते ही एकबार फिर सबकी चहलकदमी तेज हो गई। उत्साह चारों ओर झलकने लगा। सभी प्रसन्न थे, एक सत्राजित को छोड़कर। उसके चेहरे पर कुछ विचित्र ही हाव-भाव थे। जिस दृष्टि से वह बार-बार द्वारका के प्रमुख द्वार को देख रहा था, स्पष्ट था कि धीरे-धीरे उसका शक यकीन में बदलता जा रहा था कि मणि मैंने ही चुराई है। बल्कि यह कहूं तो गलत नहीं होगा कि उसे अब इस बात का पूर्ण विश्वास हो चला था। सच ही तो है, इतनी भव्य नगरी कोई बगैर मणि की सहायता के थोड़े ही बनवाई जा सकती थी? मैं उसका दर्द तो समझ रहा था, फिर भी मेरी दृष्टि में उसकी सोच ठीक नहीं थी। यदि उसकी सोच सही होती तो उसे तो उल्टा प्रसन्न होना चाहिए था कि चलो कम-से-कम इसी बहाने उसकी मणि इतने लोगों को स्वर्ग-सा जीवन प्रदान करने की ''निमित्त'' तो बनी। ...अब स्यमंतक-मणि को याद करूं और सत्यभामा के सहयोग को भूल जाऊं, यह कैसे संभव था? सचमुच सत्यभामा ने मुझपर वह ऋण चढ़ाया था कि उसे उतार पाना असंभव ही नहीं, नामुमकिन था।

...और जब बात ऋण की ही छेड़ दी है तो जरासंध को कैसे भूला जा सकता है? आज मैं जो कुछ भी हूँ वह वास्तव में जरासंध की मेहरबानियों का ही तो नतीजा है। पिछले दस वर्षों से मेरे जीवन की बागडोर उसी ने तो सम्भाल रखी है। जरा सोचिए, यदि जरासंध का भय न होता तो नानाजी मुझे सांदीपनिजी के आश्रम थोड़े ही भेजते? वहां नहीं जाता तो पंचजन का वध कर इतने बड़े आर्यावर्त में अपनी पहचान थोड़े ही बना पाता? यदि जरासंध न होता तो न तो चंडक का खजाना मिलता, ना महारानी-पद्मावती से इतनी बड़ी भेंट मिलती। और फिर गोमंत का अपार खजाना भी जरासंध की बदौलत ही तो खोज पाया था। हर दृष्टि से इस ग्वाले का ''द्वारकाधीश'' बनना सिर्फ जरासंध को आभारी था। आज मैं अच्छे से समझ रहा था कि एक मनुष्य प्रगति करता है तो उसकी नींव कितनों के सहयोग पर रखी होती है। सोचने वाली बात यह है कि एक मनुष्य की प्रगति यदि इतने लोगों के सहयोग का नतीजा है, तो क्या एक मनुष्य के लिए इनके अलावा और कोई अन्य भगवान भी हो सकता है? राधा का प्रेम, गोप-गोपियों की मित्रता, कंस के जुल्म, नानाजी का प्यार, जरासंध का प्रतिशोध, रुक्मिणी का दिया उत्साह, सांदीपनिजी व श्रुतिकेतुजी की शिक्षा, सुदामा का दुर्व्यवहार, सत्राजित की मणि, महर्षि परशुराम की दिखाई राह..., सूची बढ़ती ही जा रही थी; लेकिन क्या इनमें से कोई मेरे लिए भगवान से कम था? और हां, सत्यभामा का समर्पण...? वह तो निश्चित ही मेरे लिए भगवान की साक्षात् मूरत के समान था। उसके प्रेम व विश्वास की अनदेखी कैसे कर गया? लो, उसका हजार शुक्रिया अदा कर अपनी भूल सुधार लेता हूँ। सचमुच मनुष्यजीवन में सहयोग देने वाले व ज्ञान देने वालों की सूची कभी खत्म नहीं होती। बशर्ते यदि सहृदय धन्यवाद देना चाहो तो...! यदि उन्हें भगवान-स्वरूप जानो तो।

और फिर द्वारका निर्माण..., वह भैया व उद्धव के प्यार और सहयोग के बिना कहां संभव था? और इन सबसे बढ़कर नंदजी व यशोदा का लालन-पालन। यशोदा भी अजब बीमारी थी; उसका नाम आते ही चिंतन फिर उसमें ही उलझकर रह गया। होगा, अभी तो यहां सुबह होते ही सब सक्रिय हो चुके थे। सो यशोदा को भुलाकर मुझे भी सक्रिय हो जाना जरूरी था, क्योंकि समय रहते आगे के पचासों कार्य मुझे ही निपटाने थे। ...पर यशोदा यह बात समझे तब न? मेरा चिंतन उसमें क्या उलझा कि वह तो साक्षात् मेरी आंखों के सामने ही आ खड़ी हुई। कमाल मैं भी कम न था। मैंने उससे बात करनी ही शुरू कर दी। मैंने मां यशोदा से कहा भी कि-मां तू द्वारका चली आ। अब मैं तुझे नहीं सताऊंगा। तू जब कहेगी, खा लूंगा। जब कहेगी, सो जाऊंगा। अब माखन से भरी मटकियां भी नहीं फोड़ूंगा। सच कहता हूँ, तुझसे चन्दा-मामा बुलाने की जिद भी नहीं करूंगा। अब कोई तेरे पास मेरी शिकायत लेकर नहीं आएगा। मां तेरा लाल बदल चुका है। आज तो उल्टा तेरे पास तेरे ''चांद'' की तारीफ करने वालों की लंबी कतारें लग जाएगी। उसकी वीरता व बुद्धिमानी के एक-से-एक किस्से तुझे सुनाए जाएंगे। तू फूली नहीं समाएगी। मेरी मां...तू फूली नहीं समाएगी। ...लेकिन मां कहां मेरा भरोसा करने वाली थी? पहले भी कितनी बार वादा कर चुका था कि मटकियां नहीं फोड़ूंगा, माखन नहीं चुराऊंगा। फिर भी मटकियां तो फोड़ी ही थी, माखन तो चुराया ही था। कितनी बार मां यशोदा से कह चुका था कि मां तू गुस्सा मत कर, दुखी मत हो, आज के बाद तेरे लाल की कोई शिकायत नहीं आएगी। लेकिन हजार वादों के बाद भी मैं कहां बदला था? सच, आज मैं अपने भीतर बड़ी पीड़ा महसूस कर रहा था। क्योंकि दुखियारी मां ने ऐन वक्त पर मुझपर विश्वास करना छोड़ दिया था। सच ही तो है, वह कैसे मान ले कि अब मैं उसे नहीं सताऊंगा। मां से मन-ही-मन बातें क्या की, आंखें पूरी तरह नम हो गईं।

अब इससे पहले कि दु:ख मेरे अस्तित्व पर छा जाए, अचानक राधा व कुब्जा को याद कर मैं चहक उठा।

इस समय मेरा मन अपने से खेलने में इतना व्यस्त हो गया था कि मेरा ध्यान ना तो हजारों की भीड़ पर था, और ना ही आगे के कार्यों में मैं मन ही लगा पा रहा था। मैं तो समुद्र किनारे के एक विशाल पत्थर पर बैठा सूर्योदय की पड़ती किरणों से झगमगाता द्वारका का प्रवेशद्वार बुत हुए देख रहा था। और मन अपने "कभी खुशी-कभी गम" का खेल खेलने में व्यस्त था। और इस समय जैसा कि मैंने बताया यशोदा के न आने का गम भूल मन राधा व कुब्जा को याद कर चहक उठा था। सच, राधा आई होती तो वह तो यह प्रवेश-द्वार देखते ही पगला जाती। यही नहीं, शायद अठ्ठाइस वर्ष के कृष्ण को अपनी गोद में बिठाकर चूम भी लेती। और मुझे चूमते ही उसकी सारी नाराजगी हवा हो जाती। और 'कुब्जा'...! मेरे मथुरा प्रवेश पर उसी ने तो मुझे प्रेम दिया था। यह उसी का तो प्रेम था जिसने उस भव्य नगरी में मुझ ग्वाले का आत्म-विश्वास बढ़ाया था। शायद कुब्जा का प्रेम न मिला होता तो मैं मथुरा में टिक ही न पाया होता। लेकिन आज तो वह भी मुझे दगा दे गई थी। वह कहां द्वारका आई थी? हालांकि उसके पास नहीं आ पाने की जायज वजह भी थी। उसके पिताजी की तबीयत ऐसी बची ही नहीं थी कि वे इतनी लंबी यात्रा कर सके।

कुल-मिलाकर यह सब सोचते-सोचते मन फिर उदास हो उठा। वाकई जिनके मुझपर ढेरों एहसान थे, जिनसे मुझे बे-इंतिहां प्यार था; उनमें से कोई भी आज मेरे साथ नहीं था। मुझे चाहकर भी उनके एहसानों का बदला चुकाने का मौका नहीं मिला था। चाहते हुए भी उनके साथ चैन के दो पल बिताने से वंचित रह गया था। यानी जीवन भले ही प्रगति की राह पर चल पड़ा था, पर उसकी कीमत एक-एक अजीज खोकर चुकानी पड़ रही थी। दुनिया मुझे धोखेबाज कहती है, लेकिन देख रहे हैं न आप कि धोखेबाज कौन है? बस, सोच को नई दिशा देकर मैंने अपनी भड़ास निकाल दी। ...क्या करूं, अब जीवन-भर सबको याद कर-कर के तड़पना मेरा भाग्य जो हो चुका था। अब जब कुदरत ने अपनी ओर से मुझे घाव देने में कभी कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी, तो फिर आज इस खुशी के मौके पर वह कैसे चूकती? ...आखिर मुझे रुला ही दिया। मेरी आंखें नम हो ही गईं। हो जाने दो, प्रेम के आंसुओं में कितनी गजब की मिठास होती है उसका अनुभव एक सच्चे प्रेमी को ही हो सकता है। कुदरत का क्या है, उसका तो काम ही मुझपर हमले करना हो गया है। कभी मेरी जान पर हमला तो कभी मेरे मानस पर हमला। और अब तो वह नया-नया सीख गई थी, पिछले कुछ वर्षों से तो मेरे प्रेम पर भी हमले होने लगे थे। तो क्या विचलित "कृष्ण" का कोई सहारा नहीं। नहीं क्यों, मैं अपना सहारा हमेशा अपने साथ ही लिए चलता हूँ। मेरी वंशी ही मेरा सहारा है, और वह हमेशा मेरे साथ रहती है।

बस! यह सोच मैं निश्चिंत भी हो गया व मन में आ रही इन आवन-जावनों से छुटकारा भी पा लिया। और उसके साथ ही मैं जिस पत्थर पर बैठा था वहां से खड़ा हो आगे के कार्य निपटाने हेतु वापस भीड़ की ओर दौड़ पड़ा। तुरंत सात्यकि व भैया को पकड़ उनके साथ घूम रहे युवाओं को काम पे लगाया। उधर दूसरे किनारे पर खड़ा उद्धव भी आगे की व्यवस्थाओं में लग ही गया था। उसका मार्गदर्शन मिलते ही सारे जहाज व नाव इस किनारे आ पहुंचे थे। और इसके साथ ही एकबार फिर से जहाजों और नावों द्वारा स्थानांतरण प्रारंभ हो गया। आज भी सबसे पहले हमने बचे हुए बुजुर्गों, महिलाओं तथा बच्चों को ही भिजवाना प्रारंभ किया। तत्पश्चात् रथ, बैलगाड़ियां व सामान भिजवाए। आज का पूरा दिन इसी में निकल गया। फिर भी अभी काफी गाड़े व बैलगाड़ियां भिजवानी बाकी ही थी। कहने की जरूरत नहीं कि हमें तो यह रात भी तट पर ही गुजारनी पड़ी। कोई बात नहीं, यूं भी कर्मवीरों को सुख अंत में ही नसीब होता है। उसी तर्ज पर मेरे सामने मेरी सपनों की नगरी थी और उसमें प्रवेश करने का सौभाग्य मुझे आज भी नहीं मिला था। और-तो-और, अगले तीन-चार रोज भी यही क्रम जारी रहा। कभी बुजुर्ग, महिला व स्त्रियों को भेजा जाता, तो कभी पशु, गाड़े व सामान की बारी निकल आती। ...और इस सिलसिले के चलते मुझे तो छठे रोज ही अपनी द्वारका में प्रवेश नसीब हुआ।

खैर! देर आए दुरुस्त आए। मैं तो द्वार के भीतर जाते ही नगरी की भव्यता देख दंग रह गया। चारों ओर फैली मदहोश भीड़ की परवाह किए बगैर मैंने तुरंत अपना रथ मंगवाया। क्योंकि सबसे पहले मैं पूरी नगरी का चक्कर लगाना चाहता था। आज की मेरी खुशी किसी छोटे बच्चे की खुशी से कम न थी। मुझे याद आया, जब मेरी जिद पर मां-यशोदा ने चांद का प्रतिबिंब थाली में उतारा था, तब कितना खुश हुआ था मैं? बस आज मुझे ठीक उसी तरह की खुशी का एहसास हो रहा था। ...बस पूरी शान से रथ पर बैठा व उसकी लगाम खींच ली। प्रमुख-द्वार से घुसते ही लंबी-चौड़ी सड़क थी। सड़क के दोनों ओर भव्य दुकानें थी। मैंने आज तक किसी भी राज्य की सड़कें इतनी चौड़ी नहीं देखी थी। ना ही आर्यावर्त की किसी भी नगरी में इतना भव्य बाजार देखा था। उधर कुछ आगे जाते ही चौराहा आ गया। चौराहा आते ही मैं असमंजस में पड़ गया कि किस दिशा में जाऊं? मन तो करता था चारों दिशाओं मैं दौड़ जाऊं, पलभर में ही पूरी द्वारका देख आऊं। हर चौराहे के दायें व बांये तीस-तीस व चालीस-चालीस मकानों की बस्तियां बनी हुई थी। हर बस्ती के मध्य में छोटा-सा उपवन बना हुआ था। पूरी द्वारका के चारों तरफ ऐसी करीब

तीस-चालीस बस्तियां बनी हुई थी। कुछ देर तो मैं उसी असमंजस की अवस्था में वहीं चौराहे पर खड़ा रहा, लेकिन फिर मैंने अपना रथ दायें मोड़ दिया। मुख्य मार्ग से गुजरने पर हर थोड़ी दूरी पर एक चौराहा पड़ रहा था। प्रमुख सड़कें तो चौड़ी थी ही थी, इसके अलावा अन्य सड़कें भी इतनी संकरी नहीं थी। वहीं चौथे चौराहे से सटकर दाहिने हाथ पर सड़क से सटकर बड़े-बड़े विश्रामालय बने हुए थे। उनमें से हरेक में पचास के करीब कमरे थे। सबसे खास बात तो यह कि जगह-जगह विशाल प्रांगण, एक-से-एक भव्य व सुंदर उपवन और पूरी द्वारका में फैले हुए पेड़ नगरी को प्राकृतिक हरियाली अच्छे से प्रदान कर रहे थे। अपनी नगरी की यह सुंदरता व भव्यता देख यह ग्वाला कितना तृप्त हो रहा होगा, यह अंदाजा लगाना कोई मुश्किल काम नहीं। और ऊपर से भीड़ भी चारों ओर फैली हुई थी। मेरा रथ जहां से गुजरता, मेरी जयकार बोला देती। उनकी यह अभिवादन से भरी ‘‘जयकार’’ मुझे बहुत तसल्ली दे रही थी। ...तथा उनका उत्साह मेरी कर्मठता को बड़ी तसल्ली पहुंचा रहा था।

खैर! इधर अब मेरा मन राजमहल देखने को मचल उठा था। रथ की कमान हाथ में ही थी, राजमहल क्या दूर था? अ...हो! कितना सुंदर राजमहल था! मैंने कई राजमहल देखे थे। कुछ इससे विशाल भी थे। लेकिन सुंदरता और भव्यता की दृष्टि से इसका कोई सानी नहीं था। पलभर में मैं पूरा राजमहल घूम आया। वाकई क्या राजमहल क्या बाकी की द्वारका, यहां का सबकुछ बेमिसाल था। हां, पर अभी कई जगह कार्य चालू थे। खासकर कई बस्तियां अब भी पूरी तरह से तैयार नहीं हुई थी। बाजार में भी रंग वगैरह का कार्य अभी अधूरा ही था। अब इतनी बड़ी नगरी बसाना कोई मजाक तो होता नहीं। सो, चलने दो कार्यों को। अभी तो दिल का हाल कहूं तो सपने सच होते तो कई बार देखे थे, परन्तु हकीकत सपनों से भी सुन्दर हो सकती है, यह अनुभव पहली बार कर रहा था। आज मेरा रोम-रोम विश्वकर्माजी की अद्भुत शिल्पकारी की तारीफ किए बगैर नहीं रह पा रहा था। मेरा पूरा-का-पूरा अस्तित्व उन्हें धन्यवाद दे रहा था। ...और मन था कि किसी चीज से नहीं भर रहा था। राजमहल से निकलते ही मेरा मन वापस द्वारका का एक और चक्कर लगाने का किया। क्या करूं, जी बार-बार नगर के चक्कर लगाने को कर रहा था। तो मुझे यहां किसी की इजाजत लेनी थी? निकल पड़ा चक्कर लगाने। भला अपनी नगरी में स्वतंत्रता से नहींजीऊंगा तो कहा जीऊंगा?

चलो, यह तो मेरा हाल हुआ। उधर हाल-फिलहाल अस्थायी तौर पर सभी ने विश्रामालय व उसके आस-पास के खुले प्रांगण में आसरा ले रखा था। क्योंकि अब भी अधिकांश बस्तियों में कुछ-न-कुछ निर्माण कार्य चल ही रहा था। अर्थात् स्थायी निवास तात्कालिक सबके भाग्य में नहीं था, परंतु बावजूद इसके सभी पगला रहे थे। और निश्चित ही उसमें भी नानाजी, माता-पिता व सुभद्रा की खुशी सबसे निराली थी। उनके तो अपने नाती, बेटे व भाई ने झंडे गाड़े थे। दूसरी ओर सभी यादव भी अपने को कम धन्य नहीं समझ रहे थे। सबकी आत्मा से मेरे लिए लाखों दुआएं उठ रही थी। शायद मैंने जीवन में जितना धन व नाम कमाया था, उससे कहीं ज्यादा दुआएं कमाई थी। होगा, इस समय तो मुझे क्या, किसी को कुछ संपट नहीं बैठ रही थी। कोई यहां जा रहा था तो कोई वहां। हर कोई पल भर में ही पूरी द्वारका आंखों में बसा लेना चाहता था। सच कहूं तो सभी बावले हो गए थे। और एक वाक्य में कहूं तो सबकी बुद्धि पर सामूहिक ताले पड़ गए थे।

खैर, अब जब इतनी भव्य नगरी में प्रवेश कर ही लिया है तो कुछ मेरी तारीफ भी हो जाए। और कुछ नहीं तो अपने मुंह मियां-मिट्ठू बन लिया जाए। जब मैं इतना खुश हूँ तो क्यों न अहंकार को भी तृप्त कर लिया जाए। यूं भी गोकुल से लेकर वृन्दावन तक सबकुछ मैंने ही तो बसाया था। जाने कितनी बार अपनी जान की बाजी लगाकर उसकी रक्षा भी की थी। मथुरा को कंस के अत्याचार से छुटकारा भी मैंने ही तो दिलवाया था। आपको अच्छे से याद होगा कि पंचजन का कुशासन भी मैंने ही खत्म किया था। शृंगलव का वध कर नर्क में सड़ रहे हजारों लोगों को आजाद भी मैंने ही करवाया था। कहने का तात्पर्य लाखों लोगों को संकट से उबारकर श्रेष्ठ जीवन दिया था। क्या आपने मेरे जैसा कोई कर्मवीर देखा है? ठीक है, ...तो इसीलिए तो उन सबकी दुआओं के फल के रूप में द्वारका मिल तो गई। लो मान ली बात। ...चलो, नहीं करता अहंकार। ...पर कम-से-कम यह गर्व तो लूं कि द्वारका में मथुरावासियों को स्वर्ग-सा सुख देने का निमित्त तो मैं ही बना हूँ। अब कृष्ण स्वयं को निमित्त भी कहते हो और गर्व भी करते हो। ...बात समझ में नहीं आती? अरे, मैं तो यही नहीं... हर कर्म का निमित्त-मात्र हूँ, पर निमित्त भी हूँ तो मैं ही न? माना सारा आयोजन कुदरत का है, परंतु अहंकार को बाजू में रख निमित्त बनना स्वीकारा तो मैंने ही है न? हां, वैसे एक बात मैं तहेदिल से स्वीकारता हूँ कि ‘‘द्वारका’’ मेरे कर्मों के साथ-साथ लाखों लोगों की दुआओं का भी परिणाम है। और तभी तो बार-बार कहता हूँ कि जीवन की सबसे बड़ी कमाई लोगों की दुआएं ही हैं। और मेरे पास दुआओं का भंडार है; इस लिहाज से मैं वैसे ही आर्यावर्त का सबसे धनवान व्यक्ति हूँ।

...लेकिन लो, अभी इस गुमान से पूरी तरह भरूं उससे पहले ही एक गहरे चिंतन ने दस्तक दे डाली। और

उसके दस्तक देते ही एक अनोखा सवाल सामने आ खड़ा हुआ, और वह यह कि कारागृह में पैदा होने वाले व वृन्दावन की गरीबी में पलने वाले इस ग्वाले ने "द्वारकाधीश" तक का यह सफर तय करने के लिए क्या किया? शायद बहुत कुछ किया, और अच्छे से समझा जाए तो कुछ भी नहीं किया। दोनों बातें अपनी-अपनी समझ से सत्य है। ...भ्रमित हो गए? लो, थोड़ा विस्तार से बताता हूँ। ...कहने को मैंने कितने युद्ध किए, कितने वध किए, बेइंतिहां मेहनत की व अनगिनत कष्ट उठाये। लेकिन यह सब वास्तव में हमारी गलत दृष्टि है। यह ना-समझों व अज्ञानियों की आंखों से देखा गया सत्य है। संसार के रहस्य समझने वाले कभी ऐसा नहीं कहेंगे। उनकी दृष्टि तो सीधी व साफ होगी। वे मेरी इस पूरी यात्रा को एक ही लफ्ज में बयां कर देंगे कि "मैंने बस जब जो करने योग्य था, वह किया।" बात बिल्कुल सही है। मैं समय की मांग के अनुसार स्वयं को ढालता चला गया। जो करना आवश्यक लगा वह बगैर किसी अन्य विचार के करता चला गया। यहां तक कि रण छोड़ने जैसा लगा तो रण भी छोड़ा। झूठ बोलने की आवश्यकता पड़ी तब झूठ भी बोला। और-तो-और, सर्वहित में स्यमंतक-मणि चुराने से भी नहीं हिचकिचाया। साथ ही जीवन से जो सीखने को मिला सीखता चला गया। यही कारण है कि एक ही युद्ध की तबाही देखने के बाद मैंने फिर कभी दो सेनाओं का युद्ध नहीं किया। तत्पश्चात् तो मैं हमेशा अकारण की हिंसा को टालकर सीधे फसाद की जड़ का ही वध करता गया।

कहने का तात्पर्य बिल्कुल स्पष्ट है। ...यदि मनुष्य हर समय जो करने योग्य है वह करता चला जाए; तो वह भी जीवन के किसी-न-किसी क्षेत्र में द्वारकाधीश हुआ ही समझो। यदि कोई अपने स्वार्थ, अपने जीवन, अपने विचारों, धर्म व अच्छे-बुरे का विचार किए बगैर निरंतर समय की मांग पर कर्म करता रहे तो निश्चित ही वह मनुष्यजीवन की सारी ऊंचाइयां इसी जन्म में छू सकता है। यदि कारागृह में पैदा हुआ कृष्ण "आत्मज्ञानी" व "द्वारकाधीश" बन सकता है, इतनी अद्भुत व दोहरी उपलब्धि पा सकता है; तो बाकी सब तो कहां-से-कहां पहुंच सकते हैं? अत: मेरी दृष्टि में संसार में घोर असफलता व दु:ख का एकमात्र कारण मनुष्य का समय की मांग पर सर्वहित में करने योग्य कर्म नहीं करना है।

खैर! अपने चिंतन की दिशा को लगाम दूं व समय की मांग पर द्वारका में पहला दिन कैसा बीता उसकी बात बताऊं। बस, दोपहर तक तो द्वारका भ्रमण चलता रहा। दोपहर के भोजन पश्चात थोड़ा सुस्ताया। पहली बार राजमहल में सुस्ताने का मौका मिल रहा था और वह भी अपने स्वयं के राजमहल में, भला यह मौका कैसे छोड़ा जा सकता था? वहां सुस्ता के उठे नहीं कि संध्या होने से पूर्व ही हमारी चौकड़ी समुद्र किनारे जाने निकल पड़ी। रथ की कमान मैंने स्वयं सम्भाल रखी थी। और हां, द्वारका का एक चक्कर लगाते हुए ही जा रहा था। सड़कों पर काफी भीड़ थी। अब सबके पास रथ या गाड़े तो थे नहीं। बस पैदल ही पूरी द्वारका का चक्कर लगाने निकल पड़े थे। ...जितनी जल्दी जितनी ज्यादा आंखों में बसा ले। इधर गर्व की बात यह कि हमारा रथ जहां से निकलता हमें राजा-सा सम्मान दिया जाता। अब राजा तो हम हो ही चुके थे। हालांकि हरकतें राजे वाली एक न थी। राजा कोई रथ दौड़ाके अकेले नहीं निकल पड़ते, ना ही वे रथ स्वयं हांकते हैं। और फिर उनके आगे पीछे तो सेवक-सैनिकों का जमावड़ा चलता है। लेकिन हम ग्वालों को ये सब शौक कहां?

होगा, अभी तो चक्कर लगाते हुए हमारा रथ समुद्र किनारे जा खड़ा हुआ था। वहां तो नजारा ही कमाल था, बेशुमार भीड़ उमड़ी पड़ी थी। समुद्र किनारे चलने वालों की तो कतार लगी हुई थी। यूं भी मेरे, भैया व उद्धव को छोड़कर सभी पहली बार समुद्र देख रहे थे। साथ ही बेचारे जीवन में पहली बार मथुरा के तंग वातावरण से निकलकर मुक्त आकाश में विचरण कर रहे थे। स्वाभाविक तौर पर चारों ओर आनंद-ही-आनंद था। ऐसा सामूहिक आनंद तो शायद कुदरत ने भी पहले कभी नहीं देखा होगा। कुदरत भी क्या करे, उसके लिए कोई 'कृष्ण' जैसा पैदा भी तो होना चाहिए। चलो, अपनी तारीफ बंद करूं तो यहां क्या बच्चे, क्या बूढ़े और क्या जवां! क्या स्त्री-क्या पुरुष, सभी मारे खुशी के पागल हुए जा रहे थे। समुद्र किनारे दूर-दूर तक पांव रखने की जगह नहीं थी। दूसरी तरफ युवा खेमे में ढोल नगाड़ों के साथ नृत्य भी हो रहे थे। यह दृश्य देख मुझे भी जोश चढ़ गया। मेरा मन भी दो ठुमके लगाने का हुआ। तुरंत मैंने अपनी चौकड़ी के साथ युवा-टोली में प्रवेश किया। हमारे जाते ही वहां उत्साह का माहौल हो गया।जैसे ही मैंने ढोल-नगाड़ों की तर्ज पर नृत्य शुरू किया, सभी झूम उठे। मेरे साथ पच्चीसों युवा और नाच रहे थे। मेरा क्या था, गोपियां न सही युवा सही। वो मजा आया कि क्या बताऊं? करीब संध्या ढलने तक यह नाच-गान चलता रहा। मेरी तो इसी बहाने वृन्दावन की याद ताजा हो गई। वहीं अन्यों की दृष्टि में देखा जाए तो हमारे "राजायन" की तो पूरी ऐसी-तैसी हो गई। भला कहीं राजे इतनी भीड़ में प्रजा के साथ नृत्य करते हैं? तो क्या, जो प्रगति आपके स्वाभाविक आनंद में भी बाधक सिद्ध हो उस प्रगति का मूल्य ही क्या? सो हम तो राजे भी थे व आनंद भी कर रहे थे। यहां राजा और प्रजा का कोई भेद नहीं रह गया था। होता भी कैसे? राजा ही ग्वाले थे और वह भी ठेठ

वृन्दावन के। दरअसल यहां मामला ही उल्टा था। राजा गांव का ग्वाला था व प्रजा मथुरा नगरी की थी, थी न कमाल की बात? और इसी की बदौलत नजारा कुछ ऐसा जमा था कि यहां का प्रेम और आनंद समुद्री हवाओं से एक हो गया था। मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा, बल्कि सच कहता हूँ कि यहां की समुद्री हवाओं में भी इस अहंकार-शून्यता की भीनी-भीनी खुशबू महसूस की जा सकती थी। और यह सब देखकर मुझे कितनी तृप्ति मिल रही थी, यह बयाने-काबिल नहीं है। उत्साह तो ऐसा छाया था कि मन उत्सव मनाने को मचल उठा था; लेकिन अभी द्वारका में जन-जीवन सामान्य करना बाकी था। काफी कार्य मुंह फाड़े खड़े थे। मुझे अपने मन को समझाना ही पड़ा कि कुछ दिन और इन्तजार कर; पहले द्वारका को ठीक से बस जाने दे; फिर जी में आए उतने उत्सव मना लेना।

मैं भी वाकई कमाल था! द्वारका बसाने का ख्याल क्या आया, पूरा चिंतन उसी के आस-पास घूमना शुरू हो गया। यहां तक कि तत्काल मेरा मन समुद्र तट पर लगना ही बंद हो गया। मैंने तुरंत भैया, उद्धव व सात्यकि को आगे के कार्यों की चर्चा के लिए एकत्रित किया। तत्क्षण हम लोग पूरी भीड़ से दूर समुद्र तट पर चलते-चलते काफी दूर निकल आए। यहां कोई आवक-जावक नहीं थी। बस वहीं एक नारियल के पेड़ के नीचे पांव पसारे बैठ गए। स्वाभाविक तौर पर चर्चा का प्रारंभ मैंने ही किया। मैंने कहा- हमारे कर्म की असली परीक्षा तो अब होनी है। अभी तो हमें पूरी द्वारका नगरी बसानी है। निश्चित ही इस कार्य के लिए हमें कई अन्य लोगों की सहायता भी लगेगी। ...अभी तो मेरी बात खत्म भी नहीं हुई थी कि तुरंत नामों के सुझाव आने प्रारंभ हो गए। कुछ ही देर की चर्चा-विचारणा के बाद सर्वानुमति से सारे नाम तय भी हो गए। कंडल, विप्रभु, श्वफलक, चित्रक, गद, सत्यक, संकर्षण व प्रभु उनमें प्रमुख थे। निश्चित ही इसमें से कई हमारे पुराने साथी थे तो कई सात्यकि के मित्र। अब यह तो तय ही था कि कार्यों की लंबी फेहरिस्त देखते हुए कार्यों के विभाजन के बगैर आगे के कार्यों का समापन समय पर संभव नहीं। अत: सबसे पहले उद्धव को दूसरे दिन दोपहर तक सबको राजमहल में एकत्रित करने की जिम्मेवारी सौंपी। यह भी तय हुआ कि नानाजी यानी "राजा उग्रसेन" को ही द्वारका के राज-सिंहासन पर बैठाया जाएगा [11] । यही नहीं, उनका राज्याभिषेक भी पूरी शान से किया जाएगा। साथ ही हमारे सभी मित्र राजाओं को राज्याभिषेक में आमंत्रित किया जाना भी तय हुआ, ताकि हमारी शानदार उपलब्धि हमारे सभी मित्र भी देख सकें। और इस बहाने पूरा आर्यावर्त जान ले कि "कृष्ण-बलराम" अब साधारण ग्वाले नहीं, सबसे सुंदर नगरी द्वारका के "युवराज" हैं। कृपा कर भविष्य में अब हमें कोई गरीब, गंवार या ग्वाले जैसे संबोधनों से अपमानित न करें। वहीं इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए राज्याभिषेक की तिथि भी करीब दो माह बाद रखना तय किया। क्योंकि मैं उससे पहले द्वारका को पूरी तरह बसा लेना चाहता था। रूआब झाड़ें तो पूरा झाड़ें। वैसे भी चारों ओर सूचना पहुंचाने व उनके अभिवादन की यथायोग्य तैयारियों के लिए भी समय तो चाहिए ही था। बस इन्हीं सब चर्चाओं व निर्णय में रात्रि हो गई, सो बाकी की चर्चा कल सुबह सभी की उपस्थिति में राजमहल में ही करना तय हुआ। और हम सब लौट आए।

उधर दूसरे दिन दोपहर होते-होते सभी राजमहल आ पहुंचे थे। सबसे पहले सबको "राजा उग्रसेन" के राज्याभिषेक के बारे में सूचित किया गया। तत्पश्चात् उपस्थित सभी युवाओं को मंत्रिपरिषद में लेने के निर्णय से अवगत कराया गया। क्योंकि मैं द्वारका के नेतृत्व में युवा खून बढ़-चढ़कर हिस्सा ले, यह चाहता था। उद्देश्य साफ था; जिनका भविष्य, वे संभालें। हां, अनुभवी बुजुर्गों की एक सलाहकार समिति अवश्य बना रहे थे: जिसमें अक्रूरजी, पिताजी, सत्राजित समेत कई अनुभवी लोगों को शामिल किया जाने वाला था; ताकि युवाओं को समय-समय पर सही मार्गदर्शन मिलता रहे [12] । साथ-ही-साथ लगे हाथों कई महत्त्वपूर्ण पदों के निर्णय भी ले लिए गए। जैसे "अनाघृष्टि" को सेनापति बनाना तय हुआ। सात्यकि को योद्धाओं के प्रमुख-पद से नवाजा गया। फिर तो बात यहीं नहीं रुकी, द्वारकापुरी के विधान पर भी विस्तार से चर्चा की गई। हालांकि इस बाबत ज्यादा चर्चा को अवकाश न था। मोटा-मोटी तौर पर मामूली परिवर्तन के साथ सारे विधान मथुरा की तर्ज पर ही बना लिए गए। क्योंकि मथुरा के विधि-विधान में कोई खराबी नहीं थी; वहां समस्या सिर्फ उनके सख्तीपूर्वक अमलीकरण की थी।

...और जहां तक बसने का सवाल था, सबसे पहला ध्यान राजभवन पर देना तय हुआ। क्योंकि आगे के कार्यों को समय पर निपटाने हेतु ज्यादा-से-ज्यादा सात दिनों में राजभवन को कार्यशील करना आवश्यक था। राजभवन के सुरक्षा-कर्मियों, रसोइयों, दास व दासियों का चुनाव करने का पूरा कार्य भैया व विकद्रु के जिम्मे किया गया। उन्होंने तुरंत अपना कार्य प्रारंभ भी कर दिया। सभी का उत्साह देखते ही बनता था। सचमुच; यदि यह उत्साह बरकरार रहा तो यह तय था कि द्वारका संपन्नता के सारे शिखर छू कर दिखा देगी। ...वैसे भी मैं तहेदिल से द्वारका के हर व्यक्ति को संपन्न देखना चाहता ही था। और इसकी तरफ पहला कदम उठाते हुए राजकर्मचारियों को मथुरा से दो गुनी तनख्वाह देने का प्रस्ताव भी मैंने ही दिया। यूं भी मथुरा के अनुभव से मैं यह तो सीख ही गया था कि राज-कर्मचारी

किसी भी राज्य के प्रमुख स्तंभ होते हैं। और यही ध्यान में रखते हुए उन्हें राजमहल के ठीक पीछे वाली बस्ती में आवासीय सुविधायें प्रदान किया जाना भी तय किया गया। ...क्या बताऊं! मैं वृन्दावन व मथुरा में ऐसी गरीबी देख चुका था कि भुलाये नहीं भूलती थी। यह कम था तो मैंने मथुरा का राजकोष भी हमेशा खाली ही देखा था। अत: मैंने मन-ही-मन संकल्प लिया था कि मैं हर द्वारकावासी को संपन्न बनने की राह पर लगाऊंगा। साथ ही यह भी निश्चित करूंगा कि द्वारका का राजकोष हर हाल में हमेशा भरा रहे। वैसे द्वारका के राजकोष को भरा रखने के लिए ''स्यमंतक-मणि'' तो मेरे पास थी ही, फिर भी मैं द्वारका को उसके अलावा भी स्वतंत्र रूप से संपन्न बनाना चाहता था। अब आपसे मेरा उत्साह क्या छिपाऊं, मैं इस बाबत पहले ही काफी चिंतन कर चुका था। खैर, अभी तो इन्हीं सब निर्णयों व चिंतनों में रात हो गई। इस लिहाज से आज कृष्ण का दिन एक व्यस्त राजा की तरह बीता, और निश्चित ही उससे यह ग्वाला बड़ा ही तृप्त हुआ [13] ।

...उधर अगले दिन सुबह हम सब फिर राजमहल में एकत्रित हो गए। अब चर्चाओं व निर्णयों का दौर समाप्त हो चुका था। वक्त काम करने का आ गया था। हालांकि आज का दिन वेश्याओं के नाम रहा। दिन की शुरुआत ही उनके बाबत चर्चा से हुई। क्योंकि कल उन बेचारियों पर चर्चा ही नहीं हो पाई थी। मथुरा में वेश्याओं पर काफी जोर-जबरदस्ती व जुल्म होते थे। यूं भी वहां उनपर कोई राजकीय नियंत्रण नहीं था। फलस्वरूप उन्हें कोई राजकीय सुरक्षा भी उपलब्ध नहीं थी। अब भला महिलाओं पर अत्याचार मैं कैसे देख सकता था? अत: इस पूरे व्यवसाय को मैंने राजकीय नियंत्रण में लेना तय किया। यही नहीं, उन्हें राजकीय सुरक्षा भी मुहैया कराने का निर्णय लिया गया, और इसके बदले में उन पर पच्चीस फीसदी कर लगाना तय हुआ। साथ ही उनके रहने की व्यवस्था भी एक साथ की गई ताकि उनमें आपसी मित्रता बढ़े व उन्हें भी जीवन नसीब हो। और इस शुभ निर्णय के साथ ही हाथोंहाथ तमाम वेश्याओं को एक साथ एक विश्रामालय में ठहरा दिया गया। इस तरह द्वारका में सर्वप्रथम स्थानांतरण वेश्याओं का ही हुआ। और हाथों-हाथ उस भवन को ''राजकीय-वेश्यालय'' का नाम भी दे दिया गया। अर्थात् द्वारका का प्रथम नामकरण भी उन्हें ही नसीब हुआ।

वहीं दूसरी एक और बात स्पष्ट करूं तो हम अपने साथ यूं भी एक हजार सैनिक लाए थे जो स्वाभाविक रूप से द्वारका नगरी की आवश्यकता से कहीं ज्यादा थे। क्योंकि द्वारका पर किसी बाहरी हमले की कोई संभावना तो थी नहीं, फिर भी जब सिपाही साथ लाए थे तो उन्हें काम भी देना ही था। अत: करीब पच्चीस सिपाही वेश्यालयों की सुरक्षा हेतु आवंटित कर दिए गए। ...अर्थात् वेश्यालय के बाहर कड़ा पहरा लगा दिया गया। साथ ही कर की उगाही हाथों-हाथ किया जाना भी तय हुआ। यही नहीं, मैं मथुरा में वेश्याओं के चक्कर में लोगों की बढ़ती हरामखोरी देख चुका था। लोग-बाग सुबह से ही वेश्याओं के दरवाजे खटखटाते फिरते थे। मैं द्वारका में यह सब कतई नहीं चाहता था। अत: वेश्यालय संध्या के बाद ही खोले जाने का मेरा प्रस्ताव भी स्वीकार लिया गया। अब बारी मदिरा की निकल आई। मथुरा का दूसरा विनाश मदिरा ने किया था। मथुरावासी सुबह से ही नशे में धुत्त होकर घूमने के आदी हो चुके थे। तौबा...तौबा। मैं इस बीमारी को द्वारका में घुसने देना ही नहीं चाहता था। मैं इन हरामखोरों पर हर तरह की लगाम कसने को कटिबद्ध था। अत: सभी सार्वजनिक स्थानों जैसे सड़कों, दुकानों, उद्यानों, प्रांगणों या अन्य किसी भी ऐसे स्थान पर मदिरा पीने पर पाबंदी लगा दी गई। इतना ही नहीं, हाथों-हाथ इस नियम को भंग करने वालों पर कड़ी कार्रवाई करने के प्रावधान भी बना दिए गए। क्योंकि यादवों को सबसे ज्यादा किसी चीज ने डंसा था तो इसी मदिरा ने। अत: उपरोक्त नियम का सख्ती से पालन करने हेतु दिन-रात पचास सिपाही द्वारका के चारों ओर दौड़ाना भी तय हुआ। साथ ही अन्य तमाम जफाओं से बचने हेतु दो ''राजकीय मदिरालय'' भी खोल दिए गए। एक बाजार के पास व दूसरा मुख्य प्रांगण के निकट, यानी दोनों मदिरालयों को बस्ती से दूर रखा गया था। और-तो-और, हाथोंहाथ चर्चा कर मदिरा इन दो मदिरालयों के अलावा कहीं उपलब्ध न हो, इसकी भी व्यवस्था कर ली गई। साथ ही ये दोनों मदिरालय सिर्फ संध्या के बाद ही खोले जाएं, यह भी तय कर लिया गया।

कुल-मिलाकर मैं हरहाल में सबको दिन की नशाखोरी से रोकना चाहता था। आप कहेंगे कि कभी किसी चीज में ''ना'' न कहने वाला यह ''कृष्ण'' मदिरा के पीछे इतना क्यों पड़ गया है? ...क्योंकि यह एक-दो नहीं, पूरे पच्चीस हजार लोगों के जीवन का सवाल था। एक ऐसी परंपरा का सवाल था जो फैल जाए तो इसका असर लाखों मनुष्यों के जीवन पर ही नहीं, आने वाली नस्लों पर भी पड़ सकता था। यही तो वजह थी कि मैंने इन्द्रपूजा जैसी परंपरा का विरोध किया था। अत: यह स्पष्ट समझ लें कि मैं मदिरा का नहीं, एक परंपरा का विरोध कर रहा था। आप ही देख लीजिए कि मथुरा का क्या हाल हो गया था? यह दिन-रात की नशाखोरी ने यादवों को कितना हरामखोर बना दिया था। सब-के-सब कामचोर हो गए थे। सही मायने में ये किसी काम के बचे ही नहीं थे। मैं मानता हूँ कि स्वतंत्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। जब मनुष्य को कुछ भी करने से कुदरत या भगवान नहीं रोकते, तो भला

मैं क्यों उन्हें रोकने-टोकने लगा? मैं खुद कब किसके कहने पर रुका हूँ? जब मैं गीता में अर्जुन को चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था कि संसार के सभी भूतों में मैं ही समाया हुआ हूँ, तो क्या मैं मदिरा में समाया हुआ नहीं हूँ? लेकिन जैसे किसी व्यक्ति से हजारों जीवन को खतरा हो जाए तो उसका खात्मा जरूरी है, वैसे ही जिस सामाजिक बुराई से हजारों जीवन प्रभावित होते हों उसका खात्मा भी जरूरी है। उम्मीद है आप मेरी बात समझ गए होंगे।

खैर! आगे मदिरापान पर और नियंत्रण रखने हेतु मदिरालयों पर पचास फीसदी राजकीय कर लगाना भी तय किया। साथ ही मदिरा बेचने व बनाने के सम्पूर्ण अधिकार सिर्फ प्रशासन के पास ही रखे गए। अब एक बात तो तय थी कि मथुरा की तरह द्वारका में गली-गली में वेश्यालय व मदिरालय नहीं होंगे। सोने पे सुहागा यह कि यादवों के ये दोनों शौक राजकीय-कोष का भी ख्याल रखेंगे। साथ ही यह संभावना भी बनी ही हुई थी कि इतने प्रतिबंधों के बाद यह आदत से हटकर "शौक" का विषय बनकर रह जाएंगे। हालांकि यह तो अच्छा था जो भैया इस निर्णय के वक्त मौजूद नहीं थे, वरना हो सकता था कि मदिरालय दो की बजाए चार करवा देते या और कुछ नहीं तो उन्हें सुबह से ही खोलने की जिद पर तो अड़ ही जाते। वैसे एक बात और स्पष्ट कर दूं, मैं इतने सख्त कानून बना पा रहा था क्योंकि द्वारका की वर्तमान जनसंख्या को देखते हुए यहां लाई गई सेना काफी विशाल थी, और निश्चित ही जिसके फलस्वरूप तमाम राजकीय नियमों व प्रतिबंधों का कड़ाई से पालन हो सकता था। यानी प्रशासन के चुस्त रहने की पूरी-पूरी संभावना थी। हालांकि मैं सिर्फ सख्ती बरतने पर उतारू था, ऐसा नहीं था। मेहनत करने वालों पर मैं कोई कर नहीं लगा रहा था।जैसे ग्वालों, किसानों, कुंभारों व लुहारों जैसों को पूरी तरह कर-मुक्त रखा गया था। साथ ही हर ग्वाले व किसान को राज्य की तरफ से एक गाय मुफ्त देना भी तय किया था। सच कहूं तो मैं वृन्दावन और मथुरा में ग्वालों व किसानों की इतनी बुरी हालत देख चुका था कि उनसे मेरी सहानुभूति होना स्वाभाविक था। वैसे भी कर्म करने वालों से मेरा विशेष लगाव था ही। और फिर इसमें राजमहल का जा भी क्या रहा था? ज्यादा-से-ज्यादा वेश्यालय व मदिरालय की कमाई का हिस्सा इस योजना पर खर्च होना था। कोई इससे राजमहल पर पहाड़ तो टूट पड़ना नहीं था?

होगा, अभी तो देर से ही सही, पर भैया व सात्यकि ने भी दस्तक दे ही दी थी। निश्चित ही राजमहल बनवाने पर भी ध्यान देना व हमारे साथ वक्त-वक्त पर सभाओं में भी बैठना, कहा जा सकता है कि द्वारका आते ही सबसे पहले काम पर ये दोनों लग गए थे। वैसे अच्छा ही था, क्योंकि वास्तव में सारे महत्वपूर्ण निर्णय अब लिए जाने थे। अब तक तो सिर्फ छोटे-मोटे प्रशासनिक निर्णय लिए गए थे। वैसे अब आगे निर्णयों की बारी घरों व दुकानों की थी। यूं तो सारे घर व दुकानें तो राजमहल पहले ही बना चुका था। अब चर्चा उनके आवंटनों की ही करनी शेष रह गई थी। वैसे भी यदि हमें राजा बनना था तो मथुरावासियों को घर व दुकानें बनवाकर देनी ही थी, क्योंकि यादवों की वर्तमान परिस्थिति ऐसी न थी कि वे घर या दुकान बनवा सके। सत्राजित या अन्य कुछ यादव प्रमुखों की बात नहीं कर रहा मैं, उनके लिए तो मैंने यूं भी कई विशाल भवन बनवाये ही थे। हां, उनमें से सबसे बड़ा भवन मैं सत्राजित को देना चाहता था व उसका सुझाव भी मैंने ही दिया था। हालांकि मैं जानता था कि मेरी इस बात का तगड़ा विरोध होगा, खासकर भैया की ओर से। ...और जो हुआ भी था। लेकिन अंत में मैं सबको समझाने में सफल हो ही गया था कि एक तो वह राजा है, और ऊपर से सबसे संभ्रांत यादव भी वही है। इस लिहाज से वह हमारे द्वारका की शान है। ऐसे में हम उसे सबसे बड़ा भवन देकर कौन-सा एहसान कर रहे हैं? सभी को मेरी बात समझ आनी ही थी। बात ही दो-और-दो चार जैसी साफ थी। वहीं दूसरी ओर मेरे मन की बात कहूं तो मुझे तो सत्राजित की स्यमंतक-मणि का कर्ज जितना उतर सके, ...उतारना ही था।

खैर! यह तो हुआ यादव-प्रमुखों व सत्राजित का समाधान। उसके साथ-ही-साथ मैं दुकानों के बाबत भी सारी बातें तय कर लेना चाहता था। काफी चर्चा के बाद यह तय किया कि जो लोग दुकान खरीदना चाहें उन्हें लागत मूल्य से दुकान दे दी जाए। उसके पश्चात् जो बच जाए उसे राजकीय भागीदारी में चलायी जाए। साथ ही दुकानों से होने वाली आमदनी पर एक-चौथाई कर भी लगाना तय हुआ। यही नहीं, जरूरतमंदों को राजमहल की ओर से व्यवसाय के लिए ऋण उपलब्ध करवाना भी तय हुआ। हां, यह अवश्य साफ किया कि बगैर दाम चुकाये दुकान लेने वालों की दुकानें राजकीय संपत्ति ही रहेगी। और राजमहल उस दुकान से होने वाले मुनाफे में एक चौथाई कर के स्थान पर आधी भागीदारी लेगा। निश्चित ही यह सारे निर्णय व सुझाव मेरे ही थे। बाकियों में इतनी समझ ही कहां थी? दरअसल मैंने तो शासन कैसे चलाया जाता है, किस निर्णय का क्या असर होता है, यह सब समझाने हेतु ही ये सारी चर्चाएं छेड़ी थी। ...वरना तो एकतरफा तय कर सारी बातें बता दी होती। यानी कि वे सीखें भी व हर निर्णय में स्वयं को सम्मिलित भी मानें। इससे एक तो सबका आत्मविश्वास बढ़ेगा, दूसरा भविष्य में द्वारका को बेहतर प्रशासन मिलने की नींव मजबूत होगी। चलो भविष्य की बात भविष्य पर छोड़ूं तो अभी दुकानों का मसला भी स्पष्ट हो गया

था। और खूबी यह कि इसमें व्यापारियों के लिए उत्साह भी था व राजकीय खजाने का भी ध्यान रखा गया था। वहीं ग्वालों व किसानों को सहयोग व राहत देकर कर्म करने वालों की हौसला-अफ्जाई पहले ही तय की जा चुकी थी।

अब बारी थी व्यवसायियों व यादव-प्रमुखों की सभा बुलवाने की। क्योंकि मैंने जो सोचा वो ठीक, लेकिन वह सही है या गलत इसका निर्णय तो उनके उत्साह से ही सिद्ध होना था। यह विचार आते ही ताबड़तोड़ अगले ही दिन उनकी सभा भी बुलवाई गई। मैंने उनसे व्यवसाय व कर संबंधी काफी चर्चाएं की। आप मानेंगे नहीं कि मेरी शुरुआत ही कुछ ऐसी थी कि दुकानें लेने की अफरा-तफरी मच गई। पचास दुकानों के लिए करीब दो सौ आवेदन आए। मैं तो अचंभित रह गया। चलो मथुरा से निकलकर यादवों में काम करने की इच्छा तो जागृत हुई। ...कृष्ण यह तो तुमने बहुत बड़ा गढ़ जीत लिया। अब गढ़ तो जीत लिया पर इससे दुकानों के आवंटन की काफी मशक्कत झेलनी पड़ गई। कोई बात नहीं, अंत में इसका भी शुभ-परिणाम ही आया। दुकानों की इतनी मारामारी देख सत्राजित व अन्य सक्षम यादव-प्रमुखों ने मिलकर आधी के करीब दुकानें खरीद ही ली। मैं और खुश हुआ। चलो इसी बहाने राजकोष तो फिर से भर गया। यूं भी अभी द्वारका में काफी निर्माण-कार्य करवाना शेष था। धन की आवश्यकता थी ही। मेरे लिए सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि सबसे ज्यादा दस दुकानें सत्राजित ने ही खरीदी थी। देखा आपने, आज भी वही मेरे काम आया था। अब आप ही बताएं मैं उसे शत्रु कैसे मान लूं? होगा, अभी तो उधर बची हुई दुकानें समझाइश से भिन्न-भिन्न व्यवसायियों को पचास फीसदी राजकीय भागीदारी में आवंटित कर दी गई। हालांकि इस आवंटन प्रणाली से जिन्हें दुकानें नहीं मिल पाई वे काफी नाराज हुए। अब दुकानों की इतनी पड़ापड़ी देखते हुए यह तो होना ही था। ...पर सच कहूं तो लोगों के ऐसे उत्साह ने अभी तो मेरी आंखों में आंसू ला दिए थे।

खैर! किसी तरह दुकानें तो आवंटित हो गई। अब बारी आई व्यवसायों के आवंटन की। सबसे पहले दस दुकानें वस्त्रालय के लिए आवंटित की गई। दस दुकानें खान-पान की वस्तुओं के लिए सुरक्षित रखी गई। साथ ही जीवनोपयोगी सामग्री के लिए भी दस दुकानें आवंटित की गई। बची हुई दुकानें सबको अपनी समझ से खोलनी थी। अर्थात् मेरी सबसे पसंदीदा चीजों के बाजार की जल्द ही खुलने की उम्मीद थी। और मजे की बात तो यह कि कहां तो मैं सोच रहा था कि इतनी दुकानें कौन लेगा, और कहां दुकानें ही कम पड़ गई थी। निश्चित ही द्वारका के भविष्य के लिए यह एक शुभ संकेत था। हालांकि दुकानों की इतनी मारामारी हुई देख मैंनें हाथोंहाथ पचास और दुकानें बनवाने का भी निर्णय ले ही लिया था। क्योंकि व्यवसाय करने के इच्छुकों को हताश करने का मतलब ही नहीं था।

वैसे तो धीरे-धीरे कर रोज हो रही चर्चा-विचारणाओं से काफी कार्य निपटते जा रहे थे पर अभी एक और मगजमारी बाकी थी, और वह थी घरों के आवंटन की। यहां भी वही किया गया। जो दुकानें आवंटित करते वक्त किया गया था। यानी पहले जो खरीद सकते थे उन्हें घर बेच दिए गए। सभी यादव-प्रमुखों व कुछेक व्यवसायियों ने घर खरीदे। बचे हुए में मुश्किल आनी ही थी। बारह सौ घरों में से बमुश्किल पचास घर बिके। यही दिक्कत थी। इन निखट्टुओं ने काम ही कहां किया था जो इनके पास घर खरीदने हेतु धन होता। लेकिन एक राजा के तौर पर मुझे तो इनकी प्रारंभिक व्यवस्था करनी ही थी। सो, मैं तो पहले ही अपना धन लगाकर इनके लिए घर बनवा ही चुका था। ...और ये नहीं बिकने वाले हैं, यह मुझे पहले से मालूम था। अत: इस बाबत भीतर-ही-भीतर काफी सोच-विचार भी कर ही चुका था। अंत में मेरी सोची योजना के मुताबिक ही बाकी के घरों को निर्माण-मूल्य का दस प्रतिशत राजकीय-कर लगाकर आवंटित कर दिया गया। साथ ही लगातार पांच वर्ष कर चुकाने वाले के घरों को उनकी निजी संपत्ति में तब्दील कर देना भी तय किया। मेरा मकसद साफ था, आधे दामों पर घर मिलने की लालच में शायद ये कामचोर काम-काजी हो जाएं। अब मुझे कोई संपत्ति अपने साथ तो ले नहीं जानी थी, साथ ही एक राजा का कर्तव्य भी निभाना ही था। यूं भी मेरे मन में सबकुछ स्पष्ट था। "इसके बाद ...मैं राजमहल चला लूं, आप अपना घर चला लें।" अर्थात् यह राजमहल द्वारा की गई पहली व अंतिम सहायता थी। वैसे तो करीब सात दिनों की मशक्कत के बाद काफी कार्य निपट चुके थे, हालांकि फिर भी कुछेक कार्य और शेष रह गए थे, और जो समय के साथ ही निपटने थे।

उधर दूसरी ओर खुशखबरी यह कि भैया ने राजमहल भी पूरी तरह तैयार करवा दिया था। अब देर किस बात की थी? तुरंत प्रभाव से हमारे परिवार के अलावा उद्धव, सात्यकि, समेत कई लोगों ने राजमहल में रहना प्रारंभ कर दिया। निश्चित ही राजमहल प्रारंभ होने से आगे के कार्य बहुत आसान हो गए थे। अगले चार-पांच दिनों में तो हमारी युवा मंत्रिपरिषद भी राजमहल के निकट ही आवंटित अपने आवासों में स्थानांतरित हो गई थी। इससे आपसी संवाद बहुत आसान हो गया था। ताली बजाई और सभा कर ली। क्योंकि संवाद का सीधा ताल्लुक कार्यों की गति से है। कोई ऐसी सुविधा हो कि यहां बैठे-बैठे मैं आर्यावर्त के कोने-कोने तक अपनी आवाज पलभर में पहुंचा सकूं तो द्वारका में राज्याभिषेक एक माह जल्दी रख सकता हूँ। क्योंकि अभी तो उतना समय सिर्फ उन तक राज्याभिषेक का निमंत्रण भिजवाने में नष्ट हो रहा था। अत: मेरा यह साफ मानना है कि संवाद का कार्यों की गति से सीधा ताल्लुक

है। वहीं सच कहूं तो द्वारका में श्रेष्ठ संवाद स्थापित हो सके इसीलिए तो इसे एक नगर का राज्य बनाया था।

होगा, अभी तो इधर हमारे कार्य चल ही रहे थे कि अचानक एक दिन कार्यों को अंतिम रूप देने विश्वकर्माजी द्वारका आ पधारे। मेरे लिए तो इससे बड़ी खुशी की बात हो ही नहीं सकती थी। स्वाभाविक तौर पर मैंने ससम्मान उन्हें राजमहल के सर्वश्रेष्ठ अतिथि-कक्ष में ठहरवाया। साथ ही उन्हें श्रेष्ठ निर्माण के लिए बधाई भी दी व उनका आभार भी माना। कमाल तो यह कि एकाध दिन के विश्राम के बाद ही उन्होंने आगे के कार्यो की चर्चा भी प्रारंभ कर दी। जल्दी में तो मैं भी था ही, पर अच्छी बात यह थी कि मुझसे ज्यादा जल्दी में वे दिखाई पड़ रहे थे। बस हम दोनों मेरे ही कक्ष की बैठक में बैठ गए थे। चर्चा के प्रारंभ में ही पहली खुशखबरी तो यह थी कि ...उनके अनुसार वर्तमान निर्माण कार्य पन्द्रह-बीस दिनों में या ज्यादा-से-ज्यादा महीने भर में समाप्त हो जाने की संभावना थी। यानी राज्याभिषेक की तिथि आगे बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। हालांकि एक और समस्या थी जिस पर हमने काफी विस्तार से चर्चा की। मेरी राय में अभी द्वारका को करीब चार सौ नए घर, दो-तीन विश्रामालय तथा पचास दुकानों की कम-से-कम और आवश्यकता थी। साथ ही प्रमुख-द्वार के अंदर व बाहर एक सुरक्षा चौकी बनाना भी अत्यंत आवश्यक था, ताकि कोई गैर द्वारकावासी या अनिमंत्रित व्यक्ति कभी भी द्वारका में प्रवेश न कर सके। ...चौकी बनाने हेतु तो विश्वकर्माजी तुरंत राजी हो गए, परंतु नए निर्माण के बाबत उन्होंने एक अनूठा ही सुझाव दिया। उन्होंने कहा- मैं अपने पचास-एक शिल्पकारों को यहीं छोड़ जाता हूँ वे आपकी आवश्यकतानुसार कार्य करते रहेंगे।

उनकी यह बात सुनते ही मैं कुछ ज्यादा ही उत्साहित हो गया व तत्क्षण कुछ और आगे की सोचते हुए बोल पड़ा- आपकी इजाजत हो तो मैं उन्हें द्वारका का स्थायी निवासी बना दूं। रहने की श्रेष्ठ सुविधाओं के अलावा उन्हें शानदार तनख्वाह भी चुकायी जाएगी।

विश्वकर्माजी कुछ सोचते हुए बोले- यानी कि आप उन्हें ''राजकीय-कर्मचारी'' बनाना चाहते हैं।

उनके मुख से यह सुनते ही मैं थोड़ा झेंप गया व फिर झेंपते हुए ही बोला- हां, कुछ ऐसा ही, यदि आपको ऐतराज न हो तो। ...फिर एक ठंडी सांस लेते हुए कहा- ताकि बार-बार छोटी-मोटी जरूरतों के लिए आपको कष्ट न देना पड़े।

काफी विचार के बाद उन्होंने इस हेतु अपनी सहमति दे दी। यह मेरी बहुत बड़ी जीत थी। पचास शिल्पकार आजीवन द्वारकावासी! निश्चित ही यह अपनेआप में बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वैसे विश्वकर्माजी ने एक और अच्छा सुझाव दिया जिसमें समय के साथ-साथ धन भी बच सकता था व लोगों की मुफ्तखोरी भी कम हो सकती थी। उनके सुझाए अनुसार भला राजमहल कब तक निर्माणकार्य में लगा रहेगा? अन्य राज्यों की तरह लोगों को भी अपने घर बनाने दो। अत: भविष्य में जो मकान बनाना चाहे उन्हें राज्य की तरफ से जमीन मुहैया करा दी जाए, बस। मुझे तो यह सुझाव बहुत पसंद आया। इससे तो राजमहल निर्माण-कार्य की व्यर्थ सर-फोड़ी से हमेशा के लिए बच जाएगा। तत्क्षण मैंने मामूली राजकीय शुल्क पर जमीनों के आवंटन की योजना अमल में लाना तय भी कर लिया। यही नहीं, तत्काल विश्वकर्माजी से कहकर नई पचास दुकानों के निर्माण-कार्य चालू करवाने की व्यवस्था भी कर डाली। यूं भी द्वारका को समृद्ध बनाना हो तो पहला ध्यान व्यवसायियों का रखना ही पड़े, ऐसा था। खैर, विश्वकर्माजी करीब पन्द्रह दिन रुके थे व इस दरम्यान उन्होंने अपने सारे कार्य सलटा लिए थे। हालांकि मैंने तो उन्हें और रुकने का निवेदन किया था, पर वे जाना चाहते थे। यूं भी वे जितना रुकते कम ही लगना था। ...वाकई उनसे जितना सीखो, उतना कम था। इन पन्द्रह दिनों में अधिकांश समय हम दोनों ने साथ ही गुजारा था। यूं भी निर्माण कार्य में कहो या सीखने में, सबसे ज्यादा रुचि मुझे ही थी।

होगा! अभी तो फिर वर्तमान में लौट आऊं तो विश्वकर्माजी जा चुके थे। स्वाभाविक तौर पर इतने दिनों मैंने द्वारका पर कोई विशेष ध्यान दिया ही नहीं था। वैसे अब द्वारका में जनजीवन काफी सामान्य हो चुका था। लोग अपने आवंटित घरों में रहना प्रारंभ भी कर दिए थे। हां, जिनके पास मकान नहीं थे वे अब भी अस्थायी तौर पर विश्रामालय में ही आश्रय लिए हुए थे। वैसे तत्काल प्रभाव से उन सबको जमीन आवंटित कर दी गई थी। साथ ही जगह की कमी को व लोगों के उत्साह को देखते हुए मैंने सबसे पहले दो और विश्रामालय का कार्य प्रारंभ भी करवा दिया था। ...वैसे यह सब तो समय के साथ पार पड़ ही जाना था, पर अभी तो सबसे बड़ी समस्या बाजार चालू होने की थी। उसमें अभी भी दो माह और लगे ऐसा लग रहा था। सबको घर तो मिल गए थे पर मैं जल्द-से-जल्द इन कामचोरों को काम-धंधे पर लगाना चाहता था। सच कहूं तो मैं इन यादवों की कामचोरी से बहुत घबराया हुआ था। वैसे व्यवस्था तो मैंने अच्छे से की थी कि कोई बगैर काम करे जी ही न सके। कुछ नहीं तो घरों का राजकीय शुल्क तो सबको चुकाना ही था। और वह बगैर कामकाज किए संभव नहीं था। यूं भी, वरना बोरिया-बिस्तर बांधकर वापस मथुरा भेज दिया जाएगा, यह सबको स्पष्ट समझाया ही जा चुका था। अब आप ही बताइए, इस स्वर्ग को छोड़ नरक

में जाना कौन चाहेगा? यानी मैंने अपनी तरफ से तो इन कामचोरों का पूरा बंदोबस्त किया था, लेकिन ये ज्यादा दिन फालतू बैठें, यह मैं बिल्कुल नहीं चाहता था; क्योंकि इससे इनमें हरामखोरी के कीटाणु फैलने का डर था। अत: सबसे पहले मैंने उद्धव को अन्य राज्यों से एक हजार गायें खरीद लाने के लिए भेजा। ताकि कम-से-कम ग्वाले तो कार्य पर लग सकें। निश्चित ही इसमें एक मेरा स्वार्थ भी था। जी हां, ताकि जल्द-से-जल्द बाजार में पकवान उपलब्ध हो सकें। आखिर कब तक भूखे पेट भजन करे ये गोपाला? भूख से याद आया, जब तक व्यवसाय अच्छी तरह से प्रारंभ नहीं हो जाता तब तक के लिए मैंने एक "राजकीय-भंडारा" भी खुलवा दिया था; ताकि कम-से-कम मथुरा की तरह द्वारका में कोई भूखा न सोए।

अब करीब-करीब मेरे सारे कार्य समाप्त हो चुके थे। इस एक माह मैंने दिन-रात कार्य किया था। वह भी मात्र शारीरिक ही नहीं, मानसिक भी। शारीरिक कार्य तो एकबार को जरूरत के अनुसार किया भी जा सकता है, परंतु मानसिक कार्य की निश्चित ही एक सीमा होती है। अत: तीन रोज मैंने पूर्ण विश्राम लिया।सिर्फ खाना, सोना, मित्रों से गप्पें मारना व समुद्र किनारे टहलने जाना। और हां, द्वारका की सफलता का वंशी बजाकर भीना-भीना एहसास करना। ...और आप मानेंगे नहीं कि तब कहीं जाकर मैं इन्सान हो पाया था। यहां इन्सान क्या हुआ, इन्सानी तकलीफें भी प्रकट होना शुरू हो गई। वही अहंकार तृप्ति का एक बड़ा सवाल भी आ खड़ा हुआ। समस्या यह थी कि अब तक के सारे निर्णय मैंने और हमारी युवा परिषद ने ही लिए थे। नानाजी या उनके साथ आई अनुभवी मंत्रिपरिषद से इसकी कोई चर्चा नहीं की गई थी। अब नानाजी का तो ठीक, उन्हें मुझपर पूर्ण विश्वास था; लेकिन कहीं मंत्रिपरिषद का अहं चोट खा गया तो मुसीबत खड़ी हो सकती थी। वैसे मैं उनसे पूछकर कुछ करना चाहता भी नहीं था, ना ही अभी तक के कार्यों में मुझे उनकी किसी राय की आवश्यकता थी। उनका मथुरा का कुशासन मैं देख ही चुका था, मगर वहीं दूसरी ओर उनकी अवमानना करने का भी मेरा कोई इरादा नहीं था। सो बस, इस बिगड़ी बात को ठीक करने हेतु मैंने तुरंत नानाजी से कहकर उनके मंत्रिपरिषद की एक बैठक बुलवा ली। और जो निर्णय हम कर चुके थे, वे करना चाहते हैं ...ऐसा कहकर उस पर उनकी राय जानना चाही। मुझ नौटंकीबाज का क्या था, बड़ी नम्रतापूर्वक उनके सुझाव भी मांगे। वैसे हमारी कार्यदक्षता का परिणाम द्वारका उनके सामने थी, और फिर यूं भी मथुरा के कुशासन के बाद उनके पास कहने को क्या था? हमारी योजनाएं इतनी श्रेष्ठ थी कि छोटे-मोटे सुझाव देने की अहंकार तृप्ति के बाद सब स्वीकार ली गई। वैसे भी उन्हें यहां अलंकारों के तौर पर ही लाया गया था ...जो शोभा तो बढ़ा सकते हैं पर काम कुछ नहीं आते।

छोड़ो इन महानुभावों की बातें। अभी तो इधर द्वारका का निर्माण-कार्य पुरजोर चल रहा था। जन-जीवन अब पूरी तरह से सामान्य हो चुका था। व्यवसाय प्रारंभ करने की ओर भी सारे कदम उठाये जा चुके थे। चारों ओर उत्साह का वातावरण था। लोगों की प्रसन्नता ही मेरे मणि चुराने के निर्णय को सार्थक सिद्ध कर रही थी। यही मणि सत्राजित के पास भी थी, परंतु वहां वह सिर्फ उसका अहंकार बढ़ाने के काम आ रही थी। इसके विपरीत यहां यही मणि पच्चीस हजार यादवों को स्वगर्र-सा सुख दे रही थी। बावजूद इसके, मेरा मन देखो कि फिर भी मैं जाती तौर पर सत्राजित का एहसानमंद था। इसीलिए तो मैंने सर्वाधिक दुकानें, श्रेष्ठ भवन सबकुछ सत्राजित को ही दिया था। कहा जा सकता है कि यह मेरा दूसरों को श्रेय देने का अपना ही एक तरीका था। हालांकि सत्राजित पर यह मेहरबानी मुझे महंगी पड़ रही थी; क्योंकि इससे मुझे रह-रहकर भैया व सात्यकि के क्रोध का भाजन बनना पड़ रहा था। अब उन्हें कैसे समझाता कि जाने-अनजाने उसकी हम पर कितनी मेहरबानियां हैं। लेकिन जब समझा नहीं सकता तो मुझे तो उनका क्रोध सहन करना ही था।

खैर! इन दिनों मेरा मन पूरी तरह बाजार की सार्थकता में उलझा हुआ था। मैं कुछ भी गतिविधि क्यों नहीं कर रहा होता, पर मन में बाजार ही घूमता रहता था। वैसे भी मैंने कई राज्यों के बाजार देखे हुए थे। ऊपर से मुझे खरीदारी का विशेष शौक भी था। और आभूषण... आभूषण तो मेरी जान थे। यही नहीं, मुझे आभूषणों की अच्छी पहचान भी थी। मुझे यह भी मालूम था कि आभूषणों की लागत मूल्यका पता लगाना असंभव है। अत: सर्वाधिक मुनाफा आभूषणों के निर्माण में ही कमाया जा सकता है। यूं भी मथुरा में आभूषण बनाने वाले एक से एक कारीगर थे; और उनमें से अधिकांश द्वारका विस्थापित भी हो चुके थे। क्या करते बेचारे, मथुरा में तो व्यवसाय नाम की कोई चीज बची ही नहीं थी। होगा, अभी तो मैंने बाजारों की सार्थकता व आभूषणों पर विचार करते-करते एक बड़ी व्यावसायिक योजना ही बना डाली। मैं कह रहा हूँ न कि मेरा पूरा ध्यान राज्य की आवक बढ़ाने पर था। यूं भी कमाई में ही सारी समाई है। क्या कहूं आपसे, योजना इतनी अद्‌भुत थी कि मैं अपनी बुद्धिमानी पर नाज किए बगैर न रह सका। जल्दी इतनी कि फटाफट उसके अमलीकरण हेतु मैंने द्वारका के दुकानदारों की एक सभा भी बुलवा ली। और फिर अब तो सभा बुलवाने का मजा ही कुछ और था। इन सभाओं में नानाजी या भैया वगैरह तो आते नहीं थे। बस मैं

पूरा दिन राज-सिंहासन पर बैठा करता था। और आज तो सामने सत्राजित समेत सभी वही यादव-संभ्रांत भी बैठे ही हुए थे, जिन्होंने मथुरा में मेरा जीना मुश्किल कर रखा था। वहीं कहने की जरूरत नहीं कि जीवन में यह परिवर्तन मैंने ''सर्वहित की भावना व अपने कर्मों'' से पाया था।

होगा, अभी तो मेरे मन इस समय द्वारकावासियों के उद्धार के अलावा कुछ और रत्तीभर महत्वपूर्ण नहीं था। यह तो ऐसे ही बात चली तो जगत की दृष्टि से सभा का नजारा बता रहा था। ...वरना सब भुला अभी तो वे भी उत्साह में थे व मैं भी। बस उसी उत्साह के चलते मैंने बैठे-बैठे ही अपना संबोधन प्रारंभ किया। अब राजा लोग थोड़े ही खड़े होकर संबोधित करते हैं। यह हो क्या रहा है, आज बात यहां-से-वहां कुछ ज्यादा ही जा रही है। लेकिन अब नहीं, बस तुरंत मैंने बड़ी संजीदगी से संबोधित करते हुए कहा- मेरे प्यारे यादव व्यवसायियों! आप सभी एक से बढ़कर एक व्यावसायिक गुणों से भरे पड़े हैं। और इससे उत्साहित हो मैंने आपकी व द्वारका की प्रगति के लिए एक सपना देखा है जो मैं आप लोगों के सहयोग से पूरा करना चाहता हूँ। दरअसल मैं अब द्वारका को आर्यावर्त की सबसे संपन्न नगरी बनाने का सपना देखने लगा हूँ। निश्चित ही मेरा यह सपना आप लोगों के सहयोग, आपकी दूरदृष्टि व आपके व्यावसायिक गुणों के बगैर पूरा नहीं हो सकता। यदि आप लोग सहयोग का आश्वासन दें तो मैं आपसे एक योजना पर विस्तार से चर्चा करना चाहता हूँ। मुझे उम्मीद ही नहीं यकीन भी है कि इस योजना के अमलीकरण के बाद आप सभी द्वारका ही नहीं, पूरे आर्यावर्त के सफल व्यवसायी कहलाएंगे।

अब भला बड़ा व सफल बनना कौन नहीं चाहता? और एक व्यवसायी का तो यह गुणधर्म होता है। वह यही सपना संजोये तो जीता है। अत: जैसी कि उम्मीद थी, सभी ने एकमत से मेरा साथ निभाने का वादा किया। तगड़ा आश्वासन पाते ही मैं तो योजना सुनाने हेतु और उतावला हो गया। तत्क्षण मैंने योजना सुनाना प्रारंभ करते हुए कहा- हम लाख मेहनत कर लें तो भी यह तय है कि हम अपने व्यवसाय को द्वारका के बाहर फैलाए बगैर एक सीमा से ऊपर की संपन्नता नहीं पा सकते हैं। हमारे पास आभूषण व वस्त्र बनाने वाले एक-से-एक कारीगर हैं, ऐसे में क्यों न हम शानदार व आधुनिक आभूषण व वस्त्र बनाकर उसे पूरे आर्यावर्त में बेचें। और फिर अब तो हमारे पास आभूषण बनाने के लिए कुदरती मदद भी मौजूद है। द्वारका समुद्र किनारे ही बसी हुई है। समुद्र से एक-से-एक मोती, शंख इत्यादि वस्तुएं निकालकर उन्हें सोने में मढ़कर शानदार एवम् आधुनिक आभूषणों का निर्माण आसानी से किया जा सकता है। वैसे ही बाहर से सादे वस्त्र खरीदकर उन पर मोती, सोना व धागों की बुनाई कर एक-से-बढ़कर-एक शानदार पोशाकें भी बनायी ही जा सकती हैं। मुझे उम्मीद है कि यदि हम इस राह पर चलें तो अपने वस्त्रों तथा आभूषणों की आर्यावर्त से मुंह-मांगी कीमत वसूल पाएंगे। मेरा मानना है कि यदि आप लोग इसमें जोशपूर्वक रस दिखाएं तो वह दिन दूर नहीं जब हमारी दुकानें आर्यावर्त के सभी प्रमुख बाजारों की शोभा बढ़ा रही होंगी। मैं यकीन से कह सकता हूँ कि यदि हम अपने श्रेष्ठ कारीगरी वाले वस्त्र व आभूषण आर्यावर्त के सभी प्रमुख बाजारों में उपलब्ध करवा सकें, तो जल्द ही हमारे वस्त्रों व आभूषणों की आर्यावर्त में धाक जम जाएगी। इतना ही नहीं, मैंने तो यह भी सोचा है कि जरूरत पड़ने पर वस्त्र लाने व समुद्र से मोती वगैरह निकालने के लिए राजभवन से ऋण भी उपलब्ध करवाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य राजभवन आप लोगों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर काम करने को उत्सुक है। यही नहीं, यदि अन्य राज्यों से श्रेष्ठ कारीगर लाने की आवश्यकता हुई तो राजमहल उन्हें आवास भी मुहैया करवाएगा। ...क्योंकि राजमहल इस बात से अनजान नहीं कि इन दोनों व्यवसाय की जान कारीगर की कला ही होती है।

मेरी बात एकदम स्पष्ट, साफ व लाभदायी थी। किसी भी व्यवसायी को बात का मर्म समझने में देर लगने का कोई कारण न था। अपने व्यवसाय को इतना फैला सकते हैं, इसकी तो उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की होगी। अत: योजना सुन सबका उत्साह में आ जाना स्वाभाविक था। उनका उत्साह देख मुझे भी उनकी आंखों में अपना सपना साकार होता दिखाई देना लाजिमी ही था। और फिर व्यवसाय को फैलाना मेरा सपना ही नहीं, द्वारका की आवश्यकता भी थी। साफ तौर पर इन व्यवसायों में आधी भागीदारी राजमहल को रखनी ही थी। अत: एकबार यह व्यवसाय जम जाए तो द्वारका के राजकोष की चिंता हमेशा के लिए समाप्त हुई समझो। बस फटाफट व्यवसायियों के साथ सारी बातें तय कर ली। उत्साह इतना था कि तत्काल प्रभाव से सभी अपने-अपने कार्य में भी लग गए, और इसके साथ ही मेरी सबसे बड़ी व्यग्रता समाप्त हुई।

...क्या कहूं आपसे, एक के बाद एक कार्य निपटते चले जा रहे थे पर काम थे कि खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहे थे। अभी सबसे बड़ा कार्य तो ''महाराज उग्रसेन'' के राज्याभिषेक की तैयारियां करने का था। हालांकि अब उसकी तिथि आगे बढ़ाना आवश्यक हो गया था। क्योंकि बाकी कार्यों के कारण उस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दे पाया था। ऊपर से कई जगहों पर निर्माण-कार्य अब भी जारी था। वहीं मैं समारोह में ज्यादा-से-ज्यादा राजाओं को

आमंत्रित करना चाहता था। और उसके लिए उन्हें निमंत्रण भिजवाना व उन्हें समारोह में उपस्थित होने के लिए उचित समय देना दोनों आवश्यक था। साथ ही इतना भव्य समारोह आयोजित करना हो तो उसकी तैयारियों के लिए भी समय की आवश्यकता थी ही। मैंने जैसे ही भैया, उद्धव व सात्यकि से इस बाबत चर्चा की कि वे सभी मेरी बात से सहमत हो गए। और अब जब वक्त मिल ही गया था तो सोचा क्यों न मंत्रिपरिषद को भी उचित महत्व दे दिया जाए। बस हमने तुरंत नानाजी से कहकर सलाहकार परिषद की बैठक बुलवाई। वैसे भी राज्याभिषेक उन्हीं का मामला था व ऐसे मामलों में उन्हें महत्व देने में कोई हर्ज भी नहीं था।

इस तरह सारे महत्वपूर्ण कार्य निपट जाने के बाद मंत्रिपरिषद की पहली बैठक बुलवाई गई। बैठक में नानाजी तो अपने सिंहासन पर तनकर बैठे-ही-बैठे थे, पूरी मंत्रिपरिषद भी खुशी-खुशी शामिल हुई थी। मैं और भैया नानाजी के अगल-बगल में ही विराजमान थे। और जैसे ही हमने नानाजी का राज्याभिषेक धूमधाम से मनाने की बात कही कि उनकी अनुभवी मंत्रिपरिषद तो यूं ही खुश हो गई। हालांकि नानाजी आनाकानी करते रहे परंतु अंत में उन्हें भी राजी कर ही लिया गया। वैसे इसमें ज्यादा मशक्कत करनी भी नहीं थी, क्योंकि वे आनाकानी कर रहे थे - इन्कार तो कर नहीं रहे थे। खैर, इधर मौका देखकर हाथों-हाथ समारोह की जिम्मेवारी सौंपने के सभी निर्णय भी इसी सभा में ले लिए गए। इस सभा में अन्य कई नियुक्तियां भी की गई। सबसे महत्वपूर्ण तो यह कि दारुक को मेरा स्थायी सारथी नियुक्त किया गया। लगे हाथों सबों ने मिलकर अन्य राज्यों से कूटनीतिक संबंधों के विकास की जिम्मेवारी मुझे सौंप दी। साथ ही समारोह में निमंत्रण भेजने की जवाबदारी भी मुझे ही सौंपी गई। यूं भी ये दोनों कार्य मेरे ही बस के थे। खैर, इसके अलावा भैया व विकद्रु को भोजन की, तथा सात्यकि व संकर्षण को सुरक्षा की जवाबदारी सौंपी गई। उद्धव व चित्रक को साज-शृंगार की जवाबदारी सौंपी गई। ...अंत में मैंने सत्राजित को खर्चे के हिसाब-किताब की जिम्मेवारी सौंपने का निवेदन किया। मणि का कर्ज चुकाने के अलावा इसका एक दूरदर्शी कारण और भी था। दरअसल मैं उसे द्वारका में सम्मान व जवाबदारी देकर इतना घुला-मिला लेना चाहता था कि मथुरा की तर्ज पर उसे यहां षडयंत्र करने की जरूरत महसूस ही न हो। चाहता तो मैं यह भी था कि वह यादवों के सुख से इतना खुश हो जाए कि मणि-चोरी का गम ही भूल जाए। तमन्ना तो यही लिए बैठा था कि किसी तरह उसे एहसास हो जाए कि चलो उसकी मणि का सदुपयोग हो गया। ...समझते क्यों नहीं, वो फिर कोई गड़बड़ करेगा तो परेशानी तो मुझे ही उठानी पड़ेगी। दूसरा कोई थोड़े ही उससे उलझ पाने वाला था। अत: मुझे अपनी मुसीबतें कम करने हेतु भी सत्राजित को हर जगह महत्व देना ही पड़े, ऐसा था। एक तरीके से सत्राजित मेरी ऐसी मजबूरी हो गया था कि जितना ध्यान मैं स्यमंतक-मणि का रख रहा था, उतना ही ध्यान मुझे सत्राजित का भी रखना पड़ रहा था।

होगा, अभी तो मंत्रिपरिषद की प्रथम बैठक समाप्त हो चुकी थी। और मेरे लिए राहत की बात यह थी कि राज्याभिषेक की तिथि दो माह आगे बढ़ा दी गई थी। अब मेरे पास इस समारोह को सफल बनाने के लिए काफी समय था। उधर उत्साहवश सभी टुकड़ियां अपने-अपने कार्यों में अभी से लग गई थी। इधर सबकी देखा-देखी मैं भी अपने कार्यों में लग गया था। निमंत्रण-पत्र तो चार रोज में ही तैयार कर लिए गए। आमंत्रितों की सूची पहले ही बना चुका था। बस तत्काल प्रभाव से सबको निमंत्रण-पत्र भिजवाना प्रारंभ भी कर दिया। यहां तक कि महाराजा भीष्मक व रुक्मी को भी निमंत्रण-पत्र भिजवाना नहीं भूला था। सच कहूं तो उन्हें ही तो देखना था कि उनका भावी जमाई कितनी प्रगति कर गया है। ...शायद रुक्मिणी भी यह सब सुनकर मुझसे प्रभावित हो जाए। वहीं हस्तिनापुर कौरवों व पांडवों, दोनों को निमंत्रण भिजवाये थे। चंडक, महारानी पद्मावती, महाराज दमघोष समेत सभी मित्र राजाओं को तो निमंत्रण भिजवाये ही थे। वैसे अपने आश्रम के मित्र विन्द-अनुविन्द को भी निमंत्रण भिजवाना नहीं भूला था। साथ ही, अधिकांश यादव राजाओं को भी निमंत्रण भेजे ही थे। और आचार्य सांदीपनिजी को तो भूलने का सवाल ही नहीं उठता था। आज मैं जो कुछ भी था, सब उन्हीं की मेहरबानियों का तो नतीजा था। मन तो कर रहा था कि जरासंध व उसके मित्र राजाओं को भी निमंत्रण भिजवाऊं। ...वाकई उन्हें जलाने में बड़ा मजा आएगा। लेकिन तत्क्षण घबरा भी गया, सोचा क्यों सोये हुए शेरों को जगाकर मुसीबत मोल लूं?

चलो, मुसीबत मोल नहीं लेते। ...पर अभी मेरे सारे कार्य निपट गए उसका क्या? मुसीबत यह कि बाकी सब अब भी तैयारियों में लगे हुए थे। अब मैं अकेला करूं क्या? सो, फुर्सत मिलते ही मन व्यावहारिक तरीके से सोचने पर उतारू हो गया। क्या सचमुच "राज्याभिषेक-समारोह" इतना भव्य रखना व उस पर इतना खर्च करना आवश्यक है? कहीं ऐसा तो नहीं कि यह एक ग्वाले का प्रतिशोध लेने का अपना ही एक तरीका हो? कहीं इतना भव्य समारोह रखने में उन अपमानों का तो हाथ नहीं, जो हमने जीवनभर सहे थे? कहीं यह समारोह द्वारका की कम व हमारी जाती जरूरत ज्यादा तो नहीं? हो तो भी क्या! जब इकलौते हाथों इतना काम किया है तो अपने अहंकार का भी ध्यान तो रखना ही होगा। अब हमारे अहंकार का ध्यान हम नहीं रखेंगे तो दूसरा कौन रखेगा? निश्चित ही बहुत

गहरे में यह समारोह आयोजित कर मैं और भैया आर्यावर्त को दिखा देना चाहते थे कि अब हम गंवार ग्वाले नहीं रहे, बल्कि आर्यावर्त की श्रेष्ठ नगरी के ''युवराज'' हो चुके हैं।

वैसे यह गुमान मेरे व भैया तक ही सीमित हो, ऐसा भी नहीं था। उधर नानाजी के पांव भी जमीन पर पड़ने को तैयार नहीं थे। इस उम्र में इतना शानदार राज्याभिषेक किसे नसीब होता है? मैं नहीं मानता कि इस उम्र में किसी को अपने नाती से ऐसा सुख कभी मिला होगा। उधर मां देवकी की प्रसन्नता का भी ठिकाना न था। कहां तो उसका यह लाल कारागृह में जीने-मरने के बीच झूल रहा था, और कहां बड़े होते-होते इतनी भव्य नगरी का निर्माण कर बैठा था। एक मां के लिए बात ही संतोष देने वाली थी।

वैसे हमारा ही परिवार नहीं, खुशी व गुमान से तो पूरी द्वारका भी भरी नजर आ रही थी। मारे उत्साह के जहां देखो सभी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त नजर आ रहे थे। कोई घर सजाने में लगा था, तो कोई व्यवसाय जमाने में। इधर राजमहल भी पूरी तरह से समारोह की तैयारियों में जुटा हुआ था। ऐसे में यदि कोई फुर्सत में था ...तो मैं। ...यानी गंगा उल्टी बह निकली थी। यही तो ''कृष्ण'' का कमाल है। दो महीने से कम के शासन में सबकुछ बदल दिया था। कहां तो मैं अकेला कार्य करता रहता था, और कहां मेरे पास कोई काम नहीं था जबकि बाकी सभी व्यस्त थे। अब आप ही बताइए इस द्वारका को सुसंपन्न नगरी बनने से कौन रोक सकता है? ...ज्यादा सपने मत देखो कृष्ण। मदिरा व नाच-गान की बीमारी को भूल गए क्या? क्यों व्यर्थ डराते हो...? उसकी व्यवस्था तो मैं पहले ही कर चुका हूँ। कुल-मिलाकर फुर्सत का मारा मैं बेचारा ऐसे ही कभी-कभी अपने-आप से बातें कर लिया करता था। रोज संध्या समुद्र किनारे जाना मेरा नित्यकर्म हो चुका था। यूं भी समुद्र की उठती लहरों व उसकी आवाज में खोने के अलावा मेरे पास कोई काम भी नहीं था।

यह सब तो ठीक पर द्वारका आने के बाद की निरंतर व्यस्तता व अचानक मिली इस फुर्सत ने एक नया ही अनुभव करवा दिया। आप मानेंगे नहीं कि द्वारका की भव्यता व कार्यों की व्यस्तता के चलते मैं जिस रुक्मिणी को पूरी तरह भुला बैठा था, इधर फुर्सत होते ही महारानी ने पदार्पण करने में जरा भी देर नहीं लगाई। अचानक उसकी याद बहुत सताने लगी। उसकी याद क्या आई, इतनी भव्य द्वारका भी उसके बगैर सूनी-सूनी नजर आने लगी। तो, कहीं ऐसा तो नहीं कि यह इश्क-मुहब्बत सब फुर्सतियों के काम हैं? क्योंकि जब तक कार्य में व्यस्त था तब उसकी याद नहीं आई थी, और आज फुर्सत मिलते ही उसने जीना मुश्किल कर दिया था। मन बार-बार एक ही इच्छा कर रहा था कि क्या ही अच्छा हो यदि महाराजा भीष्मक या रुक्मी में से कोई समारोह में हाजरी देने पधारे ताकि मेरी प्रगति की खबर रुक्मिणी तक पहुंच सके। अब मेरा कोई बद-इरादा तो था नहीं, बात बस घर बसाने की थी। वैसे तो मैं भी कोई कम नहीं था, मैंने शेव्या व श्वेतकेतु को निमंत्रण भेजकर अपनी प्रगति की कहानी रुक्मिणी तक पहुंचाने की पूरी व्यवस्था कर ही रखी थी। यूं भी मेरे मन तो रुक्मिणी ने नहीं जाना तो सब व्यर्थ ही था। अब तो दिन-रात मेरे दिमाग में एक ही फितुर सवार रहता था कि किसी तरह रुक्मिणी द्वारका आ जाए। वाकई ऐसा हो जाए तो जीने का मजा ही कुछ और हो जाए। फिर तो जीवन अपनी अंतिम-से-अंतिम ऊंचाई भी छू ले। ...अरे; यदि क्या? वह अवश्य आएगी। उसे आना ही पड़ेगा। कृष्ण के दिल की आवाज सुनकर रुक्मिणी तुझे आना ही होगा, वरना याद रख यह ग्वाला जीवनभर एक तेरे कारण दिल का मरीज बनकर घूमता रहेगा। कुल-मिलाकर अचानक रुक्मिणी की दीवानगी धीरे-धीरे मुझे पागल करने लगी थी। और ऐसे हालात ज्यादा दिन टिके, यह अच्छा नहीं था। तत्क्षण मैंने इससे बाहर निकलने का एक उपाय भी खोज निकाला। सात रोज बाद ही पूर्णिमा थी। पूर्णिमा की रात यूं भी मेरी दुखती नस थी, और अब तो ऊपर से समुद्र का किनारा भी उपलब्ध था। मुझे विचार आया कि क्यों न समुद्र तट पर एक भव्य उत्सव मनाया जाए? यह विचार क्या आया, रुक्मिणी की याद अपने-आप कमजोर पड़ने लगी।

...यानी मेरी सोच व निशाना दोनों सही थे। यूं भी पूरे एक महीने से अधिक की थकाने वाली यात्रा के बाद हमलोग यहां द्वारका तक पहुंचे थे। साथ ही आने के बाद से ही हम सभी अपने-अपने कार्यों में दिन-रात लगे हुए थे। कार्य की अधिकता विश्राम मांगती ही है। और विश्राम सिर्फ शारीरिक न होकर मानसिक भी मिल जाए तो बात ही बन जाए। अब उत्सव से ज्यादा मानसिक विश्राम और किस चीज से मिल सकता था? और निश्चित ही ऐसे विश्राम की आवश्यकता मेरे साथ-साथ पूरी द्वारका को भी थी। यही सोचकर मैंने इस पूर्णिमा पर समुद्र किनारे एक सामूहिक उत्सव रखने की सोची, जिसमें ना सिर्फ शानदार भोजन हो, बल्कि जिसमें खेलकूद और नाच-गाना भी सम्मिलित हो। इधर जैसे ही मैंने अपना यह शुभ-विचार भैया को सुनाया, वे तो खुशी से उछल पड़े। वो ही क्यों, पूरी मित्रमंडली भी खुश हो गई। स्वाभाविक रूप से उत्सव का पूरा खर्च राजमहल को उठाना था और इस समय राजमहल यह बोझ उठाने में सक्षम था। वैसे भी घर और दुकानें बेच काफी धन एकत्रित किया गया था। सो उत्साहवश ना सिर्फ उत्सव रखना तय हो गया, बल्कि उत्सव की रूपरेखा भी तैयार कर ली गई। यही नहीं, हाथों-

हाथ उत्सव बाबत कार्यों का आवंटन भी कर दिया गया। उत्सव की सूचना घर-घर तक पहुंचाने की जिम्मेदारी उद्धव को सौंपी गई। भोजन के इन्तजाम का जिम्मा भैया ने उठाया। साथ ही मदिरा के इंतजाम की जिम्मेदारी भी भैया ने अपने नाजुक कंधों पर स्वयं ही उठा ली। ...उधर उत्सव की सूचना पाते ही पूरी द्वारका में खुशी की लहर दौड़ गई। बेचारों ने तो राज्य के खर्च पर आमप्रजा के लिए इतना भव्य उत्सव भी हो सकता है, इसकी कभी कल्पना तक नहीं की थी।

...आश्चर्य तो यह कि अबकी पूनम फटाफट आ भी गई। या यूं कहिए उत्सव के इन्तजार में समय का पता ही नहीं चला। और उत्साह तो इतना कि उत्सव दोपहर को प्रारंभ होने वाला था, लेकिन सुबह से ही लोगों का समुद्र किनारे आना प्रारंभ हो गया था। और दोपहर होते-होते तो द्वारका का पूरा समुद्र किनारा खचाखच भर गया था। महिला एवं बच्चों के लिए ही नहीं, हर उम्र के व्यक्ति के लिए उनकी रुचि अनुसार कई कार्यक्रम रखे गए थे। बच्चों के लिए तो विशेष रूप से तरह-तरह की खेल प्रतियोगिताएं रखी गई थी। खुशी की बात यह कि उत्सव के प्रारंभ से ही क्या बच्चे - क्या बड़े, सभी उत्साह से इसमें भाग ले रहे थे। जगह-जगह भोजन सामग्री से भरे पांडाल बने हुए थे। हर कोई अपने निकटतम पांडाल में जब जितनी मर्जी होती, खा आता। सचमुच समुद्र किनारे ऐसा मेला लगा था, जो देखते ही बनता था। खुशी ऐसी छायी थी कि आसमान भी उसे सम्भालने में छोटा पड़ रहा था। मुझे तो इस समय तट पर करीब पांच-हजार के करीब लोग नजर आ रहे थे। वैसे उसमें महिलाएं व बच्चे प्रमुखता से थे। उंचाइयों को छूते पांडाल व उनके चारों ओर खेलते बच्चे देखते ही बनते थे। मैं और उद्धव चारों ओर घूम-घूमकर यह नजारा देख रहे थे। हम जहां जाते लोग कृतज्ञता से झुक जाते। हम जिधर जाते, हमारा बड़े ही तहेदिल से अभिवादन हो रहा था। माताएं अपने खेलते बच्चों को देख विशेष रूप से पागल हुई जा रही थीं। उधर सात्यकि व भैया अब भी अपनी व्यवस्थाओं में ही भिड़े हुए थे। इधर रात होते-होते चांद भी निकल आया था। समुद्र चांद की रोशनी के साथ ही पगलाने लग गया था। वहीं पत्थरों से टकराती हुई लहरों की आवाजें भी काफी तेज हो गई थी। इस जमे हुए माहौल ने उत्सव का रंग कई गुना बढ़ा दिया था।

भैया ने ठीक मध्य में दो मदिरालय बनवाए थे। वैसे अब उनके खुलने का वक्त भी हो ही चुका था। मदिरालय खुलते ही क्या जवान क्या वृद्ध, सभी भूखे सांढ़ की तरह टूट पड़े थे। उधर बच्चे अब भी अपने खेल में मस्त थे। कुछ लोग समुद्र किनारे टहल भी रहे थे। कई महिलाएं अपना-अपना झुंड बनाकर बतियाने में लगी हुई थी। अन्य कई लोग समुद्र की लहरों में भीगनेका आनंद ले रहे थे। मैं ग्वाला तो सबका आनंद देख-देख कर ही पागल हुआ जा रहा था। ...हालांकि सब एक तरफ व बच्चे एक तरफ। कुछ देर खेलते, फिर पांडाल में जाकर कुछ खा आते। कुछ नहीं तो एकाध फल तो ले ही आते। खेल और खाने के बीच ही उनका उत्सव चल रहा था। सच कहूं तो उनकी चहल-कदमी और उनका आनंद सबसे निराला था। ...वाह कन्हैया, वाह! जीवन का मजा कैसे लेना व लोगों को आनंद कैसे देना, यह कोई तुमसे सीखे। मुझसे तो सीखने लायक बहुत कुछ है, पर कोई सीखे तब न? सीखना चाहे तो न?

खैर होगा! अभी तो रात चढ़ते-चढ़ते खेलकूद बंद हो गए, और सभी खाने पर टूट पड़े। महिलाएं भी उनका साथ देने पहुंच गईं। कुल-मिलाकर चारों ओर आनंद-ही-आनंद था। कोई खाने में मस्त था तो कोई पीने में। माहौल ऐसा छाया था कि चांद भी देखता रह गया होगा। हालांकि रात्रि चढ़ने से काफी पूर्व ही अधिकांश महिलाएं व बच्चे अपने-अपने घरों की ओर प्रस्थान कर गए थे। बच्चों को नींद आना स्वाभाविक ही था, वहीं दूसरी ओर महिलाओं के लिए भी अब कुछ विशेष करना बाकी नहीं रह गया था। उधर समुद्र अपने पूरे उफान पर था। चांद की रोशनी से समुद्र का पानी ऐसा चमक रहा था कि समुद्र की लहरें दुधिया रंग की नजर आ रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों लहरें चांद से नहाकर आ रही हैं। मैं तो उद्धव व कुछ युवाओं के साथ किनारे पर लगे पत्थरों पर ही बैठ गया था। बस वहां से कभी समुद्र की लहरों को तो कभी खाते-पीते यादवों को निहार रहा था।

...इधर मध्यरात्रि से वेश्याओं का नाच-गान रखा गया था। अर्थात् यादवों की तमाम कमजोरियों का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था। मेरा तो एक ही सिद्धांत था, आनंद देना है तो दिल खोलकर दो। और वह भी अपनी पसंद-नापसंद के मुताबिक नहीं बल्कि सामने वाले के शौक के मुताबिक दो। सच कहता हूँ कि मदिरा व नाच-गान का संगम हो जाए तो फिर यादव किसी राज्य के क्यों न हो, पागल हुए बिना रह ही नहीं सकते। ...तो फिर मथुरा के यादवों का तो कहना ही क्या था, वे तो इस बीमारी के सबसे बड़े शिकार थे। वाकई इन भाग्यवान यादवों को आज कृष्ण के राज में जन्नत नसीब हो गई थी। पूर्णिमा की सुहानी रात; समुद्र की पगलाती लहरें; समुद्र किनारे बैठकर मदिरा पी रहे यादव; और ठीक उनकी आंखों के सामने जहाजों पर चल रहा वेश्याओं का नाच-गान। कौन कब उठने वाला था? यह शानदार समारोह सुबह तक चलता रहा। मथुरावासियों ने ऐसा उत्सव कभी अपने सपनों में भी नहीं देखा होगा। देखने की छोड़ो, मैं नहीं मानता कि अब तक के इतिहास में कभी किसी ने ऐसा सोचा भी होगा।

...खैर! आगे यह कहने की कतई जरूरत नहीं कि दूसरे दिन पूरी द्वारका ने सिर्फ विश्राम किया। रातभर के जागरण के बाद वह भी आवश्यक था। मेरा प्रयोग सफल रहा। निश्चित ही सबको आवश्यक शारीरिक व मानसिक आराम मिल चुका था। इसमें कोई शक नहीं कि मथुरा के यादव मेरे राज में आकर धन्य हो गए थे। ऐसा स्वतंत्र मन का दिलदार राजा किसे कब नसीब होता है? ...सबसे खुशी की बात तो यह कि तत्काल प्रभाव से एकबार फिर सभी अपने-अपने कार्यों में दोगुनी ताकत से भिड़ गए थे। राजमहल भी पूरी तरह से राज्याभिषेक की तैयारियों में डूबा ही हुआ था। और अबकी काफी फुर्सत भोग चुका मैं भी पीछे नहीं था। मेरी इस समय एक ही प्राथमिकता थी कि मैं समारोह से पूर्व पूरा बाजार क्रियाशील कर देना चाहता था। वैसे मैं ही क्यों, सभी दुकानदार भी इसी प्रयत्न में लगे हुए थे। क्योंकि सभी जानते थे कि बाहर से इतने अतिथि आने पर सामान की अच्छी बिक्री हो सकती है, और उसके लिए अच्छी-खासी तादाद में श्रेष्ठ आभूषणों व आधुनिक पोशाकों का निर्माण करवाना जरूरी था। यह तो दुकानदारों की सोच थी, मैं तो उससे भी दो कदम आगे की सोच रहा था। दरअसल मैं राजमहल में उन आभूषणों व वस्त्रों की शानदार प्रदर्शनी लगवाना चाहता था। यूं तो सभी दुकानदार अच्छे व समझदार व्यवसायी थे। वे खुद हाथ आए इस अवसर को गंवाना नहीं चाहते थे। सभी अपनी ओर से दिनरात भिड़े ही हुए थे, फिर भी यह प्रदर्शनी वाली बात कर मैंने उनके उत्साह की आग में घी डाल ही दिया था। इधर मेरे सर इसके अलावा राज्याभिषेक के सफल आयोजन की भी जिम्मेदारी थी। मैं इस बात से अनजान नहीं था कि द्वारका की प्रतिष्ठा व मेरा जीवन दोनों इस राज्याभिषेक की सफलता पर टिके हुए थे। हम कोई बहुत राजाओं को तो जानते नहीं थे। जरासंध के मित्र राजाओं को बुलवाकर अपना घर दिखाने का कोई औचित्य नहीं था। ऐसे में जो थोड़े-बहुत राजे आने थे उनके थकी ही द्वारका की भव्यता की खबरें आर्यावर्त में फैलानी थी। अत: उनके आने से पूर्व सारे निर्माण-कार्यों का भी समाप्त हो जाना आवश्यक था। वहीं पूरी द्वारका को साफ-सुथरी कर उसे चकाचक कर देना भी जरूरी था। यही क्यों, जहां बाजारों का खुलना द्वारका के भविष्य के लिए जरूरी था तो वहीं रुक्मिणी तक इस शानदार राज्याभिषेक के सफल होने की खबर पहुंचाना मेरे भविष्य की आवश्यकता थी। कुल-मिलाकर मेरे समेत पूरी द्वारका के सपने इस राज्याभिषेक की सफलता पर टिके हुए थे।

...वैसे मुसीबत बाजार खुलने-मात्र की नहीं थी। उसके हजार अन्य स्वरूप भी थे। जैसे राजमहल इतना बड़ा नहीं था कि सभी सम्माननीय अतिथि उसमें समा सकें। दूसरी ओर, ऐसे सम्माननीय अतिथियों को ठहराया जा सके, ऐसे एक भी अतिथि भवन का निर्माण भी कहां करवाया गया था। अतः सबसे पहले इस समस्या का निदान पाना जरूरी हो गया था। यह तो भला हो यादव-प्रमुखों का जो इसे अपना ही समारोह मान रहे थे। मेरे एकबार कहने पर ही सभी ने बाहर से आने वाले अतिथियों के लिए अपने घर मुहैया करवा दिए थे। ...यह देख मेरा तो दिल ही भर आया था। सचमुच ऐसी राज्य-भावना का शायद ही पहले किसी राज्य ने कभी अनुभव किया हो। ...निश्चित ही यह मेरी प्रथम व बड़ी जीत थी। मैं वैसे ही सत्ता में राजा व प्रजा की बराबरी पर भागीदारी का पक्षधर था, मेरा तो स्पष्ट मानना था कि तभी कोई राज्य स्थायी तौर पर सुखी रह सकता है। चलो अच्छा था, इस बहाने मैं और द्वारका दोनों अपनी-अपनी पहली परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके थे। वैसे मुझे अब भी विश्वास नहीं हो रहा था कि सामूहिक तौर पर इतना बड़ा परिवर्तन और वह भी इतनी जल्दी आ सकता है। क्या कहूं, यह सब देख मेरे तक की बुद्धि चकरा गई थी। बात ही आश्चर्य में डालने वाली थी कि जो यादव-प्रमुख मथुरा में निरन्तर राजमहल के शत्रु बने हुए थे, वे आज कंधे-से-कंधा मिलाकर उत्सव को सफल बनाने में लगे हुए थे। निश्चित ही एक तरीके से तो उनके इस एक व्यवहार ने द्वारका के सुनहरे भविष्य की नींव डाल दी थी। उधर आमप्रजा का भी उत्साह अद्भुत था। वे भी कार्यों में कहीं किसी से पीछे नहीं थे। जब इतने लोग दिलोजान से भिड़े हुए थे तो तैयारियों में क्या मुश्किल आनी थी? शायद इस कमाल में राजभवन द्वारा रखे गए उत्सव ने भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई ही थी।

खैर! चाहे जो हो, अभी तो सबके उत्साह ने वह कमाल कर दिखाया था कि समारोह में अब भी बीस दिन बाकी थे; पर उसकी सारी तैयारियां अभी से पूर्ण हो चुकी थी। मैंने और उद्धव ने स्वयं दो बार सारी तैयारियों का जायजा लिया था। वाकई सभी ने लाजवाब काम किया था। हर एक घर सजा पड़ा था, हर एक गली साफ-सुथरी नजर आ रही थी। ऐसे में राजमहल व यादव-प्रमुखों के घर की तो बात ही क्या करना? एक तरीके से द्वारका का बच्चा-बच्चा आने वाले अतिथियों के स्वागत के लिए तैयार खड़ा था। यूं अब समय भी हो चुका था। अतिथियों का पदार्पण किसी भी समय अपेक्षित था।

और मेरे लिए जाती तौर पर खुशी की बात यह कि सबसे पहले हस्तिनापुर से पांडव ही पधारे। मैं तो उनका स्वागत कर ही धन्य हो गया था। उधर भैया भी भीम से मिलकर बड़े खुश थे। हम ही क्यों उद्धव, सात्यकि सभी उन्हें देखते ही खुशी से उछल पड़े थे। आप तो जानते ही हैं कि पांडव अतिथि होते हुए भी अतिथि कम व मित्र

ज्यादा थे। कहने की जरूरत नहीं कि हम सभी यानी मैं, भैया, सात्यकि, उद्धव व पांडवों ने मिलकर राजमहल के एक विशाल कक्ष में एक साथ ही डेरा डाल दिया था। भला समारोह अपनी जगह था, पर मित्रता का मिल रहा यह आनंद क्यों खोना? कहने की जरूरत नहीं कि ऐसे में हमारे लिए तो पांडवों के आते ही उत्सव प्रारंभ हो गया था। मेरे मन तो मित्रों की मित्रता मिल जाए उससे बड़ा उत्सव और कुछ हो ही नहीं सकता। उधर उद्धव तो पांडवों की सादगी पर ही मरा जा रहा था। इधर पांडव इतने खुश थे कि बात-बात पर बधाई देने लग जाते थे। उनकी बधाइयों का दौर था जो आने के दो प्रहर बीत जाने के बाद भी थमने का नाम ही नहीं ले रहा था। और उत्साह इतना था कि संध्या ढलने से पूर्व दो बार हम द्वारका का चक्कर लगा चुके थे। वहीं संध्या ढलते तो समुद्र किनारे धावा भी बोल दिया था। समुद्र पांडव भी पहली बार देख रहे थे, निश्चित ही समुद्र की विशालता ने उन्हें आते ही पागल कर दिया था। वाकई समुद्र व उस पर चलते जहाजों ने द्वारका को अपने अस्तित्व में आते ही बेजोड़ बना दिया था। वैसे भी मेरे किसी भी मित्र या शत्रु राजा के राज्य समुद्र तट पर नहीं थे। चारों ओर के समुद्र तटों पर राक्षसों ने अपना कब्जा जमा रखा था। यह तो जरासंध की मेहरबानी थी जो मुझे इन्सानों को छोड़ राक्षसों के बीच रहने में ज्यादा सुरक्षा महसूस हो रही थी। होगा, अभी तो यहां रात्रि को राजमहल लौट कर हमारा मदिरा का दौर भी चालू हो गया था। ...पर प्रसन्नता का दौर था जो अब भी थमने का नाम नहीं ले रहा था। भैया और सात्यकि वाकई भीम व अर्जुन का साथ पाकर मस्त हो गए थे। मदिरा के जाम-पर-जाम चल रहे थे। राजमहल के विशाल कक्ष में पांव पसारे जमीन पर ही हम सभी मित्र बैठे हुए थे। ऐसे में मुझे जाने क्या सूझी कि भीम को छेड़ने की इच्छा जागृत हुई। शायद माहौल देखकर मैं भी बेवक्त अपने रंग में आ गया था। बस, मैंने भीम को छेड़ने के लिहाज से पूछ लिया- कहो, हस्तिनापुर के उन दो पापियों का क्या हालचाल है?

भीम बोला- क्या होगा? मेरे ही भाइयों के सहयोग से वे दोनों पापी तेजी से फल-फूल रहे हैं। काश मेरा कोई भाई तुम्हारे जैसा होता?

...लो, छेड़ने भीम को गया था; छिड़ बाकी पांडव गए। किसी को भी भीम का यह कटाक्ष रास नहीं आया। मुझे भी लगा कि मैंने कुछ ज्यादा ही छेड़ दिया है। लेकिन अब जो हो चुका था- वह हो चुका था। फलस्वरूप माहौल में ऐसा सन्नाटा छाया कि सोते वक्त तक जारी रहा।

खैर! उधर जैसे-जैसे उत्सव की तिथि नजदीक आती जा रही थी, स्वाभाविक तौर पर अतिथियों की तादाद बढ़ती जा रही थी। और उसके साथ ही द्वारका की चहल-पहल भी बढ़ती जा रही थी। वैसे मेरी सबसे बड़ी चिंता भी समय रहते दूर हो चुकी थी। बाजार खुल चुके थे। सच कहूं तो राज्याभिषेक व समारोह तो अपनी जगह था, मुझे प्रमुख चिंता बाजारों की ही सताये जा रही थी। क्योंकि बाजार ही नहीं खुलता तो इतना भव्य समारोह रखने का आधा मकसद तो यूं ही चूक जाते। उधर मेरे लिए राहत की सबसे बड़ी बात यह कि कार्यों की निगरानी रखने व द्वारका की अंतिम सजावट करने विश्वकर्माजी स्वयं द्वारका आ पधारे थे। उनके आगमन ने मेरी बची-खुची चिंता भी दूर कर दी थी। उनका इस कदर रस दिखाना निश्चित ही हर दृष्टिकोण से समारोह के लिए शुभ-संकेत था। वैसे द्वारका के साथ-साथ उनकी भी प्रतिष्ठा दांव पर लगी ही हुई थी। क्योंकि द्वारका से मेरे साथ-साथ उनका भी नाम जुड़ा ही हुआ था। वैसे विश्वकर्माजी भी विश्वकर्माजी थे। वे आते ही अपने काम में भिड़ गए थे। सजावट के प्रथम चरण में ही उन्होंने पूरी द्वारका के प्रमुख मार्गों, बाजारों व मुख्यद्वार के आस-पास बेहिसाब मशालें लगवाना प्रारंभ कर दिया।

उधर समुद्र के दूसरे तट पर उद्धव अपने साथियों व सैनिकों के साथ आने वाले राजाओं, युवराजों व महामंत्रियों के स्वागत के लिए दिन-रात तैयार खड़ा रहता था। वहां से उन्हें हार-फूलों से सजे जहाजों में बिठाकर प्रमुख-द्वार तक छोड़ा जाता था। और फिर उन्हें रथों के काफिले के साथ अपने-अपने विश्राम-भवन तक पहुंचा दिया जाता था। इतना ही नहीं, हर एक प्रमुख अतिथि के साथ पांच रथ, सैनिक व अतिरिक्त सारथी भी छोड़ दिए जाते थे; ताकि वे अपनी मर्जी से जब चाहें, द्वारका-भ्रमण कर सकें। एक बात और थी, द्वारका की भव्यता जितनी पांडवों को भा गई थी, उतनी ही बाहर से आए युवराजों व राजाओं को भी चकित किए हुए थी। यह अपने-आप में द्वारका के अद्‌भुत होने का प्रमाणपत्र था। और इससे मुझ ग्वाले को बड़ा संतोष मिल रहा था।

...संतोष तो मुझे यह देखकर भी हो रहा था कि अबतक आर्यावर्त के कई छोटे-बड़े राजे व युवराज आ चुके थे। और जब वे बधाई देते तो स्वाभाविक तौर पर मैं बड़ा तन जाता। ऊपर से जैसे ही कोई नगरी की भव्यता की तारीफ करता तब तो पूछो ही मत; मैं इतना फूल जाता कि समाने के लिए द्वारका छोटी पड़ने लगती। वैसे जैसे-जैसे राजे और युवराज आते जा रहे थे, वैसे-वैसे मेरी व्यग्रता भी बढ़ती जा रही थी। क्योंकि सब बारी-बारी आ रहे थे, लेकिन वो नहीं आ रहे थे जिनका मुझे इन्तजार था। जी हां, मुझे अपने होने वाले साले रुक्मी व श्वसुर भीष्मक का

बड़ी बेसब्री से इन्तजार था। वैसे उनके आने की संभावना नहिंवत् ही थी, मैं शायद ...कुछ ज्यादा ही आशावादी हो रहा था। अब क्या करूं, मामला घर बसाने का जो था? इधर दो-चार दिन और क्या बीते कि मुझे चिंता ही पकड़ ली। साले-श्वसुर नहीं आते न सही, पर अब तक कम-से-कम शेव्या व श्वेतकेतु को तो आ ही जाना चाहिए था। यदि वे भी नहीं आए तो फिर मेरे लिए तो यह पूरा राज्याभिषेक रखना ही व्यर्थ हो जाएगा। ऐसा कैसा सोचने लगे कृष्ण! अब तुम राजा हो। और एक अच्छे राजा के लिए अपने दिल से ज्यादा महत्त्वपूर्ण राज्य की प्रतिष्ठा व प्रजा की खुशी होती है। चुपचाप लग जाओ अपने काम पर। लो, लग गए जी। अरे, और कुछ नहीं तो यह सोचकर खुश हो जाओ कि इतने सारे राजा, युवराजों व महामंत्रियों के आगमन से अब द्वारका की भव्यता की चर्चा पूरे आर्यावर्त में फैल जाना तय हो गया है। ...ऐसे में कभी-न-कभी रुक्मिणी के कानों तक भी यह खबर पहुंच ही जाएगी। और फिर भले ही शेव्या व श्वेतकेतु द्वारका न आ पायें, फिर भी तुम्हारे द्वारका बसाने की खबर तो रुक्मिणी तक पहुंच ही जाएगी। सो बस, अभी पूरा ध्यान समारोह में लगाओ व रुक्मिणी को भूल जाओ। लो, भूल गए। मेरा मन कौन-सा अपने नियंत्रण में नहीं?

चलो ये जाती बातें छोड़ अभी तो आपको द्वारका के लिहाज से एक खुशखबरी सुनाए देता हूँ। इधर आभूषण व वस्त्र काफी तादाद में तैयार हो चुके थे। मैं तो व्यवसायियों की ओर से उन्हें देखने का निमंत्रण पाते ही पागल हो गया था। निश्चित ही सभी ने अपनी ओर से कड़ी मेहनत की थी। इस हेतु व्यवसायियों व कारीगरों की जितनी तारीफ की जाए, कम थी। सचमुच ऐसे शानदार आभूषण व वस्त्र मैंने पहले कभी नहीं देखे थे। तत्काल मैंने सभी आने वाले अतिथियों के लिए राज्याभिषेक के एक दिन पूर्व राजमहल में इन वस्त्रों व आभूषणों की शानदार प्रदर्शनी रखने की तैयारी प्रारंभ कर दी। यह भी अपनेआप में एक अनूठा प्रयोग था। राजमहल के सभाकक्ष में ही शानदार सजावट के बीच इस प्रदर्शनी की तैयारियां चल रही थी। बीच में चार बड़ी पाटें आभूषणों के लिए रखी गई थी, तो उसके चारों ओर घूमते वस्त्र लटका दिए गए थे। दिन-रात की मेहनत से राजमहल का सभाकक्ष प्रदर्शनी के लिए तैयार हो चुका था।

...आज प्रदर्शन का दिन था। इसमें आने हेतु सभी राजे व युवराजों को निमंत्रण भिजवा दिए गए थे। प्रदर्शनी सूरज चढ़ते ही आरंभ कर दी गई थी। आज सबका दोपहर भोज भी यहीं रखा गया था। इधर उत्साहित राजे व युवराज भी समय से ही आना शुरू हो गए थे। हमलोग तो सुबह से ही तैयार होकर कार्यों का अंतिम अवलोकन करने पहुंच चुके थे। दूसरी ओर यादव-प्रमुख व व्यवसायी तो रातभर से यहीं डटे हुए थे। बस सबके आगमन के साथ वे पूरे उत्साह से सबको अपने वस्त्र व आभूषण दिखाने में लग गए थे। हमलोग यहां-वहां घूमते राजाओं व युवराजों से बतिया रहे थे। मानना पड़ेगा कि मेरा यह दांव ठीक पड़ा। जो भी इन आभूषणों व वस्त्रों को देखता, देखता ही रह जाता। प्रभावित हुए बिना कोई नहीं रह पाता। आप मानेंगे नहीं कि दोपहर होते-होते तो काफी आभूषण व वस्त्र खरीद भी लिए गए थे। इससे उत्साहित मैंने मौके का फायदा उठाते हुए सभी को अपने राज्यों में द्वारका के आभूषण व वस्त्रों की बिक्री के लिए दुकानें आवंटित करने का निवेदन किया। बदले में बिक्री का एक-चौथाई हिस्सा स्थानीय राजकीय-कोष में जमा करवाने का प्रस्ताव भी दिया। सभी को मेरा यह प्रस्ताव आकर्षक लगा। हाथों-हाथ सभी ने द्वारका को तीन से पांच दुकानें आवंटित करने का आश्वासन दिया। इस व्यावसायिक संधि ने मुझे ही नहीं, दुकानदारों का उत्साह भी सातवें आसमान पर पहुंचा दिया। अब तो उनके आभूषण व वस्त्र पूरे आर्यावर्त में फैल जाएंगे; इस ख्याल-मात्र से ही सब हवा में उड़ने लगे थे। मैंने भी राहत की सांस ली थी। क्योंकि इस व्यवसाय के फैलने से द्वारका के राजकीय-कोष की चिंता काफी हद तक समाप्त होने के आसार थे। वैसे व्यावसायिक-बुद्धि वाले कृष्ण के लिए खुशी की एक और बात थी; और वह यह कि आभूषणों व वस्त्रों की वर्तमान बिक्री से शायद समारोह का अच्छा-खासा खर्च निकल गया था।

खैर! अंत में राज्याभिषेक का दिन भी आ ही गया। मैं और भैया युवराजों-से कपड़े पहनकर तैयार हो गए। भैया का तो ठीक, पर मेरी तो चाल और अकड़ ही बदल गई थी। सच कहूं तो मैं तो सुबह से अभी तक अपने को दसियों बार आइने में देख चुका था। कहने की जरूरत नहीं कि राज्याभिषेक बहुत शानदार रहा। सबकुछ योजनानुसार पार पड़ गया। यही नहीं, तमाम आश्चर्यों के बीच नानाजी के विशेष आग्रह पर मेरा भी ‘‘द्वारकाधीश’’ के रूप में अभिषेक हुआ। मुझे तो इसकी कल्पना भी न थी। मैं इसके लिए तैयार भी न था। शायद इस बहाने नानाजी मुझे सम्मानित करने का हाथ लगा यह मौका छोड़ना नहीं चाहते थे। अब इतने अतिथियों के सामने ज्यादा ना-नुकर भी अच्छी नहीं थी। और इस तरह मैं आधिकारिक तौर पर ‘‘द्वारकाधीश’’ हो गया [14] ।

उधर समारोह समाप्ति के साथ ही सबका उत्साह ठंडा पड़ने लगा था। निश्चित ही लगातार के कामकाज से सभी थक गए थे। वहीं अगले चार-पांच रोज में बहुत-से अतिथि जा भी चुके थे। निश्चित ही सभी के मन में द्वारका ने

अपनी भव्यता, और उसके बाजारों ने अपने रौनक की एक गहरी छाप छोड़ी थी। खासकर रात्रि को जलने वाली मशालों ने तो सभी को दीवाना बना दिया था। सचमुच सबसे ज्यादा रंग विश्वकर्माजी की मशालों की जमावट ने ही जमाया था। सच कहूं तो यह तो समारोह की आपाधापी में मेरा उस ओर विशेष ध्यान नहीं गया था। बाकी आपको बता दूं कि संध्या होते-होते पूरे द्वारका की मशालें जला दी जाती थी। द्वारका की सड़कें, बस्तियां व उपवन सबकुछ इन मशालों की रोशनी में देखते ही बनते थे। राजमहल तो इतना सुंदर दिखता था कि उससे नजर तक हटाना मुश्किल हो जाता था। और बाजार की तो बात ही निराली थी।प्राय: आर्यावर्त के सभी बाजार संध्या होते-होते बंद हो जाते थे। पर द्वारका का बाजार मध्य-रात्रि तक खुला रहता था। रात्रि को चहल-कदमी से भरा बाजार देखते ही बनता था। आप मशालों से नहायी द्वारका की सुंदरता का अंदाजा इसी से लगा सकते हैं कि जितने दिन ये राजे व युवराज यहां रुके थे, रोज रात्रि को मशालों की रोशनी से जगमगाती द्वारका का चक्कर लगाने अवश्य गए थे। बल्कि यूं कहना चाहिए कि उतने दिन द्वारका के मुख्य मार्गों पर अतिथियों ने ही कब्जा जमाए रखा था। देर रात तक यहां-वहां चक्कर लगाते उनके काफिले देखे जा सकते थे। मशालों की रोशनी में जगमगाती द्वारका का सुनहरा रंग ऐसा आभास देता था, मानो कोई ‘‘स्वर्ण-नगरी’’ हो। यह बात यहीं नहीं थमी थी। आगे चलकर धीरे-धीरे द्वारका की रात्रि व उसके सोनेरी रंग का नशा आर्यावर्त पर ऐसा छाया था कि पूरे आर्यावर्त में द्वारका ‘‘स्वर्ण-नगरी’’ के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी।

खैर! धीरे-धीरे कर सभी चले गए थे लेकिन पांडवों को मैंने नहीं जाने दिया था। कैसे जाने देता? समारोह की व्यस्तता के कारण अभी हम ठीक से मिल भी नहीं पाए थे। वे भी पहली बार में ही मान गए थे। शायद उन लोगों को भी द्वारका व हमारी आव-भगत इतनी भा गई थी कि वे भी कुछ दिन यहां रुकना चाहते ही थे। मैं उनके इस निर्णय से बड़ा प्रसन्न था। वैसे खुशी के हजार अन्य कारण पहले से मौजूद थे। सबकुछ ठीक से पार पड़ ही गया था। समारोह भी अपेक्षा से बेहतर हुआ ही था। ...हालांकि यह सब सोचते-सोचते अचानक एक चिंता ने मुझे कुरेद-कुरेद कर सताना प्रारंभ कर दिया था। रुक्मी या महाराज भीष्मक नहीं आए, कोई बात नहीं। उस बात का इतना आश्चर्य भी नहीं था। लेकिन श्वेतकेतु और शेव्या भी नहीं आए यह निश्चित ही चिंता का विषय था। कहीं रुक्मिणी के साथ कोई गड़बड़ तो नहीं हुई है? हालांकि तत्क्षण स्वयं को सांत्वना भी दे दी थी। नहीं कन्हैया, चिंता मत कर। यदि ऐसा होता तो श्वेतकेतु तुम तक खबर अवश्य पहुंचाता। विश्वास करो, तुम्हारी रुक्मिणी पूरी तरह सलामत है। कोई और मजबूरी रही होगी, कोई कार्य सर पर आ गया होगा; वरना वह कब का आ जाता। और जहां तक रुक्मिणी का सवाल है, वह सही-सलामत ही है। ...नहीं तो मौत के वाहन पर सवार होकर भी श्वेतकेतु तुम तक खबर पहुंचाने अवश्य आ जाता। बस; जब भी इस बात को लेकर चिंता पकड़ती, इस तरह स्वयं के द्वारा स्वयं को सांत्वना देकर शांत कर दिया करता था। डर था, कहीं दिल की आग इतनी न भभक उठे कि द्वारका में मजा आना ही बंद हो जाए।

रुक्मिणी-हरण

द्वारका का जीवन अपनी ऊंचाइयां छू रहा था। मथुरा में कष्टपूर्ण जीवन बिताने के बाद स्वाभाविक रूप से द्वारका सभी को स्वर्ग-सी जान पड़ रही थी। और द्वारकावासियों की यह खुशी इस द्वारकाधीश से देखते ही बनती थी। सचमुच दूसरों को खुशी देने व उनकी खुशियों को अपने भीतर अनुभव करने से बढ़कर और कोई महान सुख इस मनुष्यजीवन में भोगा ही नहीं जा सकता है। दिल से बस एक ही दुआ निकल रही थी कि कुदरत उनकी यह खुशी हमेशा बरकरार रखे। ...वहीं कभी-कभी यह चिंता भी पकड़ लेती थी कि कहीं इन यादवों की बुरी आदतें इनका यह सुख हवा तो नहीं कर देगी? आपको तो याद होगा कि ये यादव मथुरा में मदिरा व वेश्याओं की लत के कारण कामकाज से विमुख हो चुके थे। वहां तो ठीक, पर यहां तो ये लोग बगैर कामकाज किए न तो अपना वर्तमान जीवन-स्तर बरकरार रख सकते थे, और ना राजकीय-कर चुका कर राजमहल को ही समृद्ध बना सकते थे। जबकि मैं ना सिर्फ हर द्वारकावासी को संभ्रांत देखना चाहता था बल्कि द्वारका के राजकोष को भी हीरे-जवाहरातों से लबालब भरा देखना चाहता था। लेकिन यह मेरे चाहने-मात्र से तो होने वाला नहीं था। इसमें इन कामचोरों का सहयोग अति-आवश्यक था।

वैसे मैं यह स्पष्ट कर दूं कि मैं जीवन में ना तो किसी प्रकार के आनंद के खिलाफ था और ना ही किसी वस्तु का विरोधी था; हां, परंतु इस बात का पक्षधर हमेशा रहा था कि मनुष्य स्वयं कड़ी मेहनत कर उस आनंद का अधिकारी बने। दिन-भर की कड़ी मेहनत के बाद रात्रि को कुछ क्षण का आनंद लेना मनुष्य का अधिकार है; परंतु बिना काम-काज किए दिनभर सिर्फ नशे में डूबे रहना तो मनुष्यजीवन की तौहीन हुई कि नहीं? और फिर बिना मेहनत किए और बगैर कमाये जीवनभर आनंद किया भी तो नहीं जा सकता है। ...क्योंकि धन हर तरह के आनंद व वैभव की अनिवार्य शर्त है। हालांकि हाल-फिलहाल ऐसी कोई समस्या मुझे नजर नहीं आ रही थी। सभी अपने-अपने कार्यों में गंभीरता से लगे ही हुए थे। हर कोई अपने काम के प्रति कितना संजीदा था, इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उद्धव की लाई हजार गायें भी कम पड़ गई थी, जबकि मथुरा में यही गायें चराने राजमहल को वृन्दावन भिजवानी पड़ती थी। परंतु प्रमुख सवाल यह कि यह उत्साह हमेशा बना रहे, तो अच्छा था।

और जहां तक मेरे व्यक्तिगत जीवन का सवाल है, उसका तो कहना ही क्या? अपनी ही स्वप्न-नगरी में पूरी रईसी के साथ रहना कितना आनंद दे रहा था, इसकी तो आप कल्पना तक नहीं कर सकते। और फिर जीवन इस समय हर तरीके से संघर्ष-मुक्त था। न मानसिक संघर्ष - न शारीरिक संघर्ष। ऐसा ही जीवन जीने को तो मैं बचपन से तरस रहा था। और संतोष देने वाली बात यह कि यह जीवन मैंने अपने कर्मों से पाया था। अन्यथा तो आप जानते ही हैं कि मेरा अब तक का पूरा जीवन मौत के साये में गुजरा था। कभी खूंखार जंगली जानवरों से भिड़ना तो कभी कुदरत की मार सहना। कभी कंस के भेजे हत्यारों से जूझना तो कभी जरासंध के हमलों से बचकर भागते फिरना। लेकिन आज जीवन में पहली बार दूर-दूर तक न तो कोई खतरा दिखाई दे रहा था, ना ही कोई मेरी नन्ही-सी-जान का दुश्मन नजर आ रहा था। ऊपर से पांडव जैसे मित्रों का साथ था, सो अलग।

वैसे जब मित्र साथ हैं, तो व्यर्थ शत्रुओं पर विचार क्यों करना? और जब वर्तमान इतना हसीन है तो अतीत याद क्यों करना? सो, पांडवों की ही बात की जाए। अधिकांश अतिथि जा चुके थे, राजमहल के सभी अतिथि-कक्ष खाली पड़े थे; फिर भी मैं, भैया, उद्धव, सात्यकि व सभी पांडव-बंधु अब भी एक ही विशाल कक्ष में अपना डेरा जमाये हुए थे। कोई अलग से रहने को तैयार ही नहीं था। दिन-भर एक-दूसरे की टांग-खींचना, एक-दूसरे पर व्यंग कसना। कभी किसी का कोई सामान छिपा देना, फिर एक-दूसरे पर इल्जाम लगाते हुए झगड़ना। कभी जंगलों में आखेट के लिए निकल जाते, तो कभी समुद्र में नहाने कूद पड़ते। देर रात्रि तक द्वारका की सड़कों पर रथ दौड़ाना व समुद्र किनारे बैठकर गप्पें मारना तो रोज का हो गया था। वैसे तो मेरा वंशी बजाना और फिर सबके द्वारा मेरी तारीफों के पुल बांधना भी हमारे नित्यकर्म का एक हिस्सा हो ही चुका था। और हां, एक अन्य नित्यकर्म जो बिना नागे के चला आ रहा था ...और जो एकबार भी नहीं छूटा था, वह था हम सभी के लिए छप्पन-भोग का बनना। आखिर अब मैं द्वारकाधीश था। अपने मन राजाओं का राजा था। अब राजमहल में मेरे व मेरे मित्रों के लिए छप्पन-भोग नहीं बनेंगे तो और क्या बनेगा? यूं भी मेरे भोजन-शौक से तो आप सभी वाकिफ हैं ही। वहीं इसका दूरगामी परिणाम यह भी आया कि समय बीतते द्वारका की भव्यता, सुंदरता व रात्रि-बाजारों की आर्यावर्त में जितनी चर्चा हुई, हमारे उत्सवों व छप्पन-भोगों की चर्चाएं भी उससे कम न हुई।

कुल-मिलाकर द्वारका में दिनों को पर लग गए थे। दिन कट नहीं, उड़ रहे थे। सच कहूं तो मेरे जीवन के सबसे हसीन दिन बीत रहे थे। और पांडव मेरे इन हसीन दिनों के निमित्त बने हुए थे। आप मानेंगे नहीं कि इसी दरम्यान मैंने अर्जुन से तीर चलाना भी सीखा था। सचमुच अर्जुन गजब का तीरंदाज था। मैं तो उसकी धनुर्विद्या का कायल हो चुका था। हालांकि उसके लाख सिखाने के बावजूद कई बार मेरा निशाना चूक जाया करता था। वैसे करने को तो मैं कभी-कभार भैया व भीम के साथ गदा-अभ्यास भी कर लिया करता था। कहा जा सकता है कि राजा बनते ही राजकीय हथियार चलाने में रुचि दिखाने लगा था।

वैसे यह सब मौजमस्ती अपनी जगह थी पर उधर एक गंभीर बात भी मैं गौर किए हुए ही था। दरअसल पांडवों की अब तक की बातचीत व व्यवहार से मुझे इतना अंदाजा तो लग ही गया था कि हस्तिनापुर में इनकी स्थिति ठीक नहीं। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, दुर्योधन व दु:शासन नामक पांच उंगलियों का वहां एक खूनी पंजा बन चुका है, जो रोज-रोज पांडवों का खून चूसे चला जा रहा है। आश्चर्य यह कि इसके बावजूद पांडवों में भीम को छोड़कर कोई भी खुलकर उनका विरोध करने को तैयार नहीं था, यानी स्थिति अवश्य दयनीय थी ...पर ये लोग दया के पात्र कतई नहीं थे। खुद ताकतवर हैं, चाहें तो इस जुल्म से स्वयं को बचा सकते हैं; फिर भी यदि वे ऐसा नहीं कर रहे हैं तो यह उनका अपना दुष्कर्म है जो वे स्वयं के साथ कर रहे हैं। और अपने दुष्कर्म का फल तो मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। मजे की बात तो यह कि पांडवों से वर्षों बाद मुलाकात हो रही थी पर ना तो उनकी समस्या बदली थी, ना ही उनका स्वभाव। भीम का दुर्योधन-दु:शासन पर क्रोध ना सिर्फ बरकरार था, बल्कि समय के साथ उसमें बढ़ोतरी ही हुई थी। अर्जुन के सवाल अब भी खत्म नहीं हुए थे। यही नहीं, धीरे-धीरे युधिष्ठिर की गंभीरता एक रोग बनती जा रही थी। वहीं भीम का बोलना व युधिष्ठिर का टोकना भी यथावत जारी ही था। हां, किसी में परिवर्तन नहीं आया था तो वे नकुल-सहदेव ही थे, वे पहले भी चुप रहते थे, और अब भी उनकी आवाज सुनने को मैं तरस ही जाया करता था।

वैसे यह स्पष्ट कर दूं कि उनकी जाती समस्याएं हमारी मस्ती में बाधक नहीं थी। हमारे दिन बड़े मजे में गुजर रहे थे। तभी अचानक एक दिन मेरे प्रिय युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर लौट जाना तय कर लिया। बाकी सब तो ठीक पर भीम तो छप्पन-भोग का व द्वारका के इस शानदार जीवन का इतना आदी हो चुका था कि वह वापस हस्तिनापुर जाना ही नहीं चाहता था। वैसे मैं स्वयं पांडवों को जाने देना नहीं चाहता था। लेकिन भाइयों के सामने भीम की व समय के सामने मेरी क्या चलनी थी? अच्छे दिनों को हर कोई पिंजरे में बंद कर लेना चाहता है, परंतु क्या कोई कर पाया है? उनका अपना राज्य था। उनकी अपनी एक कर्मभूमि थी। सो, आज नहीं तो कल उन्हें जाना तो था ही। स्वाभाविक तौर पर हम सभी उदास हो गए थे। हालांकि आखिरी दो रोज हमने दिनरात जश्न मनाये, लेकिन मन था कि भरने का नाम ही नहीं ले रहा था।

...आखिरकार करीब दो माह रुककर पांडवों ने वापस हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया। पांडव क्या गए...उनके साथ ही मेरे जीवन की खुशियां भी चली गई। उनके साथ मस्ती का यह आलम था कि मैं अपनी प्राणप्यारी को भी पूरी तरह से भूल गया था। ...लेकिन उनके जाते ही मुझे वापस रुक्मिणी के सपनों ने बुरी तरह आ घेरा था। द्वारका में सबकुछ था, परंतु वह न थी जिसके प्रयोजन से इस द्वारका का निर्माण हुआ था। ...पता नहीं किस हाल में होगी? उसकी याद आते ही मुझे उसकी चिंता सताने लगी। निश्चित ही उसे किसी-न-किसी संकट में होना चाहिए। यह एक आशिक की कोरी संवेदनाएं नहीं थी, मेरे पास इस निष्कर्ष पर पहुंचने के यथायोग्य कारण भी मौजूद थे। क्योंकि ऐसा कुछ न होता तो शेव्या व श्वेतकेतु मेरे राज्याभिषेक की खबर सुनते ही खुशी-खुशी दौड़े आते। कृष्ण की तरक्की का जश्न हो और शेव्या व श्वेतकेतु न आए, यह सामान्य परिस्थिति में तो होने वाला नहीं था। अर्थात् वे रुक्मिणी को छोड़कर आने की स्थिति में नहीं रहे होंगे। लेकिन रुक्मिणी पर ऐसी क्या मुसीबत आ सकती है? बस पांडवों के जाते ही या कहूं कि फिर अकेले पड़ते ही अचानक इस चिंता ने मुझे बुरी तरह घेर लिया था। हां, ये सारी चिंताएं मेरे भीतर ही चल रही थी। बाहर से मैं पूरी तरह से सामान्य बना हुआ था। यूं भी अभी द्वारका के कामकाज प्रगति पर थे। नए-नए निर्माण-कार्य चालू ही थे। और अभी तो द्वारका का व्यवसाय भी पूरी तरह नहीं जम पाया था। निश्चित ही ऐसे में अपने राजा की उदासी द्वारकावासियों के उत्साह को ठंडा कर सकती थी। यह अच्छा था कि इस समय सत्राजित का पूरा ध्यान अपने व्यवसाय में लगा हुआ था। अर्थात् रुक्मिणी को छोड़ चारों ओर सुकून-ही-सुकून था। लेकिन रुक्मिणी के बगैर का सुकून भी क्या सुकून? असली सुकून तो तभी आ सकता था जब वह द्वारका आए।

खैर! और भी सुख-दु:ख हैं जमाने में आशिकी के सिवाय। और इस संदर्भ में यहां खुशखबरी यह थी कि सत्राजित यहां इतना घुलमिल गया था कि वह यहां आने के बाद बमुश्किल एकबार ही अपने राज्य में वापस गया

था। यानी वह भला मानुस हो गया था। ना तो किसी को मेरे खिलाफ भड़का रहा था और ना ही मेरे विरुद्ध कोई षडयंत्र ही रच रहा था। दूसरी ओर आम द्वारकावासी भी कामकाज में पूरी दिलचस्पी ले रहे थे। अब जब चारों ओर सब ठीक चल रहा है तो एक रुक्मिणी का रोना कब तक रोता रहता? मैं भी रोज संध्या होते ही समुद्र किनारे पहुंच जाया करता था। अब समुद्र किनारे जाऊं व वंशी न बजाऊं, यह कहां होने वाला था? लेकिन यहीं से मुसीबत फिर शुरू हो जाती। वंशी की तान छिड़ते ही रुक्मिणी याद आ जाती। अब आ जाती तो आ जाती। ...उससे बातें कर आता व उसे आश्वासन भी दे आता। बस जीवन इसी तरह कट रहा था। दिन-भर काम-काज में बीत जाता था, रात्रि होते ही महारानी आ टपकती थी। कहा जा सकता है कि भीतर रुक्मिणी की यादों को संजोये यहां-वहां बिना रानी का ''राजा'' बना घूमता फिर रहा था।

वैसे इन दिनों मैं अपने भीतर एक और परिवर्तन महसूस कर रहा था। आजकल मैंने मुस्कुराना कुछ ज्यादा ही शुरू कर दिया था। निश्चित ही यह भीतर के दर्द को छिपाने की कोशिश थी। कहा जा सकता है कि द्वारकाधीश बनते ही दूसरों के साथ-साथ स्वयं को भी मूर्ख बनाना सीख गया था। वैसे भी प्रगति अक्सर अपने साथ बुराइयां लेकर आती ही है। आने दो, अभी तो मेरी हालत यही थी। बाहर से द्वारका के कामकाजों में उलझा था तो भीतर रुक्मिणी नाम की आग दिल में जलाये हुए था। और उस पर जुल्म यह कि न वो आते थे, ना उनकी खबर ही आती थी; मुसीबत तो यह भी कि इस कमबख्त दिल से उनकी याद भी नहीं जाती थी। कहने को तो सबकुछ था द्वारका में, मेरा सपना साकार हुआ था, ग्वाले से राजा तक का सफर तय किया था ...यानी कायदे से सिर्फ आनंद और उत्सव का समय था; फिर भी दिल का मारा यह कृष्ण अक्सर गुमसुम रहने लगा था। यही नहीं, मैं मित्रों से नजरें भी चुराने लग गया था कि कहीं कोई मेरे दिल का राज मेरी आंखों में न देख ले। सच कहूं तो जीवन में पहली बार दिल के मारों का कितना बुरा हाल हो जाता है, इसका साक्षात् अनुभव कर रहा था।

...अब जैसे हर इन्तजार की एक इन्तिहा होती ही है, वैसे ही, इस इन्तजार को भी एक-न-एक-दिन खत्म तो होना ही था। आखिर एक दिन शेव्या व श्वेतकेतु ''यार'' की खबर लेकर आ ही गए। मैं तो उनके आने की खबर सुनते ही खुशी मिश्रित जिज्ञासाओं व चिंता मिश्रित उत्साह में खो गया। ऐसे दो विभिन्न छोर पर खड़े भावों का एकसाथ अनुभव करने का भी यह जीवन में पहला ही मौका था। उस दिन दोपहर का वक्त था और मैं कक्ष में ही विश्राम फरमा रहा था। सेवक ने खबर क्या दी सीधे दौड़ा-दौड़ा सभाकक्ष में जा पहुंचा। देखते ही ना सिर्फ गले मिला बल्कि उनके हावभाव से रुक्मिणी के हालचाल बाबत अंदाजा लगाने की कोशिश भी करने लगा। हालांकि एक तो आशिक व ऊपर से हजारों जिज्ञासाओं से घिरा - अंदाजा लगे भी तो कैसे? कोई बात नहीं, अभी तो इससे पहले कि ''रुक्मिणी'' नाम का उच्चारण भी उनके मुख से निकल जाए मैं चुपचाप उनको सीधे अपने कक्ष में ले गया। कक्ष के द्वार कसकर बंद करके हम तीनों वहीं मेरे बैठक-कक्ष में बैठ गए। हां, अब ठीक है। दोनों ने बातचीत का दौर प्रारंभ करते हुए मुझे द्वारका की बधाई दी व नगरी की तारीफ भी की। ...पर मेरा मन इन बातों में कहां? उधर शेव्या को मेरी बेचैनी भांपते क्या देर? बस उसने तुरंत कुंडिनपुर के हालचाल एक ही सांस में बता दिए। उसने जो कुछ बताया उसका सार यह था कि राज्याभिषेक का निमंत्रण तो उन्हें समय रहते मिल गया था, ...आने की इच्छा भी बहुत थी, परंतु दुर्भाग्य से उसी समय जरासंध शिशुपाल के साथ कुंडिनपुर आया हुआ था। यही नहीं, उन दोनों का लगातार रुक्मी के साथ गुफ्तगू का दौर जारी था। और इधर जरासंध व शिशुपाल के टपकने से रुक्मिणी काफी विचलित रहने लगी थी, ऊपर से शिशुपाल भी अक्सर किसी-न-किसी बहाने से रुक्मिणी के निकट आने का प्रयास करता ही रहता था। अंत में शिशुपाल की बदतमीजियों से रुक्मिणी इतनी विचलित हो गई कि वह मुझे लेकर पितामह कैशिक के यहां रहने चली गई। ऐसी परिस्थितियों में हमारा रुक्मिणी को, हां हां...तुम्हारी रुक्मिणी को अकेला छोड़ना योग्य नहीं था। यही कारण था कि हम चाहकर भी राज्याभिषेक में नहीं आ पाए थे।

मैंने मन-ही-मन सोचा, चलो यह तो आपने ठीक ही किया, ...लेकिन रुक्मिणी का हुआ क्या? श्वेतकेतु मेरी भाव-भंगिमाओं से समझ गया कि मैं क्या सुनना चाहता हूँ। तुरंत बातचीत की बागडोर उसने अपने हाथ में ली। उसने बताया कि इन तीनों ने अबकी अपनी योजना को इतना गुप्त रखा है कि महाराज-भीष्मक तक को इसकी कोई गंध नहीं लग पाई है। लेकिन त्रिपुटी की हरकतों से इतना तो तय ही है कि रुक्मिणी की मर्जी या उसके जीवन की परवाह किए बगैर ये तीनों मिलकर ''शिशुपाल-रुक्मिणी'' का विवाह करवाकर ही दम लेंगे। दूसरी तरफ तुम्हारे द्वारका आकर बस जाने के बाद वे अब तुम्हारी ओर से भी पूर्णत: निश्चिंत हो चुके हैं। अबकी उन्हें तुम्हारी ओर से ''रुक्मिणी-स्वयंवर'' में किसी प्रकार के विघ्न डाले जाने की कोई उम्मीद नहीं है। यह सब सुन मैं मन-ही-मन झल्लाया, यह सब तो पुरानी समस्या है... पर रुक्मिणी किस हाल में है, वह तो कहो। अबकी श्वेतकेतु मेरी झल्लाहट ताड़ गया व बात समेटते हुए सीधे निष्कर्ष पर आ गया। वह बड़ी गंभीरता से बोला- कृष्ण! कुल-मिलाकर

आत्मविश्वास से भरी इस त्रिपुटी ने एकबार फिर रुक्मिणी का स्वयंवर अगले माह की अक्षय-तृतीया को रखा है। इस बार मथुरा को भी निमंत्रण भेजना तय हुआ है। लेकिन दुर्भाग्य से तुम मथुरा में हो नहीं, और द्वारका को निमंत्रण भेजा नहीं जा रहा।

लो कर लो बात! यानी जहां मैं हूँ वहां निमंत्रण नहीं, और जहां निमंत्रण है वहां मैं नहीं। अर्थात् मैं तो फिर एकबार अपनी जान के स्वयंवर में अनामंत्रित ही रह गया। इस एक क्षण में मेरे मन में कई विचार आए और गए। लेकिन छोड़ो उनको... अगले ही क्षण मैंने शेव्या से सीधा सवाल पूछा- तो इस बाबत रुक्मिणी की प्रतिक्रिया क्या है? और इस समय उसकी तबीयत कैसी है?

इस पर शेव्या ने बताया कि रुक्मिणी किसी भी कीमत पर शिशुपाल से विवाह को तैयार नहीं है। यही नहीं, वह अपना विरोध जताने के लिए पितामह कैशिक के यहां रहने भी चली गई है। पितामह भी महाराज भीष्मक व रुक्मी से इस स्वयंवर के बाबत अपना विरोध दर्ज करा चुके हैं। उधर महाराज तो फिर भी पितामह कैशिक की सुनने को मजबूर हैं, लेकिन रुक्मी किसी की कोई मर्यादा नहीं समझता है। उसने दोनों से स्पष्ट कह दिया है कि रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से होकर रहेगा।

...बात साफ थी। समझने जैसा बात में था क्या? उसी पुरानी असफल कहानी को नए सिरे से अंजाम देने की कोशिश की जा रही थी। सवाल एक ही था कि पिछली बार तो मैं किसी तरह अपने सपनों को चकनाचूर होने से बचा पाया था, क्योंकि मथुरा की आन का बहाना मेरे साथ था। परंतु अब क्या? अबकी स्वयंवर रुकवाने जाऊं भी तो किस बहाने से? द्वारका की आन! नहीं...नहीं...नए राज्य की आन क्या और शान क्या? और फिर कुंडिनपुर का द्वारका से रिश्ता ही क्या है? अर्थात् अबकी स्वयंवर में विघ्न डालने जाने का मतलब था, दिल का राज सभी पर जाहिर हो जाना। फिर तो सभी को पता चल जाएगा कि मैं रुक्मिणी को दिल दे चुका हूँ। और ऐसा होने पर जरासंध, शिशुपाल व रुक्मी मिलकर ''रुक्मिणी-शिशुपाल'' का विवाह करवा कर ही दम लेंगे। क्योंकि मेरा दिल दुखाने का हाथ लगा यह मौका वे कतई नहीं छोड़ेंगे। अर्थात् वहां जाने की सूरत में तो रुक्मिणी-शिशुपाल विवाह हुआ ही समझो। और गौर करने लायक बात यह कि न जाने पर भी तो विवाह हो ही रहा है। कुल-मिलाकर अबकी घुघ्घी ऐसी पांसी थी कि रुक्मिणी मेरे हाथों से गई ही समझो। तो क्या मुझे उसे भुलाना होगा? यह तो संभव ही नहीं। जैसे स्वयं को भुलाने का मनुष्य के पास कोई उपाय नहीं, वैसे ही रुक्मिणी को भुलाने का इस ''कृष्ण'' के पास कोई उपाय नहीं। यानी अहंकार बुरी तरह पांस गया था। वह बेचारा रुक्मिणी को बचाने जा नहीं सकता था और उसके बगैर जीने की कल्पना तक करना उसके लिए असंभव था। हालांकि बात यहीं समाप्त नहीं हो रही थी, वह उसे कष्ट में भी नहीं देख पा रहा था। उस पर मजे की बात यह कि यहां अहंकार बुरी तरह पांसा पड़ा था, उधर ''द्रष्टा'' बड़ा खुश हो रहा था। सोच रहा था, अब खेल देखने में मजा आएगा।खेल तो वाकई जोरदार जम गया था। बमुश्किल द्वारका बसाकर जरासंध से एक जान तो बचा ली थी, लेकिन दूसरी जान बुरी तरह उसकी मुठ्ठी में पांस गई थी।

...इधर मुझे इस कदर मायूस व विचारों में खोया देखकर शेव्या जोर से हंस पड़ी और हंसते-हंसते ही बोली- क्या भैया...? ऐसी भी क्या बेकरारी! लो आंखें बंद करो। देखो मैं आपके लिए कितनी शानदार भेंट लाई हूँ।

...अब तो द्रष्टा के साथ-साथ शेव्या भी मजा लेने लगी, और वो भी उससे दो कदम आगे बढ़कर। वह ना सिर्फ हंस रही है, बल्कि ऐसी हालत में मेरे लिए भेंट लाकर मेरी हंसी भी उड़ा रही है। अब भला इस समय मुझे शेव्या की भेंट में क्या रस? ऊपर से कह तो ऐसे रही है मानो रुक्मिणी को साथ लेकर आई हो! खैर, मेरा दिल तो टूट ही रहा था, अब शेव्या का दिल क्या तोड़ना...? यही सोचकर मैंने झट से आंखें बंद कर ली। और मेरे आंख बंद करते ही फट से उसने एक पत्र मेरे हाथ में थमा दिया। मेरे तो हाथ ही कांपने लगे। लगा जैसे कोई सपना देख रहा हूँ। पत्र रुक्मिणी का था! मुझे तो विश्वास ही नहीं हो रहा था। रुक्मिणी और मुझे खत लिखेगी? आप मानेंगे नहीं कि मैंने स्वयं को चिकोटी भरी। तय करना चाहता था कि कहीं कोई सपना तो नहीं देख रहा। लेकिन नहीं, सच था। रुक्मिणी ने ही पत्र लिखा था। मारे खुशी के मैंने झट से पत्र खोला। अब इन्तजार क्यों? पत्र पढ़ा तो पढ़ता ही रह गया। पत्र में लिखा था:

कृष्ण!

आपको शेव्या से मालूम पड़ ही चुका होगा कि अगले माह की अक्षय-तृतीया को फिर मेरे स्वयंवर का नाटक रचा जा रहा है। जरासंध व रुक्मी की जिद व शिशुपाल की इच्छा देखते हुए लगता है इस बार मेरा विवाह शिशुपाल से होकर रहेगा। यदि ऐसा हुआ तो मैं तो जीते-जी नरक में पहुंच जाऊंगी। इधर कोई आसरा नहीं। क्योंकि पिताजी भी रुक्मी के आगे बेबस हो गए हैं, और दादाजी की कोई सुनने को तैयार नहीं। ऐसे में दूर-दूर तक कोई नजर नहीं आता, जो मुझे इस भयानक संकट से उबार सके। ...इस

मायूसी की हालत में एक आपकी ही शक्ल उभरकर सामने आ रही है। ...वैसे तो मेरा व आपका कोई विशेष रिश्ता नहीं, लेकिन मेरे और आपके बिल्कुल संबंध नहीं हैं, शायद ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि पिछली बार आपने स्वयंवर रुकवाकर कुछ समय के लिए मुझे नया जीवन दिया ही था। फिर भी एक उलझन है और वह यह कि आप का व्यक्तित्व बड़ा अजीब है। कभी आप रणछोड़ बन जाते हैं तो कभी रणवीर। यदि इस समय आप रणवीर हों तो क्या मैं आपसे एकबारफिर स्वयंवर रुकवाने की अपेक्षा रख सकती हूँ? आपको अपने नए राज्य की मुबारकबाद देते हुए क्या एक लाचार राजकुमारी एकबार फिर आपसे मदद की अभिलाषा रख सकती है?

रुक्मिणी [15]।

...क्यों नहीं? क्यों नहीं? अब तुमसे क्या कहूं मेरी तो सारी उलझन ही दूर हो गई। तुम क्या जानो दिल का मारा यह ग्वाला तो वहां आने का बहाना ही ढूंढ रहा था। बस पहुंचा ही समझो। लेकिन एक नाराजगी है तुमसे। अरे! कम-से-कम आपकी रुक्मिणी ही लिख दिया होता। खैर कोई बात नहीं; अभी इतने से ही काम चला लूंगा। पत्र क्या मिला, मैं तो हवा में उड़ने लगा। पत्र में भले ही इजहारे-मुहब्बत न सही, मुझे अपना तो माना था। मुझे वीर तो माना था। मुझसे अपेक्षा तो की थी। और मुहब्बत का क्या है? जब एकबार बचाने पर अपेक्षा जाहिर की है तो दूसरी बार बचाते ही प्रेम का इजहार भी कर देगी। ग्वाले के तो दिन ही फिर गए थे। द्वारका का सुरूर तो चढ़ा ही हुआ था, अब रुक्मिणी नामक नशा भी चढ़ गया था। ...कहां वृन्दावन का यह गंवार-ग्वाला पहली बार मथुरा जैसा शहर देखने गया था, और वहीं पहली बार रुक्मिणी के रूप में किसी राजकुमारी के दर्शन भी किए थे। आपको याद होगा, उसका रुआब, उसकी अदा और उसके वस्त्र देखते ही मैं कैसे उसका दीवाना हो गया था। किस बुरी तरह उस पर मर मिटा था। उसी वक्त इस ग्वाले ने एक सपना देखा था, ‘‘राजकुमारी-रुक्मिणी’’ का सपना। यही नहीं, उस सपने को साकार करने हेतु उस ग्वाले ने स्वयं को रुक्मिणी के लायक बनाया, और देखते-ही-देखते वह एक ग्वाले से द्वारकाधीश हो गया। और आज उसी सपनों की राजकुमारी रुक्मिणी ने उस ग्वाले को पत्र लिखा। उसे अपना माना। उससे मदद मांगी। आज मेरी ही नहीं, दुनिया के हर उस आशिक की जीत हुई है जो प्रेम में अपनी इच्छा-शक्ति भी लगा देते हैं। सचमुच यदि मनुष्य की इच्छा दृढ़ हो तो वह क्या और किसे नहीं पा सकता?

क्या करूं? मेरे कदम जमीन पर पड़ने को तैयार ही नहीं थे। मेरा मन चांद-तारों से बातें करने लगा था। और हृदय का तो कहना ही क्या, वह तो आसमान को भी चीरता हुआ कहीं आगे निकल चुका था। क्योंकि मेरे मन रुक्मिणी का पत्र पाना द्वारका निर्माण से भी बड़ी उपलब्धि थी। खासकर यह देखते हुए कि यह ‘‘कृष्ण’’ की ‘‘कृष्ण के लिए’’ एक निजी उपलब्धि थी। हालांकि मैं दीवाना हुआ था, पर पागल कतई नहीं... क्योंकि मैं यह भी समझ ही रहा था कि यह पत्र रुक्मिणी ने लिखा कम और शेव्या ने उकसाकर उससे लिखवाया ज्यादा होगा। पिछली बार के स्वयंवर-निरस्ति के किस्से रुक्मिणी को इतने बढ़ा-चढ़ाकर सुनाये गए होंगे कि डूबते को तिनके का सहारा। ...और उसी आवेश में आकर रुक्मिणी ने यह पत्र लिख दिया होगा। अब आप समझ गए होंगे कि मैं आशिक अवश्य था, लेकिन बेहोश आशिक कतई नहीं था... जो व्यर्थ की खुशफहमियां पालता फिरूं।

खैर! अभी तो शेव्या का जितना आभार मानूं कम था। उसने अपनी तरफ से तो मेरे और रुक्मिणी के बीच एक संवाद स्थापित कर ही दिया था। अब आशिकी पर बचा हुआ रंग तो मुझ आशिक को ही चढ़ाना था। इधर शेव्या व श्वेतकेतु के साथ रुक्मिणी की बात करते-करते सात दिन कहां बीत गए पता ही न चला। तो इसमें कौन नई बात है? इस आशिक के रुक्मिणी के सपने देखते-देखते दस साल कहां बीत गए, पता चला क्या...? बस आठवें रोज दोनों ने जाने की इजाजत मांगी। मन तो करता था उन्हें कुछ दिन और द्वारका में ही रोक लूं। लेकिन दिल की भलाई दोनों के लौट जाने में ही थी। क्योंकि इस समय रुक्मिणी को दोनों की सख्त आवश्यकता थी। और रुक्मिणी की जरूरत मेरी जरूरत थी। ऐसे में व्यर्थ आग्रह करने का तो सवाल ही नहीं उठता था। आप मानेंगे नहीं कि उन्हें आए सात दिन हो गए थे लेकिन अबतक मैंने उन्हें भैया या उद्धव से नहीं मिलवाया था। कारण साफ था, चर्चा रुक्मिणी व उसके स्वयंवर की चल रही थी जो मैं भैया व उद्धव के सामने करना नहीं चाहता था। लेकिन आखरी रात सबको बुलाना ही पड़ा। सात्यकि को भी बुलवाया। सबने भोजन साथ में किया। जाहिरी तौरपर उस दिन रुक्मिणी की कोई बात नहीं की। और इसके साथ ही अगले दिन सुबह दोनों को बिदा कर दिया।

इधर रुक्मिणी के पत्र ने मेरी एक समस्या तो सुलझा दी थी, लेकिन मुझे एक दूसरी बड़ी उलझन में डाल दिया था। पिछली बार तो मथुरा की आन का सवाल बताकर रुक्मिणी का स्वयंवर रुकवाने सबको उकसाकर अपने साथ ले गया था, लेकिन अबकी किस बहाने से सबको ले जाऊंगा? खासकर भैया को कैसे समझाऊंगा? और अकेला

गया तो स्वयंवर क्या खाक रुकवा पाऊंगा? ...चाहे जो हो, मामला बिल्कुल साफ था। एक मासूम व दुखियारी राजकुमारी ने मदद मांगी थी। अर्थात् मामला प्रेम की हदों से भी आगे एक अबला नारी को बचाने पर जा अटका था। और अबला व मजबूर नारी की पुकार तो ''कृष्ण'' को सुननी ही पड़ेगी; यानी हर कारण से रुक्मिणी को बचाने तो जाना ही था। अब कैसे बचाया जाए, सिर्फ उस पर विचार करना था। और अभी स्वयंवर की तिथि डेढ़ माह दूर थी। अर्थात् उपाय खोजने के लिए काफी समय था। यूं भी अंतिम हथियार के रूप में रुक्मिणी का पत्र तो मेरे पास था ही। भैया को समझा दिया जाएगा कि मेरा तो बस नाम है, अबला राजकुमारी ने पुकारा तो द्वारका को ही है। फिर भी मुझे अभी किसी से कुछ कहने की जल्दी नहीं थी। क्योंकि राज दिल के हों या योजनाओं के, ठीक समय पर खोले जाएं तो ही इच्छित परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। चलो छोड़ो भविष्य की योजनाओं को। अभी तो मेरे हाल वाकई जानने लायक हो गए थे। रुक्मिणी का पत्र क्या आया कि अचानक पूरी द्वारका कुछ ज्यादा ही रंगीन नजर आने लगी थी। अमावस की रात भी पूर्णिमा-सी भास रही थी। माना दिल की चोट खाया मनुष्य किसी काम का नहीं बचता है, लेकिन लगता है दिल को जीतने वाला भी ज्यादा-से-ज्यादा दीवाना होकर रह जाता है। अर्थात् दोनों ही सूरतों में दिल के मारों का हाल तो बेहाल ही होता है। होने दो... इससे कोई आशिकी करना थोड़े ही छोड़ा जाता है?

खैर, यह भी छोड़ो। अभी तो स्वभाव से मजबूर यह आशिक शेव्या के माध्यम से रुक्मिणी को तगड़ा आश्वासन भिजवा ही चुका था। मैंने शेव्या से रुक्मिणी को बेधड़क होकर यह कहने को कह ही दिया था कि स्वयंवर हरहाल में रोका जाएगा, यह कन्हैया का वचन है। और फिर यह कोई कोरा आश्वासन थोड़े ही था, स्वयंवर को तो हरहाल में टलना ही था, क्योंकि मेरी रुक्मिणी का विवाह मेरे सिवा किसी और से हो ही कैसे सकता था? और अब तो स्वयं रुक्मिणी का बुलावा आया है। एकबार को जमीन-आसमान एक हो सकते हैं, पर अब यह स्वयंवर किसी सूरत में नहीं हो सकता। यानी अभी जब कुछ और नहीं सूझ रहा था तो मन-ही-मन बार-बार यही प्रतिज्ञा व यही संकल्प दोहराता चला जा रहा था। दरअसल बार-बार दोहराकर मैं ना सिर्फ अपना आत्मविश्वास बढ़ा रहा था, बल्कि एक तरीके से स्वयं को आश्वस्त भी कर रहा था। ऐसा भी नहीं है कि इन दिनों मैं मन-ही-मन सिर्फ अपने मन से ही खेल रहा था, बल्कि चैतन्य के तल पर भी पूरी तरह संजीदा था। योजना पर ना सिर्फ चिंतन चालू था बल्कि उसे राह भी दिखा ही रहा था। सबसे पहली बात तो यह कि मैं स्वयंवर के ठीक तीन दिन पहले ही कुंडिनपुर पहुंचना चाहता था। क्योंकि जल्दी पहुंचने पर आने की गुप्तता बनाये रखना मुश्किल था। साथ ही यह भी तय था कि मेरे आने की सूचना मिलते ही वे लोग पूरी ताकत लगाकर स्वयंवर निपटाने हेतु कटिबद्ध हो जाएंगे। न जरासंध, न रुक्मी, न शिशुपाल का अहंकार दूसरी बार अपने ही राज्य में अपने ही द्वारा आयोजित स्वयंवर में हार का मुंह दोबारा देखना पसंद करेगा। खासकर तब जब उस हार का निमित्त मैं बनने वाला होऊं। वहीं एक और बात थी। पिछली बार तो ''मथुरा की आन'' के बहाने का राजकीय कारण मेरे साथ था; अत: मैं सुरक्षित था। लेकिन अबकी किसी राजकीय-कारण का बल मेरे साथ नहीं है, यानी मेरे पदार्पण की गुप्तता जाहिर होने पर सीधी जान पर बन आ सकती थी। ऐसे में ''जान'' को बचाना तो दूर, खुद अपनी जान गंवानी पड़ सकती थी। ...वैसे होने को तो स्वयंवर एक और कारण से भी निरस्त हो सकता था, यदि रुक्मिणी फिर बेहोश हो जाए। लेकिन इस बार रुक्मिणी के बेहोश होने की संभावना भी नहिंवत् ही थी। ...क्योंकि स्वयंवर रुकवाने का तगड़ा आश्वासन मैं पहले ही दे चुका था। ऊपर से शेव्या को उसका विशेष ध्यान रखने की हिदायत भी मैंने दे ही रखी थी। देखा जाए तो इस तरह मैंने अपने ही हाथों स्वयंवर रुकने की एक वजह पर खुद पानी फेर दिया था। यानी अब स्वयंवर रुकवाने हेतु मुझे अपने कर्मों के भरोसे ही रहना था। तो इसमें कौन-सी नई बात थी? यूं भी मनुष्य को अपने कर्मों के अलावा कोई दूसरा आसरा होता भी नहीं। चलो, यह सब चिंतन तो मेरे भीतर चल ही रहा था। और यह भी स्पष्ट था कि इन सब चिंतनों के चलते अब द्वारका में तो मन लगने का प्रश्न ही नहीं उठता था। बस दिन-रात रुक्मिणी के सपने देख दिन कट रहे थे। पर यह मन की बात थी, शरीर से भी तो कुछ-न-कुछ कर्म करते ही रहना था। सो समुद्र किनारे टहलने व वंशी बजाने का आनंद भी कभी-कभार ले लिया करता था, पर वह भी बने वहां तक अकेले। आप तो जानते ही होंगे कि घायल आशिक को वैसे ही एकांत पसंद होता है। मित्र भी उसे काटने दौड़ते-हुए-से लगते हैं। सो, अपने को तो समुद्र की लहरें व वंशी की धुन बराबर थी। कम-से-कम इस बहाने मैं अपने ही मन से रुक्मिणी की बातें कर शांत तो हो जाया करता था। ...लेकिन यह सब भी कब तक? अब स्वयंवर में सिर्फ सोलह दिन बाकी रह गए थे। यानी कि अच्छाखासा समय तो कट ही चुका था। यही समय की विशेषता होती है। समय अच्छा हो या बुरा, आप दुखी हों या प्रसन्न; समय अपनी गति से कट ही जाता है। और कटते समय के साथ नया कर्म पुकार ही लेता है। यानी अब स्वयंवर रुकवाने के चक्र गतिमान करने का समय भी आ ही चुका था। ...और फिर आपसे क्या छिपाना, योजना तो मैं कबका बना चुका था। तभी तो इतनी निश्चिंतता से विचरण कर रहा था। कुल-मिलाकर आशिक का एकान्तवास समाप्त हो चुका था।

लो, जब एकान्तवास का समय जा चुका तो प्रकट भी हो गए। बस मैंने तुरंत भैया, सात्यकि, उद्धव, दारुक व अन्य मित्रों की एक सभा अपने कक्ष में ही बुलवाई। अब भला इन लोगों की सहायता के बगैर स्वयंवर कैसे रुकवाया जा सकता था? बस संध्या सभा का समय होते ही सभी मेरे शयनकक्ष में एकत्रित हो चुके थे। और निश्चित ही बिना किसी औपचारिकता के सब यहां-वहां फैल के बैठ गए थे। हां, पर मेरे इस तरह बुलाये जाने का औचित्य अब भी किसी की समझ में नहीं आ रहा था। तो समझाने को मैं बैठा तो हुआ था। बस सबके आते ही मैंने चुपचाप रुक्मिणी का आया पत्र भैया के हाथों में थमा दिया, और मैं बड़ी गंभीर मुख-मुद्रा बनाकर बैठ गया। देखते हैं, वे क्या प्रतिक्रिया देते हैं? निश्चित ही इस समय मेरे दिल की धड़कनें काफी तेज हो गई थी। मेरी नजर लगातार पत्र पढ़ते हुए भैया के हाव-भावों पर बनी हुई थी। पर भैया-भी-भैया थे। पत्र पढ़ते ही भैया एक गहरे चिंतन में डूब गए। अब यह क्या बात हुई...? चिंतन तो उन्हें रास आता नहीं था! कहीं कुछ उल्टा ही न विचार बैठें। पर मेरे पास उसका क्या इलाज था? मुझे तो उनकी प्रतिक्रिया का इन्तजार करना ही था। नजारा यह कि यहां मुझपर हर एक क्षण भारी गुजर रहा था और उधर भैया थे जो चिंतन से बाहर आने का नाम ही नहीं ले रहे थे। अब पता नहीं भैया ने क्या सोचा, पर कुछ देर विचार करने के बाद उन्होंने पत्र सात्यकि को थमा दिया। ...बोले कुछ भी नहीं। लो, यह तो और भी नई बात हो गई। उधर सात्यकि ने भी यही किया। उसने पढ़ने के बाद उद्धव को थमा दिया। उद्धव ने प्रलंब को थमा दिया। यानी ले-देकर यह तो मेरे प्यार के साथ खिलवाड़ होने लग गया। इससे तो मैं ही पढ़कर सुना देता तो अच्छा होता। कम-से-कम प्रतिक्रिया जानने हेतु इतना बेचैन तो न होना पड़ता। यह तो कुछ नहीं, हद तो तब हो गई जब पत्र घूम-फिरकर वापस मेरे हाथों में आ गया। यहां मेरे दिल पर नस्तर चल रहे थे, और उधर ये निर्लज्ज लोग न तो कुछ बोल रहे थे ...ना ही प्रतिक्रिया दे रहे थे। ले देके, एक अबला के पत्र को अच्छाखासा खेल बना दिया था।

मैं मन-ही-मन झल्ला भी रहा था। मेरा दिल जोर-जोर से धड़क भी रहा था। मैं अपनी जान का फैसला इस कदर अधर में लटका नहीं सह सकता था। बेचैनी अपना सर्वोच्च शिखर छू बैठी थी। और इससे पहले कि कोई विचार की उल्टी दिशा पकड़ ले, मैंने सभा को सही दिशा देना उचित समझा। सो, पत्र दोबारा पढ़ने का अभिनय करते हुए तुरंत बोल पड़ा- यह पत्र मुझे कल ही मिला है, और सच कहूं तो तब से मैं बड़ी असमंजस में पांसा पड़ा हूँ। ...एक अबला नारी ने मदद के लिए पुकारा है। मेरी दृष्टि में तो हमें उसकी मदद को जाना ही चाहिए, खासकर यह देखते हुए कि उसपर जुल्म हमारा स्थायी शत्रु जरासंध ढा रहा है।

...यानी मैंने बात पूरी तरह घुमा दी। क्योंकि यदि मैं यह कहता कि पत्र बीस-पच्चीस रोज पूर्व मिला है तो काफी सवाल-जवाबों का सामना करना पड़ता। और जहां तक भैया का सवाल है तो उनकी दुखती नस "जरासंध" मैं दबा ही चुका था। आप तो जानते ही हैं कि भैया को जरासंध पर जबरदस्त क्रोध था। शायद इसलिए कि उसी के कारण उन्हें भी मेरे साथ रणछोड़ बनना पड़ा था। और-तो-और, इसी वजह से उन्हें गोमंत की टेकड़ी पर पशुओं-सा जीवन भी बिताना पड़ा था। और आज उनका वही क्रोध मेरे बड़े काम का था। ...वैसे अपनी बात करूं तो मुझे जरासंध पर रत्तीभर क्रोध न था। ...उल्टा मैंने तो हमेशा तहेदिल से उसका एहसान ही माना था। मैं यह मानता भी हूँ व जानता भी हूँ कि मैं आज जो कुछ हूँ वह सिर्फ, और सिर्फ जरासंध की बदौलत ही हूँ। और सच कहूं तो यही मेरी और भैया की दृष्टि का फर्क था। भैया सीमित देखते थे, मैं असीमित देखता था। और फिर यूं भी जरासंध मेरा जाती शत्रु था, कोई मानवता का शत्रु तो था नहीं? और मुझसे शत्रुता का सबको अधिकार है। अब कुदरत ने भी दिल खोलकर जीवन-भर मुझसे शत्रुता निभाई ही है, तो क्या मैं कुदरत को भी अपना शत्रु मान लूं? कतई नहीं, मैंने तो हमेशा अपने जाती शत्रु को अपना सहयोगी ही जाना है। मेरा शत्रु तो वो है जो इंसानियत का दुश्मन है। जो जुल्म ढाता है या अत्याचार करता है, ...वही मेरा शत्रु है; क्योंकि ऐसे लोग एक साथ हजारों को नुकसान पहुंचाते हैं। जबकि मेरा शत्रु सिर्फ मुझे नुकसान पहुंचाता है। और मेरा तो यह स्पष्ट मानना था कि अपने नफे-नुकसान की चिंता करने वाले हम कौन होते हैं?

खैर! चिंतन बहुत झाड़ चुका। वर्तमान परिस्थिति पर लौट आऊं तो मेरे चकरी-संबोधन के बाद मेरी निगाह सबके हावभाव पर बनी हुई थी। करीब-करीब सब रुक्मिणी को बचाने जाने हेतु तैयार ही नजर आ रहे थे। फिर भी मैं बात पक्की कर लेना चाहता था। क्योंकि मामला दिल का था और दिल के मामले में कोई ढिलाई बरतना योग्य नहीं। अत: मैंने बात पक्की करने के उद्देश्य से कहा- मेरी राय में हमारा जाना ही उचित है, क्योंकि इससे हम ना सिर्फ रुक्मिणी की गरिमा को बचा पाएंगे, बल्कि जरासंध को एकबार फिर मात भी दे आएंगे।

जैसी की उम्मीद थी, मेरे मुख से दोबारा जरासंध का नाम सुनते ही भैया आग-बबूले हो उठे। वे तुरंत पूरे जोश में बोले- हम जाएंगे व जरूर जाएंगे। जरासंध को एकबार फिर धूल चटाएंगे। वह भी क्या याद रखेगा कि किसी बलराम से पाला पड़ा था।

...बस मेरा काम हो चुका था। देखा आपने; मैंने कैसे काम निकलवाया था? कूटनीति इसी को तो कहते हैं। बात की शुरुआत कुछ इस तरह करो कि आपके जाती फायदे में सबको राज्य का और धर्म का फायदा नजर आने लगे। तभी तो आप अपने जाती युद्ध में भी सभी को मरने-मारने को तैयार कर पाएंगे। पहले मथुरा की आन और अब एक अबला की शान। कारण चाहे जो दिया जाए, मकसद तो ''रुक्मिणी-स्वयंवर'' रुकवाना ही था। ...हालांकि यह तो प्रथम सीढ़ी ही पार की थी। अभी आगे बहुत कार्य बाकी थे। अभी तो सिर्फ जाने का निर्णय हुआ था, कोई स्वयंवर रुकवा नहीं दिया था। सो, तत्काल प्रभाव से मैं सबके साथ जाने की तैयारियों में भिड़ गया। अगले दिन सुबह ही हमें पूरे कुनबे के साथ एक लाचार राजकुमारी का स्वयंवर रुकवाने निकलना था। और कहने की जरूरत नहीं कि इस समय सभी पूरे उत्साह से मेरे साथ जाने की तैयारियों में जुटे हुए थे।

खैर! नियत समय पर ही पचास रथों व सौ के करीब सेवक सिपाही के साथ मैं, भैया, उद्धव व सात्यकि समेत हमारी पूरी मित्रमंडली का काफिला एक अबला नारी को बचाने व जरासंध को एकबार फिर धूल चटाने निकल पड़ा था। देखा आपने, कैसे पलभर में मैंने अपने मन की बात को सभी के मन की बात बना दी थी? यही कारण है कि योजना हो या राज, ठीक समय पर ही खोले जाना जरूरी है। मैंने इसीलिए रुक्मिणी का पत्र एक दिन पहले ही भैया व अन्य मित्रों को सौंपा था। क्योंकि ऐसे मामलों में सोचने का ज्यादा समय देना खतरनाक हो सकता है। यूं भी मैं अपने कार्य तात्कालिक प्रभाव से करवाना ही पसंद करता था। सोचने का समय देने पर सामने वाले को नित नए उपाय व कारण लेकर आने का मौका मिल जाता है। और इससे धीरे-धीरे बात का प्रभाव खत्म हो सकता है। और-तो-और, सोचने का समय दिए जाने से कई बार मनुष्य ठीक निर्णय पर भी पहुंच सकता है। ...रुक्मिणी के इस पत्र की ही बात लो। यदि यह पत्र मैंने सबको पच्चीस दिन पहले दे दिया होता... तो भले ही एकबार को सभी जाने के लिए तैयार हो जाते, परंतु अगले दिन से ही नित नए विचारों का सिलसिला चालू हो जाता। हमें क्यों दूसरे के फटे में टांग अड़ाना चाहिए? सिर्फ पचास या सौ सैनिकों से कैसे जरासंध का मुकाबला किया जा सकता है? वहां हमें गिरफ्तार कर लिया गया तो? हम इतने सुख से द्वारका में रह रहे हैं, क्यों सोए हुए जरासंध को फिर से जगाएं? और इन चर्चाओं व कारणों के चलते अंत में जाने का प्रस्ताव ही निरस्त हो जाता। सोचो, ऐसे में बेचारे ''कृष्ण'' और उसकी प्राणप्यारी ''रुक्मिणी'' का क्या होता? लेकिन दिन-दो-दिन का समय देने पर सोचने-समझने का मौका ही कहां बचता है? जाना तय हुआ व सभी तैयारियों में लग गए। और आज प्रात: काल को निकल भी गए। समझे...? इस ''समय'' के ज्ञान के कारण ही मेरी योजनाएं हमेशा सफल रही हैं।

खैर छोड़ो। अभी यात्रा की बात करूं तो सावधानीवश हम सभी राजकीय पोशाक की जगह साधारण वस्त्र धारण किए हुए थे। सभी रथों पर से द्वारका की मुहरें भी हटा दी गई थी। यानी यथायोग्य सावधानी के साथ हमारा कारवां तेजी से कुंडिनपुर की ओर दौड़ा चला जा रहा था। एक तो भैया की इतने रथों के साथ राजाओं-सी यह पहली यात्रा थी। वैसे तो उनकी ही क्यों, मित्रमंडली की भी यह पहली इतनी लंबी यात्रा थी। फलस्वरूप माहौल भी बड़ा ही शानदार जम गया था। और क्योंकि एक अबला की अस्मिता बचाने जा रहे थे, अत: जोश भी कमाल का था। ...बस आपस में मजाक-मस्ती करते, खाते-पीते सबकी यात्रा बड़े मजे से कट रही थी। हालांकि इन सबके विपरीत मेरी हालत सर्वथा भिन्न थी। जीवन में पहली बार ऐसा हो रहा था कि सब मस्त थे और मैं पस्त था। वरना आप तो जानते ही हैं कि मैं हरहाल में मस्त रहने वालों में से हूँ। लेकिन आज रुक्मिणी की चिंता व भविष्य की आस में पांस गया था। मैं जानता हूँ कि मन वर्तमान में न होने का यह परिणाम था। ...दर्द था, लेकिन इतना मीठा कि वह अंत में तो मजा ही दे रहा था। वहीं दूसरी ओर चूंकि मामला दिल का था और वो भी नाजुक मोड़ पर, इसलिए बेचैनी भी पकड़ी हुई थी। यहां तक कि मन खाने-पीने में भी नहीं लग रहा था। कुल-मिलाकर मेरी यात्रा तो ऐसी दीवानगी में ही कट रही थी।

...आखिर एक तरफ मुझपर छायी दीवानगी व दूसरी तरफ सब पर छायी मस्ती के बीच दसवें रोज हमने कुंडिनपुर में दस्तक दी। सावधानीवश हमने अपना डेरा कुंडिनपुर के बाहर स्थित भिन्न-भिन्न आश्रमों व मंदिरों में डाला। एक साथ इतना बड़ा काफिला एक जगह ठहरे तो बात राजमहल तक पहुंचने में क्या देर लगनी थी? और दस-दस करके अलग-अलग जगह ठहरें तो दूर से स्वयंवर देखने आए यात्री ही नजर आने थे। और आप तो जानते ही हैं कि कृष्ण के जीवन में ''सुरक्षा परमो धर्म:'' है। यह सब तो ठीक, पर उधर कुंडिनपुर पहुंचते ही मेरी बेचैनी और बढ़ गई थी। क्योंकि सबको ताव पे चढ़ाकर ले तो आया था परंतु यह तो जानता ही था कि अबकी स्वयंवर रुकवाना इतना आसान नहीं। यह तो शेर के पंजे से शिकार छुड़ाने जैसा था। मैं यह कैसे भूल जाऊं कि पिछली बार भले ही मथुरा के अपमान की चर्चा छेड़कर राजमहल तक पहुंच गया था, पर उस बार भी वास्तव में तो स्वयंवर रुक्मिणी की बेहोशी के चलते ही निरस्त हुआ था। मैं बेकार की गलतफहमी जीवन में यूं भी नहीं पालता था। यानी ले-देकर

मुझे भरोसा इस बार अपने कर्म पर ही करना था। और ऐसे में मेरी सबसे बड़ी दिक्कत यह कि इस बार मैं प्रकट भी नहीं हो सकता था। पिछली बार तो मथुरा की ओर से विरोध दर्ज कराने आए होने के कारण सुरक्षित था, लेकिन अबकी तो मेरे आने की जरासंध या उसकी त्रिपुटी तक खबर भी पहुंच गई तो मेरा खात्मा निश्चित था।

वहीं यदि मुझ दुखियारे को छोड़ अन्यों की बात करूं तो सभी बड़े निश्चिंत और मस्त थे। ...और जानते हैं क्यों, क्योंकि उन्हें यकीन था कि कोई-न-कोई चक्कर चलाकर मैं इस बार भी स्वयंवर निरस्त करवा ही दूंगा। लेकिन इधर मेरे मन की मैं ही जानता था। भला सौ-पचास सिपाहियों के भरोसे मैं युद्ध तो कर नहीं सकता था। वहीं कोई कूटनीतिक चाल बातचीत करने बुलाये जाने पर ही चली जा सकती थी। पर यहां तो प्रकट होने पर ही जान पे बन आ सकती थी। कुल-मिलाकर कुंडिनपुर पदार्पण के साथ ही मेरी व्यग्रता काफी बढ़ गई थी। क्योंकि दांव पर मेरा प्यार ही नहीं, मेरे जीवन के सारे हसीन सपने भी लगे हुए थे। आलम यह कि जीवन की सबसे बड़ी बाजी खेलने आया था और हाथ में उपाय एक न था। ऐसे में मेरी बेचैनी, मेरी व्यग्रता और मेरे दिल का हाल आप समझ ही सकते हैं।

वैसे तो जिस चीज का समाधान हाथ में न हो और जिसका उपाय सूझ ही न रहा हो; उसे ‘‘समय’’ पर छोड़ना ही बेहतर होता है। और यूं भी स्वयंवर में अभी तीन दिन शेष है, कोई-न-कोई रास्ता निकल ही आएगा। कोई इतनी आसानी से थोड़े ही मेरी सपनों की रानी को किसी और को वरण करने दूंगा? आखिर मैं भी एक ‘‘संकल्पवान-चकरीबाज’’ था। ...बस स्वयं में ऐसे सब विश्वास जगाते हुए मैंने हाथ-पांव मारने प्रारंभ कर दिए थे। वैसे आगे का कुछ भी सोचने से पूर्व राजमहल व रुक्मिणी के हाल-चाल जानना जरूरी था। बस मैंने तुरंत उद्धव को शेव्या व श्वेतकेतु को बुलाने भेजा। उधर उद्धव भी उद्धव ही था। वह दोनों को संदेश पहुंचाकर जल्द ही वापस आ गया। और उसके साथ ही मैं एकबार फिर इन्तजार के भंवर में पांस गया। बड़ी बेसब्री से दोनों के आने का इन्तजार करने लगा। अब उद्धव तो संदेश देकर फिर मस्ती कर रहे मित्रों के पास चल गया, और इधर मैं अपनी व्यग्रता लिए कक्ष में इधर-से-उधर चक्कर लगाना शुरू हो गया। वैसे अब तीन दिन बाद ही स्वयंवर था, सो शेव्या व श्वेतकेतु की व्यस्तता का अंदाजा भी था ही मुझे। दोनों का और वह भी एक साथ राजमहल से निकलना इतना आसान नहीं होगा, यह समझता ही था मैं। अब समझा अपनी जगह थी पर इससे कोई व्यग्रता तो कम होनी नहीं थी। व्यग्रता का आलम तो यह था कि दोपहर होते-होते तो मैं समय काटने हेतु दो-बार भोजन भी कर चुका था। अब तो दोपहर भी ढलने को थी। सच कहता हूँ इतना लंबा दिन मैंने जीवन में कभी नहीं गुजारा था। आज पहली दफा एहसास हो रहा था कि इन्तजार समय का सबसे बड़ा शत्रु होता है। और मेरा यह एहसास पक्का कराते हुए दोनों संध्या होते-होते ही आए। आते ही श्वेतकेतु ने अपने देरी से आने की क्षमा मांगते हुए कहा कि अचानक राजमहल छोड़ना संभव नहीं हो पा रहा था। यदि किसी आवश्यक कार्य के लिए मेरी जरूरत महसूस होती, तो हो सकता था कि राजमहल के सिपाही मुझे खोजते-खोजते यहां तक पहुंच जाते। मैं मन-ही-मन बड़बड़ाया, अब यह सब तो मैं भी जानता था। कृपा कर वह बताइए जो मैं जानना चाहता हूँ।

...यह तो भला हो शेव्या का जो वह मेरी हालत समझ रही थी। और उसपर अच्छा यह कि उसने तत्क्षण बिना किसी प्रस्तावना के रुक्मिणी के हाल-चाल भी बता डाले। उसके अनुसार वह बिल्कुल सामान्य है। उसे पूरा यकीन है कि एकबार फिर आप स्वयंवर रुकवाने में सफल हो जाएंगे। अब इसे खुशखबरी मानूं या अशुभ संकेत। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि पगली एकबार फिर बेहोश हो जाती तो स्वयंवर अपने आप रुक जाता। इस हेतु मेरे भरोसे रहने की क्या आवश्यकता थी? वाकई समय ने ऐसी अजब करवट ली थी कि रुक्मिणी की प्रसन्नता की खबर भी कष्ट पहुंचा रही थी। क्या करूं, इससे स्वयंवर रुकने की एक वजह स्वत: ही समाप्त जो हो गई थी। देखा आपने, जीवन में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिसकी खुशी आपका जीवन हो उसकी खुशी की खबर भी दु:खदायी साबित हो जाती है। अरे भाई, ऐसा सब होता रहता है ...इसीलिए तो समय बलवान है।

खैर! रुक्मिणी का हालचाल तो जान चुका था। अब मैंने राजमहल की तैयारियों के बाबत जानना चाहा। स्वाभाविक तौर पर जिसका उत्तर श्वेतकेतु ने दिया। उसने कहा- स्वयंवर की सारी तैयारियां हो चुकी है। अबकी जरासंध, रुक्मी व शिशुपाल कोई मौका लेना नहीं चाहते हैं। और इसी के चलते उन्होंने राजमहल का प्रमुख प्रांगण एक सैन्य छावनी में बदल दिया है। कहने का तात्पर्य इस बार बगैर खून-खराबे के स्वयंवर रोक पाना असंभव है। बल्कि सच कहूं तो एक महायुद्ध में उतरे बगैर स्वयंवर नहीं रोका जा सकता है। दूसरी तरफ तुम्हारे द्वारा दिए गए तगड़े आश्वासन के कारण रुक्मिणी पूरी तरह चिंतामुक्त हो गई है। और उसकी यह प्रसन्नता उल्टा रुक्मी व शिशुपाल का उत्साह बढ़ाने का कार्य कर रही है। वे इसे रुक्मिणी की मौन स्वीकृति मान बैठे हैं।

...लो पड़ गया न यह पासा भी उल्टा। मैं बुरी तरह झल्ला उठा। अरे पगली, मैं कुछ भी कह दूं पर तुम्हें

इतना प्रसन्न होने की क्या जरूरत है...? कुल-मिलाकर कोई खबर अच्छी नहीं थी। हर दांव उल्टे पड़ रहे थे। उधर स्वयंवर में दिन भी दो ही बाकी थे। आज का दिन तो वैसे ही व्यर्थ चला गया था, और स्वयंवर रुकवाना तो छोड़ो, कुंडिनपुर की सीमा में घुसना तक खतरनाक नजर आने लगा था। उधर श्वेतकेतु भी कम चिंतित नजर नहीं आ रहा था। उसने पूछा भी था कि इन हालातों में तुम स्वयंवर कैसे रुकवा पाओगे। और मैंने भी अपने उसी पुराने अंदाज में कह दिया था कि चिंता मत करो, मैं हूँ ना। क्या करता...? अब श्वेतकेतु से तो कह नहीं सकता था कि यह सब सुनकर तुम से ज्यादा चिंतित तो मैं हो गया हूँ। और कोई समय होता तो बात अलग थी, पर इस समय तो श्वेतकेतु का उत्साह बनाये रखना अत्यंत जरूरी था। अजीब उलझन में पांस गया था। मुझे इस समय रुक्मिणी-उद्धार का कोई रास्ता सुझाई नहीं दे रहा था। मैं और मेरी जान, दोनों जरासंध के चंगुल में बुरी तरह पांस गए थे। और ऊपर से मुस्कुराना ऐसे पड़ रहा था, मानो सबकुछ पार पड़ा ही समझो। सच कहूं तो आज पहली बार मुझे जरासंध पर बड़ा क्रोध आ रहा था। मथुरा छोड़कर द्वारका बस गया था, फिर भी वह था कि मेरा पीछा छोड़ने को तैयार ही नहीं था। मेरी तो बुद्धि ने ही साथ छोड़ दिया था। और उसका सबूत यह कि स्वयंवर रुकवाने की चिंता छोड़ मन ने एक अनूठी ही चिंता पकड़ ली थी। यदि स्वयंवर नहीं रुकवा पाया तो मेरा तो ठीक, पर रुक्मिणी का क्या होगा...? बेचारी रुक्मिणी की तो जग-हंसाई हो जाएगी। सब कहेंगे, पगली एक "रणछोड़" के भरोसे निश्चिंत होकर बैठी थी।

कृष्ण! स्वयं पर नियंत्रण रखो। यह उटपटांग बातें सोचने की बजाय चिंतन को ठीक दिशा दो। स्वयंवर कैसे रुकवाना, उस पर ध्यान दो। सचमुच क्या करूं-क्या न करूं, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। अजीब हालत हो गई थी मेरी। भीतर बुरी तरह परेशान था और बाहर मुस्कुराना पड़ रहा था। क्योंकि इस समय मेरा झलकता आत्मविश्वास ही सबका संबल था। ऐसे में चिंतन करूं भी तो करूं कैसे...? चिंतन उपाय खोजने में लगाऊं तो भी बाहर तो बातचीत करनी ही पड़ रही थी। आखिर जब कुछ न सूझा तो मैंने वैसे ही सामने बैठी शेव्या से पूछ लिया- क्या तुम मुझे रुक्मिणी से एकबार मिलवा सकती हो।

...शेव्या ने हंसकर कहा- स्वयंवर से पहले ना। ...हालांकि उसने मजाक में ही कहा था, फिर भी मेरी वर्तमान मनोदशा में उसका यह मजाक भी मुझे व्यंग की तरह चुभा। ऐसा लगा मानो वह मेरी लाचारी का मजाक उड़ा रही हो। यहां तक कि मन-ही-मन मैंने उसे कोस भी डाला। अरे, यदि स्वयंवर हो गया तो मैं स्वयं से भी मिलना पसंद नहीं करूंगा। ...और फिर विवाहित रुक्मिणी से मिलकर क्या खाक करूंगा? खैर, मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। ...या बेहतर कहूं कि दे ही नहीं पाया। उधर मेरी ऐसी दयनीय हालत देख कुछ देर पश्चात् शेव्या फिर हंसते हुए बोली- इतनी चिंता क्यों करते हैं भैया! कल ही मैं रुक्मिणी से समझकर आपको बताए देती हूँ।

यह हुई न बात। कुछ ऐसी बात कर... सचमुच शेव्या की इस बात से मुझे बड़ी सांत्वना मिली। हमारी यह मुलाकात यहीं समाप्त हुई। वे दोनों वापस राजमहल चले गए। इधर मेरे साथ स्वयंवर रुकवाने आए जवानों की बात करूं तो सब अपनी ही मस्ती में मस्त थे। किसी को अपने कर्म का एहसास ही नहीं था। संध्या भोजन के बाद भी व्यर्थ के गप्पें मारे जा रहे थे। स्वयंवर में दो दिन बाकी थे फिर भी उनमें से कोई स्वयंवर रुकवाने की रणनीति पर चर्चा करने आगे नहीं आ रहा था। हालांकि इसमें उनकी कोई गलती भी नहीं थी। वे सब निश्चिंत थे कि जरूर कृष्ण के पास कोई योजना होगी। जब योजना पर अमल करना होगा वह स्वयं हमें क्या करना, कह देगा। यहां भी गलती मेरी ही थी। मैंने माहौल ही ऐसा बना रखा था कि सब आश्वस्त हो गए थे। पता नहीं क्यों इस बार मेरा हर दांव उल्टा पड़ रहा था। उधर रुक्मिणी मेरे ही आश्वासन की बदौलत प्रसन्नता से विचर रही थी तो इधर ये लोग मेरे बड़बोलेपन के कारण मस्त बने घूम रहे थे। यानी मैंने अपने ही हाथों अपने सारे मोहरे बेकार कर दिए थे। अब ले-देके बचा मैं था, जिसे कुछ सूझ नहीं रहा था। हालात यहां तक बिगड़ गए थे कि अब तो मित्रों की बेफिक्र मस्ती पर भी मुझे रह-रहकर क्रोध आने लगा था। वे सब यहां ऐसे उत्सव मना रहे थे मानों कुंडिनपुर मेरी बारात में आए हों, ...या फिर घूमने-फिरने पधारे हों। यानी अब तो उनको बेवजह इतना मस्त देखकर भी मेरे दिल पर अनगिनत छूरियां चल रही थी। सच कहूं तो मुझे तो उनकी हंसी-मजाक भी मेरी हंसी उड़ाती हुई नजर आ रही थी। कोई मेरी तकलीफ समझ ही नहीं रहा था। ...समझता भी कैसे? मैंने कभी किसी को रुक्मिणी के बारे में कुछ बताया भी तो नहीं था। अपने दिल का हाल दिल में छुपाकर जो रखा था। बस उसी का सबकुछ आज इकट्ठा भुगत रहा था। मैंने अपने को आज जितना लाचार कभी नहीं पाया था। बहुत कुछ करना चाहता था और कर कुछ नहीं पा रहा था। अत: जब मन पूरी तरह उचाट हो गया तो सबको छोड़ फिर अपने कक्ष में लौट आया। पर उससे भी होना क्या था? यहां भी पूरी रात बेचैनी में करवटें बदलते-बदलते ही गुजरी। अब तो उपायों पर भी सोचना बंद कर दिया था। इन्तजार था तो बस सुबह शेव्या की वापसी का।

...यानी सुबह होते ही एकबार फिर शेव्या का इन्तजार प्रारंभ हो गया। एकबार फिर वही बेचैनी पकड़ ली

कि कल स्वयंवर है और उसे रुकवाने का एक भी उपाय हाथ में नहीं है। जहां समय की वैसे ही कमी थी, वहीं इधर सुबह से दोपहर हो गई पर शेव्या आने का नाम ही नहीं ले रही थी। मेरी बेताबी बढ़ती जा रही थी। मैं बुरी तरह व्यग्र हो उठा था। कुल-मिलाकर आज का दिन तो कल से भी लंबा हो गया था। कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे स्वयंवर का समय निकट आ रहा था, रुक्मिणी और मेरे बीच का फासला बढ़ता ही चला जा रहा था। सवाल हजारों खड़े थे। पहला सवाल तो यही था कि इतनी कड़ी सुरक्षा के बीच शेव्या मेरी मुलाकात रुक्मिणी से करवाएगी कैसे? चलो उसने दूर से रुक्मिणी दर्शन करवा भी दिए तो भी उससे होगा क्या? चलो, पल-दो-पल की मुलाकात करवा भी दी, तो भी उससे कहूंगा क्या? और आगे सबकुछ होगा कैसे? कुल-मिलाकर मामला गड़बड़ ही दिखाई दे रहा था। अब जब समय ही उल्टा चल रहा हो तो दोष भी किसे देना? मैं दिनभर कमरे में टहलता रह गया और उधर शेव्या आज भी श्वेतकेतु के साथ संध्या को ही आई। संध्या को आई वहां तक भी ठीक था, राजमहल में काम रहा होगा। लेकिन हद तो तब हो गई जब मेरी हालत देखते ही उसकी हंसी छूट गई। यूं भी लाचारों पर दुनिया हंसती है, ऐसे में बहन भी हंस दी तो क्या बुरा मानना? और फिर वैसे भी घायल आशिक को हर कोई उस पर हंसता हुआ ही नजर आता है। ये सब बातें समझाइश को अच्छी थी, पर सच तो यही है कि उसकी हंसी ने मेरी हालत और भी दयनीय कर दी थी। उस पर मुसीबत यह कि बावजूद इसके उसकी हंसी रुकने का नाम ही नहीं ले रही थी। ...हालांकि कुछ देर बाद श्वेतकेतु के टोकने पर वह सम्भल गई। फिर भी जब मुंह खोला तो वह हंसते हुए ही बोली- भैया! बहन के होते-सोते क्यों फिक्र करते हो? स्वयंवर कल संध्या को है। और सुबह-सुबह रुक्मिणी पूजा के लिए मेरे और कुछ दासियों के साथ राज-मंदिर जाने वाली है। वहीं मैं आपकी मुलाकात रुक्मिणी से करवा दूंगी।

...मैं तो यह सुनते ही उछल पड़ा। सचमुच शेव्या ने यह खबर सुनाकर मुर्दे में प्राण डाल दिए थे। मेरे चैतन्य ने तत्क्षण पुरजोर प्रभाव से कार्य करना प्रारंभ कर दिया था। इसी के चलते मैंने पूरे उत्साह में शेव्या से पूछा- एक बात बताओ? मंदिर कितना बड़ा है? कहां है? और राजमहल से कितनी दूर है?

...रास्ता दिखाई क्या पड़ा, मैंने सवालों की झड़ी लगा दी। शेव्या ने भी बगैर एक क्षण व्यतीत किए कहा- यह राज-मंदिर राजमहल के पीछे नदी किनारे स्थित है। मंदिर छोटा है, परंतु उसका प्रांगण काफी बड़ा है। और मंदिर में घुसने का एक ही द्वार है।

मैंने कहा- ठीक है। क्या तुम यह बता सकती हो कि उस समय तुम्हारे साथ कितने सिपाही होंगे।

शेव्या ने कहा- इसका जवाब शायद ये ही बेहतर दे सकते हैं।

श्वेतकेतु ने तुरंत कहा- करीब सौ सिपाही मेरे ही नेतृत्व में रुक्मिणी के साथ जाने वाले हैं।

मुझे तो अपने भाग्य पर विश्वास ही नहीं हो रहा था। शायद कुदरत ने भी रुक्मिणी को बचाने का तय कर लिया था। तभी तो श्वेतकेतु की सुरक्षा में रुक्मिणी मंदिर जा रही थी और वह भी अपनी खास सहेली शेव्या के साथ। यानी रुक्मिणी से मुलाकात का तख्ता जम गया था, और वह भी जान जोखिम में डाले बगैर। और अब जब कुदरत ने इतना रास्ता साफ कर दिया है तो आगे की राह भी वह दिखा ही देगी। मैंने शेव्या व श्वेतकेतु को धन्यवाद दिया। ...इस समय मैं पूरी तरह चहक उठा था। इधर मुझे इस कदर खुश देखकर शेव्या ने कहा भी कि भैया एक बात कहूं..., आप उदास बिल्कुल अच्छे नहीं लगते।

...मैंने मन-ही-मन सोचा, कौन कमबख्त उदास रहना चाहता है? लेकिन जब जान की जान ही मुसीबत में पांसी पड़ी हो तो भला कोई मुस्कुरा भी कैसे सकता है? खैर, आज शेव्या व श्वेतकेतु जल्द ही लौट गए। यूं भी आज उनका ज्यादा ठहरना उचित नहीं था। इधर उनके जाते ही मैं तेजी से हरकत में आ गया। शेव्या की एक खबर से मेरा ''कृष्णपन'' लौट आया था। मैंने तत्क्षण सभी को एकत्रित किया, और मध्यरात्रि तक दल-बल समेत सबको तैयार रहने के लिए कहा। मेरे इस तरह निर्देश दिए जाने से शायद सबको पहली बार अपने आने का मकसद याद आता दिखाई दिया। अरे हां, हम सब तो ''रुक्मिणी-स्वयंवर'' रुकवाने आए हुए हैं। ...तो फिर, कबसे बेमतलब की मौज-मस्ती में लगे हुए थे। चलो देर आए दुरुस्त आए। और इसका सबूत यह कि सभी तत्क्षण घोड़े व रथ तैयार करने व हथियार अवेरने में लग गए। और इधर मैं कमाल कर बैठा। बात बनती देख सबको छोड़ चुपचाप सपने देखने कक्ष में लौट आया।

होगा! इस समय मैं अपनी बात करूं तो मेरे उत्साह ने आसमां छू लिया था। कल मेरी प्राणप्यारी के दर्शन होने थे। लेकिन दर्शन होने से क्या, तुम्हें तो उसे जरासंध व शिशुपाल के जाल से मुक्त कराना है। हां तो, जब इतना मार्ग निकला है तो वह भी निकल जाएगा। व्यर्थ क्यों मुझे चिंता पकड़ाकर सपनों में बाधा पहुंचा रहे हो। स्वयंवर रुकेगा व अवश्य रुकेगा। यह मेरे जीवन का सबसे बड़ा दिन होगा। ...शायद कल के शानदार प्रदर्शन के बाद रुक्मिणी भी मुझे चाहने लगे। हो सकता है एक ही झटके में मेरा सबसे बड़ा सपना साकार हो जाए। ...कल के बाद

कृष्ण "कृष्ण" ही हो जाए। मजा यह कि आसरा एक न था लेकिन मैंने सारे सकारात्मक सपने देखना प्रारंभ कर दिए थे। ...अब कल कुछ नहीं हो पाया तो यूं भी रोना ही है। फिर आज भी रोऊं व कल भी रोऊं, ऐसा मूर्ख थोड़े ही हूँ। और फिर कर्म तो कर ही रहा हूँ। और जब कर्म कर रहा हूँ तो फल भी सफलता या असफलता के रूप में आना ही है। जब आधी संभावना सकारात्मक है तो मैं क्यों न अभी से सकारात्मक हो जाऊं? बस इन्हीं सब ख्यालों में रात कब चढ़ गई, कुछ पता न चला।

बस मैं सपने देखना व चिंतन करना छोड़ जहां सब एकत्रित थे, वहां पहुंच गया। तत्क्षण हम सभी स्थानीय लोगों की वेशभूषा पहनकर तैयार हो गए। और देखते-ही-देखते बिना समय व्यतीत किए हम लोग दस-दस की टुकड़ियां बनाकर मंदिर के चारों ओर फैल भी गए। यही नहीं, कभी-भी किसी-भी परिस्थिति से निपटने हेतु सभी सारथी अपने-अपने रथों पर तैयार ही बैठे हुए थे। आज की रात कयामत की रात थी, और सुबह उससे भी बड़ी कयामत लिए आना तय था। वहीं नितांत मेरी बात करूं तो मुझे तो करीब दो वर्ष बाद फिर मेरी सपनों की रानी के दर्शन होने वाले थे। सामान्य परिस्थिति होती तो शायद अब भी सपनों में ही खोया होता, पर इस समय वह भी देखना आसान नहीं था। आज पहली बार एहसास हो रहा था कि कयामत का समय निकट आते ही सपने देखना भी कितना मुश्किल हो जाता है।

खैर! मैं स्वयं मंदिर के निकट एक बड़े पेड़ के पीछे छिपा हुआ था। इन्तजार था तो बस सुबह होने का। इस समय मेरा भीतर-बाहर दोनों पूरी तरह से मौन था। पूरे अस्तित्व पर खामोशी छायी हुई थी। उधर अपने समय से सूर्य की पहली किरण भी फूट निकली। आज का सूर्योदय जीवन में क्या हलचल मचाएगा मालूम नहीं था। पर हां, इस पार या उस पार आज मेरे जीवन का फैसला होना तय था। या तो स्वयंवर रुकवाकर हमेशा के लिए रुक्मिणी के दिलो-दिमाग पर छा जाऊंगा या फिर आज मेरी प्राणप्यारी हमेशा के लिए किसी और की हो जाएगी। हालांकि वर्तमान हालत में मेरे लिए रुक्मिणी के बगैर जीवन की कल्पना करना ही नामुमकिन था। और यदि रुक्मिणी को शिशुपाल जैसे दुष्ट के साथ जीवन गुजारना पड़े तो मेरा प्रेम क्या हुआ? तो फिर मेरी इतनी वीरता व बुद्धिमानी का क्या फायदा? निश्चित ही आज की सुबह हर मायने में ना सिर्फ इम्तिहान की सुबह थी, बल्कि मेरे जीवन के फैसले की भी घड़ी थी। और यही कारण था कि सुबह सुहानी होने के बावजूद मुझे प्रभावित करने में असफल थी। क्योंकि मेरे जीवन की सुहानी सुबह तो स्वयंवर रुकवाकर ही आ सकती थी। होगा, अभी तो रुक्मिणी यहां किसी भी वक्त आ सकती थी। मैं पूरी तरह चौकन्ना था। दारुक मेरे साथ ही खड़ा था। मेरे सपनों की रानी कभी भी प्रकट होने को थी। उस एक पल में जीवन के सारे फैसले हो जाने थे। इन्तजार ज्यादा लंबा नहीं था, फिर भी मामला इतना नाजुक था कि एक-एक पल महीनों पर भारी पड़ रहा था।

...आखिर कयामत की घड़ी आ ही गई। पीले रंग की रेशमी साड़ी पहने रुक्मिणी आ पहुंची। ऐसा लग रहा था मानो सुहानी सुबह के पीछे-पीछे ही कहीं से चांद निकल आया हो। पीली रेशमी साड़ी में रुक्मिणी साक्षात् देवी नजर आ रही थी। इस समय वह हजारों अप्सराओं के सौंदर्य पर भारी पड़ रही थी। निश्चित ही आज "चांद" सूर्य से ज्यादा चमकदार था। ऐसे में मुझ ग्वाले का तो कहना ही क्या? रुक्मिणी की सुंदरता व तेज दोनों ने मिलकर मेरे होश पूरी तरह उड़ा दिए थे। ...मैं इस समय पूरी तरह "रुक्मिणीमय" हो चुका था। अत्यंत उत्तेजित भी हो रहा था। मेरा मन रुक्मिणी को पाने के लिए बुरी तरह मचल भी उठा था। मैं पूरी तरह संज्ञा-शून्य हो गया था। मेरे रोम-रोम से रुक्मिणी...रुक्मिणी निकल रहा था। मैं अपने पर पूरी तरह से नियंत्रण खो बैठा था। उधर श्वेतकेतु ने भी हमारी मुलाकात के लिए रास्ता बिल्कुल साफ कर रखा था। उसने सिपाहियों को मंदिर के बाहर ही रोक लिया था। इधर शेव्या रुक्मिणी के साथ-साथ ही चली आ रही थी। उनके पीछे हाथ में थाल लिए छः दासियां और चली आ रही थीं।

...अचानक मैंने दारुक से रथ लाने को कहा। मैं तुरंत रथ के पीछे बैठ गया। तत्क्षण मैंने दारुक को रथ रुक्मिणी के निकट ले जाने का इशारा किया। रुक्मिणी अभी मंदिर की सीढ़ियां ही चढ़ रही थी। यह क्या...जैसे ही मेरा रथ रुक्मिणी के निकट पहुंचा, मैंने तत्क्षण रुक्मिणी को उठाकर अपने रथ में बिठा लिया [16] । रुक्मिणी चिल्लाती रह गई। उसको कुछ समझ ही नहीं आ रहा था। शायद बदली हुई वेशभूषा के कारण वह मुझे पहचान भी नहीं पा रही थी। होश मेरे भी उड़े ही हुए थे। पर फिर तो जाने मुझे क्या सूझी कि मैंने तुरंत दारुक को रथ द्वारका की ओर दौड़ाने को कहा। वहीं जाते-जाते मैंने भैया व सात्यकि को निर्देश भी दिया कि विरोध होने की सूरत में वे स्थानीय सैनिकों को कम-से-कम दोपहर तक यहीं उलझाए रखें, ताकि मेरा रथ इतना आगे निकल जाए कि फिर मेरे पकड़े जाने की कोई संभावना न रहे। साथ ही शेव्या व श्वेतकेतु को भी अपने साथ जरूर लेते आने को कहा।

...उधर अपने पर हुए अप्रत्याशित हमले को देख रुक्मिणी स्वाभाविक रूप से मदद के लिए चिल्ला पड़ी। मैंने सावधानीवश तुरंत अपना हाथ उसके मुंह पर रख दिया। वैसे तो सुबह-सुबह का समय था, फिर भी राजकुमारी

मदद के लिए पुकारे तो कुछ भी हो सकता था। हालांकि यह सबकुछ चन्द पलों में घट गया था, अब तो हमारा रथ हवा से बातें कर रहा था। कुछ ही देर में हम कुंडिनपुर की सीमा पार कर चुके थे। दारुक यूं भी मेरे समेत आर्यावर्त के चन्द श्रेष्ठ सारथियों में से एक था। इधर कुंडिनपुर की सीमा पार करते ही मैंने भी राहत की सांस ली। क्योंकि अब यह तय हो चुका था कि रुक्मिणी-हरण हो चुका है। और उसका अपहरण करने वाला कोई और नहीं, मैं ही था। मेरी रुक्मिणी मेरे पास ही बैठी थी।

...यह हरण अनायास ही हुआ था। मैं सोचने लगा कि यह मैंने क्या किया? रुक्मिणी ने तो स्वयंवर टालने के लिए बुलाया था और मैंने उसका हरण ही कर लिया। कहीं मैंने उसके साथ विश्वासघात तो नहीं किया? लेकिन मैं क्या करता... मैं भी दिल के हाथों मजबूर हो गया था। आज उसे पीले रंग के रेशमी वस्त्रों में देखकर मैं पूरी तरह अपना आपा खो बैठा था। मेरा अहंकार उसे पाने को मचल उठा था। रुक्मिणी को पाने की इच्छा इतनी पूर्णता से हुई थी कि आज मेरे मन और बुद्धि ही नहीं, मेरा द्रष्टा भी अहंकार की इच्छा के सामने नत-मस्तक हो गया था। वास्तविकता यह है कि मैंने रुक्मिणी का हरण किया ही नहीं था, यह हरण तो मुझसे हो गया था। और स्पष्ट कहूं तो निर्विचार दशा में क्षणभर में ही सबकुछ घट गया था। और जो बिना विचार के क्षणिक चेतना से होता है, कुदरत हमेशा ऐसे कर्मों के साथ होती ही है।

...और फिर मैंने हरण कर लिया तो क्या? रुक्मिणी को शिशुपाल जैसे दुष्ट से तो बचाना ही था। रुक्मिणी ने स्वयं मुझे इस कार्य हेतु बुलाया था। और जो परिस्थिति थी उसमें उसे बचाने का इसके अलावा दूसरा मार्ग भी कहां था? यूं भी मैं शिशुपाल से तो हर लिहाज से अच्छा ही था। यही क्यों, मुझे तो रुक्मिणी को पाने का पूरा-पूरा अधिकार भी था। पिछले दस वर्षों से मैं उसके प्यार के भरोसे ही तो जी रहा हूँ। दिन-रात उसके सपने मैंने देखे हैं। मुझे रुक्मिणी से सच्चा प्यार है। और सच्चा प्यार तमाम अधिकार दे ही देता है। यही सब सोचकर मैं अब पूरी तरह शांत हो गया था। और शांत होते ही मुझे ध्यान आया कि यह क्या, मेरा हाथ तो अब भी रुक्मिणी का मुंह दबाये ही हुए है। वैसे भी इस समय हमारा रथ जंगलों की ओर दौड़ा चला जा रहा था, बस्तियां भी पूरी तरह समाप्त हो चुकी थी, वहीं रुक्मिणी का विरोध भी काफी कम हो ही चुका था, ...शायद इसलिए कि उसने मुझे पहचान भी लिया था; बस मैंने अपना हाथ उसके मुंह से हटा लिया।

...उधर इस हरण को लेकर जितना हैरान मैं था उतना ही हैरान दारुक भी था। फिर भी वह अपना ध्यान रथ दौड़ाने में लगाये हुए था। यह सब तो ठीक, लेकिन रुक्मिणी के मुख से हाथ हटते ही वह पुनः विरोध पर उतर आई। और उसके विरोध से यह तो जाहिर हो ही रहा था कि वह अब भी मुझसे बहुत दूर है। होने दो, उसकी वह जाने, लेकिन इस समय मेरी प्रसन्नता का कोई ठिकाना न था। सच ही तो है, स्वयंवर तो अब निरस्त हो ही चुका था। रुक्मिणी को शिशुपाल के पंजे से छुड़वा ही चुका था। जरासंध को एकबार फिर मात दे ही चुका था। रुक्मिणी का जीवन बर्बाद होने से भी बचा ही चुका था। सो वह समझे ना समझे, मुझे तो अपना कर्तव्य निभाने की खुशी थी ही। और फिर वैसे भी जिसके दस वर्ष सपने देखे हों... वह पहली बार आपकी बगल में बराबरी पर बैठी हुई हो, तो भला कौन खुश नहीं होगा?

बस इसी खुशी में मैंने बगल में बैठी रुक्मिणी पर तिरछी निगाह घुमाई। हालांकि नजर घुमाते ही सारी मस्ती छू हो गई। रुक्मिणी की बढ़ती नाखुशी ने मेरा पूरा नशा हिरण कर दिया। यही नहीं, उसकी इस बेवक्त की नाराजगी ने सारी खुशी भुलाकर एक गहरी सोच में डूबने पर मजबूर भी कर दिया। कहीं सचमुच रुक्मिणी को समझने में मुझसे कोई भूल तो नहीं हो गई है...? कहीं मुझसे कुछ गलती तो नहीं हुई है? वैसे गलती कृष्ण से हो ही नहीं सकती। क्या वह शिशुपाल के साथ जीवन गुजारने पर खुश रह सकती थी? ...कतई नहीं। रुक्मिणी तो पगली है, समझ नहीं रही। कोई बात नहीं..., कुछ देर में उसे भी समझा दिया जाएगा। लेकिन समझाऊं कैसे? महारानी भी कम कमाल तो थी नहीं। मेरे मुख से हाथ हटाये हुए काफी समय हो चुका था; फिर भी वह मुंह से कुछ नहीं बोल रही थी। बस अपनी आंखों से ही नाराजगी जाहिर किए जा रही थी। तो मैं भी कौन कम था, मासूमियत ओढ़े चुपचाप ऐसे बैठा हुआ था मानो कुछ समझ ही न पा रहा होऊं। दूसरी ओर रथ अपनी पुरजोर गति से दौड़ा जा रहा था। स्वाभाविक तौर पर इस समय खामोशी का रथ पर राज हो गया था।

लेकिन यह सब भी कब तक चलता? आखिर रुक्मिणी ने चुप्पी तोड़ ही दी। यूं भी वह तो उसे ही तोड़नी थी। इतना बड़ा कदम उठाने के बाद मैं तो कुछ बोलने से रहा। मेरी तो उसकी नाराजगी देखते हुए वैसे ही घिघ्घी बंधी हुई थी। उधर उसने भी मुंह खोला तो नाराजगी जाहिर करने हेतु ही। तो वैसे भी वह और क्या करती? मेरी इस हरकत पर कोई पुरस्कार तो देने से रही। सो दुखियारी बोली- यह क्या किया कृष्ण आपने? मैंने आपको स्वयंवर रुकवाने के लिए बुलवाया था, आपने हरण ही कर लिया? ...मुझे धोखा दिया?

अपेक्षित होने के बावजूद एकबार को तो मैं चक्कर ही खा गया। ...लो, मुंह खोला भी तो कोसने के लिए। हालांकि एक बात के लिए उसकी तारीफ करनी होगी कि इतना सबकुछ हो जाने पर भी उसका आत्मविश्वास रत्तीभर नहीं डगमगाया था। इस समय भी उसकी वाणी में गजब की छटा थी। खैर, अब इस समय रूठी रुक्मिणी से क्या कहता...? अन्य परिस्थिति होती तो बड़ा इतरा कर कह देता कि यही तो वे अदाएं है, जो कृष्ण को बुरी तरह घायल किए हुए है। चलो इतनी बेशरमी न सही पर कुछ तो कृष्णपन दिखाना ही होगा। जब रानी आत्मविश्वास दिखाने पे तुली हैं, तो भला राजा कैसे पीछे रह सकता है? उसकी स्पष्ट नाराजगी जानने के बावजूद मैं भी बिल्कुल नहीं डगमगाया, उल्टा बड़े शांत भाव से प्रत्युतर देते हुए बोला- रुक्मिणी! तुम्हारा सोचना अपनी जगह ठीक हो सकता है, परंतु सत्य नहीं है। सत्य यह है कि यह हरण मैंने किया नहीं, मुझसे अनायास हो गया है। आज मैं तुमसे एक और सत्य कबूलना चाहता हूँ कि मथुरा में जब मैंने तुम्हें पहली बार देखा था तभी से मैं तुम्हारा दीवाना हो गया था। सच कहूं तो यह द्वारका तक का सफर भी मैं अपने एकतरफा प्रेम की वजह से ही तय कर पाया हूँ। मेरी सारी प्रगति तुम्हारे प्रेम की प्रेरणा के बदौलत ही है।

अनायास ही मेरे मुंह से ये सब बातें सुनकर वह चकित रह गई। बड़ी विस्मय-भरी निगाहों से मेरी तरफ देखने लगी। मैं भी आशा-भरी निगाहों से उसकी तरफ देखकर मुस्कुराने लगा। पता नहीं वह क्या और कितना समझी, पर मेरी बात का उस पर कुछ सकारात्मक प्रभाव पड़ा हो, ऐसा अवश्य लगा। उसका क्रोध भी कुछ शांत होता हुआ नजर आने लगा। मेरे लिए यही पर्याप्त था। मैंने इसे अपने प्यार व सच्चाई की पहली जीत के रूप में देखा। इसके साथ ही ना सिर्फ मेरा आत्मविश्वास पूरी तरह से लौट आया, बल्कि मैं पूरे उत्साह से भी भर गया। उधर कुछ सम्भलते ही रुक्मिणी ने भी एक सीधा सवाल दाग दिया। उसने पूरी गंभीरता से पूछा- आपका प्रेम अपनी जगह है, पर इससे आप इस हरण को कैसे न्यायोचित ठहराएंगे...?

मैं खुश हुआ। चलो उसने संवाद का द्वार तो खोला, वह भी सीधा और संजीदा। मैं और भी विश्वास से भर गया। बस उसी उत्साह व आत्मविश्वास के सहारे मैंने बात आगे बढ़ाते हुए कहा- वैसे समझा जाए तो तुमने मुझे यहां जिस अधिकार से बुलवाया था, वह तुम्हारा प्यार नहीं तो और क्या था? और फिर मैंने जो कुछ भी किया वह अंतिम उपाय के तौर पर ही किया। सोचो आखिर कितनी बार स्वयंवर टाला या रुकवाया जा सकता था? हो सकता है अगली बार बगैर स्वयंवर रखे तुम्हें जबरदस्ती शिशुपाल के गले बांध दिया जाता। यह भी सोचो कि यदि मैं भी स्वयंवर में आमंत्रित होता तो तुम मुझे या शिशुपाल में से किसे चुनती? निश्चित ही तुम्हें चुनाव की स्वतंत्रता होती तो तुम मेरा ही चुनाव करती। तो समझ लो अब भी यही हुआ है। मैं यकीन दिलाता हूँ कि मैं अपने से बनती हर कोशिश कर तुम्हें हमेशा प्रसन्न रखने का प्रयास करूंगा।

रुक्मिणी मेरी बेबाक बात सुनकर अवाक् रह गई। वह टकटकी लगाए मेरी तरफ देखने लगी। वह मेरे एक-एक शब्द, मेरे एक-एक हावभाव को समझने का प्रयास कर रही थी। शायद महारानी इस आशिक-ग्वाले की परीक्षा ले रही थी। ...बाकी सब तो ठीक, पर महाराज मेरे लायक हैं भी कि नहीं? यूं तो जीवन के बड़े-बड़े इम्तिहानों में सफल हो चुका था, लेकिन इस इम्तिहान में जीतने से ज्यादा आवश्यक कभी कुछ न था। देखें आज इस महत्वपूर्ण परीक्षा में क्या होता है? स्वाभाविक रूप से इस इम्तिहान का परिणाम जानने हेतु मैं भी बड़ी आशा भरी निगाहों से उसकी तरफ देख रहा था। वह इतनी बुद्धिमान तो थी ही कि मेरी बात और वर्तमान परिस्थिति दोनों पूरी तरह समझ सके। कुल-मिलाकर धीरे-धीरे ही सही, मैं इम्तिहान में सफलता की ओर बढ़े चला जा रहा था। मेरी स्पष्ट-वादिता के बाद शनै:-शनै: उसका विरोध काफी हद तक कमजोर पड़ता जा रहा था। तन से ही नहीं, धीरे-धीरे मन से भी वह मेरी होती जा रही थी। लेकिन खामोशी का आवरण वह अब भी ओढ़े हुए थी। शायद खुद को मनाने के प्रयास में लगी हुई थी। तो मना लो, और अच्छे से मना लो; मुझे भी क्या जल्दी है? राह तो हमने द्वारका की ही पकड़ी हुई है।

...आखिर जल्द ही इस इन्तजार का भी अंत आया। कुछ देर की खामोशी के बाद वह बड़ी वैचारिक मुद्रा बनाते हुए बोली- शायद आपने जो किया वह उचित ही है; परंतु किसी भी लड़की का स्वयंवर से हरण होना राजमहल की बेइज्जती है। मेरी तो ठीक, पर मुझे अब पिताजी व दादाजी की चिंता सता रही है।

...यह तो गढ़ ही जीत लिया। बात खुद से हटकर परिवारवालों की चिंता पर जा अटकी। यानी उसकी रजामंदी प्रकट हो ही गई। बस मैंने भी अच्छे बनने व समझदारी दर्शाने के प्रयासरूप तपाक् से कहा- निश्चित ही लड़की का हरण राजमहल की इज्जत खाक में मिला देता है। परंतु यह स्वयंवर जरासंध, शिशुपाल व रुक्मी आयोजित कर रहे थे। और सभी जानते हैं कि तुम्हारी सुरक्षा की जिम्मेदारी भी उन्हीं की थी। यकीन मानो इस लिहाज से तुम्हारा हरण जरासंध व शिशुपाल का अपमान है, कुंडिनपुर के राजमहल का कतई नहीं। जहां तक

पिताजी व दादाजी की चिंता का सवाल है, मेरे विचार से एक बाप अपनी लड़की के लिए बेहतर जीवन-साथी चाहता है। भले ही मैं स्वयं को आर्यावर्त का सर्वश्रेष्ठ वर न मानूं, फिर भी महाराजा भीष्मक तथा पितामह कैशिक मुझे शिशुपाल से बेहतर तो मानेंगे ही। अत: मैं यह दावे से कह सकता हूँ कि वे दुखी नहीं होंगे, उल्टा प्रसन्न ही होंगे।

रुक्मिणी एक समझदार व सुलझी हुई लड़की थी। मेरी बातों का सार समझने में उसने जरा भी वक्त नहीं लगाया। और इसके साथ ही उसके तमाम सवालों, शंकाओं व चिंताओं का अंत आ गया। मैं बहुत खुश था। मेरे सपनों की रानी ना सिर्फ मेरे पास थी, बल्कि अब तो मेरी भी हो चुकी थी। सच कहूं आपसे तो मैं अब कहीं जाकर उसे ऊपर से नीचे तक निहारने की हिम्मत जुटा पाया था। अब तक तो उससे सीधे निगाहें मिलाने तक की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। उधर उसने भी इतनी यात्रा साथ में गुजारने के बावजूद पहली दफा मुझे ध्यान से देखा था। और इस समय तो वह ना सिर्फ देख रही थी, बल्कि ऊपर से नीचे तक मुझे टटोल भी रही थी। शायद वह मुझे तौल रही थी कि कहीं मुझसे मदद मांगकर उसने घाटे का सौदा तो नहीं कर लिया है? ...दूसरी तरफ मेरा हाल बताऊं तो मैं तो उसकी सुंदरता व निर्दोषता के पूरी तरह वश में आ चुका था। मैं काफी उत्तेजित भी हो गया था। यूं भी एक हद तक तो मैं रुक्मिणी को पा ही चुका था, लेकिन फिर भी मन उसे पूरी तरह से पाने के लिए बुरी तरह मचल उठा था।

हालांकि इस समय उसकी तबीयत को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। स्वाभाविक तौर पर जबरदस्ती के स्वयंवर का मानसिक बोझ वह पिछले कितने ही महीनों से उठा रही थी, ऊपर से अप्रत्याशित हुए इस हरण ने उसे पूरी तरह थका दिया था। अचानक क्या हुआ कि वह बार-बार मुर्छित होने लगी। शायद मानसिक दबाव हद से गुजर जाने का यह परिणाम था। इधर उसका यह हाल देख मेरी जान निकली जा रही थी। मैंने सोचा, कुछ फल वगैरह खा ले तो कुछ ताकत आ जाए, कुछ राहत महसूस करे। लेकिन उसका मन कुछ खाने-पीने को नहीं कर रहा था। विश्राम दूसरा इलाज था, जिससे उसे कुछ राहत हो सकती थी। लेकिन रथ को रोकना अभी खतरे से खाली नहीं था। वहीं किसी सराय वगैरह में भी इस समय आसरा नहीं लिया जा सकता था। घायल जरासंध व पागल रुक्मी का क्या भरोसा? यह हो ही सकता था कि वे मुझे रोकने हेतु मेरा पीछा करें। क्योंकि प्रचलित परंपरा के अनुसार जब तक मैं रुक्मिणी को लेकर सलामती से द्वारका नहीं पहुंच जाता, तब तक इस हरण को विवाह नहीं माना जा सकता। चलो, यह चिंता छोड़ूं तो भी रुक्मिणी की चिंता तो मुझे करनी ही थी। यदि हम धर लिए गए तो ऐसे में वे मेरे साथ तो जो करेंगे सो करेंगे ही, रुक्मिणी को भी शिशुपाल के गले अवश्य बांध देंगे। रुक्मिणी की वर्तमान हालत से साफ था कि ऐसे में वह रो-रोकर ही खत्म हो जाएगी। इसका अर्थ यह भी स्पष्ट था कि यह हरण मेरे से कहीं ज्यादा रुक्मिणी के लिए आवश्यक था। अब वह माने या न माने यह अलग बात है, लेकिन कृष्ण से दूसरे का सिर्फ भला ही हो सकता है।

खैर! उपरोक्त सारी बातों का तारण यह कि रुक्मिणी की हालत यात्रा कर सके ऐसी कतई नहीं थी, फिर भी यात्रा जारी रखना मेरी मजबूरी थी। ...सो हमारी यात्रा जारी थी। दोपहर सर पे चढ़ गई थी। लेकिन आज रथ को सुबह-दोपहर-शाम से कोई सरोकार नहीं था; उसे तो आज बस दौड़े ही जाना था। आज तो सुंदर पहाड़ियां, बहते झरने व नदियां भी रसप्रद मालूम नहीं पड़ रहे थे। बस रुक्मिणी का ध्यान रखते हुए उसे लेकर सही-सलामत द्वारका पहुंचना एकमात्र मेरा ध्येय था। ...इधर रुक्मिणी की हालत थी कि सुधरने का नाम ही नहीं ले रही थी। हालांकि मैं अपनी ओर से उसे सम्भालने की पूरी कोशिश किए ही हुआ था, पर मुसीबत यह थी कि उसकी थकान शारीरिक कम, मानसिक ज्यादा थी। भले ही हरण को लेकर उसकी नाराजगी कम हो गई थी, परंतु वह राजी हो गई हो; ऐसा उसके व्यवहार से अब भी नहीं लग रहा था।

आखिर रुक्मिणी की हालत देखते हुए संध्या होते-होते हमें एक छोटे से सुनसान आश्रम में आसरा लेना ही पड़ा। सावधानीवश रथ को मैंने आश्रम के पिछवाड़े छिपा दिया था। यही नहीं, आश्रम की तमाम मशालें भी बुझवा दी थी, ताकि यदि कोई हमारा पीछा करते हुए आए तो भी उसे यहां किसी के रुकने का अंदेशा न हो। यूं तो रुकना किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं कहा जा सकता था, लेकिन क्या करें...? रुक्मिणी की थकान व तबीयत लगातार यात्रा करने की इजाजत भी नहीं दे रहे थे। संतोष की बात बस इतनी थी कि हम इतनी दूर तो निकल ही आए थे कि सुबह तक कोई खतरा नजर नहीं आ रहा था। और सुबह जल्दी चंपत हो गए, तो फिर रथ की कमान दारुक के हाथ में होने के बाद कौन हमें द्वारका प्रवेश से पहले पकड़ पाने वाला था? सो यह सब गणित लगाते हुए आसरा मैंने पूरे विश्वास के साथ ही लिया था। हालांकि सावधानीवश दारुक को फिर भी रथ में ही छोड़ दिया था। यानी मैंने व मेरी महारानी ने ही सराय में आश्रय लिया था।

खैर! सराय में कुछ देर विश्राम क्या किया, रुक्मिणी कुछ सामान्य होना अवश्य शुरू हुई। इसका सबूत यह कि बड़ी मिन्नतों के बाद ही सही, पर वह कुछ खाने को राजी हो गई थी। हालांकि इसका उसकी कमजोरी पर

तात्कालिक कोई असर नहीं पड़ा था। वह अब भी काफी कमजोर नजर आ रही थी। और थकान तो कितनी गहरी रही होगी, इसका अंदाजा आप इसी से लगा सकते हैं कि भोजन करते ही वह सो गई थी। सोना तो मैं भी चाहता था, लेकिन समय इसकी इजाजत नहीं दे रहा था। हां, रुक्मिणी को सोया जान मैं जाकर दारुक को अवश्य सोने के निर्देश दे आया था। क्योंकि उसे फिर सुबह से रथ चलाना था। ...और रथ चलाने की थकान मुझसे बेहतर कौन जान सकता है? हालांकि थकान के बावजूद दारुक के सोते ही मैं पूरी तरह चौकन्ना हो गया था। क्योंकि यहां कभी भी कुछ भी अप्रत्याशित घट ही सकता था। ...दूसरी ओर रुक्मिणी की अस्वस्थता के चलते मैं यूं भी नहीं सो सकता था। एक छोटी-सी चूक के कारण हाथ लगी इतनी बड़ी सफलता को मैं दांव पर लगा दूं, ऐसा मूर्ख मैं कतई नहीं था। यानी एक नहीं अनेक कारणों से जागना मेरा भाग्य हो चुका था। दूसरी ओर मन भी एक नहीं अनेक चिंताओं से घिरा ही हुआ था। ना सिर्फ जरासंध और रुक्मी का भय बना हुआ था, या रुक्मिणी की तबीयत मुझे चिंता में डाले हुए थी ...बल्कि कहीं गहरे में भैया, उद्धव व सात्यकि की फिक्र भी बनी ही हुई थी। वहीं शेव्या-श्वेतकेतु की सलामती भी मेरी ही जिम्मेदारी में आता था। निश्चित ही हरण हो जाने के बाद उनका योजना में शामिल होना जगजाहिर हो चुका था। ऐसे में यदि वे पकड़े गए तो उन्हें मृत्युदंड मिलना निश्चित था।

कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि इस समय मैं एक नहीं, हजार उलझनों से घिरा पड़ा था। सांत्वना के नाम पर यह कि इतना बड़ा सपना कहीं बगैर उलझनों के साकार होता है? वैसे हालत सिर्फ थकान और चिंताओं ने ही खराब कर रखी थी, ऐसा नहीं था। कई हसीन और मीठे दर्द भी इस समय भोग रहा था। पहली बार रुक्मिणी का और मेरा साथ हुआ था। मन उससे हजार बातें करना चाहता था। लेकिन उसकी तबीयत व नाराजगी दोनों इसमें बाधक सिद्ध हो रहे थे। मेरे सपनों की रानी ...मेरी प्राणप्यारी मेरी बगल में थी, मन तो करता था कि अभी उसका हाथ अपने हाथों में थाम लूं; पर सब मन की मन में ही रखनी पड़ रही थी। ऐसे में मेरे दिल पर कितने नस्तर चल रहे थे, मैं क्या बताऊं? ...सचमुच आज की रात हर दृष्टिकोण से मुझपर बहुत भारी थी।

होगा, अभी तो हर रात्रि की तरह इस रात की भी सुबह हो ही गई। और खुशी की बात यह कि यह सुबह जीवन की सबसे बड़ी खुशखबरी लेकर आई। मेरा सब्र रंग लाया। रुक्मिणी उठने के साथ ना सिर्फ स्वस्थ नजर आ रही थी, बल्कि सामान्य भी जान पड़ रही थी। शायद उसकी चिंता में मेरे रातभर जागने का ‘‘यह हसीन परिणाम’’ नसीब हुआ था। दिल के किसी कोने में उसे यकीन हो चला था कि चाहे जो हो, कृष्ण मुझसे प्यार बहुत करता है। ...अब क्या कहूं। हृदय चीर के दिखा दूं? अरे पगली! अपने प्राण से ज्यादा मुझे प्यारी है तू।

खैर! दिल खोलने-खुलाने को उम्र पड़ी है। अभी तो जब रुक्मिणी कुछ स्वस्थ नजर आ रही है तो फट से भाग जाने में ही भलाई है। अत: फटाफट नित्यकर्म निपटाकर हम तैयार हो गए। अभी हम निकलने को ही थे कि दूर से एक रथ आता हुआ दिखाई दिया। सावधानीवश हम फिर आश्रम के पीछे छिप गए। एक पल में पचासों सवालों व हजारों चिंताओं ने घेर लिया। पता नहीं किसका रथ हो, पीछे कौन आ रहा है? कहीं कश्ती के किनारे लगकर डूबने के आसार तो नहीं खड़े हो गए? ...हालांकि रथ के निकट आते ही कुछ जान-में-जान आई। ...क्योंकि इकलौता रथ चला आ रहा था। अब अकेला रथ है तो किसी का भी क्यों न हो, निपट लिया जाएगा। यह सोचकर हम बाहर निकल आए। ...लेकिन यह क्या! यह तो मेरा साला रुक्मी था। रुक्मी और अकेला? बात मेरी समझ से परे थी। क्योंकि उसे तो विशाल सेना के साथ होना चाहिए था। और सात्यकि व भैया के होते-सोते इतनी जल्दी सेना हम तक पहुंच पाए, यह संभव नहीं था। छोड़ो! मामला चाहे जो हो, अकेले रुक्मी से क्या खतरा? हो सकता है हमें बुलाने आया हो। सकारात्मक सोच यूं भी अच्छी होती है। और फिर यह तो मेरा साला था। उसके बाबत तो सकारात्मक सोचना ही चाहिए। बस यही सोचकर हमने अपना रथ मुख्य मार्ग पर ला खड़ा किया।

उधर उसने भी हम तक पहुंचते ही अपना रथ हमारे रथ से कुछ पीछे खड़ा कर दिया। क्रोध उसके पूरे अस्तित्व से झलक रहा था। अर्थात् वह हमें निमंत्रण देने तो नहीं ही आया था। यह भी स्पष्ट हो चुका था कि वह अपनी बहन का हरण, वो भी मेरे द्वारा किया जाना बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। और अभी इससे ज्यादा कुछ समझ पाऊं, उसने गजब की फुर्ती दिखाई। तुरंत रथ से कूद पड़ा व दूर से ही गदा लहराते हुए मेरी तरफ दौड़ पड़ा। मैं समझ गया कि यह साला आसानी से मानने वाला नहीं। दृश्य भी कमाल जम पड़ा था। उसे गदा ले दौड़ता आया देखकर मैं भी रथ से नीचे कूदा व सतर्कतापूर्वक रथ की बगल में खड़ा हो गया था। दूसरी ओर सुनसान सड़क थी, सुबह-सुबह का वक्त था दायीं ओर छोटा-सा सराय था। उधर रथ में पीछे की बैठक में रुक्मिणी बैठी हुई थी व रथ की कमान हाथ में लिए आगे दारुक तैयार बैठा हुआ था। और इधर मैं अब भी उसी रथ के बगल से सटकर पागलों की तरह हाथ में गदा लिए मेरी तरफ बढ़ रहे रुक्मी को देख रहा था। समझ यह नहीं आ रहा था कि इस पागल का किया क्या जाए? उधर रुक्मी के ऐसे रौद्र स्वरूप को देखकर रुक्मिणी के चेहरे पर भी चिंता की कई लकीरें

उभर आई थी। दूसरी ओर सकपकाया हुआ मैं अबकी कभी रुक्मिणी को तो कभी गदा लेकर आते हुए रुक्मी को देखने में व्यस्त हो गया। हालांकि तुरंत सम्भल भी गया। और सम्भलते ही कुछ अप्रत्याशित न घटे, इस उद्देश्य से सावधानीवश गदा मैंने भी उठा ली। साथ ही, परिस्थिति की नजाकतता देखते हुए मैंने दारुक को रथ प्रमुख मार्ग से हटाकर आश्रम के निकट खड़ा करने के लिए कहा। इधर अब तक रुक्मी महाराज भी मुझ तक पहुंच ही चुके थे। ...यानी अब मैं और रुक्मी आमने-सामने थे। घबराई हुई रुक्मिणी रथ में बैठी-बैठी ही यह तमाशा देख रही थी। दूसरी ओर पागल रुक्मी ने अपना आपा पूरी तरह से खो दिया था। अभी तो मेरे निकट आकर खड़ा हुआ नहीं कि लगा बेशुमार गालियां देने। तू गंवार, नीच, छोटे कुल का गरीब! कुंडिनपुर की राजकुमारी का हरण करने की तेरी हिम्मत कैसे हुई? अरे! मेरी बहन का हरण करने से पहले अपनी योग्यता व लायकात का तो ख्याल किया होता? नीच ग्वाले! अपनी जान की खैर चाहता है तो रुक्मिणी मेरे हवाले कर दे, और भाग जा यहां से।

रुक्मिणी तो अपने भाई का यह स्वरूप व ऐसी वाणी सुनकर स्तब्ध हो गई। मेरा अहंकार भी रुक्मिणी के सामने रुक्मी की यह अभद्र भाषा कतई बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। मेरा इतना घोर अपमान, वो भी मेरी प्राणप्यारी के सामने? ऊपर से ग्वाला कहकर तो उसने मेरी दुखती नस पर ही हाथ रख दिया था। अरे, अब तो मैं द्वारकाधीश हो चुका था। सोचा था, अब तो कम-से-कम गंवार व ग्वाला जैसे शब्दों से छुटकारा मिल ही जाएगा। पर पता नहीं इन राजे व राजकुमारों का अहं इतना विचित्र क्यों होता है?

...अरे पागलों! मेरी बात क्या करते हो? मैं तुम सभी से बेहतर हूँ। क्योंकि मैंने अपनी मेहनत की कमाई से अपना राज्य बनाया है। मुझे राज्य कोई विरासत में नहीं मिला है। इसलिए निश्चित ही योग्य व लायक मानकर मेरा सम्मान होना चाहिए। सम्मान नहीं दे सकते, अहं आड़े आता है, चलो कोई बात नहीं। ...पर यह अपमान क्यों? शायद यह फर्क बाप की कमाई में मिले राज्य व आप की कमाई से बनाए राज्य के व्यक्तियों के बीच का है। होगा; एक तो युवराजों के झूठे अहंकारों पर मुझे यूं भी क्रोध रहता ही था, ऊपर से उसने बड़ी मुश्किल से सामान्य हुई मेरी रुक्मिणी को भड़का दिया था। ...यह कम था तो गालियां बके जा रहा था। बस मुझे रुक्मी पर इतना क्रोध चढ़ गया कि इसी क्षण गदा से उसका सर फोड़ दूं। लेकिन रुक्मी को मारकर मुश्किल से निकट आई रुक्मिणी को मैं फिर अपने से दूर करना नहीं चाहता था। यही सोचकर मैंने किसी तरह अपने अहंकार रूपी क्रोध को थोड़ा शांत किया।

...लेकिन इधर मेरे अच्छा सोचने से क्या होना था? उधर रुक्मिणी आमने-सामने गदा लिए खड़े हम दोनों को देखकर फिर मुर्छित हो गई। अजीब हालत हो गई थी मेरी। एक तरफ मुर्छित रुक्मिणी की चिंता सता रही थी, तो दूसरी तरफ बिन बुलाये आई इस रुक्मी नामक बीमारी से भी निपटना आवश्यक था। ...सोचा पहले रुक्मी से निपट लूं। अत: मैंने उसे शांति से समझाने का प्रयास किया कि देखो रुक्मी, जो होना था हो चुका। अब रुक्मिणी मेरी पत्नी है और तुम मेरे साले। ...यानी मेरे निकटतम रिश्तेदार। मैं आज रुक्मिणी को पाकर बहुत प्रसन्न हूँ। अत: मैं आज कोई खून-खराबा नहीं चाहता।बेहतर है तुम यह हकीकत स्वीकार लो।

परंतु वह पागल कुछ समझे तब न। वह शांत होने की जगह और भड़कते हुए बोला- एक ग्वाला और कुंडिनपुर के राजघराने का रिश्तेदार? एकबार को पशु हमारे रिश्तेदार हो सकते हैं, परंतु ग्वाले कभी नहीं। सुन ग्वाले, मैं यह प्रतिज्ञा करके निकला हूँ कि या तो मैं रुक्मिणी को वापस ले जाऊंगा या फिर आज के बाद कभी कुंडिनपुर में पांव नहीं रखूंगा।

उसकी बात सुनते ही मेरी हंसी छूट गई। और हंसते हुए ही मेरे मुंह से निकल गया - ठीक है, मत रख कुंडिनपुर में पांव। समस्या क्या है...? ...बोलते तो बोल गया ...पर तुरंत समझ आ गया कि मैंने ठीक नहीं कहा। यह तो बेवक्त उस पर अच्छाखासा व्यंग कस दिया।

लेकिन अब गलती तो हो ही चुकी थी। और उसके परिणामस्वरुप अब उस पागल को भी भड़कना ही था। बस उसने तुरंत गदा उठाकर मुझपर वार कर दिया। खैर, वार तो मैं बचा गया लेकिन मैं अब भी युद्ध के पक्ष में नहीं था। सौ बातों की एक बात यह कि रुक्मिणी को देखते हुए मैं यह युद्ध टालना चाहता था। अत: मैंने फिर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा- देखो मेरे भाई! रुक्मिणी को तो तुम ले जा नहीं सकते। बेहतर है, अपनी छोटी बहन को आशीर्वाद दो और लौट जाओ। इसी में तुम्हारा बड़प्पन है।

...परंतु वह कहां सुनने वाला था? उसने फिर गालियां देना शुरू किया। इधर इसी दरम्यान अचानक रुक्मिणी को होश आ गया। परंतु जैसे ही उसने गदा लिए हम दोनों को आमने-सामने देखा, बुरी तरह चकरा गई। वह यह नजारा बर्दाश्त नहीं कर पाई। बेचारी इस हालत में भी रुक्मी को समझाने कूद पड़ी। और अपनी इस कोशिश में वह ठीक हम दोनों के बीच आ खड़ी हो गई। लेकिन रुक्मी भी रुक्मी था। वह तो उसको इस तरह अपने सामने देख और ताव खा गया। उल्टा उस पर ही भड़क गया। और फिर तो उसने रुक्मिणी की भी बारी निकाल दी।

लगा उसे भी गालियां देने। कुल्टा, बदचलन, तू चुप रह...! मैं जानता हूँ कि हमारी आंखों में धूल झोंकने के लिए तुमने व कृष्ण ने मिलकर अपहरण का यह नाटक रचाया है। और इतना कहते-कहते उसने मुझपर एकबार फिर वार कर दिया। ...बहुत हुआ। अबकी मैंने भी अपना आपा वास्तव में खो दिया। भला रुक्मिणी के लिए अभद्र भाषा का प्रयोग मैं कैसे बर्दाश्त करता? बस, उसका वार तो मैं किसी तरह बचा गया, परंतु स्वयं को उस पर आक्रमण करने से नहीं रोक पाया। बस मेरे एक ही पलटवार में उसके हाथ से गदा छूट गई। मौका जान तत्क्षण एक हाथ से उसे धर-दबोचा व दूसरे हाथ से गदा लहराई..., मैं उसका सिर फोड़ने को ही था कि अचानक रुक्मिणी चिल्लाई। ...दौड़ती हुई आकर मेरे चरणों में गिर पड़ी: और गिड़गिड़ाते हुए बोली- स्वामी! आपका क्रोध जायज है। परंतु यह मेरा भाई है। इसकी बहन का हरण हुआ है। यह इस समय अपने होश में नहीं है। मैं विनती करती हूँ कि आप इसे क्षमा करें। यह आपकी ओर से मुझे विवाह की भेंट होगी...!!!

...यह सुनते ही मेरे हाथों से अपनेआप रुक्मी की गर्दन कब छूट गई, पता नहीं। शायद रुक्मिणी की विनती भी मेरे लिए आदेश का कार्य कर गई थी। वह विवाह कबूल कर रही थी, इस ख्याल-मात्र से मेरा रोम-रोम रुक्मिणी के वश में हो गया था। मैंने भी सोचा, साले को छोड़ ही दिया जाए। रुक्मिणी को प्रसन्न करने का इससे आसान तरीका और कहां मिलेगा? और मेरी व्यावसायिक बुद्धि कह रही थी कि भेंट में कुछ जा भी नहीं रहा था, उसी का भाई उसी को लौटाना था। बस यह सोचकर मैंने अपनी गदा तो हटा ली पर रुक्मी के चेहरे पर एक जोरदार मुक्का जड़ने से स्वयं को नहीं रोक पाया। शायद मेरा क्रोध अभी पूरी तरह शांत नहीं हुआ था। इधर ग्वाले के हाथ का एक मुक्का क्या पड़ा, उसके मुंह से खून बह निकला। ...जब देखो तब ''ग्वाला - ग्वाला'' कहके गाली दिया करते हो। एक ही मुक्के में मरने-मारने का जोश ठिकाने कर दिया न? कुल-मिलाकर रुक्मिणी के कहने पर उसे छोड़ तो दिया था पर क्रोध तब भी शांत नहीं हो पा रहा था। यूं भी मुझे अपने साले का बिल्कुल भरोसा नहीं था। और कुछ नहीं तो वह राजी-खुशी टल जाए, ऐसी बला तो कतई नहीं था। अजीब दृश्य हो गया था। घायल रुक्मी वहीं रथ के पास पड़ा हुआ था। मैं मारे क्रोध के बुरी तरह कांप रहा था और भयभीत रुक्मिणी मेरी बगल में ही खड़ी यह तमाशा देख रही थी। मैंने तुरंत दारुक को बुलवाकर दोनों गदाएं अपने रथ में रखवा दी। गदा के हटते ही रुक्मिणी कुछ सामान्य हुई। लेकिन मैं अब भी पूरी तरह शांत नहीं हुआ था। मैंने दो लात मारकर रुक्मी के रथ के पहिये तोड़ दिए। ताकि कम-से-कम वह अब हमारा पीछा न कर सके। ...परंतु मेरा क्रोध था जो अब भी शांत होने को तैयार नहीं था। उसने मेरी रुक्मिणी को अभद्र गालियां दी थी। क्रोध शांत होता भी तो कैसे? हालांकि क्रोध इतना भी नहीं था कि रुक्मी को जान से मार बैठूं। यूं भी रुक्मी को जान से मारकर मैं अपनी ''जान'' को नाराज भी नहीं कर सकता था। परंतु अपना क्रोध शांत करने हेतु कुछ तो करना ही था। सो जब कुछ नहीं सूझा तो मैंने रथ में पड़ी छोटी तलवार से रुक्मी के बाल ही काट दिए। जब इससे भी क्रोध शांत नहीं हुआ तो उसकी दाढ़ी, मूंछ भी मूंड़ दी। आप मानेंगे नहीं कि तब कहीं जाकर मेरा क्रोध कुछ हद तक शांत हुआ। मैं जानता हूँ, बड़ी-ही बच्चों वाली हरकत की थी मैंने। लेकिन क्या करूं; मुझे क्रोध ही इतना चढ़ा हुआ था [17] ।

लेकिन अब और नहीं। बस रुक्मी को वहीं छोड़कर मैंने रुक्मिणी का हाथ पकड़ते हुए उसे अपने साथ रथ पर बिठा लिया। यह पहली बार मैंने रुक्मिणी का हाथ अपने हाथों में लिया था। देखा आपने! रुक्मी को जीवनदान देकर मैंने रुक्मिणी को किस तरह पा लिया था। और इसके साथ ही हमारी यह यात्रा एकबार फिर प्रारंभ हो गई थी। उधर क्रोध शांत होते ही मैंने मन-ही-मन रुक्मी का आभार भी माना। रुक्मिणी को इतने निकट लाने का वही तो निमित्त बना था। कमाल था! क्रोध में मैं रुक्मी को मारना चाहता था, और अब द्रष्टा बनते ही उसे धन्यवाद देने लगा। सचमुच अहंकार व द्रष्टा के देखने में कितना बड़ा फर्क है? और उससे भी कहीं बड़ा फर्क दोनों के व्यवहार में है। सोचो जरा; जीवन भर द्रष्टा की अनुपस्थिति में सिर्फ अहंकार से जीने वाला मनुष्य क्या सत्य देख पाता होगा...?

छोड़ो, होगा! अभी यह सब मेरे चिंतन का विषय नहीं। अभी तो मेरा मन इस समय स्वर्ग की अंतिम ऊंचाइयां छू रहा था। रुक्मिणी प्रेम से मेरी बांहों में थी। मैं प्यार से उसके सिर को सहला रहा था। मैं और मेरा सपना पूरी तरह एक हो चुके थे। सच कहता हूँ कि रुक्मिणी का सपना साकार क्या हुआ, द्वारका का सपना उसके सामने अत्यंत फीका नजर आने लगा। अब रुक्मिणी का साथ हो तो द्वारका क्या और झोपड़ा क्या? मुझे तो विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतनी जल्दी रुक्मिणी अपने को पूरी तरह से मुझे समर्पित कर चुकी है। अभी कल तक जो जबरदस्ती किया हुआ हरण था, वह आज एक राजी-खुशी हुए विवाह में तब्दील हो चुका था। और इस कमाल में मात्र और एक मात्र कमाल रुक्मी का ही था। यही तो जीवन का खेल है; यहां शत्रु...शत्रु नहीं होते और अक्सर मित्र...मित्र साबित नहीं होते।

चलो यह भी छोड़ो। अभी तो कुछ ही देर बाद यहां एक और चमत्कार हो गया। रुक्मिणी ने स्वयं कुछ खाने

के लिए मांगा। मेरी खुशी का तो ठिकाना न रहा। मैंने तुरंत रथ रुकवाया व भागकर एक-से-एक फल तोड़ लाया। मैंने अनेकों बार फल तोड़े थे, अनेकों बार क्या, जीवनभर यही सब तो किया था। ...परंतु आज रुक्मिणी के लिए फल तोड़ने का आनंद ही कुछ और था। उधर रुक्मिणी भी मेरे ऐसे अति प्रेमपूर्ण व्यवहार से बहुत प्रसन्न नजर आ रही थी। वहीं सच कहूं तो समय के साथ वह निश्चिंत भी होती जा रही थी। उसे धीरे-धीरे यकीन हो चला था कि उसे श्रेष्ठ जीवनसाथी मिल गया है। ...अब क्या कहूं, मुझे तो इसमें पहले से कोई शक नहीं था।

खैर! इधर पेट में कुछ क्या गया, रुक्मिणी ने सोने की इच्छा जाहिर की। मैंने उसे अपनी गोद में ही लिटाया और बड़े प्यार से उसके सिर व पीठ पर हाथ फेरते हुए उसे सुला दिया। जब उसने अच्छा जीवनसाथी मान ही लिया है तो अच्छा बनकर भी दिखाऊं। रुक्मिणी को इस तरह प्रेम से सुलाना मुझे कितना अच्छा लग रहा था, मैं चाहकर भी वर्णन नहीं कर सकता। यूं भी मीठे भावों का अनुभव करना आसान है, उनका वर्णन करना वैसे ही असंभव होता है। सो, उसे भी छोड़ो। अभी तो हम कुंडिनपुर से काफी दूर निकल चुके थे। किसी तरह के खतरे की अब कोई संभावना नहीं थी। उधर सूरज भी सिर पर आ चुका था, निश्चित ही उसकी तेज धूप रुक्मिणी को परेशान किए हुए थी। ऊपर से ये कच्ची सड़कें अकारण उसकी नींद में खलल पहुंचा रही थी। सोचा, जब कोई खतरा नहीं तो व्यर्थ रुक्मिणी को क्यों परेशान होने दिया जाए? बस मैंने अपना रथ एक विशाल पेड़ के नीचे रुकवा दिया, ताकि उसकी छांव में रुक्मिणी आराम से सो सके। देखा, कितना ख्याल रख रहा था मैं अपनी प्राणप्यारी का?

और यूं भी इस बहाने दारुक व घोड़ों को भी विश्राम मिलना ही था। यूं भी सच कहूं तो अब मैं भैया, सात्यकि व उद्धव का भी इन्तजार करना चाहता था। अब जाकर मुझे उनकी चिंता भी सताने लगी थी। उन्होंने सेना को रोककर अपना काम तो कर दिया था, लेकिन कहीं काम करते...करते वे खुद कुंडिनपुर में घिर न गए हों। वैसे तो भैया व सात्यकि जैसे वीर योद्धाओं को घेरना आसान नहीं था। और फिर उनके साथ द्वारका के श्रेष्ठ सैनिक भी थे। अत: मेरा अंदाजा था कि यदि सबकुछठीक रहा तो संध्या या रात्रि तक उन लोगों को यहां पहुंच जाना चाहिए। लेकिन सबकुछ ठीक चला, तो... कहीं ऐसा न हो वहां कुछ बुरा घट जाए और ''रुक्मिणी-विवाह'' व द्वारका-निर्माण, दोनों के नशे हिरण हो जाएं। वैसे रुक्मी के अकेले आने के बाद करीब-करीब यह स्पष्ट था कि अब जरासंध, शिशुपाल व रुक्मी की तिकड़ी मिलकर इससे ज्यादा कुछ कर पाए, या करने की सोच रहे हों, ऐसा नहीं लग रहा था। पर क्योंकि मामला भैया और मित्रों का था, अत: संभावना क्षीण होते हुए भी चिंता तो पकड़े ही हुए थी। वहीं दूसरी ओर मुझे उनसे कहीं ज्यादा शेव्या व श्वेतकेतु की चिंता भी खाये जा रही थी। यूं तो भैया से उनको अपने साथ लाने का कहता आया था; लेकिन जल्दबाजी में कहीं कोई चूक न हो जाए। क्योंकि ऐसा होने पर जरासंध की त्रिपुटी ''रुक्मिणी-हरण'' का पूरा क्रोध उन दोनों पर ही निकालेगी, यह तय था। और यदि ऐसा हुआ तो मैं स्वयं को कभी माफ नहीं कर पाऊंगा। वहीं यदि ऐसा कुछ हुआ तब तो रुक्मिणी को पाने का पूरा मजा ही किरकिरा हो जाएगा।

यानी करने को चिंता जमाने भर की थी व तमाम ऐसी कि जिसमें मैं कुछ नहीं कर सकता था। मैंने तुरंत अपना चिंतन चिंताओं से हटाया। और चिंतन का चिंताओं से हटते ही कुदरत पर विश्वास जागा। जब स्वयं कुछ नहीं कर सकते तो कम-से-कम कुदरत पर भरोसा तो कर ही सकते हो। और फिर जब तुम्हारी नीयत साफ है तो कुदरत क्यों तुम्हारा कुछ अहित करेगी? ताजा उदाहरण ही लो। रुक्मी... रुक्मिणी को तुमसे दूर करने आया था, और उसी की मेहरबानी से रुक्मिणी तुम्हारे इतने निकट आ गई थी। साले साहब लाख बुरा चाहें तो क्या, होता तो वही है जो मंजूरे-कुदरत होता है। फिर जरासंध के चाहने से भी क्या होगा? यूं भी अब तक उसके चाहने से हुआ भी क्या है? जब अब तक मंजूरे-कुदरत ही होता आया है तो अब कहां मंजूरे-जरासंध होने वाला है? बस यही सब सोचकर मैंने स्वयं को पूरी तरह से चिंता मुक्त कर दिया। और चिंता से मुक्त होते ही मैं वापस पूरी तरह से ''रुक्मिणी-मय'' हो गया। व्यर्थ चिंता कर वर्तमान क्यों खोऊं? कम-से-कम जो सपना साकार हुआ है उसका तो आनंद लूं! पर वह भी कैसे लूं...? रुक्मिणी तो उठने का नाम ही नहीं ले रही थी। इधर भैया वगैरह का भी अब तक कोई पता नहीं था। ...और इधर मेरे पास एक के उठने व दूसरे के आने का इन्तजार करने के अलावा कोई चारा नहीं बचा था।

हालांकि संध्या होते-होते रुक्मिणी जाग गई थी। और इसके साथ ही मेरा पहला इन्तजार समाप्त हुआ था। नींद पूरी क्या हुई, उसमें जान भी आ गई थी। इससे उत्साहित होकर मैंने सोचा कि क्यों न तरोताजा रुक्मिणी के साथ किसी बड़े विश्रामालय में आश्रय ले लिया जाए? ...ताकि आज रात मैं भी आराम से अपनी नींद पूरी कर सकूं। साथ ही इसी बहाने उससे दो-चार प्रेमपूर्ण बातें भी कर लूं व भैया वगैरह का इन्तजार भी कर लूं। विश्रामालय खोजने हमें ज्यादा दूर नहीं जाना पड़ा। उधर विश्रामालय में आश्रय लेते ही रुक्मिणी ने भी राहत की सांस ली। शायद संभावित यात्रा की मानसिक थकान से बचने का यह प्रभाव था। कहने को तो यह भी कह सकता हूँ कि मेरे सेवा-भाव का यह प्रसाद था।

...अभी हम स्नान वगैरह करके तैयार ही हुए थे कि दूर से कई रथों की आवाजें आने लगी। मैंने इशारे से दारुक को पता लगाने भेजा। मन एक क्षण को घबरा भी गया। वैसे तो भैया वगैरह के होने की संभावना ही ज्यादा थी, फिर भी ...मेरे साथ कुछ भी हो सकता था। हालांकि मेरा अंदाजा सही था। भैया ही मित्रमंडली व सैनिकों के साथ आ पहुंचे थे। दारुक दौड़ा-दौड़ा भैया के आने की खबर लेकर आया। सुनते ही मैं भी दौड़ा-दौड़ा विश्रामालय के मुख्यद्वार पर पहुंच गया। शेव्या व श्वेतकेतु उनके साथ ही थे। उन्हें साथ में आया देखकर मेरी जान-में-जान आ गई। इस एक ही पल में जीवन की सारी खुशियां सिमटकर मेरी बांहों में समा गई। पहले द्वारका थी लेकिन रुक्मिणी न थी। जब रुक्मिणी मिली तो भैया व मित्रों पर मौत का साया मंडरा रहा था। लेकिन इस एक पल में सबकुछ सिमट कर एक हो गया था। जीवन में एक ऐसे पल ने दस्तक दी थी जो अहंकार के लिए भी शून्य का क्षण सिद्ध हो रहा था। इस एक क्षण में उसकी भी सारी चाहें पूरी हो गई थीं। आप मानेंगे नहीं, अनायास ही मेरा अहंकार भी ‘‘अचाह’’ में स्थित हो गया था। शायद यह भी अपने किस्म की पहली घटना होगी जहां द्रष्टा व अहंकार दोनों शून्य में लीन हो गएथे।

खैर! अभी तो धड़ाधड़ रथ विश्रामालय के बाहर की संकरी सड़क पर रुकना शुरू हो गए। उधर भैया, उद्धव व सात्यकि तो रथ से उतर भी गए। उनके पीछे-पीछे श्वेतकेतु व शेव्या भी उतर आए थे। बस मौका बनते ही वहीं रथों के बीच मार्ग पर खड़े-खड़े ही हमारा एक-दूसरे से गले लगना प्रारंभ हो गया। हालांकि जल्द ही इससे निपटकर हमने विश्रामालय में प्रवेश किया। निश्चित ही विश्राम की जरूरत सबको थी पर विश्रामालय इतना बड़ा नहीं था कि सभी एक साथ आसरा ले सके। सो हम सबने मेरे ही कक्ष में डेरा जमा लिया। रुक्मिणी तो एक साथ इतनों को आया देखकर ही चकित रह गई। वहीं दूसरी ओर श्वेतकेतु व शेव्या को आया देखकर चहक भी उठी। निश्चित ही कुछ देर मिलने-मिलाने का दौर चलता रहा। तत्पश्चात् रुक्मिणी व शेव्या वहीं ऊंचे बिस्तर पर विराजमान हो गए। हम सबने जमीन पर फैलकर आसरा ले लिया।

...इधर अच्छे से आसरा लेते ही मेरी जिज्ञासा वहां क्या कुछ हुआ, यह जानने में उलझ गई। बस मेरे पूछते ही सात्यकि ने मेरी जिज्ञासा शांत करते हुए बताया कि उन्हें कोई खास विरोध का सामना नहीं करना पड़ा था। उसके दो प्रमुख कारण थे। एक तो श्वेतकेतु का सहयोग था व दूसरा प्रात:काल का समय था। हां, हमारे दो सैनिक जरूर मारे गए। कुछ एक को मामूली चोटें भी आई, पर कुल-मिलाकर सबकुछ आसानी से पार पड़ गया था। चलो यह जिज्ञासा भी शांत हुई। इधर यूं तो सभी स्वाभाविक रूप से बेतहाशा थके हुए थे, लेकिन अपने बीच रुक्मिणी को पाकर सबकी थकान छू हो गई थी। उधर शेव्या को देख रुक्मिणी का उससे मिलना व लिपटना ऐसे जारी था मानो वर्षों बाद दोनों मिल रहें हो। यह सब तो ठीक पर मेरे लिए खुशी की बात यह कि रुक्मिणी की सुंदरता व सौम्यता ने प्रथम-दृष्टि में ही सब पर अपने प्रभाव का सिक्का जमा लिया था। उससे भी बड़ी खुशखबरी यह कि रुक्मिणी को भी सबका भोलापन भा गया था। परिणामस्वरूप देखते-ही-देखते सभी आपस में घुलमिल गए थे। अब आप तो जानते ही हैं कि भैया, सात्यकि, उद्धव समेत मेरे सभी मित्र काफी भोले व सरल थे। उधर रुक्मिणी राजमहलों के अहंकारों को देख ही चुकी थी। एक साथ इतने सरल व्यक्तियों को शायद उसने पहली बार देखा होगा। चूंकि हम स्वभाव से ग्वाले थे अतः हम में गांव का भोलापन वैसे ही कूट-कूटकर भरा हुआ था। और सच कहूं तो आज सभी के इसी भोलेपन पर मुझे बड़ा नाज हो रहा था। सबके इसी भोलेपन ने रुक्मिणी को मुझसे एक कर दिया था। खुशी की बात तो यह कि धीरे-धीरे आपस में हंसी-मजाक भी शुरू हो गया था। निश्चित ही इन सबके आपस में इस कदर घुल-मिल जाने से बड़ी राहत इस समय मेरे लिए और कोई नहीं हो सकती थी। लग तो ऐसा रहा था कि कुदरत अपना रंग बदलकर आज मुझपर खुशियों की वर्षा करने पर तुली हुई थी, वरना आप तो जानते ही हैं कि अपने सामान्य रंग में मुसीबतों की वर्षा तो मौके-बेमौके कुदरत करती ही रहती थी। कुदरत का यह बदला रुख सचमुच आज मेरे लिए किसी आश्चर्य से कम न था।

होगा! अभी तो यहां जो कुछ घट रहा है उसकी चर्चा करूं। यहां भैया तो इतने उत्साह में आ गए थे कि उत्सव की तैयारियों में जुट गए थे। भैया उत्सव क्यों न मनाते, उनके लाड़ले का विवाह जो हो चुका था। यही नहीं, उत्साहित भैया ने तो ना सिर्फ सैनिक-सिपाहियों के लिए बल्कि विश्रामालय के सेवकों के लिए भी शानदार भोजन बनवाया। यहां तक कि सेवकों की सहायता से मदिरा का इन्तजाम भी उन्होंने कर लिया। यूं भी बगैर मदिरा के उत्सव कैसा, खासकर तब जब उत्सव की कमान भैया के हाथ में हो। ...लो इन सब बातों के चलते रुक्मिणी को सामान्य करने में जिसका सबसे बड़ा सहयोग था उसका तो मैंने कोई खास जिक्र ही नहीं किया। जी हां; शेव्या। रुक्मिणी उसको आया देखकर ही चहक उठी थी। यूं भी एक साथ इतने सारे नए लोगों के बीच कोई अपना मिल जाए तो आदमी को सम्भलने में सहायता मिलती ही है। वैसे यह तो रुक्मिणी की बात हुई, मेरी कहूं तो मुझे तो शेव्या के

आने से एक नुकसान भी उठाना पड़ रहा था। रुक्मिणी का ध्यान मुझसे हटकर शेव्या से बतियाने में लग गया था। कोई बात नहीं, प्रसन्न रुक्मिणी के लिए यह भी सह लेंगे। वैसे भी जब से रुक्मिणी का हरण हुआ था, वह पहली बार अपने स्वाभाविक रंग में दिख रही थी। ऐसे में मेरी इससे भिन्न कोई दूसरी चाह होने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

दूसरी ओर इधर वैसे भी विश्रामालय के सबसे बड़े कक्ष में एकसाथ हमलोगों ने अपना डेरा जमाया ही हुआ था, सो एक तरीके से तो कक्ष में प्रवेशते ही जश्न चालू हो गया था। हंसी-मजाक अब भी चल ही रही थी। मजा यह कि सभी वैसे ही बड़े खुश थे, एक मुझको छोड़कर। आप पूछेंगे भला यह क्यों? यह शेव्या मेरी सौत बनकर जो आ गई थी! रुक्मिणी मेरी बजाय उसकी बगल में जो जा बैठी थी! यहां तक भी ठीक, परंतु आगे तो कुछ ही देर में शेव्या, भैया, श्वेतकेतु, सात्यकि, उद्धव, दारुक सभी मेरे खिलाफ एक हो गए। फिर तो जैसे उन्होंने मेरे खिलाफ मोर्चा ही खोल लिया। चलो यह भी सह लेता, पर धीरे-धीरे तो वे लोग रुक्मिणी के सामने मेरे चरित्र-हरण पर ही उतारू हो गए। ...पहले राधा, फिर गोपियां, फिर रास-लीलाएं, कुब्जा और जाने क्या-क्या? मैं तो मुंडी नीचे किए सबकुछ चुपचाप सुनता रहा। उधर रुक्मिणी भी हर किस्सा बड़ी गंभीरतापूर्वक सुन रही थी। मुझे तो डर बैठ गया कि कहीं बड़ी मुश्किल से निकट आई रुक्मिणी फिर न रूठ जाए? ...मैं तो मन-ही-मन सोचने लगा कि कैसे अजब भाई और मित्र पाए हैं मैंने जो मेरा नया बसाया घर उजाड़ने पर तुले हुए हैं। यह तो अच्छा है जो इन लोगों को रुक्मिणी से पहले नहीं मिलवाया, वरना ये लोग तो अब तक मेरा घर न बसने के सारे इन्तजाम कर चुके होते। इन दुष्टों की खूबी तो यह कि हर किस्सा इतना मिर्च-मसाला लगाकर रसप्रद तरीके से सुना रहे थे कि एकबार को तो मैं भी सोचने को मजबूर हो गया था कि क्या सचमुच मैं इतना चरित्रहीन हूँ? हालांकि इस पूरे वाकये के दरम्यान मैंने राहत की सांस तब ली जब अंत में रुक्मिणी ने हंसते हुए कहा- चिंता मत करो, अब मैं आ गई हूँ ना। इनकी रासलीलाओं पे पूर्ण विराम लगा ही समझो।

...यह सुनते ही सभी जोर से हंस दिए। उनका क्या था! वे तो ये किस्से चालू हुए, तभी से हंस रहे हैं। खास बात तो यह कि रुक्मिणी नाराज नहीं है; यह जान मैं भी सभी के साथ पहली दफा हंसा था। वैसे अब मध्यरात्रि भी हो चुकी थी। और यूं भी रुक्मिणी के एक ही वक्तव्य ने मेरे बाबत की जा रही सारी रसप्रद चर्चाओं पर पूर्णविराम भी लगा ही दिया था। अब फोकट में कौन जगता? अंत में सभी थककर सो गए। लेकिन यहां भी दाव हो गया। शेव्या ने रुक्मिणी का पीछा अभी तक नहीं छोड़ा था। दोनों साथ में ही सो गई। मैं भी दोस्तों के साथ कक्ष में जगह देखकर एकतरफ लेट गया।

...उधर सुबह होते ही हमने अपनी यात्रा फिर प्रारंभ कर दी। और इस समय हमारे कारवां की तो बात ही क्या करनी? करीब पचासों रथ द्वारका की ओर दौड़े चले जा रहे थे। सबसे आगे मेरा रथ ही था जिसकी कमान दारुक थामे हुए था। निश्चित ही पीछे रुक्मिणी व शेव्या मेरी अगल-बगल में बैठे हुए थे। हमारे पीछे के रथों में भैया व मित्र चले आ रहे थे। और उनके पीछे सेवक-सैनिकों का काफिला चला आ रहा था। सभी खुश थे।खुश क्या थे, मस्ती व उत्सव के रंग में रंगे हुए थे। रुक्मिणी की भी प्रसन्नता का ठिकाना न था।दो ही रात के संग में वह द्वारकावासी हो चुकी थी। शायद उसे यकीन हो चला था कि "कृष्ण" कैसा भी हो, कम-से-कम उसके मित्र व परिवार वाले तो अच्छे हैं। और फिर हरण तो हो ही चुका है, ऐसे में दुखी क्या रहना? ए भाई; मजाक कर रहा हूँ। मुझे पाने के कारण सबसे ज्यादा खुश तो वही थी। अब हो या न हो, मुझे तो यह गलतफहमी पालनी ही रही।

खैर! दिन-भर यात्रा करना व रात्रि-विश्राम के साथ ही कोई छोटा-मोटा उत्सव मनाना, बस पूरी यात्रा के दरम्यान यह सब हमारा नित्यकर्म हो चुका था। लग तो ऐसा रहा था मानो रुक्मिणी की डोली लेकर हम द्वारका जा रहे हों। सच कहूं तो रुक्मिणी के घुलमिल जाने से मैं बड़ा निश्चिंत हो गया था। क्योंकि दिल के किसी कोने में एक डर तो बना ही हुआ था कि इतनी बड़ी राजकुमारी हम ग्वालों के साथ रह पाएगी भी या नहीं? मेरा तो ठीक, मैं तो युवराजों के सारे तेवर और नजाकत सीख गया था; पर सच कहूं तो बाकियों के कारण चिंता बनी ही रहती थी। ...लेकिन अब जब सब ठीक हो ही गया है तो क्यों न पूरी तरह ठीक कर लिया जाए। बस मैं रुक्मिणी को प्रभावित करने के मौके ढूंढने में लग गया। यहां तक कि एक दिन मैंने रुक्मिणी को बगल में बिठाकर रथ भी हांका। आप तो जानते ही हैं कि मैं कितना श्रेष्ठ सारथी था। रथ इतनी तेजी से हांका था कि देखते-ही-देखते सभी को काफी पीछे छोड़ दिया था। मेरा प्रयास सफल रहा। रुक्मिणी मेरे रथ-कौशल से काफी प्रभावित हुई थी। इधर रुक्मिणी प्रभावित क्या हुई, मेरा उत्साह सातवें आसमान को छू गया। फिर तो मैंने उसे दनदनाते हुए रथ को पलटकर उसका मुख दूसरी ओर कर दिखाया। स्वाभाविक रूप से रुक्मिणी मेरी इस कला से और ज्यादा प्रभावित हुई। उसे तो मेरा यह रथ-कौशल ऐसा भा गया कि वह बार-बार मुझे पूरी गति से दौड़ते हुए रथ को पलटाने के लिए कहती रही, और मैं बार-बार यह करिश्मा कर उसकी फरमाइश पूरी करता रहा। वह भी हर बार तालियां बजाकर मेरी इस कला का

अभिवादन करती रही। बस इस तरह यात्रा के दरम्यान कदम-दर-कदम मेरी और रुक्मिणी की निकटता बढ़ती जा रही थी। ...लेकिन पता नहीं मेरे मित्र कैसे थे कि उन्हें हम दो प्रेमियों की बढ़ती निकटता पसंद ही नहीं आ रही थी। सब-के-सब मेरे पीछे पड़े रहते थे। मैं जितना रुक्मिणी को प्रभावित करता, उतना ही वे अपने व्यंगों व बातों से मेरा जमा-जमाया प्रभाव मिट्टी में मिला देते। इधर मैं अपने स्वभाव से मजबूर फिर प्रभाव जमाने में लग जाता। मित्र फिर मेरे जमे-जमाये प्रभाव पर पानी फेर देते। देखते-ही-देखते एक नए ही तरीके का खेल चालू हो गया था। मेरे लिए संतोष की बात यह थी कि उसके केन्द्र बिन्दु में मेरी, और सिर्फ मेरी प्यारी रुक्मिणी थी।

...बस इसी मजाक-मस्ती के साथ हमारी यात्रा जारी थी। मजा इतना आ रहा था कि पहुंचने की जल्दी किसी को न थी। ऐसे ही एक दिन रात्रि-विश्राम हेतु हमने एक छोटे सराय में आश्रय लिया हुआ था। भोजन वगैरह कर हम सब बाहर बगीचे में बैठे हुए थे। बातचीत का जोशपूर्ण दौर चालू था। ...तभी अचानक उद्धव ने बात-बात में रुक्मिणी से कहा कि मैं वंशी काफी अच्छी बजा लेता हूँ। फिर क्या था, रुक्मिणी मेरी वंशी सुनने को बेताब हो गई। मैं तो तैयार ही बैठा था। भला रुक्मिणी को प्रभावित करने का अपनेआप हाथ लगा यह मौका मैं कहां चूकने वाला था? बस उस दिन के रात्रि-उत्सव का यह प्रमुख कार्यक्रम हो गया। यह कोई बड़ी बात नहीं, खुशखबरी तो यह कि रुक्मिणी मेरी वंशी सुन बुरी तरह मेरी दीवानी हो गई। उसे तो होना ही था। मैंने बजायी भी बड़े प्रेम से उसी के लिए थी। और सच कहूं तो पता नहीं रुक्मिणी मेरी वीरता या वाक्पटुता से कितना प्रभावित हुई थी, परंतु मैं यह दावे से कह सकता हूँ कि वह मेरे रथ-कौशल्य व वंशी-वादन पर जरूर फिदा हो गई थी।

लेकिन दोस्तों को रुक्मिणी की मेरे प्रति बढ़ती दीवानगी कहां रास आने वाली थी? मेरा वंशी-वादन समाप्त होते ही उद्धव ने एक जोरदार व्यंग कस दिया। वह बोला- जानती हैं भाभी! कृष्ण का चरित्र बिगाड़ने में कृष्ण के स्वभाव से कहीं ज्यादा दोष इस वंशी का है। अत: इस वंशी से हरहमेशा सावधान रहना। ...यह सुनते ही चारों ओर हंसी के फव्वारे छूट पड़े। और मैं ‘‘झेंपूराम’’ बना तिरछी निगाहों से उद्धव को देखता रह गया...

...बस ऐसे ही हंसते-हंसाते और उत्सव मनाते हम लोग बारहवें दिन संध्या को द्वारका पहुंच गए। मेरी खुशी का ठिकाना न था। मेरे सारे सपने साकार हो चुके थे। मैं अपने सपनों की रानी को अपनी सपनों की नगरी में ले आने में सफल हुआ था। मैं इतना खुश था कि इतिहास में शायद ही कोई कभी इतना खुश हुआ हो।

द्वारका का प्रारम्भिक जीवन

अच्छा हुआ था जो हम संध्या होते-होते द्वारका पहुंचे थे। भूल गए क्या कि संध्या होते ही द्वारका मशालों की जगमग रोशनी से नहा उठती थी। और ऐसे में द्वारका कितनी खूबसूरत हो जाती थी, शायद यह तो आपको याद होगा ही। आगे जैसी कि उम्मीद थी, समुद्रतट पर पहुंचते ही रुक्मिणी पर आश्चर्य व प्रसन्नता की बौछारें शुरू हो गई। एक तो मशालों के तले रोशनी से जगमगाती द्वारका देख वह यूं ही दीवानी हो गई थी, ऊपर से समुद्र किनारा व किनारों पर खड़े जहाजों ने उसे पूरी तरह पागल बना दिया था। वह समुद्र और समुद्र किनारे खड़े जहाज दोनों पहली बार देख रही थी। और ऐसे में जैसे ही हाथ पकड़कर मैंने उसे जहाज पर चढ़ाया, वह इतना खुश हुई कि मारे खुशी के मुझसे लिपट पड़ी। इसके साथ ही "कृष्ण" का काम बन गया। वह मेरे साथ-साथ द्वारका व द्वारकावासी दोनों को स्वीकार चुकी थी। इस समय मेरी उम्र करीब तीस वर्ष थी और रुक्मिणी की उम्र होगी इक्कीस वर्ष। आज मेरे सारे सपने साकार हो चुके थे। और इसके साथ ही आत्मज्ञान हो जाने के बावजूद मेरे द्वारा "कर्म" का मार्ग चुनने के फैसले पर मुहर भी लग गई थी।

खैर! जैसे ही जहाज किनारे लगा, मैंने बड़ी शान से रुक्मिणी का हाथ अपने हाथ में लिया व उसी के नेतृत्व में हम सभी प्रमुख-द्वार की ओर बढ़ने लगे। रुक्मिणी ऐसा सम्मान पाकर बड़ी खुश हुई। और इस तरह हाथों में हाथ डाले मुस्कुराती हुई सपनों की रानी के साथ मैंने मशालों से जगमगाती भव्य द्वारका-नगरी में प्रवेश किया। यही नहीं, प्रवेशद्वार से राजमहल तक के सफर हेतु रथ की कमान भी मैंने ही संभाली। कहने की जरूरत नहीं कि बगल में अपनी सपनों की रानी को बिठाये कृष्ण उसे अपनी स्वप्ननगरी घुमाने ले गया। उधर स्वाभाविक रूप से प्रथम दृष्टि में ही द्वारका की चौड़ी सड़कें, सुंदर बाजार सबकुछ रुक्मिणी को इतना भा गया कि वह अपनी संवेदनाओं पर काबू नहीं रख पाई। उसने तुरंत ना सिर्फ मुझे गले लगाते हुए चूम लिया, बल्कि लगे हाथों मुझे इस भव्य नगरी के लिए मुबारकबाद भी दे डाली। उसके चूमने व मुबारकबाद देने में वह सबकुछ आ गया था जिसकी कृष्ण वर्षों से तमन्ना किए बैठा था। अब इतने बड़े राज्य की राजकुमारी यदि द्वारका से इतना प्रभावित हो सकती है, ...तब तो सचमुच हमने अत्यंत ही सुंदर नगरी का निर्माण किया था।

चलो छोड़ो इन सब बातों को। अभी अहंकार को जगह ही कहां? अभी तो नजारा यह कि ...रथ की कमान मेरे हाथ में थी व बगल में बैठी हुई थी मेरी प्यारी रुक्मिणी। वह भी तन्हाई में नसीब हुई यह हमारी पहली मुलाकात थी। सोचो, कृष्ण के किस दुनिया में खोने का वक्त आ गया था। उससे भी अच्छे से सोचो यह कि इस विचार के साथ ही कृष्ण किस दुनिया में खो गया होगा? अब प्राणप्यारी के साथ तन्हाई में मिली यह प्रथम मुलाकात कोई ऐसे ही थोड़े गंवाने वाला था। सो, दाहिने हाथ से रथ की कमान सम्भालते हुए बाएं हाथ से रुक्मिणी को पूरी तरह अपनी बगल में दबोच लिया था। वह भी समर्पित होती हुई पूरी तरह मेरी बाहों में सिमट गई थी। आप मानेंगे नहीं कि हमने करीब-करीब पूरी द्वारका का चक्कर लगाया। वैसे मजा तो हमें यहां की चहल-पहल भी दे रही थी। और आमप्रजा द्वारा झुक-झुक कर किए जाने वाले हमारे अभिवादन का तो कहना ही क्या? और मेरे पूरता तो बात में दम सिर्फ इतना कि यह सम्मान मेरे साथ-साथ रुक्मिणी को भी मिल रहा था। हां, कुछ लोग रुक्मिणी को लेकर जिज्ञासा करते भी नजर आ रहे थे। होगा, अभी इन छोटी बातों को नजरअंदाज करूं तो उधर रुक्मिणी प्रथम दृष्टि में ही द्वारका की दीवानी हो गई थी। उसे यहां की जलती मशालें व संध्या ढलने के बाद भी लोगों की चहल-पहल ने बेहद प्रभावित किया था। मेरी मस्ती का आलम यह कि यह सब देख जितनी वह द्वारका की तारीफ करती, उतना ही मैं फूलकर कुप्पा हुआ जाता। आखिर मेरी अपनी द्वारका थी। बड़ी मेहनत और लगन से एक ग्वाले ने बनवाई थी, और जिस राजकुमारी के लिए बनवाई थी उसे भा भी गई थी।

खैर! अंत में मैंने अपना रथ राजभवन की ओर मोड़ा। यूं भी आर्यावर्त के प्रचलित नियमों के अनुसार द्वारका में प्रवेश करते ही रुक्मिणी और मैं विवाहित हो चुके थे। अत: मुझे उसे अपना घर तो दिखाना ही था। राजमहल पहुंचते ही मैं रुक्मिणी को विशाल सभाकक्ष में बिठाकर दौड़ा-दौड़ा सबको बुला लाया। सबके आते ही मैंने उसे नानाजी, मां-पिताजी व सुभद्रा समेत सबसे मिलवाया। उनका लाड़ला बहू लाया है, यह जानकर ही सबकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। रुक्मिणी भी सबका आशीर्वाद पाकर धन्य हो गई। उधर कुछ देर रुक्मिणी से बातें कर मां तुरंत रसोई घर चली गई। निश्चित ही वह अपनी बहू को अपने हाथों से बनाए तरह-तरह के पकवान खिलाना चाहती थी। अच्छा था, इसी बहाने मेरा पेटू मन भी तृप्त हो जाएगा। उधर अब तक सारे मित्रगण भी आ चुके थे।

यह तो ठीक पर उधर रुक्मिणी नानाजी व पिताजी के शिकंजे में बुरी तरह पांस गई थी। वे दोनों रुक्मिणी को छोड़ने का नाम ही नहीं ले रहे थे, बस बतियाते ही जा रहे थे। इधर मित्रों को भी क्या सूझी कि वे मुझे वहां से उठाकर अपने कक्ष में ले गए। यानी राजमहल-प्रवेश के साथ ही हम पर चारों ओर से जबरदस्ती चालू हो गई थी। निश्चित ही मेरा मन इस समय रुक्मिणी से दूर जाने का बिल्कुल नहीं कर रहा था, लेकिन दोस्तों और बुजुर्गों की मेहरबानी ने साथ रहने का कोई उपाय नहीं छोड़ा था। हालांकि आखिर कब तक? कुछ देर दोस्तों के साथ बेमन से गप्पें लड़ाकर मैं पूरी बेशरमी से वापस रुक्मिणी के पास चला गया। एक अच्छे जीवनसाथी की तरह उसे किसी तरह शयनकक्ष दिखाने के बहाने नानाजी व पिताजी के चंगुल से भी छुड़वाया। साथ ही शेव्या व श्वेतकेतु को भी अपने बगल वाले कमरे में ठहरवा दिया। शयनकक्ष में घुसते ही मैंने राहत की सांस ली। सर्वप्रथम थकान मिटाने के उद्देश्य से हमने स्नान वगैरह निपटाया। क्योंकि आज की रात कब सोने को मिले, भरोसा नहीं।

उधर अभी हम तैयार होकर वापस सभाकक्ष पहुंचे ही थे कि मित्रों को नया ही नाटक सूझा। उन्होंने एक अनूठा कार्य अपने हाथों में ले लिया। पूरी मित्र-मंडली पता नहीं क्यों, हमारे कमरे की सजावट में लग गई। देखते-ही-देखते पूरा कक्ष फूलों से सजा दिया गया। साथ में महका तो ऐसा दिया गया कि इत्तरकी महक दूर-दूर तक आने लगी। अब जाके समझ में आया कि यह सारी तैयारी रात्रि के लिए हो रही थी। यानी हमारी प्रथम-रात्रि का उत्साह हमारे बजाए मित्रों को ज्यादा था।

होगा, अभी तो श्वेतकेतु व शेव्या भी तैयार होकर आ गए थे। बाकी सब पहले से कक्ष में विराजमान थे। इधर अब तक मित्र भी सजावट निपटाकर आ चुके थे। बस देखते-ही-देखते वहां अच्छाखासा मजमा लग गया था। बाकी सब तो ठीक, पर मैं इस बात से मारे खुशी के फूला नहीं समा रहा था कि रुक्मिणी को अभी द्वारका आए चन्द घंटे ही हुए थे, परंतु वह ऐसा घुल-मिल गई थी ...मानो वर्षों से द्वारका में ही रह रही हो। और कायदे से देखा जाए तो हकीकत भी यही है, क्योंकि वह मेरे दिल में बैठकर द्वारका की सैर वाकई कई बार कर ही चुकी थी।

चलो यह सब भी ठीक पर उधर तो कमाल-पे-कमाल जारी था। रात्रि भोजन पर नानाजी, माता-पिता, भैया, रेवती भाभी, उद्धव, सात्यकि, दारुक, शेव्या, श्वेतकेतु समेत करीब पचास लोग आमंत्रित थे। कहने का तात्पर्य चारों ओर रुक्मिणी के आने की खुशियां मनाई जा रही थी। और मां, वह तो ना सिर्फ रुक्मिणी को अपने हाथों से पकवान परोस रही थी, बल्कि उसे खिला भी रही थी। दूसरी ओर रुक्मिणी भी चारों ओर से मिल रहे इस स्नेह से अभिभूत हुई जा रही थी। सच कहूं तो रुक्मिणी का ऐसा शानदार अभिवादन करना, रुक्मिणी से ज्यादा मुझे अच्छा लग रहा था।

उधर अभी भोजन सलटे-न-सलटे तब तक और कमाल होना चालू हो गया। धीरे-धीरे मेरे विवाह की खबर आग की तरह पूरी द्वारका में फैल गई। देखते-ही-देखते राजमहल के बाहर रुक्मिणी की एक झलक पाने के लिए सैकड़ों की भीड़ एकत्रित होने लगी। क्यों न होती? आखिर रुक्मिणी, मां देवकी की ही नहीं, पूरी द्वारका की बहू थी। अब प्रजा की भावना का सम्मान करना एक राजा का प्रमुख कर्तव्य होता है; अत: मैं भोजन निपटाते ही रुक्मिणी को लेकर राजमहल के प्रथम मंजिल पर स्थित बरामदे में जा पहुंचा। नीचे वाकई काफी भीड़ जमा थी। और स्वाभाविक रूप से वह अपने द्वारकाधीश को रानी के साथ आया देखकर पूरे जोश में आ गई थी। देखते-ही-देखते हमारी जयकार बोला दी गई। उधर द्वारकावासियों का ऐसा अपार प्रेम पाकर रुक्मिणी की तो आंखें ही भर आई। सचमुच चन्द घंटों में ही द्वारका रुक्मिणी को और रुक्मिणी द्वारका को पूरी तरह से अपना चुकी थी। और इसके साथ ही मेरे रुक्मिणी-हरण के फैसले पर मुहर भी लग गई थी।

उधर कई दिनों की यात्रा व लंबे चले स्वागत सत्कार ने आखिर रुक्मिणी को थका दिया। वैसे भी आज हमारी प्रथम-रात्रि थी। मुझे कोई इतना उत्साह नहीं था, लेकिन दोस्तों की मेहनत पर पानी थोड़े ही फेरा जा सकता था! ...अब कहना तो ऐसा ही पड़े न। छोड़ो, अभी तो सबकी आज्ञा लेकर रुक्मिणी कक्ष में जा चुकी थी; पर मेरे प्यारे दोस्त मुझे अब भी छोड़ने को तैयार नहीं थे। और आश्चर्य इस बात का था कि भैया से भी उन्हें पूरा उत्साह मिल रहा था। भैया की समझ सकता था कि चलो शायद वे कुशस्थली में उन्हें भाभी से दूर रखने का बदला ले रहे हों, ...परंतु यह मित्रों को क्या हो गया था? खैर, किसी तरह मैं सबको समझा-बुझाकर निकलने में सफल हो ही गया। मन में घबराहट भी थी कि रुक्मिणी को गए काफी देर हो चुकी है, कहीं ऐसा न हो कि प्रथम दिन ही उसकी नाराजगी का सामना करना पड़ जाए।

...दौड़ा-दौड़ा कक्ष में पहुंचा तो देखा, रुक्मिणी सज-धजकर बड़ी बेसब्री से मेरा इन्तजार कर रही है। सच, रुक्मिणी का इस तरह मेरा इन्तजार करना, ...मेरा तो जीवन ही सफल हो गया था। इसी एक क्षण का तो मैं पिछले दस वर्ष से इन्तजार कर रहा था। वाकई इस एक पल में विश्व की सारी खुशियां सिमटकर मेरी झोली में समा गई

थी। आप तो जानते ही हैं कि यह मेरी और रुक्मिणी की नितांत एकान्त में प्रथम मुलाकात थी। यह ना सिर्फ मेरे जीवन का सबसे बड़ा क्षण था, बल्कि साथ ही मेरे कौशल्य की सबसे बड़ी परीक्षा भी थी। आखिर था तो मैं एक ग्वाला ही। ...और रुक्मिणी एक सुशिक्षित राजकुमारी। वैसे मैं राजाओं की अदाएं, उनके ठाठ-बाट व तौर-तरीके काफी अच्छे से अपना चुका था, फिर भी क्रित्रिम व स्वाभाविक होने का फर्क तो बना ही हुआ था। कहीं ऐसा न हो कि रुक्मिणी मुझे अपने लायक न पाए। बस...यही एक चिंता सताये जा रही थी। लेकिन नहीं, मैं कृष्ण हूँ। जन्म से ग्वाला था तो क्या..., आज राजा हूँ। और वह भी श्रेष्ठ राजा। रुक्मिणी को ऐसा प्रभावित करूंगा कि वह मेरी दीवानी होकर रह जाएगी। अभी यही सब सोचते-सुचाते मैं रुक्मिणी के पास पहुंचा ही था कि सात्यकि ने दरवाजा खटखटाया। वह काफी घबराया हुआ नजर आ रहा था। उसने जो कुछ बताया वह वाकई चिंतनीय थी। आभूषणों से भरा एक जहाज जाते वक्त समुद्र में पांस गया था, और इस समय द्वारका ऐसा कोई नुकसान सहन करने की परिस्थिति में नहीं थी। वह तो सिर्फ सूचना देने आया था, लेकिन खबर की गंभीरता को देखते हुए मैं भी उसके साथ हो लिया। रुक्मिणी को तो समझ ही नहीं आया कि ऐसी तो क्या सूचना आ गई कि महाराज दौड़े जा रहे हैं। तो जल्दी क्या है, आ के समझा ही दूंगा। उधर मुझे सात्यकि के साथ आया देख नीचे बैठक में इन्तजार कर रहे भैया, उद्धव समेत सभी मित्र चौंक गए। उनमें से कोई मेरे चलने के पक्ष में नहीं था, लेकिन ऐसी स्थिति में मेरे मन प्रथमरात्रि का कोई महत्व नहीं रह जाता था। क्योंकि वह आज नहीं तो कल भी मनाई जा सकती थी, परंतु जहाज सिर्फ आज ही बचाया जा सकता था।

बस! मैं सबके साथ समुद्र किनारे चल पड़ा। हमारे साथ करीब पचास सेवक, सिपाही व गोताखोर भी चल ही रहे थे। यह सब तब तक तो ठीक पर अचानक मैं रुक्मिणी के बाबत सोचने लगा। उससे बिना कुछ कहे ऐसे निकल पड़ा था जैसे आसमान फट पड़ा हो। अरे, ...मैं यह क्या कर बैठा? वह क्या सोचेगी? पता नहीं; रात को वापस जा भी पाऊंगा या नहीं? कहीं बना-बनाया खेल न बिगड़ जाए? होगा... चाहे जो हो, मेरा जाना तो आवश्यक था ही। क्योंकि द्वारका का सर्वश्रेष्ठ तैराक ही नहीं, यहां का सर्वश्रेष्ठ गोताखोर भी मैं ही था। लो, इधर मैं यह सब सोचता रह गया और उधर हम समुद्र तट पर भी पहुंच गए। मैं तो जहाज की हालत देखते ही चौंक गया। वाकई बड़ा बुरा पांसा था वह। कोई बात नहीं, उसे निकालना तो था ही। बस रस्सियों के पांदे बांध-बांध उसके कोनों में पांसाया। मेरे समेत कई गोताखोरों ने अनेकों बार समुद्र में डुबकी भी लगाई, और तब कहीं जाकर सुबह तक किसी तरह हम जहाज किनारे तक लाने में सफल हुए। जहाज किनारे लगते ही मैंने सबको छोड़ सीधे राजमहल का रुख किया। थकान तो इतनी हो गई थी कि पूछो ही मत। बस किसी तरह रथ दौड़ाता हुआ राजमहल पहुंच गया था।

राजमहल में कदम रखते ही रुक्मिणी की चिंता सताने लगी। एक कर्म को तो सफलता पूर्वक अन्जाम दे चुका था, और दूसरा कर्म मुंह फाड़े खड़ा नजर आ रहा था। यही नहीं, यह कर्म कुछ ज्यादा कठिन जान पड़ रहा था; पता नहीं रुक्मिणी के किस स्वरूप का सामना करना पड़ जाए?

होगा! कर्मवीर कृष्ण को ऐसी सब बातों में ज्यादा चिंता क्या करना? जैसी सर पे पड़ेगी वैसी निपट ली जाएगी। यह सब सोचते-सोचते थका-हारा जैसे ही मैं कक्ष में पहुंचा, देखा रुक्मिणी जाग ही रही थी। उसकी हालत से ही लग रहा था कि वह रात भर नहीं सोई है। रुक्मिणी मेरे इन्तजार में रातभर नहीं सोई थी, एक तरीके से यह मेरे लिए गर्व की बात थी। लेकिन यह क्या! उसने तो मुझे देखते ही मुंह फेर लिया। शायद नाराज होगी... बेचारी क्या करे? मेरी मजबूरी से अनजान जो थी। इसमें भी गलती मेरी ही थी। मैं उसे बिना कुछ कहे-समझाए जो निकल गया था। चलो कोई बात नहीं; अब आ गया हूँ तो सब ठीक कर देता हूँ। लेकिन इन वस्त्रों का क्या करूं जो कीचड़ से लथपथ है। यह तो मैं एकबार फिर अजीब उलझन में पांस गया था। एक मन नाराज रुक्मिणी को मनाने का कर रहा था, तो दूसरा मन नहाने का कर रहा था। नहाना जहां शरीर की जरूरत थी वहीं रुक्मिणी को मनाना दिल की। स्वाभाविक तौर पर मैंने दिल की गुलामी स्वीकारी। और इसी के चलते ऐसी हालत के बावजूद मैंने रुक्मिणी से बात करने की कोशिश की, लेकिन नाराज रुक्मिणी ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। मैंने इसे भी सकारात्मक ही लिया। सोचा सही बात है; ऐसा हसीन कार्य कोई गंदे-गोबरे थोड़े ही निपटाया जाता है? बेहतर है पहले स्नान वगैरह कर लिया जाए। कुछ इत्तर वगैरह से महका लिया जाए। फिर देखें, राजकुमारी कैसे नहीं पटती हैं? यही सोचकर तत्क्षण मैं स्नान करने चला गया।

...स्नान करते-करते मैं सोचने लगा कि कुदरत को मुझसे क्या दुश्मनी है? क्यों मेरे सामने हमेशा कठिनतम चुनाव भेजती है? क्यों हसीन-से-हसीन मौके पर भी मुझे संघर्ष में बनाए रखती है? कल रात की ही बात लो; एक तरफ प्रथमरात्रि थी ...और वह भी रुक्मिणी के साथ, तथा दूसरी ओर आभूषणों से लदा जहाज पांसा हुआ था। निश्चित ही कर्तव्य दिल पर भारी पड़ा, और मैंने जहाज बचाना चुना। हालांकि मुझे कोई गम नहीं, क्योंकि मैं जीवन के इस सत्य को अच्छी तरह जानता हूँ कि जीवन में अक्सर चुनाव करने ही पड़ते हैं। जानता तो मैं यह भी था कि

सकारात्मक के चुनाव में हमेशा कुदरत की मर्जी शामिल होती ही है, ...और समझदार मनुष्य को कुदरत के विरुद्ध कभी नहीं जाना चाहिए। अरे भाई, प्रथमरात्रि तो दूसरे दिन भी मनाई जा सकती है। पूरा जीवन पड़ा है उसके लिए। ...लेकिन जहाज भला फिर थोड़े ही बचाया जा सकता था? ...और फिर रुक्मिणी भी कमाल है! उसे बगैर समझे मुझसे नाराज नहीं होना चाहिए था। उसका प्यार जुम्मे-जुम्मे अभी दस दिन पुराना है, जबकि मेरा उससे प्यार दस वर्ष पुराना है। उसे मेरे प्यार पर भरोसा करना ही चाहिए था। उसे समझना चाहिए था कि प्रथमरात्रि मनाने को उससे कहीं ज्यादा बेचैन मैं होऊंगा। एक समझदार राजकुमारी होकर उसे ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए थी। लेकिन आज रुक्मिणी को यह सब समझाने का न दिन था न समय। ...आज तो भलाई चुपचाप शरणागति स्वीकारने में ही थी।

अत: मैं स्नान वगैरह कर चुपचाप उसके पास जाके बिस्तर पर बैठ गया। लेकिन यह क्या...उसने तो मुझे देखते ही फिर मुंह फेर लिया। मैं समझ गया, नाराजगी मेरी सोच से कहीं ज्यादा गहरी है। यह तो कृष्ण काम पे लग गया। एक तरफ थकान इतनी थी कि नींद आ रही थी, दूसरी तरफ मेरे सपनों की राजकुमारी को सामान्य किए बगैर सोना मुश्किल था। मेरा क्या था, मैं एक से निकलकर दूसरे कर्तव्य-कर्म में लग गया। ...पर वह भी पक्की मालूम पड़ रही थी। बात करने के जितने प्रयास किए, सब बेकार।

ठीक है! बातचीत नहीं करना चाहती कोई बात नहीं। मैं अपनी पांसावट तो उसे सुना ही सकता हूँ। समझदार राजकुमारी है। राजकीय कर्तव्यों को अच्छे से जानती है। शायद उससे कुछ नाराजगी कम हो जाए? यही सोचकर मैंने उसे जहाज पांसने व उसे बचाये जाने की आवश्यकता समझाई। साथ ही लगे हाथों बड़े गर्व से अपनी तैराकी व गोताखोरी की प्रतिभाओं से भी उसे अवगत कराया। वह कितना समझी यह तो मैं नहीं जानता लेकिन इससे उसकी नाराजगी कुछ कम अवश्य हुई। मेरे लिए यही काफी था। बस मौके का फायदा उठाते हुए मैं उससे एकदम सटकर लेट गया और लगा धीरे से उसका सर सहलाने। लेकिन यह क्या, उसने तो गुस्से में मेरा हाथ ही झटक दिया। ...यह तो हद हो गई। रह-रहकर गुस्सा निकाल रही है।

...पता नहीं कुदरत कब मुझे कठिनतम चुनावों में डालना बंद करेगी। होगा, यह कुदरत का ''क्रिया-क्षेत्र'' है। मेरा ''अधिकार-क्षेत्र'' तो कर्म है, मैं उसी पर विचार करूं। वैसे भी जीवन ने मुझे संघर्ष में जीने का और संघर्ष को झेलने का आदी बना ही दिया था। और फिर मैं भी कोई सीखने में कम तो था नहीं। जीवन के संघर्षों को भी खेल समझ कर उससे खेला ही तो करता था। बस मैंने स्वयं को रुक्मिणी के साथ एक खेल खेलने को तैयार कर लिया। और इसके साथ ही अब मुझे नाराज रुक्मिणी को पटाने में बड़ा मजा आने लगा, चलो देखते हैं कौन जीतता है...? मैं कभी बात करने का प्रयत्न करता, तो कभी उसके सिर या पीठ पर हाथ फेरने का प्रयास करता। और नाराज रुक्मिणी मेरा हाथ झटककर मुझे हरा देती। एक दो बार नहीं, हर बार वह इस रूठने-मनाने के खेल में मुझे मात दे रही थी। समय बीतता जा रहा था पर विजय दूर-दूर तक नजर नहीं आ रही थी। एक तो बाइस-से-पच्चीस दिनों की लगातार यात्रा के बाद यह भयानक खेल खेलना पड़ रहा था। यात्रा की थकान तो थी ही थी, ऊपर से बीती रात की जहाज निकालने की जद्दोजहद ने मुझे पूरी तरह से बेजान बना दिया था। कुल-मिलाकर रुक्मिणी की जिद व मेरी हालत ने मिलकर वर्तमान खेल को कठिन-से-कठिनतम बना दिया था। लेकिन मेरे लिए तो संघर्ष का अर्थ ही विजय या मृत्यु था। और आप तो जानते ही हैं कि मुझे हमेशा से विजय पसंद थी। आखिर मैंने विजय पाने हेतु अपना ब्रह्मास्त्र चला दिया। मैंने बड़ा उदास होते हुए कहा- सोचा था विवाह के बाद पत्नी की सेवा से धन्य हो जाऊंगा। लेकिन यहां तो सब उल्टा ही हो गया। कहां तो रात भर की थकान है, भूख भी लग रही है और शरीर भी टूटा जा रहा है, ऊपर से सितम यह कि दासियों को भी नहीं बुला सकता, ...क्योंकि पत्नी के होते-सोते इस समय दासियों को बुलाना मेरे प्रेम के विश्वास का अपमान होगा। चलो, ऐसे ही सोने का प्रयत्न करता हूँ। शायद थकान के मारे नींद आ जाए? ...यह अंतिम वाक्य मैंने बड़ी नाटकीयता से कहा व तुरंत लेट गया।

...यह सुनते ही वह तड़प उठी। झट से उठी व कुछ फल व छाछ ले आई। और फिर बड़े प्यार से उसे मेरे सामने परोस दिया। यह हुई न बात। यूं भी इस पेटू को पेट की भूख से कहीं ज्यादा प्यार की भूख लगी हुई थी। मौके का फायदा उठाते हुए मैंने तुरंत उसे गले से लगा लिया। वह बुरी तरह शरमा गई। यानी मामला पट गया। आखिर जीत मेरी ही हुई। थकान मुझे भी थी और उसे भी। बस क्या था, दोनों ने एक-दूसरे को सहलाते हुए सुला दिया। सुहाग-रात न सही, रुक्मिणी को पटाकर सुहाग-प्रभात तो मना ही ली थी। मुझे अपने ''ब्रह्मास्त्र'' पर बड़ा नाज हो रहा था, सचमुच उसने मुझे कभी धोखा नहीं दिया था। ...उस दिन हम जो सोये तो संध्या होते-होते ही उठे। हमने रात्रि-भोजन भी अपने ही शयनकक्ष में किया। दोनों ने एक-दूसरे को अपने हाथों से खिलाया। आज कक्ष रुक्मिणी ने ही सजाया था। उसको भी मेरी तरह इत्तर का बहुत शौक था। इतना ही नहीं, स्नान करने के पश्चात् उसने मेरे पूरे

बदन पर चन्दन का लेप भी लगाया था। और सबसे बड़ी बात तो यह कि रुक्मिणी की मेहरबानी से भोजन के पश्चात् एक नई चीज, पान खाने को मिला। मुझे भी पान खाकर बहुत अच्छा लगा। रुक्मिणी ने बात-ही-बात में बताया कि उनके यहां सभी पान के बहुत शौकीन हैं। वहां हर कोई भोजन के पश्चात् पान अवश्य खाता है। मुझे भी उनका यह पान खाना भा गया था।

होगा, अभी तो आज की रात मेरे जीवन की सबसे हसीन रात थी। मैं तो वर्षों से ''रुक्मिणीमय'' था, लेकिन आज रुक्मिणी पर भी ''कृष्ण'' का रंग चढ़ चुका था। हमारी निकटता का यह प्रथम प्रसंग था। स्वाभाविक तौर पर मध्यरात्रि तक हम लोग बातें करते रहे। मौके का फायदा उठाते हुए मैंने उसे प्रभावित करने हेतु अपनी बहादुरी के कई किस्से भी सुनाए। यहां तक कि ''पंचजन-वध'' का तो पूरा किस्सा उसे खूब बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया। सच कहूं तो रुक्मिणी के सामने डींग मारने में बड़ा मजा आता था, और यही कारण था कि मैं उसको प्रभावित करने का एक भी मौका नहीं चूक रहा था। ...शायद यह एक ग्वाले की मजबूरी भी थी। और शायद इसलिए ही जब मध्यरात्रि के करीब उसने मुझे वंशी बजाने को कहा तो मैंने उसे ''पांचजन्य शंख'' बजाकर सुनाया। और देखो; मेरा दांव सही पड़ा। ''पांचजन्य शंख'' की सुंदरता व आवाज दोनों ने रुक्मिणी को मोहित कर दिया। इससे उत्साहित होकर मैंने उसे यह भी कहा कि मैं किसी भी युद्ध या संघर्ष से पहले इसे अवश्य बजाता हूँ। इसकी आवाज दुश्मन को चेतावनी है कि तुम्हारा सामना सदैव विजयी रहने वाले ''कृष्ण'' से है। ...सच कहता हूँ, इस एक रात ने ''कृष्ण'' को ''कृष्ण'' बना दिया। जैसे राधा व वृन्दावन को नहीं भुलाया जा सकता, वैसे ही रुक्मिणी व उसके साथ गुजारी यह प्रथम रात्रि भी कभी नहीं भुलायी जा सकती थी। हम करीब सुबह होते-होते ही सोने गए।

चलो यह तो स्वाभाविक बात थी व सुखद भी। लेकिन उधर एक दिन कक्ष से बाहर क्या नहीं निकला, मित्रों को परिहास करने का एक अवसर मिल गया। दोपहर भोज पर सब-के-सब मुझपर टूट पड़े। वैसे इसबार के उनके परिहास में एक फर्क अवश्य आया। इस बार रुक्मिणी को भी मेरी अर्धांगिनी होने का हर्जाना भरना पड़ा। क्योंकि मौका न चूकते हुए रेवती भाभी, सुभद्रा व शेव्या ने उस पर भी काफी व्यंग कसे। शेव्या ने तो यहां तक कहा कि राजमहल में तो यह खबर थी कि आप लोग पूरा एक हफ्ता कक्ष से बाहर नहीं निकलने वाले हैं। रुक्मिणी यह सुनते ही शर्म से पानी-पानी हो गई। मुझ बेशरम को इससे क्या फर्क पड़ना था? हमारी मर्जी, हम जीवनभर न निकलें? कोई दबलदारी है क्या...? कृष्ण अफसानों से डरता है क्या...?

खैर! खुशियां सिर्फ राजमहल तक सिमटकर नहीं रह गई थी। हमारे विवाह की खुशी में पूरी द्वारका उत्सव के रंग में डूब गई थी। सभी नित नए-नए वस्त्र पहनकर यहां-वहां घूम रहे थे। हर घर में नित्य पकवान बनने लगे थे। वहीं रोज सुबह-शाम राजमहल के बाहर रुक्मिणी-दर्शन के लिए एकत्रित होने वाली भीड़ भी बढ़ती ही जा रही थी। पूरी द्वारका में एक-दूसरे को बधाइयां देने का दौर चल पड़ा था। जहां देखो वहां, रुक्मिणी की सुंदरता के ही चर्चे थे। करीब पूरा हफ्ता भर द्वारका रुक्मिणी के रंग में रंगी रही। और इधर मैं द्वारकावासियों का यह प्रेम देखकर मन-ही-मन बड़ा तृप्त हो रहा था।

वैसे बात यहीं नहीं थम रही थी। नानाजी व माता-पिता विवाह समारोह भी रखना चाहते थे, परंतु मैं इस समय किसी व्यर्थ की झंझट में पड़ना नहीं चाहता था। इसके दो कारण थे, एक तो जब तक व्यवसाय पूरी तरह से न जम जाए, मैं द्वारका के राजकोष पर कोई व्यर्थ का बोझ डालना नहीं चाहता था। दूसरा और सबसे बड़ा कारण उत्सव की तैयारियों के झंझट के चलते मैं अपनी रुक्मिणी से दूर होना नहीं चाहता था।

सचमुच रुक्मिणी के आने से जीवन में बहार-ही-बहार आ गई थी। अब तो नित्य संध्या हम दोनों समुद्र किनारे टहलने जाया करते थे। क्योंकि मेरी तरह रुक्मिणी को भी टहलने का बहुत शौक था। यही नहीं, मेरी ही तरह समुद्र भी उसे बहुत भाने लग गया था। अक्सर भैया, भाभी, उद्धव, सात्यकि, शेव्या व श्वेतकेतु भी देर रात तक हमारे साथ समुद्र किनारे बैठा करते थे। और आप तो जानते ही हैं कि जब मित्रों का जमावड़ा हो और सामने रुक्मिणी हो, ...ऐसे में उनके पास मुझपर व्यंग कसने के अलावा काम ही क्या रह जाता था? कह सकता हूँ कि ये दुष्ट लोग समुद्र का आनंद लेने में कम और मुझे परिहास का विषय बनाने के हेतु ज्यादा आते थे। और-तो-और, भैया को भी इसमें मजा आने लगा था। वे अक्सर बातों-बातों में मुझे नित नए नामों से भी संबोधित किया करते थे। कभी 'चक्री' तो कभी 'चक्रम'। कभी कलाकार तो कभी मुझे 'चक्करपुर का महाराज' कहकर संबोधित करते थे। अब भला यह भी कोई उपनाम हुए? इतना ही नहीं, मेरे छल व कपट के भी एक से बढ़कर एक किस्से बढ़ा-चढ़ाकर सुनाये जाते थे। वैसे बख्शते तो मुझे भाभी व शेव्या भी नहीं थे। और मैं..., मैं यही सोचकर संतोष मना लेता था कि चलो अच्छा है, इसी बहाने कम-से-कम वे रुक्मिणी को मेरे वास्तविक स्वरूप का परिचय तो करवा रहे हैं। रुक्मिणी जितनी जल्दी मुझे जितना ज्यादा पहचान ले अच्छा ही था, इससे और कुछ नहीं तो कम-से-कम भविष्य में निभने में

आसानी तो हो ही जाएगी।

खैर! सबकी छोड़ो, मैं अपनी बात कहूं तो समुद्र मुझे इतना पसंद था कि क्या बताऊं? ऊपर से अब तो रुक्मिणी का साथ भी मिल गया था। बस मुझे समुद्र किनारे एक छोटा-सा महल बनवाने की इच्छा जागृत हुई। और जब विचार शुभ हो तो उस पर अमल भी तुरंत होना चाहिए। मैंने तत्क्षण बाजार के दाहिनी ओर समुद्र से लगा एक भूखंड महल बनवाने हेतु पसंद भी कर लिया। और क्योंकि यह महल मेरे व रुक्मिणी के लिए बनवाया जा रहा था, इसलिए उसका नक्शा भी मैंने ही तय किया। महल में सिर्फ चार शयन कक्ष, दो अतिथि कक्ष, एक प्रतिक्षा कक्ष व एक सभा कक्ष बनवाया जाने वाला था, ताकि मैं रुक्मिणी के साथ एकान्त का ज्यादा-से-ज्यादा आनंद ले सकूं।

...अब एकान्त तो ठीक महल प्रदान कर ही देगा, पर आनंद की समुचित व्यवस्था भी तो करनी होगी? तो उसकी कृष्ण के राज में क्या कमी? सो, शानदार स्नान का आनंद लेने हेतु एक विशाल पानी का कुंड भी महल में बनवा ही रहा था। शायद आपको न मालूम हो तो बता दूं, मैं और मेरी प्राणप्यारी दोनों नहाने के अत्यधिक शौकीन थे। यही नहीं, महल में हमारे शयनकक्ष के बाहर ही एक बड़ा व खुला ऐसा बरामदा बनवाया जाना था, जहां से पूरा समुद्र दिखाई दे। वहीं महल चारों ओर से खुला भी रखा जा रहा था ताकि दिनरात ताजी हवा भी मिलती रहे। मुझे तो खुली हवा में सोना, बातें करना व टहलना ही नहीं, भोजन तक खुली हवा में करना पसंद था। और यही कारण था कि मैं दोनों वक्त टहलने जाया करता था। वैसे तो समुद्र से सटा एक विशाल उपवन भी बनवाया जा रहा था। और इतने बड़े उपवन में सिर्फ एक झूला लगवा रहा था। समझ गए न...! ...ताकि एकान्त बना ही रहे। कुल-मिलाकर सावधानी तो इस कदर बरती थी कि कोई महल में आ सके या ठहर सके, ऐसी व्यवस्था ही नहीं रखी थी।

उधर देखते-ही-देखते महल के निर्माण-कार्य ने तेजी पकड़ ली थी। मैं तो मैं, रुक्मिणी भी इस महल को लेकर काफी उत्साहित थी। हम दोनों कम-से-कम दिन में एकबारतो महल का निर्माण-कार्य देखने अवश्य जाया करते थे। वह महल की सुंदरता व वैभवता बढ़ाने हेतु कई शानदार सुझाव भी दिया करती थी। मैंने तो उसका उत्साह देखते हुए उस महल का नाम ही ''रुक्मिणी-महल'' रख दिया था। हम दोनों को एक-दूसरे का साथ ऐसा भा गया था कि हमारा समय कहां कट जाता था, पता ही नहीं चलता था। दिन में बमुश्किल दो-चार घंटे ही हम एक-दूसरे से दूर रहते थे। क्या करें, दूरी बर्दाश्त ही नहीं हो रही थी। हालत यह थे कि एकतरफ जहां रुक्मिणी को पाकर मैं मस्त हो चुका था, तो वहीं दूसरी तरफ रुक्मिणी भी द्वारका आकर कम धन्य नहीं हुई थी। और जब मिलन का ऐसा रंग चढ़ा हो तो दूर रहे ही कौन व क्यों? यह तो ठीक, पर शायद अब भी दिल के किसी कोने में मुझ ग्वाले को अपने सपनों की राजकुमारी को पा लेने का पक्का यकीन नहीं हो पा रहा था। ...तभी तो मेरी बचकाना हरकतें जारी ही थी। सबूत यह कि रुक्मिणी अब तक मेरे काफी निकट आ चुकी थी, परंतु बावजूद इसके मेरा उसे प्रभावित करने की कोशिश करते रहना अब भी जारी था। जब भी मौका मिलता मैं रुक्मिणी को अपनी बहादुरी व वीरता के किस्से सुनाने से बाज नहीं आता था। कभी शृंगलव-वध तो कभी कालयवन-वध। कभी कालिया-वध तो कभी केशी-वध। और गोमंत से जरासंध को मार-भगाने का किस्सा तो उसे कई बार सुना चुका था। इधर मेरा तो ठीक पर उधर रुक्मिणी मेरी वीरता के किस्से सुन-सुनकर इतना तो पक चुकी थी कि एक दिन उसने एक ऐसा व्यंग कसा कि मैं उसे अपनी वीरता के किस्से सुनाना ही भूल गया। उस रात भी हमदोनों करीब मध्यरात्रि तक बतियाते रहे थे। बतियाते क्या रहे थे, हमेशा की तरह उस रात भी मैं अपनी बहादुरी की डींगे ही हांक रहा था। तभी अचानक बिस्तर पर लेटी रुक्मिणी अंगड़ाई लेते हुए बोली- स्वामी आपने पंचजन, शृंगलव, कालयवन से लेकर अनेक किस्से सुनाये। आश्चर्य है, वह 'रण-छोड़' वाली कहानी आपने अभी तक नहीं सुनाई। ...मेरी तो एक चुप-सौ चुप। उसके सामने बैठा मैं मुंह पर चादर ओढ़कर ऐसा तो सोया कि सुबह तक एक करवट नहीं ली। यही नहीं, फिर तो इससे सबक लेते हुए मैंने उस दिन के बाद रुक्मिणी के सामने अपनी बहादुरी की डींगें मारना भी पूरी तरह बंद कर दिया। क्या करूं, राजकुमारी ने व्यंग ही ऐसा कसा कि मुझ बेशरम को भी शरम आ गई।

खैर! यह बात तो सबक सीखते ही आई-गई हो गई। यूं भी और भी हसीनियत थी रुक्मिणी के साथ, डींगें मारने के अलावा। आखिर वह मेरा दस वर्ष से संजोया हुआ वो सपना था जो अब कहीं जाकर पूरा हुआ था। और सच कहूं तो हकीकत सपने से कहीं ज्यादा हसीन थी। मुझे तो सिवाय रुक्मिणी के और कुछ सूझता ही नहीं था। रुक्मिणी को द्वारका आए दो माह बीत चुके थे, लेकिन मैंने उसके आने से लेकर आज तक उसके साथ रहने के अलावा और कुछ किया ही नहीं था। मैं उसके प्रेम में ऐसा खोया था कि मैंने इन दो महीने द्वारका की कोई सुध ही नहीं ली थी। लेकिन आखिर एक कर्मवीर कब तक बिना कर्म किए जी सकता था? सो, धीरे-धीरे कर रुक्मिणी का नशा उतरने लगा। और उसके साथ ही मैंने एकबार फिर द्वारका के कामकाज में रुचि लेना प्रारंभ कर दिया। ...आखिर मैं द्वारकाधीश था। लेकिन द्वारकाधीश करे क्या? यहां प्रशासन की तो द्वारका में कोई खास समस्या थी नहीं। चारों ओर सैनिक-ही-

सैनिक थे। अत: द्वारका का अनुशासन पूरी तरह कायम था। राजकोष भी भरा ही हुआ था। उधर व्यवसाय के पूरी तरह जम जाने के कारण अब तो कर भी आना प्रारंभ हो चुका था। द्वारका के वस्त्रों व आभूषणों की धीरे-धीरे पूरे आर्यावर्त में धाक भी जम चुकी थी, और जिसके फलस्वरूप आभूषणों व वस्त्रों का निर्यात धूमधड़ल्ले से जारी था। ...यानी द्वारकाधीश अब निठल्ले हो गए थे। उनका रुक्मिणी का नशा तो उतर ही चुका था, ऊपर से यहां प्रशासनिक तौर पर भी करने को कुछ विशेष उनके हाथ में न था।

...सो वह नशा भी उतर गया। ''कर्मवीर-कृष्ण'' पूरी तरह कर्महीन हो गया। ऐसे में चाहूं-न-चाहूं, चिंतन सक्रिय हो गया। और ले-देके चिंतन के पास भी सोचने के लिए व्यवसाय के अलावा कुछ न था। जल्द ही इसका एक शुभ-परिणाम सामने आया। कुछ दिन के चिंतन के बाद ही मैंने व्यवसाय के ढांचे में एक आमूल परिवर्तन कर डाला, और जो निश्चित ही प्रथमदृष्टि में ही लाभप्रद मालूम हो रहा था। हर राज्य में कुछ-न-कुछ श्रेष्ठ वस्तुएं बनती ही थीं। किसी राज्य की मूर्तियां तो किसी राज्य के घर-शृंगार के साधन श्रेष्ठ थे। कहीं के हथियार तो कहीं के वस्त्र मशहूर थे। अत: मैंने उनकी उपयोगिता जानते हुए अपने आभूषणों व वस्त्रों के बदले अन्य राज्यों से वहां की मशहूर चीजें मंगवाने की सोची। हाथोंहाथ व्यवसायियों की सभा कर उन्हें अपने विचार से अवगत भी करा दिया। बात सबको इस कदर जंची कि अगले दो-माह में तो अन्य बाजारों की मशहूर वस्तुएं द्वारका में आनी भी प्रारंभ हो गई। कहने की जरूरत नहीं कि इससे द्वारका के बाजार की रौनक ही बदल गई। अब तो एक ही बाजार में आर्यावर्त के सभी राज्यों की मशहूर वस्तुएं उपलब्ध थी।

...फिर क्या था, देखते-ही-देखते मध्यरात्रि तक चालू रहने वाला यह बाजार पूरे आर्यावर्त की शान हो गया। हर कोई यहां खरीदारी करने आने की इजाजत मांगने लगा। बस क्या था, मुझे एक और योजना सूझ गई। क्यों न द्वारका में यात्रियों की आवक-जावक बढ़ाई जाए, निश्चित ही इससे व्यवसाय और तेजी से फैलाया जा सकता था। और फिर द्वारका में सुरक्षा का तो कोई खतरा था नहीं। द्वारका में सैनिक यूं भी आवश्यकता से कहीं अधिक थे। अच्छा था इस बहाने उनका भी सदुपयोग हो जाएगा। फिर भी सावधानीवश मैंने एक समय में पांच-सौ से ज्यादा यात्रियों को अनुमति नहीं देने का निर्णय लिया। साथ ही करीब पांच सौ सैनिक यात्रियों की सुरक्षा व उन पर निगरानी रखने के कार्य हेतु नियुक्त भी कर दिए। इतना ही नहीं, एक पूरा विश्रामालय बाहर के यात्रियों के लिए खाली करवा दिया गया। उसे नए सिरे से सुसज्जित भी करवा दिया गया। मुझे तो विश्रामालय से भी बड़ा किराया वसूल होने की उम्मीद थी। योजना अपनेआप में सटीक थी। बस अगले चार महीनों के अथक प्रयास के बाद इस पर भी अमल कर दिया गया। यही नहीं, गुप्तचरों की सहायता से कई राज्यों में द्वारका की भव्यता तथा समृद्धि का वहां के आम लोगों में व्यापक प्रचार भी करवा दिया।

फिर क्या था? देखते-ही-देखते कमाल हो गया। ...समुद्र किनारे घूमना, जहाज से समुद्र की सैर करना, रथ से रात्रि के समय द्वारका घूमना। उपवन, प्रांगण और भव्य बाजार; यानी क्या कुछ नहीं था यहां पर्यटकों के लिए? नतीजा यह कि जैसे ही द्वारका यात्रियों के लिए खोली, यात्रियों की भीड़ लग गई। जो भी यहां आता, जमकर खरीदी करता। सचमुच इस एक निर्णय से बाजार की रौनक और चहल-पहल को चार चांद लग गए थे। अब तो आर्यावर्त के किसी भी बड़े श्रीमंत के यहां विवाह हो या अन्य कोई उत्सव, वे खरीदारी करने द्वारका ही आने लगे। एक तो समुद्र किनारे बसी इतनी भव्य नगरी देखने का आनंद, ऊपर से एक ही बाजार में एक साथ आर्यावर्त की सभी श्रेष्ठ वस्तुएं उपलब्ध। भला कौन श्रीमंत यह मौका छोड़ेगा? ऐसे में कहने की जरूरत नहीं कि रातोंरात द्वारका आर्यावर्त की शान हो चुकी थी। ''द्वारका दर्शन'' एक गौरव की बात थी। नगरी की भव्यता व रात्रि-बाजारों की रौनक ने मिलकर लोगों के दिल पर राज करना शुरू कर दिया था। देखते-ही-देखते यात्रियों की लगातार आवा-जाही के कारण द्वारका का राजकोष भी रोज-रोज समृद्ध होता चला जा रहा था। और इसके साथ ही ''द्वारकाधीश'' की निश्चिंतता भी दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थी। आप तो जानते ही हैं कि ''राजकोष'' हमेशा से मेरी चिंता का विषय रहा है। यूं भी राज्यवासियों को अच्छा जीवन प्रदान करने हेतु मजबूत राजकोष का होना अति आवश्यक है। इस बाबत मैं गर्व से कह सकता हूँ कि मेरी मेहनत व दूर-दृष्टि रंग लाई थी। साथ ही व्यवसायियों के दिन भी फिर गए थे। आम द्वारकावासी भी उत्साह से भरे ही हुए थे। कुल-मिलाकर अब जहां देखो वहां खुशहाली-ही-खुशहाली थी।

हालांकि चारों ओर सबकुछ ठीक चल रहा था ऐसा भी नहीं था। इन्हीं सबके चलते एक समस्या भी खड़ी हो गई थी। इन सब उलझनों में ऐसा उलझा था कि अब रुक्मिणी को पहले जितना समय नहीं दे पा रहा था। स्वाभाविक तौर पर इससे वह काफी विचलित रहने लगी थी। जब समझाता तब वह समझ भी जाती, परंतु फिर उदास हो जाती। अब आप ही बताइए भला कौन इतनी सुंदर नगरी में अपनी सपनों की राजकुमारी के साथ जीना नहीं चाहेगा? लेकिन मैं क्या करूं, मैं एक राजा के कर्तव्यों से भी मुंह नहीं फेर सकता था। और आप तो जानते ही हैं

कि मैं द्वारकावासियों को स्वर्ग से भी बेहतर सुख देने का दृढ़ निश्चय किए हुआ था। और दूसरी तरफ यह बात भी सच है कि रुक्मिणी के आस-पास ही मैं अपना स्वयं का स्वर्ग बसाना चाहता था। हालांकि मैं अपनी ओर से दोनों बातों का यथा-योग्य संतुलन बनाये हुए था। ना तो रुक्मिणी के प्रेम में खोकर राजकीय कर्तव्य भूला था, ना ही राजकीय कर्तव्य के आड़े रुक्मिणी का आनंद ही छोड़ा था। लेकिन कितना भी मिले, मन कभी किसी का भरा है? यही हाल रुक्मिणी का भी था।

चलो यह सब तो चलता ही रहता है। अभी तो आपको एक खुशखबरी दूं। हमारा "रुक्मिणी-महल" बनकर तैयार हो गया था। मैं और रुक्मिणी वहां रहने भी चले गए थे। साथ में कुछ दासियां व सेवक भी ले गए थे। यह महल समुद्र से सटा होने के कारण यहां सुरक्षा व्यवस्था भी मजबूत रखी गई थी। इस महल में रहने का कितना आनंद आ रहा था, इसका अंदाजा आप इसी से लगा सकते हैं कि पहले सात दिन तो हम महल के बाहर ही नहीं निकले थे। हां: दोनों वक्त समुद्र किनारे टहलने अवश्य जाया करते थे। ...और रात्रि को तो छप्पनभोग से कम में काम ही नहीं चलता था। भोजन के पश्चात् कुंड में स्नान करना और जाने क्या क्या...? कहने का तात्पर्य सिर्फ आनंद-ही-आनंद था। मैं और रुक्मिणी बैठे-बैठे महल के बरामदे से दिन-भर समुद्र निहारा करते थे। बस हाथ में हाथ डाले घंटों चुपचाप बैठे रहते थे। शायद ही जीवन में किसी ने आनंद व प्रेम की ऐसी अनुभूति की होगी। पूरा जीवन युद्ध, संघर्ष, असुरक्षा व गरीबी में बिताने के बाद रुक्मिणी के साथ यह वैभव से भरपूर शांत व सुरक्षित जीवन कितना आनंद दे रहा था, इसकी कल्पना करना कोई मुश्किल कार्य नहीं। अब तो बस मैं, रुक्मिणी, द्वारका, मित्र, रिश्तेदार व मेरे प्यारे द्वारकावासी।

खैर! एक राज की बात बताऊं तो मुझे सबसे ज्यादा मजा रुक्मिणी से बातें करने में आता था। उसका आत्मविश्वास, उसकी बोलने की अदा, उसका ज्ञान, सब-कुछ काबिले-तारीफ था। उससे विश्व के हर विषय पर चर्चा की जा सकती थी। नीति हो या राजनीति। युद्ध नीति हो या शृंगार। वह हर विषय-वस्तु का ज्ञान रखती थी। यही एक बात थी जो गोपियों में बिल्कुल न थी। आप मानेंगे नहीं कि कई बार तो हम रात-रात भर बातें करते रहते थे। जल-कुंड में नहाने का तो जैसे नियम ही बन गया था। और-तो-और, कई बार बाहर बरामदे में ही सो जाया करते थे। कभी भैया-भाभी तो कभी शेव्या-श्वेतकेतु, कभी मित्र-मंडली तो कभी-कभी सभी को एक साथ रात्रि-भोज पर बुला लिया करते थे। ...ताकि कोई यह न समझे कि रुक्मिणी के प्यार में कन्हैया हमें ही भूल गया है।

कुल-मिलाकर जीवन में चारों ओर से आनंद की वर्षा हो रही थी। सचमुच मनुष्यजीवन आनंद और उत्सव का एक अद्‌भुत अवसर है। और यही वजह है कि मैं आनंद, उत्सव या मस्ती का एक भी मौका नहीं चूकता था। क्योंकि मेरी दृष्टि में जहां और जैसे मिले, बस आनंद बटोरना मनुष्यजीवन का एकमात्र उद्देश्य है। यहां तक कि मैं तो रूठने-मनाने के खेल से भी आनंद बटोर लिया करता था। फिर वह खेल राधा के साथ चल रहा हो या रुक्मिणी के साथ, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता था। और यह अटल सत्य है कि छोटे-छोटे आनंदों को बटोरकर ही पूरा जीवन आनंदमय बनाया जा सकता है। साथ ही यह भी सत्य है कि अनेक छोटे-छोटे कर्तव्य-कर्म कर-करके ही द्वारका जैसे एक महान कार्य को अंजाम दिया जा सकता है। सच कहूं तो मैं जीवन को इतनी मस्ती से भर देने का पक्षधर था कि मनुष्य को मोक्ष की इच्छा ही न हो। भला जीते आए तो जीवन में क्या बुराई है जो मोक्ष चाहिए? और फिर "मुक्त-अवस्था" तो जीते-जी भोगने की चीज है। मृत्यु के बाद क्या मुक्ति व क्या बंधन? मुझे ही देखो, मैंने स्वयं को इतनी स्वतंत्रता दे रखी थी कि मैं जीते-जी मुक्त था। आप खुद ही देख लो कि मैं मोक्ष के लिए मृत्यु का मोहताज कहां था? और जब जीवन को इतनी मस्ती व आनंद से भरा जा सकता है जहां मोक्ष व संन्यास बेमानी हो जाए, तो फिर मोक्ष की जो सोचे वो पागल। मेरे जीवन का तो दूसरा नाम ही आनंद था। ...फिर वह आनंद प्रेम से मिल रहा हो या कर्तव्य-कर्म करने से। या फिर वह आनंद चाहे संघर्ष से ही क्यों न मिल रहा हो, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता था!

खैर! ऐसे ही हसीन दिनों का कटना जारी था कि तभी अचानक एक दिन सुबह-सुबह पिताजी का बुलावा आया। द्वारका आने के पश्चात् पिताजी ने इस तरह से बुलावा देकर पहली बार बुलवाया था। अक्सर मैं ही मां-पिताजी से मिल आया करता था। मैं तत्क्षण पिताजी से मिलने चल पड़ा। दोनों अपने ही कक्ष में बैठे हुए थे। वह तो ठीक पर दोनों काफी उदास नजर आ रहे थे। एक क्षण को तो उनकी यह हालत देखकर मैं सकते में आ गया। ...हालांकि इससे पहले कि मैं कुछ समझूं या पूछूं, उन्होंने एक पत्र मुझे थमा दिया। पत्र खोलकर पढ़ा तो पढ़ता ही रह गया। पत्र हमारे परदादाजी का था। वे नाग-प्रदेश में रहते थे व वहां के राजा भी थे। पत्र की बात करूं तो वह कुछ इस प्रकार था।

...प्रिय वत्स वसुदेव व पुत्री देवकी,

यह जानकर खुशी हुई कि तुम्हारे पराक्रमी पुत्रों बलराम व कृष्ण ने अपने शौर्य से द्वारका जैसी भव्य नगरी का निर्माण किया है। सर्वप्रथम मैं तुम्हें अपने पुत्रों के कौशल्य की बधाई देता हूँ। तुम्हारे द्वारा भेजा गया राज्याभिषेक का निमंत्रण हमें समय रहते ही मिल गया था, फिर भी हमारे यहां से समारोह में कोई उपस्थित नहीं हो पाया इसके लिए मैं तुमसे क्षमा मांगता हूँ। दरअसल एक तो मेरी उम्र हो चुकी है, दूसरा स्वास्थ्य भी बुरी तरह से लडखड़ा गया है। और फिर हमारा ''नाग-प्रदेश'' इस समय अनेक संकटों का सामना कर रहा है। अत: मैं चाहता हूँ कि कृष्ण व बलराम कुछ समय के लिए यहां पधारें। मैं वैसे ही मरने से पहले एकबार उन्हें देखना चाहता हूँ, वहीं हो सकता है कि वे अपने शौर्य व अपनी समझ से हमें संकट से भी उबार सकें।

तुम्हारा ही,
पूर्वज

...मैं पत्र पढ़कर कुछ देर चुप ही रहा। मां व पिताजी भी काफी देर तक मेरी चुप्पी निहारते रहे। ...आखिर मां से न रहा गया। वह सीधा पूछ बैठी- आप लोग कब जाने की सोच रहे हो?

वैसे अब तक मैं भी जाने का मन बना ही चुका था। मैंने कहा- जल्द ही। जैसे ही संजोग बनेगा, हम दादाजी के यहां हो आएंगे।

कमाल हो गया। इतने दिनों से द्वारका की भव्यता व रुक्मिणी के प्रेम में ऐसा खोया था कि द्वारका के बाहर भी कोई दुनिया है, यह भूल ही गया था। लेकिन दादाजी के इस एक पत्र ने द्वारका के इस बहते जीवन की धारा को रोक दिया था। मैं सोचने लगा, मैं खुश, रुक्मिणी प्रसन्न, परिवार तृप्त; मित्र मस्त व द्वारकावासी स्वर्ग का आनंद ले रहे हों, ऐसे में दादाजी का कष्ट में रहना कहां तक उचित है? और फिर अब तक मैंने उन्हें देखा भी नहीं है। क्या उनके प्रति मेरा कोई कर्तव्य नहीं बनता? मेरे पिता के पिता के भी पिता हैं वे। मेरी जड़ तो वे ही हैं। अत: मैं जाऊंगा तो जरूर। बस इन्हीं सब चिंतनों में उलझा मैं वापस अपने महल जा पहुंचा।

हालांकि रुक्मिणी भी... रुक्मिणी थी। वह बाहर बरामदे में ही झूला झूलते हुए मेरे आने का इन्तजार कर रही थी। मैं भी दादाजी के बाबत सोचते-सोचते उसके पास झूले पर जा बैठा। कुछ देर तो हम शांति से समुद्र निहारते रहे। हालांकि जल्द ही रुक्मिणी ने मेरी खामोशी के पीछे छिपी मेरी उदासी ताड़ ली। उसके पूछने पर मैंने उससे दादाजी के पत्र की चर्चा की। पत्र का पूरा विवरण समझते भला उसको क्या देर लगनी थी? उसकी राय में भी मुझे अपने दादाजी की सेवा में तत्क्षण हाजिर होना ही उचित था। उसने स्पष्ट कह दिया कि ऐसे में मुझे उसकी चिंता कतई नहीं करनी चाहिए। ...थी न कमाल मेरी रुक्मिणी। अब जाना तो मैं भी चाहता था, लेकिन कुछ समय बाद। क्योंकि अभी द्वारका के व्यवसाय पर कुछ और ध्यान देना आवश्यक था। और फिर यात्रियों के लगातार आगमन को भी सुनिश्चित करना था। क्योंकि एकबार दादाजी के पास जाने के बाद कब लौट पाऊंगा, कुछ कहा नहीं जा सकता था। इसीलिए जाने से पूर्व यह कार्य किसी को समझाना व सौंपना भी आवश्यक था। यह सब तो ठीक पर उधर बार-बार दादाजी का जिक्र आने से अचानक रुक्मिणी काफी उदास हो गई। दरअसल उसे अपने दादा कैशिक व पिता भीष्मक की याद सताने लगी। अब उसे अपने दादाजी व पिताजी की याद आना स्वाभाविक ही था; उस बेचारी को उन्होंने विवाह करके तो बिदा किया नहीं था। ...उसका तो हरण हुआ था। उसके स्वयंवर की सारी तैयारियां धरी-की-धरी रह गई थी। अब बेटी किस हाल में होगी, यह चिंता उन्हें भी सता ही रही होगी। मुझे भी आश्चर्य हुआ। स्वयं पर क्रोध भी आया। ...मुझसे यह चूक कैसे हो गई? रुक्मिणी को अपना दु:ख जाहिर ही क्यों करना पड़ा? मुझे स्वत: ही उसके इस दु:ख का एहसास क्यों नहीं हुआ? ऐसे में मेरा रुक्मिणी के प्रति प्रेम क्या रहा? ...शायद द्वारका की उलझनों के चलते मेरा उस ओर ध्यान ही नहीं गया था, और उसी के चलते मुझसे यह चूक हो गई होगी। लेकिन मैं तो परम ध्यानी हूँ। मेरे ध्यान से कोई चीज निकलनी ही नहीं चाहिए थी। निश्चित ही रुक्मिणी व द्वारका की मिली-जुली मस्ती में मेरा ध्यान कुछ कमजोर हुआ होगा। लेकिन ऐसी भी क्या मस्ती जो ध्यान ही कमजोर कर दे? क्योंकि रुक्मिणी को अपने दादाजी व पिताजी की चिंता लगी ही रहनी थी, और यह बात मुझे समझनी ही चाहिए थी। ...कोई बात नहीं। देर आए दुरुस्त आए। मैंने उसे कुंडिनपुर ले जाने का फैसला किया। इतना ही नहीं, साथ में भैया-भाभी, शेव्या-श्वेतकेतु, उद्धव व दारुक को भी ले जाना तय किया।

...रुक्मिणी तो यह सुनते ही मारे खुशी के पागल हो गई।निश्चित ही उससे भिन्न हाल भैया-भाभी या मित्रों में से किसी का न था। फिर भी रुक्मिणी का उत्साह उसका अपना था। वह तो तय होते ही तुरंत तैयारियों में जुट गई। रुक्मिणी को भी मेरी ही तरह वस्त्रों व गहनों का बड़ा शौक था। इसे ध्यान में रखते हुए हमदोनों ने द्वारका के बाजार

से अपने लिए अनेक वस्त्र व आभूषण खरीदे। यही नहीं, मैंने अपने लिए एक नया मुकुट बनवाया और उसमें मोर-पिंछ जड़वाया। और इसके साथ ही दिल में बसी राधा की याद को मैंने अपनी पहचान बना दिया। क्योंकि सच कहूं तो जबसे रुक्मिणी का साथ मिला था, मुझे राधा की बड़ी याद सता रही थी। पता नहीं मैं यहां मजे मार रहा हूँ और वहां वह बेचारी किस हाल में होगी? अब उसके हाल पर तो इस समय मेरा कोई अख्तियार नहीं, पर जिन पर है, वे बड़े उत्साह से जाने की तैयारियों में जुटे हुए थे। बाकी सबका तो ठीक पर रुक्मिणी का उत्साह देखते ही बनता था। वैसे उसका यह उत्साह समझा जा सके, वैसा ही था। उसका हरण हुए दस महीने गुजर चुके थे, यानी पूरे दस माह बाद बेचारी अपने दादाजी व पिताजी से मिलने जाने वाली थी। उसके लिए तो यकीनन यह अद्‌भुत प्रसन्नता की घड़ी थी। तो क्या, इधर मेरे लिए भी इतनी प्रसन्न रुक्मिणी को देखना अपने-आप में प्रसन्नता की सबसे बड़ी घड़ी ही थी। वैसे भी मैं जीवन में आनंद और उत्सव का परम-खोजी था। फिर वह आनंद मैं प्राप्त करूं या किसी और को मिले, उससे मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता था। क्योंकि इस कठिन मनुष्यजीवन में कोई आनंद के मौके खोये थोड़े ही जाते हैं? जब फूल इतने रंग-बिरंगे हैं, जब चारों ओर एक-से-एक रंगीन पक्षी चहचहा रहे हैं, जब कुदरत ने मछलियां इतनी खूबसूरत और रंगीन बनाई है; ...तो फिर मनुष्यजीवन भी रंगों से लबालब भरा होना ही चाहिए। और मुझसे रंगीन मनुष्य तो खोजना मुश्किल है। सच कहूं तो यदि मैं अपने चारों ओर नजर दौड़ाऊं तो एक मैं ही था जो मनुष्यजीवन का भरपूर फायदा उठा रहा था। विश्वास नहीं होता तो इस ताजा उदाहरण से ही समझो। अभी रुक्मिणी को लेकर कुंडिनपुर जाना तय हुआ। और जब जाना ही है, यात्रा करनी ही है तो उसे रंगीन क्यों न बना ली जाए। बस इस उद्देश्य से ही तो सबको साथ ले जा रहा था। और फिर बात यहीं थोड़े ही थमी थी, मैंने यात्रा के लिए एक-से-एक पकवान भी विशेष रूप से तैयार करवाए थे। साथ ही तमाम सुख-सुविधाओं का ध्यान रखते हुए कई सेवक-सेविकाएं भी ले जाना तय किया था। यूं भी आखिर अब मैं द्वारकाधीश था। मित्रों व परिवार को सुविधापूर्ण आनंद दे ही सकता था। और फिर अपने ससुराल में थोड़ा रुआब भी तो झाड़ना था।

...बस मन में भरे इन अरमानों के साथ आखिर बड़े उत्साहपूर्ण वातावरण में हमारी यात्रा प्रारंभ हुई। हर खूबसूरत जगह पर रुकना, दिनभर खाना, एक-दूसरे पर व्यंग कसना, और उससे भी फुर्सत मिले तो लड़ना-झगड़ना। कुल-मिलाकर सभी की खुशी का ठिकाना न था। वहीं रुक्मिणी की खुशी तो अंदाजे-बयां से कोसों आगे थी। और फिर मैंने तो जीवन-भर यात्राएं की थी, लेकिन बाकी सबके लिए तो यह यात्रा एक नए ही तरीके का अनुभव था। वहीं एक अनूठी बात कहूं तो रेवती भाभी, शेव्या, रुक्मिणी तथा सुभद्रा की चौकड़ी बन गई थी। कई बार तो वे सभी एक ही रथ में बैठ जाया करती थी। कहने की जरूरत नहीं कि ऐसे में रथ रुक्मिणी ही हांकती थी। वैसे कभी-कभी रेवती भाभी व शेव्या भी हाथ आजमा लिया करती थी। राजकुमारी होने का यही तो फायदा है कि सारी आवश्यक शिक्षाएं बचपन में ही मिल जाती है। और तीनों तीन राजकुमारी थी। बस उसी दिन मैंने सुभद्रा को भी रथ हांकना सिखाना तय कर लिया। आखिर अब वह भी राजकुमारी हो ही चुकी थी।

इधर बाकी सब तो ठीक, पर मुझे यात्रा के दरम्यान एक नई ही बीमारी ने पकड़ लिया था। बस पूरी यात्रा के दौरान रह-रहकर मुझे अपनी प्रगति पर बड़ा गर्व होने लगता था। ...जब पहली दफा मथुरा में रुक्मिणी को देखा था तब मैं कितना मोहित हो गया था। उसके ठाठ-बाट ने मुझे कितना प्रभावित किया था? उसके वस्त्र, उसकी अदा ने तो मुझे पागल ही कर दिया था। ऐसा लगता था मानो वह किसी अन्य लोक से आई है। और आज देखो, तीन-तीन राजकुमारियों के साथ यात्रा कर रहा हूँ। और ऊपर से मजा यह कि ये सभी हमारे साथ यात्रा करने को अपना गौरव मान रही हैं। सचमुच वृन्दावन के ग्वालों ने बड़ी प्रगति कर ली थी। और उसमें कोई शक भी नहीं था, पचासों सेवक-सिपाहियों के साथ बढ़ रहा यह काफिला सचमुच देखते ही बनता था। वाकई इस पूरी यात्रा के दरम्यान सबको इतना मजा आ रहा था कि यह शानदार यात्रा सबके मानस पर एक हसीन यादगार बनकर छा गई थी। वहीं रुक्मिणी के लिए तो यह यात्रा किसी सपने से कम नथी।

...आखिर हंसते-हंसाते हम लोग दसवें रोज कुंडिनपुर पहुंच गए। महाराज भीष्मक को हमारे आने की सूचना पहले ही पहुंचा दी गई थी, ताकि यार-मित्र भी देख लें कि महाराज अपने जमाता का कैसा स्वागत करते हैं। और हुआ भी यही, कुंडिनपुर की सीमा पर ही स्वयं महाराज भीष्मक के नेतृत्व में हमारा शानदार स्वागत किया गया। अपने पिता को इस तरह खुश-खुश स्वागत को आया देख रुक्मिणी की आंखें भर आई। और यह कम पड़ रहा था तो जहां से हमारा काफिला निकल रहा था, मार्ग के दोनों ओर काफी तादाद में आमप्रजा भी अपनी बेटी व अपने होनहार जमाता के स्वागत को उमड़ पड़ी थी। और यह सब देख रुक्मिणी भले ही भावुक हो उठी हो पर मैं पूरी तरह तन गया था। यही नहीं, हम सभी को ससम्मान ठहरवाया भी राजमहल में ही गया। उधर पितामह कैशिक भी हमारे इन्तजार में पहले से राजमहल रहने आ चुके थे। उनसे मिलते ही रुक्मिणी पूरी तरह तृप्त हो चुकी थी।

उधर कुंडिनपुर का राजमहल हमारा ऐसा स्वागत कर रहा था तो मैं और रुक्मिणी भी पीछे न थे। हम भी महाराज व पितामह पर हमारा प्रेम प्रदर्शित करने हेतु रोज भिन्न-भिन्न रंगों के वस्त्र पहन रहे थे। वह भी ऐसे कि यदि वह सफेद साड़ी पहनती तो मैं भी सफेद रंग का पीताम्बर ओढ़ लेता। मकसद साफ था; मैं महाराज व पितामह को रुक्मिणी के भविष्य के प्रति आश्वस्त करना चाहता था। हम दोनों गहने भी रोज एक-से-एक शानदार पहन रहे थे। आखिर मैं ससुराल पहली दफा आया था। और फिर मैं तो रुक्मिणी के माता-पिता ही नहीं, पूरे कुंडिनपुर पर अपना रुआब झाड़ने हेतु आया हुआ था। उधर कहने की जरूरत नहीं कि महाराज ने भी अपनी ओर से हमारे आव-भगत की हर संभव तैयारी कर रखी थी। वैसे राजमहल ही क्यों, पूरे कुंडिनपुर ने हमारे स्वागत में कहीं कोई कमी नहीं रख छोड़ी थी। आमप्रजा तो हमारे दर्शन-मात्र से धन्य हो रही थी। राजमहल के बाहर दिनभर दर्शन करने वालों का मेला लगा रहता था। रात्रि-भोज पर भी रोज नए-नए मेहमान बुलाए जाते थे। पितामह कैशिक बड़े उत्साह से सभी का मुझसे परिचय करवाते थे। सच कहूं तो हमारे आने से सबसे ज्यादा खुश पितामह कैशिक ही थे।

बाकी सब तो ठीक पर रुक्मी एक दिन भी नजर नहीं आया था। बाद में पता चला कि रुक्मी, रुक्मिणी-हरण के बाद मुझसे झगड़कर जो गया था तो वापस कुंडिनपुर आया ही नहीं था। उसने अपना अलग से एक छोटा-सा राज्य बना लिया था। मुझे भी याद आ गया; रुक्मी कह ही रहा था कि मैंने प्रतिज्ञा ली है कि यदि रुक्मिणी को वापस नहीं ले जा सका तो कुंडिनपुर में कभी पांव नहीं रखूंगा। और तब मेरी समझ में आया था कि पितामह कैशिक कैसे राजमहल में रहने चले आए थे। ...रुक्मी जो नहीं था।

खैर! अभी साले का जिक्र छोड़ यहां जो जीवन में पहली दफा जमाई होने का आनंद ले रहा था, उसकी बात करूं तो अच्छा है। सचमुच जमाई के आव-भगत की बात ही कुछ और होती है। एक ही आव-भगत से अच्छी तरह समझ आ गया था कि लोगों को ससुराल से इतना मोह क्यों होता है? वैसे तो कुशस्थली में भैया की आव-भगत पहले देख ही चुका था। सच कहूं तो मैं तो तभी से अपने ससुराल जाने की इच्छा दबाये बैठा था। उधर रुक्मिणी भी हमारी हो रही आव-भगतसे बड़ी खुश थी। यहां तक कि कुंडिनपुर आकर वह बाइस से सीधे सोलह वर्ष की हो गई थी। चलो इसी बहाने मेरा कुंडिनपुर आना सफल हो गया था। नहीं समझे, आखिर सोलह वर्ष की रुक्मिणी के साथ रहना तो मुझे ही था। ...चलो यह बात भी छोड़ूं तो यहां इतने दिनों में एक बात पूरी तरह समझ आ गई थी कि रुक्मिणी पितामह के काफी निकट है। यूं भी पोते-पोतियों का अपने दादा से सबंध ही कुछ ऐसा होता है। वह तो होता है, पर अभी तो पितामह व रुक्मिणी का प्रेम देख मुझे भी अपने दादा व परदादा से जल्द-से-जल्द मिलने की इच्छा जोर पकड़ने लगी थी।

होगा, अभी तो यहां ऐसे ही शानदार आव-भगतव मौज-मस्ती में सात रोज कहां बीत गए, पता ही न चला। हम यहां आए भी सात रोज के लिए ही थे। यूं भी ससुराल में इससे ज्यादा रुककर बनी-बनाई इज्जत बिगाड़ना नहीं चाहता था। निश्चित ही पितामह से लेकर महाराज तक कोई हमें जाने देना नहीं चाहते थे, पर जाना तो था ही। और यह भी कहने की जरूरत नहीं कि हमारी इस हसीन यात्रा की समाप्ति पर राजमहल ही नहीं, पूरे कुंडिनपुर ने हमें भावभीनी बिदाई दी। वाकई कुंडिनपुर की प्रजा मुझसे बहुत खुश थी। शायद क्योंकि मैंने उनकी प्रिय राजकुमारी को शिशुपाल के पंजे से जो बचाया था। खैर, वहां कारण चाहे जो हो, यहां तो हमारी यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी। हम कुंडिनपुर की सीमा कब का छोड़ चुके थे, पर कुंडिनपुर का नशा था कि उतरने का नाम ही नहीं ले रहा था। हालांकि एक बात ऐसी भी थी जो मेरा और रुक्मिणी का नशा कुछ हद तक उतारे हुए थी। वैसे तो हर दृष्टि से हमारी यह यात्रा बड़ी आनंददायी थी, लेकिन कुंडिनपुर जाने का एक घाटा भी हमें झेलना पड़ा था। दरअसल महाराज भीष्मक ने श्वेतकेतु व शेव्या को फिर कुंडिनपुर रहने के लिए राजी कर लिया था। अर्थात् लौटते वक्त शेव्या व श्वेतकेतु हमारे साथ नहीं थे। कोई बात नहीं... यूं भी रुक्मी तो अब वहां था नहीं। यानी अब कुंडिनपुर में उनके लिए कोई खतरे की बात तो थी नहीं। और फिर श्वेतकेतु जैसा खुद्दार आखिर कब तक द्वारका पड़ा रहता? बस इस विचार के साथ ही शेव्या व श्वेतकेतु के गम से निजात पा ली। और निजात पाते ही एकबार फिर यात्रा का आनंद लेने में जुट गया। वाकई बड़े उत्साह के वातावरण में हमारी यह यात्रा कट रही थी। और चारों ओर चर्चा सिर्फ कुंडिनपुर में हुई आव-भगत की थी। निश्चित ही रुक्मिणी को यह माहौल बड़ा गौरवान्वित कर रहा था। बस इन्हीं सबके चलते करीब आठवें रोज हमारा कारवां द्वारका लौट आया।

यहां तक तो ठीक पर मजा तो यह कि द्वारका आने के बाद भी कई दिनों तक कुंडिनपुर के राजमहल द्वारा हमारी की गई आव-भगत से कोई बाहर नहीं आ पा रहा था। जब और जहां मिलते, बस कुंडिनपुर की ही बात करते रहते। रुक्मिणी यह सब देख फूली नहीं समाती। यही कारण था कि द्वारका लौटकर रुक्मिणी पहले से कहीं ज्यादा प्रसन्न रहने लगी थी। शायद दादाजी व पिताजी का आशीर्वाद पाकर व उन्हें सही-सलामत देखकर उसके मन से एक

बोझ भी उतर गया था। वहीं दूसरी ओर इधर द्वारका का जीवनस्तर भी दिन-ब-दिन नई ऊंचाइयां छू रहा था। उसका मुख्य कारण यहां का अनुशासन था। क्योंकि मैं जानता था कि इन यादवों को जरूरत से ज्यादा ढील देना कभी भी खतरनाक हो सकता है। इनमें हरामखोरी की पुरानी आदत फिर घर कर सकती है।

खैर, उधर द्वारका की भव्यता के चर्चे मथुरा में भी कम नहीं होते थे। इस कारण अचानक मथुरा से यादवों का लगातार द्वारका आना प्रारंभ हो गया था। अब द्वारका को तो मथुरा से आ रहे यादवों के स्वागत के लिए तैयार रहना ही था। सो, लाख कोशिशों के बावजूद द्वारका का निर्माण-कार्य समाप्त होने का नाम ही नहीं ले रहा था। नए भूखंडों पर घरों व विश्रामालयों का निर्माण एकबार फिर धड़ल्ले से चालू हो गया था।

...चलो यह तो अच्छा ही था। पर उधर द्वारका में एक ऐसा परिवर्तन भी आया था जो अच्छा था या बुरा, तय करना मुश्किल था। दरअसल इन दिनों सत्राजित भी ज्यादा समय अपने ही राज्य में रहने लगा था। अब कारण तो सत्राजित ही बेहतर जाने, पर मैं इस बात की पूरी तरह अनदेखी नहीं कर सकता था। उधर मेरी और सत्यभामा की बात करूं तो मैं द्वारका व रुक्मिणी में ऐसा उलझा पड़ा था कि अधिकांश समय अकेली होने के बावजूद मेरी और उसकी मुलाकातें काफी कम हो गई थी। हालांकि इस चक्कर में सत्यभामा व बहन सुभद्रा की दोस्ती जरूर मजबूत हो गई थी। क्योंकि वह मुझसे मिलने आती और मैं व्यस्त होता या नहीं होता तो सुभद्रा से बतिया लेती। और फिर तो उनकी यह दोस्ती ऐसा परवान चढ़ी कि आगे चलकर सुभद्रा के बहाने ही मुझे सत्यभामा के दर्शन होने लगे। होगा, दर्शन चाहे जिस कारण से हो पर होते रहने चाहिए। क्योंकि मेरे मन तो वह आज भी किसी देवी से कम नहीं थी। आखिर द्वारका का यह खुशहाल जीवन उसी के सहयोग को तो आभारी था। दूसरी ओर मजे की बात यह कि भले ही वह सुभद्रा के काफी निकट आ गई थी, पर इस बात का उसके मेरे प्रति आकर्षण में कोई फर्क नहीं पड़ा था। उल्टा समय के साथ उसका मेरे प्रति आकर्षण बढ़ा ही था। उस पर कमाल यह कि उम्र के साथ उसकी सुंदरता भी निखरती ही चली जा रही थी। यानी कुल-मिलाकर सत्राजित क्यों बार-बार द्वारका से बाहर आ-जा रहा था, यह मेरे लिए चिंता का विषय हो सकता था, परंतु सत्यभामा की ओर से मुझे सुकून-ही-सुकून था।

खैर! सत्यभामा प्रकरण बंद करूं तो वास्तविकता यह थी कि पूरा जीवन संघर्ष में बिताने के बाद बमुश्किल द्वारका में इतना सुरक्षित व आनंदित जीवन गुजारने का मौका मिल रहा था। अत: मैं सत्राजित पर विशेष ध्यान दिए बगैर द्वारका के इस वर्तमान जीवन का भरपूर आनंद लेने में लगा हुआ था। तभी अचानक मेरे आश्चर्य के बीच एक दिन हस्तिनापुर से एक दूत पांडवों का संदेश लेकर आया। संदेश आया तो ध्यान आया कि हमारे मित्र पांडव हस्तिनापुर में रहते भी हैं। एकबारको तो चिंता भी पकड़ ली कि कहीं उन पर कोई संकट तो नहीं आ गया है? कहीं पांडव किसी बड़ी मुसीबत में तो नहीं फंस गए हैं? ...लेकिन नहीं, हस्तिनापुर से खुशखबरी ही आई थी। भीष्म पितामह व महाराज धृतराष्ट्र आखिरकार युधिष्ठिर को युवराज बनाने के लिए राजी हो गए थे। तीन माह बाद युधिष्ठिर का राज्याभिषेक था। और दूत उस समारोह में शामिल होने का निमंत्रण लेकर आया था।

इस खबर ने मुझे बड़ा संतोष पहुंचाया। चलो पांडवों के सर से बला तो टली। अब वे भी आनंद व वैभव का जीवन जी सकेंगे। साथ ही इससे हस्तिनापुर की प्रजा का भी जीवनस्तर सुधरेगा, क्योंकि पांडवों के राज में प्रजा का पूरा ध्यान रखा जाना तय था। यह सब तो ठीक, पर मेरा मन भी बड़ा अजीब था। अचानक मेरे मन में पांडवों से मिलने की इच्छा जागृत होने लगी। यूं भी अर्जुन व भीम से मिलकर हमेशा अच्छा ही लगता था। बस मैंने राज्याभिषेक समारोह में शामिल होना तय कर लिया। और इसके साथ ही हाथोंहाथ मैंने दूत को समारोह में अपनी हाजिरी का आश्वासन देते हुए वापस हस्तिनापुर रवाना भी कर दिया। दूत के जाते ही मुझे दादाजी की याद आई। उनका भी निमंत्रण आया ही पड़ा हुआ था। और वहां भी जाना ही था। ...यानी एक पंथ दो काज तय हो गए थे।

खैर! करीब दो माह बाद मुझे निकलना था। रुक्मिणी तो मेरे जाने की बात सुनकर ही उदास हो गई थी। हालांकि अन्य परिस्थिति होती तो मैं रुक्मिणी को अवश्य साथ ले जाता, परंतु क्या करूं, इस समय वह गर्भवती थी। जी हां; यह नन्हा सा "कान्हा" बाप बनने वाला था। तो क्या, बाप बनने से कोई इस "नटखट-कृष्ण" का बचपना व मस्ती थोड़े ही कम होने वाले थे। वह तो नहीं ही होने थे, और उसका सबूत यह कि निकलना दो माह बाद था और मैं अभी से जाने के सपनों में खो गया था। हां, पर इतना भी नहीं कि अपने कर्तव्यों से ही विमुख हो जाऊं। जाने से पूर्व दो महत्त्वपूर्ण कार्य निपटाने का पूरा-पूरा एहसास था मुझे। एक, द्वारका का व्यवसाय मेरे न होने पर भी यथावत चलता रहे यह तय करना था व दूसरा ज्यादा-से-ज्यादा वक्त रुक्मिणी के साथ बिताना था; ताकि उसे मेरी जुदाई का दु:ख कम-से-कम हो। उधर रुक्मिणी की वर्तमान हालत देखते हुए माताजी व सुभद्रा भी रुकने के लिए हमारे ही महल में आ गए थे। इधर मैं भी अपनी ओर से रुक्मिणी का यथासंभव ख्याल रखे ही हुए था। ...फिर भी, और न चाहते हुए भी मेरा ज्यादातर समय द्वारका के प्रशासनिक व व्यावसायिक काम-काज में ही बीता करता था। कुचक्र

यह चल पड़ा था कि मैं जितना रुक्मिणी के साथ समय गुजारने की सोचता, उतना ही काम-काज बढ़ता जाता। धीरे-धीरे कर तो हालात यहां तक आ गए थे कि कई बार आते-आते मध्यरात्रि हो जाती थी। पर मेरे पास चुनाव ही कहां था? द्वारका मेरे सपनों की नगरी थी। मैं यहां भरपूर खुशहाली चाहता था। प्यारे द्वारकावासियों को स्वर्ग-सा सुख भोगते देखना चाहता था। निश्चित ही "धन" इन सब सपनों की जड़ था, और जो बगैर व्यवसाय के प्राप्त नहीं किया जा सकता था। वहीं हकीकत यह भी थी कि व्यवसाय जमाना व फैलाना सिर्फ मेरे ही बूते का था। रुक्मिणी और पुत्र अपनी जगह है पर "खुशहाल-द्वारका" मेरी प्रथम प्राथमिकता थी और रहेगी... लेकिन दुर्भाग्य से इस कारण थका-हारा महल लौटने के बावजूद मुझे रुक्मिणी की नाराजगी का सामना करना ही पड़ता था। तो मुझे इससे क्या फर्क पड़ रहा था, ...मुझे तो संघर्षों में जीने की आदत पड़ी ही हुई थी। सो द्वारका व रुक्मिणी के बीच संघर्ष करते-करते मेरे ये दिन कट रहे थे।

...तभी एक दिन मेरे परम आश्चर्य के बीच आचार्य-सांदीपनिजी द्वारका पधारे। उनको द्वारका आया देखकर मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। क्योंकि आज मैं जो कुछ भी था एक उन्हीं की बदौलत था। कहने की जरूरत नहीं कि मैंने उन्हें अपने साथ अपने ही राजमहल में रुकवाया। भला हाथ लगा गुरु सेवा का मौका कहीं छोड़ा जाता है? वैसे तो मैं चाहता था कि वे द्वारका के राज्याभिषेक समारोह में भी आएं। मैंने उनका इन्तजार भी किया था। लेकिन शायद ऐसे समारोहों में शिरकत करना उन्हें रास नहीं आया होगा। मैं तो उन्हें अन्यथा भी बुलाना चाहता था, लेकिन कभी मौका नहीं बना। वैसे भी जो बुलावे से आ जाए वे गुरु कैसे? गुरु तो स्वप्रेरित ही प्रकट होते हैं, ...जो आज हो गए थे। और स्वाभाविक तौर पर सर्वप्रथम उन्होंने द्वारका की सुंदरता व भव्यता के लिए मुझे बधाई दी। ...मैंने भी उनसे पूरी कृतज्ञता दिखाते हुए कहा- गुरुदेव, यह सब आपके ही आशीर्वाद का फल है।

...उधर रुक्मिणी भी आचार्यजी का आशीर्वाद पाकर धन्य हो गई थी। वैसे भी आचार्यजी की प्रतिभा के बाबत कौन नहीं जानता था? रुक्मिणी ने भी उनके बारे में बहुत कुछ सुन ही रखा था। यही कारण था कि वह भी आचार्यजी के आने से काफी प्रसन्न रहने लगी थी। इधर आचार्यजी के आने से देखते-ही-देखते मेरा राजमहल छोटे-मोटे गुरुकुल में परिवर्तित हो गया था। संध्या होते-होते तो मेरे सभी मित्र आचार्य दर्शन करने व उनसे प्रेरणा लेने एकत्रित हो जाया करते थे। नजारा ऐसा जम गया था कि संध्या जैसे ही होती, मैं और आचार्यजी समुद्र किनारे से टहल के आते कि राजमहल में जमावड़ा लग जाता। आचार्यजी अपने सबसे ऊंचे सिंहासन पर बैठ जाते, उनके आस-पास सभी बुजुर्ग जम जाते। हम लोग जहां जगह मिलती वहीं पसर कर बैठ जाते। यह सभा फिर देर रात तक चलती। क्या नानाजी व क्या पिताजी, सब समय से ही आ टपकते। मित्र तो संध्या होने से काफी पूर्व ही राजमहल के बैठक-कक्ष में धावा बोल देते। हमारे लौटते-लौटते तो रुक्मिणी व सुभद्रा भी वहीं मंडराने लग जाती। अक्रूरजी व कृतवर्मा जैसे बुजुर्ग भी अक्सर हाजरी पुराने आ ही जाते। मौके-बेमौके मंत्रिपरिषद भी टपक जाती। यानी कुल-मिलाकर आचार्यजी के साथ मिल रहे इस सान्निध्य से कोई वंचित रहना नहीं चाह रहा था। इधर मैं भी उनका ऐसा नाम व सम्मान देख गौरवान्वित हो जाता था। विश्वास ही नहीं होता था कि एक ग्वाले को ऐसे आचार्य से शिक्षित होने का मौका मिला है। और इस विचार के साथ ही मन नानाजी के प्रति धन्यवाद से भर जाता था। होगा, अभी तो आचार्यजी के आगमन पर लौट आऊं तो हम सबका एकत्रित होना अपनी जगह था पर आचार्यजी को रुक्मिणी से बातें करना विशेष तौर पर अच्छा लगता था। वैसे भी पूरी द्वारका में सबसे ज्यादा शिक्षित रुक्मिणी ही थी। और शायद यही कारण था कि वह आचार्यजी से जितना प्रभावित हुई थी उससे कहीं ज्यादा तो आचार्यजी उससे मिलकर प्रसन्न हो उठे थे। और आप तो जानते ही हैं कि आचार्यजी मेरे लिए भगवान से भी बढ़कर थे, और ऐसे में मेरे मन तो मेरी प्राणों से प्यारी रुक्मिणी को मेरे प्रभुश्री के आशीर्वाद मिल गए थे।

चलो यह सब तो मिलने-मिलाने व प्रसन्नता की बात हुई, पर दूसरी ओर आचार्यजी से मिलकर मुझे अपनी एक भूल का एहसास भी हुआ। द्वारका में सबकुछ था परंतु गुरुकुल नहीं था। आचार्यजी ने मुझे इस बात की फटकार भी लगाई। उन्होंने कहा भी कि क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि किसी भी राज्य का भविष्य उसके गुरुकुल पर ही निर्भर करता है? और मैंने आचार्यजी से अपनी इस गलती हेतु क्षमा भी मांगी। वैसे "शिक्षा" की मेरी कल्पना अन्यों से भिन्न थी। मैं मनुष्य के चौतरफा विकास का पक्षधर था। मेरी दृष्टि में सिर्फ हथियार चलाने की या राजपाट सम्भालने की शिक्षा पर्याप्त नहीं थी। ना ही उन्हें सिर्फ बहादुरी सिखाना पर्याप्त था, और ना ही किसी के लिए कठिन जीवन जीने की शिक्षा को ही मैं पर्याप्त मानता था। और फिर संन्यासियों के तो मैं वैसे ही पूरी तरह से खिलाफ था। क्योंकि कर्मों से संन्यास लेना अंत में समाज पर बोझ बढ़ाने के सिवाय और कुछ नहीं। और यही बात मैंने अर्जुन से गीता में कहीं भी थी कि "सिर्फ बाह्य कर्मों का त्यागा कभी संन्यासी नहीं हो सकता? [18] ।" इसलिए मैं शारीरिक तौर पर ही नहीं, मानसिक तौर पर भी बलवान मनुष्य चाहता था। एक ऐसा मनुष्य जो व्यर्थ की चाहतों में जीने के बजाय सदैव

अहिंसा व सत्य में स्थित रहते हुए प्रगति के मार्ग पर चलता रहे। जो हमेशा सर्वहित में अपना हित समझे, मैं ऐसे कर्मठ किंतु नि:स्वार्थ युवाओं का निर्माण करना चाहता था। यानी उसके हाथ में हथियार तो हो परंतु वह शत्रुओं का नहीं... पापियों का नाश करने हेतु उठे। जो राजपाट और व्यवसाय दोनों का सबकी प्रगति के लिए उपयोग करने का दृढ़ संकल्पवान हो, मैं ऐसे विद्यार्थी अपने गुरुकुल से निकालना चाहता था।

मेरे हिसाब से मनुष्यजीवन का अर्थ है बगैर चाह या कामना के लगातार सर्वहित में कर्म करते रहना; और जब भी मौका मिले तब जीवन की छोटी-से-छोटी बातों का जमकर लुत्फ उठाना। साथ ही जब मौका हाथ लगे तब स्वयं व दूसरों को प्रगति के मार्ग पर भी लगाना...

वैसे तो यही क्यों, मैं तो अपनी ही तरह के नए मनुष्यों को जन्म देना चाहता था। मेरी दृष्टि में मृत्यु के बाद का मोक्ष कोरी बकवास के सिवाय कुछ नहीं था। वास्तव में तो जीते-जी मुक्ति ही मनुष्यजीवन की सर्वोच्च ऊंचाई है। मुझे ही देखो! मैं जीते-जी पूर्णरूपेण मुक्त था। शरीर ही नहीं, मेरा मन और मेरी इन्द्रियां भी जीते-जी मुक्त थे। यही क्यों, मेरा तो अहंकार भी पूर्णरूपेण मुक्त था। यहां तक कि अपने क्रोध या प्रेम पर भी मैंने कहां नियंत्रण कर रखा था?

...कहने का तात्पर्य जब क्रोध होता था, तब सिर्फ क्रोध होता था। ध्यान रहे, मुझे क्रोध नहीं होता था। मेरा व क्रोध का कोई मेल नहीं था। मैं तो हर पल, हरहाल में सिर्फ कुदरत का आईना बनकर जीता था। अत: मेरी सारी बातों का सार यह है कि मैं द्वारका में एक ऐसे गुरुकुल की स्थापना करना चाहता था जिसकी सहायता से द्वारका के हर घर में एक "कृष्ण" पैदा किया जा सके। यदि ठीक से समझा जाए तो मैं "वीर-संन्यासी" पैदा करना चाहता था। नपुंसक संन्यासियों से तो मुझे यूं ही सख्त नफरत थी। वहीं जुल्मी बहादुरों का तो मैं मौके-बैमौके वैसे ही वध करता रहता था। कुल-मिलाकर मेरा सोचना यह था कि मेरी इस इच्छा में आचार्य-सांदीपनिजी के अलावा और कौन है जो मुझे मार्गदर्शन दे सकता था?

...बस मैंने इस विषय में आचार्यजी से खुलकर चर्चा की। उन्होंने अनेक सुझाव भी दिए। लेकिन चर्चा के अंत में मुझे एक बात समझ में आ गई कि "कृष्ण" पैदा करने के लिए सिर्फ गुरुकुल पर्याप्त नहीं है। कृष्ण पैदा करने के लिए मां यशोदा का प्यार और बालक को दी जाने वाली पूर्ण स्वतंत्रता की भी आवश्यकता होती है। इसके अलावा यह बालक की अपनी स्वयं के जीवन से सीखने की अंतदृष्टि पर भी निर्भर करता है। अर्थात् कृष्ण बनने के लिए जीवन में प्यार, स्वतंत्रता, जीवन से सीखने की प्रज्ञा और हां... आचार्यजी जैसा गुरु, सभी आवश्यक है। चलो कृष्ण न सही, कृष्ण के अंश तो निर्मित किए जा सकते हैं। फिर क्या मालूम कोई मुझ-सा प्रतिभावान भी निकल आए। इस विचार के साथ ही मैंने सांदीपनिजी के मार्गदर्शन में एक गुरुकुल की स्थापना करने का निश्चय किया। क्योंकि मैं द्वारका के भविष्य को मथुरा जैसा कतई नहीं होने देना चाहता था, अतः मैंने आचार्यजी के दिशा-निर्देशानुसार तत्क्षण गुरुकुल का निर्माण कार्य पूरी गति से प्रारंभ भी करवा दिया। सांदीपनिजी ने गुरुकुल के लिए कुछ आचार्यों के नाम भी सुझाए। उन आचार्यों से संपर्क करने व उन्हें समझा-बुझाकर द्वारका लाने का कार्य मैंने उद्धव को सौंपा। मैं खुश था, चलो द्वारका में अब एक गुरुकुल होगा। और जिस तरह द्वारका आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ नगरी थी, ठीक उसी तरह यहां का गुरुकुल भी आर्यावर्त में श्रेष्ठ सिद्ध होना ही था। ...सचमुच क्या चमत्कारी व्यक्तित्व था सांदीपनिजी का। जब भी मुलाकात होती, कोई महान प्रेरणा अवश्य मिलती थी। अभी उन्हें आए सात दिन ही हुए थे और इतने कम समय में गुरुकुल का निर्माण-कार्य भी प्रारंभ हो चुका था। सच कहता हूँ मां-यशोदा, राधा व रुक्मिणी का प्यार... और आचार्यजी की प्रेरणा ही मेरे जीवन के सच्चे मार्गदर्शक थे। ...उनके बगैर कृष्ण कुछ भी नहीं था।

खैर! उधर मथुरावासियों का द्वारका आना लगातार जारी था। उन्होंने ही बताया था कि हमारे द्वारका आने के बाद जरासंध वहां हम लोगों को न पाकर बड़ा निराश हुआ था। ऊपर से कालयवन की मृत्यु के समाचार ने उसे बुरी तरह हिला कर रख दिया था। हालांकि बिना किसी व्यवधान के मथुरा पर जरासंध का शासन हो चुका था। आजकल उसका पुत्र ही मथुरा का राजपाट सम्भाल रहा है। कुल-मिलाकर मथुरा का हाल मेरी सोच के अनुरूप ही था। सच कहूं तो मुझ जैसे प्रज्ञाशील पुरुष के लिए इसमें खबर जैसा कुछ भी नहीं था।

...सो वापस आचार्यजी पर लौट आऊं, वही बेहतर है। और यहां एक तरफ जहां आचार्यजी अपनी आव-भगत से खुश थे, वहीं दूसरी तरफ मैं गुरुकुल का निर्माण कार्य प्रारंभ होने से प्रसन्न था। यानी गुरु-शिष्य एक-दूसरे के साथ आनंदपूर्वक विचरण कर रहे थे। तभी एक दिन ऐसे ही संध्या आचार्यजी एकान्त में मुझे टहलाने ले गए। बस हम दोनों गुरु-शिष्य किनारे से दूर एकान्त में बढ़े चले जा रहे थे। कुछ देर यहां-वहां की बात कर उन्होंने अपने आने का प्रयोजन बताया। मैं तो सुनते ही चौंक गया। पांव खुद-ब-खुद रुक गए। जहां खड़ा था वहीं खड़े-खड़े आश्चर्य से भरी निगाहों से आचार्यजी को देखने लगा। उनके आने का प्रयोजन मेरे अब तक के जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य था। आप कहेंगे कि ऐसी क्या बात हो गई? अरे ...आप भी सुनेंगे तो सुनते ही रह जाएंगे। शायद आपका मुंह भी आश्चर्य से खुला

रह जाए। ...दरअसल वे मेरे लिए महाराजा द्रुपद की लड़की ‘‘द्रौपदी’’ का विवाह प्रस्ताव लेकर आए थे। उनका कहना था कि द्रौपदी आर्यावर्त की ‘‘सर्वश्रेष्ठ-सुंदरी’’ है। और सबसे बड़ी बात यह कि उनके कहे अनुसार खुद महाराजा द्रुपद ने मेरे लिए यह प्रस्ताव भेजा है। यह तो आश्चर्य-पर-आश्चर्य व कमाल-पर-कमाल हो गया था। मुझे तो समझ ही नहीं आ रहा था कि जब वह इतनी सुंदर है तो आगे चलकर विवाह का प्रस्ताव मुझे क्यों? आर्यावर्त एक-से-एक युवराजों से भरा पड़ा है।दूसरी ओर मैं सोचने लगा कि महाराजा द्रुपद को ऐसी क्या अड़ी-भिड़ी है कि उन्होंने प्रस्ताव भेजने के लिए एक ऐसा व्यक्ति चुना, जिसे कुछ भी कह पाना मेरे लिए आसान नहीं था। ...यानी एक तो अप्रत्याशित प्रस्ताव, वो भी सबसे अप्रत्याशित व्यक्ति द्वारा। मुझे तो कुछ सूझना ही बंद हो गया था। हां, इतना अवश्य समझ आ रहा था कि ग्वाले ने बड़ी प्रगति कर ली है, और आगे बढ़कर सुंदर राजकुमारी का विवाह प्रस्ताव आना इस बात का सबूत था।

खैर! यह तो मजाक की बात थी। संजीदगी से कहूं तो आचार्यजी एक ऐसा प्रस्ताव लाए थे जिस पर ‘‘हां’’ या ‘‘ना’’ कहना इस समय मेरे वश में नहीं था। और बिना समझे आचार्यजी की शान में कोई गुस्ताखी करने का तो सवाल ही नहीं उठता था। उधर मुझे इस तरह विचारों में खोया देखकर आचार्यजी ने खामोशी तोड़ते हुए पूछा- किस सोच में डूब गए कृष्ण?

सच कहूं तो अब कहीं जाकर मुझे होश आया। मैंने ऐसे ही हड़बड़ाते हुए कहा- कुछ नहीं आचार्यजी। वैसे तो आप मेरा हित-अहित मुझसे बेहतर जानते हैं। आपके लाए प्रस्ताव पर विचार करना या शंका करना आपकी तौहीन होगी। फिर भी मैं यह सोच रहा था कि आप व महाराजा द्रुपद दोनों जानते हैं कि मैं शादीशुदा हूँ। फिर विवाह का प्रस्ताव एक विवाहित व्यक्ति को ही क्यों?

मेरी बात सुनते ही सांदीपनिजी जोर से हंस दिए। और हंसते-हंसते ही पास ही पड़ी एक पत्थर की बड़ी शिला के निकट ले गए। हम दोनों उस पर विराजमान हो गए। फिर कुछ देर की खामोशी के बाद वे बड़ी संजीदगी से बोले- कृष्ण तुम वाकई नादान हो। एक राजा को रोज हजारों समस्याओं से जूझना पड़ता है। यही कारण है कि राजा को आराम, प्रेम व आनंद की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। अत: शास्त्र और समाज ने राजाओं को अनेक विवाह की छूट दे रखी है।

मैंने कहा- यह तो ठीक है; जहां तक मेरा सवाल है आपकी बात समझ में भी आती है। परंतु द्रौपदी जो इतनी सुंदर है, वह क्यों बगैर देखे किसी भी विवाहित पुरुष को अपना पति बनाना स्वीकार करेगी?

आचार्यजी मेरा सवाल सुनते ही कुछ गंभीर हो गए। फिर उसी गंभीर मुद्रा में मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए बोले- सच तो यह है कृष्ण कि आचार्य द्रोण व द्रुपद में कुछ गलतफहमी हो गई थी, और जिसके चलते आचार्य द्रोण ने महाराजा द्रुपद से उनका आधा राज्य छीन लिया था। और इतने से भी जब द्रोण को संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने अपने बहादुर शिष्य अर्जुन को उकसाकर उससे गुरुदक्षिणा में महाराजा द्रुपद को पकड़कर उनके चरणों में समर्पित करने का आदेश दिया। और अर्जुन ने गुरु आज्ञा का पालन करते हुए बड़ी क्रूरता से द्रुपद को बंदी बनाकर द्रोण के चरणों में पेश किया। तभी से द्रुपद एक जख्मी शेर का जीवन गुजार रहे हैं। और अब यह हालत है कि महाराजा द्रुपद अपनी बेटी द्रौपदी का हाथ एक ऐसे वीर के हाथों में देना चाहते हैं जो आचार्य द्रोण से उनका प्रतिशोध ले सके। ...और कंस, पंचजन, शृंगलव व कालयवन जैसों का वध करने वाले ‘‘कृष्ण’’ से बहादुर इस समय आर्यावर्त में और कौन है?

...यह सब सुनकर मेरे तो सोचने की क्षमता ही क्षीण हो गई। आचार्य द्रोण भी कमाल का दुष्ट व्यक्ति है। एक शिष्य से गुरुदक्षिणा में अंगूठा मांगा था, दूसरे से किसी निर्दोष राजा को बंदी बनवाकर अपमानित करवाया। शायद ऐसे आचार्यों के कारण ही आर्यावर्त में आचार्यों की गरिमा धूल में मिल गई है। अरे, कैसी भी गलतफहमी क्यों न हो और कैसा भी अन्याय क्यों न हुआ हो, परंतु आचार्यों को तो अपनी गरिमा बनाए ही रखना चाहिए। यदि वे ही क्रोध व प्रतिशोध पर उतर आए तो फिर आर्यावर्त के भविष्य का क्या होगा...? वैसे यह इस समय मेरी सोच का विषय नहीं था। इस समय प्रमुख सवाल आचार्यजी को यथायोग्य उत्तर देने का था। मुसीबत यह कि आचार्यजी को ‘‘ना’’ भी नहीं कहा जा सकता था, और ‘‘हां’’ कहने का मन नहीं कर रहा था। यानी विषय अति संवेदनशील हो चुका था। इधर सोचते...सोचते अचानक मेरे चिंतन ने एक नई ही दिशा पकड़ ली। मैं सोचने लगा कि द्रौपदी इतनी तो कितनी सुदंर होगी कि उसके आगे रुक्मिणी की सुंदरता भी कुछ नहीं? ...हालांकि यह तो चिंतन ने फिर गलत दिशा पकड़ ली। पर मैं भी क्या करूं, प्रस्ताव ही कुछ ऐसा था कि चिंतन हजारों दिशाओं में दौड़ पड़ा था। लाख कोशिशों के बावजूद वर्तमान समस्या पर केन्द्रित ही नहीं हो पा रहा था। जबकि इस समय आचार्यजी से गरिमापूर्वक निपटना आवश्यक था। काफी मशक्कत के बाद भी जब कुछ नहीं सूझा तो मैंने बात टालने के उद्देश्य से पूछा- मुझे महाराजा

द्रुपद की बात भी समझ में आ रही है। परंतु क्या एक पिता के लिए प्रतिशोध इतना महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि उसकी आग में वे अपनी पुत्री तक को झोंकने के लिए तैयार हो गए हैं? और क्या द्रौपदी अपने पिता के प्रतिशोध का मोहरा बनने को तैयार है?

सांदीपनिजी हंसते हुए बोले- क्या बात करते हो कृष्ण...? द्रौपदी का तो जन्म ही प्रतिशोध की अग्नि से हुआ है। यह आग तब की है जब द्रौपदी पैदा होने वाली थी। अत: पिता-पुत्री दोनों के जीवन का एक ही मकसद है, द्रोण व अर्जुन से प्रतिशोध लेना।

अब मेरे पास कहने-पूछने को कुछ न था। आचार्यजी ने मुझे निरुत्तर कर दिया था। अब आगे कुछ पूछने की हिम्मत नहीं हुई। इन सब बातचीत में समय वैसे ही काफी बीत चुका था। बस हम लौट पड़े। लौटते वक्त मैं सोचने लगा कि यह अर्जुन भी कमाल है। जाने कौन-कौन से व्यर्थ के कार्यों में स्वयं को उलझाता रहता है? अब उसे महाराजा द्रुपद को पकड़ने की क्या आवश्यकता थी? वहां दुर्योधन-दु:शासन को ठिकाने लगाना आवश्यक है, वह तो उससे होता नहीं है; और यहां द्रुपद जैसों से व्यर्थ की उलझन मोल लिए बैठा है। यह मनुष्य भी कमाल है। करने योग्य कार्य तो उससे होते नहीं हैं और न करने के हजार कार्य वह करते रहता है।

ऐसी हजार बातें सोचते-सुचाते आखिर चिंतन ने सही दिशा पकड़ ही ली। यदि सचमुच द्रौपदी इतनी सुंदर है तो उसे पाने के लिए कोई भी द्रोण व अर्जुन से भिड़ने को तैयार हो ही जाएगा। और ऐसे में द्रोण का साथ देने हस्तिनापुर तो उतरेगी ही। फिर अगर द्रुपद ने जरासंध से हाथ मिला लिया तब तो यह युद्ध, महायुद्ध में बदल जाएगा। व्यर्थ हिंसा होगी। आर्यावर्त में महाविनाश हो जाएगा। अचानक यह सब सोचते-सोचते मैं नहीं नहीं ...कर बड़बड़ा उठा।

इधर मुझे इस कदर बड़बड़ाते हुए व चिंतनों में खोये देख आचार्यजी ने आश्वस्त करते हुए कहा- फैसला इसी क्षण करना आवश्यक नहीं है। तुम एकबार जाकर द्रुपद व द्रौपदी से मिल लो, फिर निर्णय कर लेना।

मैंने भी यह सोचकर हामी में सिर हिला दिया कि चलो हाल-फिलहाल के लिए तो जान बची।

पांडवों का राज्याभिषेक

उधर आचार्यजी तो एक हसीन प्रस्ताव देकर चले गए, परंतु मुझे अनेक उलझनों में डाल गए। कितना ही चिंतन करो पहेली सुलझती ही नहीं थी। एक सवाल पर चिंतन करो, हजार नए सवाल खड़े हो जाते थे। दूसरी तरफ जब से रुक्मिणी ने सुना था कि आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी "द्रौपदी" का मेरे लिए विवाह प्रस्ताव आया है; उसने तो मेरा जीना ही मुश्किल कर दिया था। यानी सुंदरता, हां...हां, हसीनों की सुंदरता जो "कृष्ण" को हमेशा रास आती थी, आज सुंदरता की मल्लिका के एक विवाह-प्रस्ताव ने सब उल्टा कर दिया था। कृष्ण को मानसिक उलझनों के साथ-साथ गृह-क्लेश का भी सामना करना पड़ रहा था। रुक्मिणी कारण-अकारण बात-बात पर मुझसे रूठने लगी थी। यही नहीं, मन-ही-मन अत्यंत दुखी भी रहने लगी थी। और इसका सीधा असर उसके स्वास्थ्य पर व मेरे जीवन पर पड़ रहा था। ...साथ ही आने वाले बच्चे पर तो पड़ ही रहा होगा।

लेकिन वह इसमें से कुछ भी समझने को तैयार नहीं थी। उसको तो यही लग रहा था कि मैंने द्रौपदी से विवाह किया ही समझो। एक तो मित्रों व भैया ने रुक्मिणी के सामने मेरा ऐसा चरित्र-हरण कर रखा था कि बेचारी यह सोचने पर मजबूर हो गई थी कि गोपियों व कुब्जा जैसों के पीछे पागल हो जाने वाले कृष्ण के द्रौपदी जैसी सुंदरी से मिले विवाह के प्रस्ताव को नामंजूर करने का सवाल ही कहां पैदा होता है? हालांकि मैं खुद इस विषय में यकीन से कुछ नहीं कह सकता था, फिर भी किसी की सोच पर सफाई देना मेरा स्वभाव नहीं था। दूसरा, मेरा यह स्पष्ट मानना था कि ...जिसकी जैसी सोच, वैसा उसका जीवन। रुक्मिणी इस समय जो कष्ट भोग रही थी उसके लिए उसकी वर्तमान सोच ही जवाबदार थी। ऐसे में भला मैं इसमें क्या कर सकता था? निश्चित ही यह रुक्मिणी के जिद व अहं की पराकाष्ठा थी। वह इस समय स्वयं को अकारण परेशान कर रही थी। वह इस समय गर्भवती थी। उसकी हालत नाजुक थी। ऐसे में उसे अपनी सेहत व प्रसन्नता दोनों का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक था। कम-से-कम उसे इस बात का ध्यान तो रखना चाहिए कि मां की शारीरिक व मानसिक सेहत का असर बच्चे पर पड़ता ही है। न मालूम क्यों, ऐसे नाजुक समय पर भी वह व्यर्थ के चिंतनों में उलझी पड़ी थी। वह पगली यह सोच-सोच परेशान हो रही थी कि द्रौपदी जैसी सुंदरी द्वारका आ गई तो फिर कृष्ण महाराज मुझे कहां पूछने वाले हैं? मैं तो रानी होते हुए भी दासी बनकर रह जाऊंगी। मैं अपनी प्यारी को हजार तरीके से सम्भालने का प्रयास कर रहा था, लेकिन सब व्यर्थ। वैसे भी एकबार असुरक्षा का भाव पकड़ ले तो सम्भलना आसान नहीं होता।

लेकिन इस सबके चलते मेरी हालत अजीब हो गई थी। एक तरफ रुक्मिणी समझने को तैयार नहीं थी तो दूसरी तरफ मेरे प्रस्थान का समय भी निकट आ गया था। भूल गए क्या? मुझे युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में नहीं जाना था? और फिर मेरे मन में तो युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में शामिल होने की व पांडवों से मिलने की इच्छा वैसे ही तीव्रता से जागृत हो चुकी थी। चलो इच्छा की छोड़ूं तो भी मुझे नागप्रदेश का संकट तो समझना ही था व उसका समुचित समाधान भी करना ही था। एक तो यह मेरा कर्तव्य था, दूसरा परदादा के दर्शन हेतु भी मन तो मचल ही रहा था। वहीं आचार्यजी से किए वादे के अनुसार महाराजा द्रुपद व द्रौपदी से मुलाकात करने भी जाना ही था। वह तो टाला ही नहीं जा सकता था। ...यानी एक नहीं अनेक कारणों से मेरी यात्रा अटल थी। और कार्यों की सूची देखते हुए यात्रा का काफी लंबी होना तय था। शायद वापस द्वारका लौटने में एक वर्ष भी लग सकता था। अर्थात् यात्रा की समुचित तैयारी करना भी आवश्यक था, और अब उसका वक्त भी आ ही गया था। कहने का तात्पर्य एक तरफ समय की कमी थी, दूसरी तरफ जिद के कारण रुक्मिणी का स्वास्थ्य गिरता चला जा रहा था। सच कहूं तो मैं जाने से पहले रुक्मिणी के साथ बचे हुए दिन प्रेम व आत्मीयता से बिताना चाहता था। निश्चित ही इतनी लंबी यात्रा पर जाने से पहले उसे फिर सामान्य देखने की तमन्ना थी मेरी। वहीं दूसरी ओर जाने से पूर्व अपनी बसायी द्वारका का भी भरपूर आनंद उठाना चाहता था; क्योंकि शायद करीब एक वर्ष के लिए द्वारका से बिछड़ना था। साथ ही इतनी लंबी यात्रा पर जाना है तो राजमहल के सुचारू संचालन व व्यवसाय की बाधाओं पर भी ध्यान देना ही पड़े... ऐसा था। यानी कुल-मिलाकर जाने का समय सर पे आ गया था व कार्यों की फेहरिस्त बढ़ती ही चली जा रही थी। उसका कोई अंत आता नजर नहीं आ रहा था। बस यह दर्द दिल में लिए दिन-रात कार्यों में भिड़ा हुआ था।

...अब यहां वैसे ही परेशानियां कम न थी कि उधर मुझपर शंकित रुक्मिणी ने एक नई ही जिद पकड़ ली। वह चाहती थी कि मैं द्वारका छोड़कर जाऊं ही नहीं। हालांकि वह जानती थी कि मेरा जाना पहले से तय है। जानती क्या थी, परदादा से मिल आने का सुझाव उसी ने दिया था। युधिष्ठिर का राज्याभिषेक कितना महत्वपूर्ण था, यह भी

वह समझती ही थी। लेकिन सच कहूं तो द्रौपदी के विवाह-प्रस्ताव ने उसे हिलाकर रख दिया था। वैसे तो मुझे भी रुक्मिणी की बड़ी फिक्र लगी हुई थी। मैं हजारों काम के बावजूद अधिकांश समय उसी के साथ गुजार रहा था। हां, मैं उसकी ऐसी उटपटांग जिदों को तवज्जो नहीं दे सकता था। सो, बस इस बात का अफसोस था कि मैं उसकी उदासी दूर नहीं कर पा रहा था।

...करता भी कैसे? उसकी चिंता काल्पनिक थी, वास्तविक तो थी नहीं कि उसका इलाज किया जा सके। और काल्पनिक चिंता का समाधान मनुष्य को स्वयं खोजना होता है। दूसरा कोई उसमें चाहकर भी कुछ मदद नहीं कर सकता है। क्योंकि मेरा जाना अटल था, अत: उस पर ना तो विचार किया जा सकता था और ना ही उस बाबत चर्चा ही की जा सकती थी। और सबसे बड़ी बात तो यह कि मेरे जाने के समय में भी कोई फेरफार संभव न था।

होगा! अभी तो यात्रा की तैयारियां चालू थी। और तैयारियां द्वारकाधीश के रुआब को ध्यान में रखते हुए ही की जा रही थी। करीब बीस रथ, तीस सिपाही, कुछ दास-दासियां व पूरी साधन-सामग्री लेकर जाने वाला था। और रथ चलाने हेतु दारुक को तो साथ में ले ही जा रहा था। अब समय की कमी व तैयारियों की फेहरिस्त को देखते हुए आखिर थककर एकबार को मैंने अपना ध्यान रुक्मिणी से हटाना ही उचित समझा। क्योंकि वह उन बातों के बाबत सोच-सोच परेशान हो रही थी जो अस्तित्व में ही नहीं थी। उसका दु:ख स्वयं के उन तुच्छ विचारों से जनित था जिसे सिर्फ वह स्वयं ही दूर कर सकती थी। क्योंकि मेरे लिए तो अब धीरे-धीरे कर उसका गम बिना उपाय का विषय होता जा रहा था। जब समझती ही नहीं तो क्या करूं? जब देखो तब रूठना, मुंह फुलाना, झगड़ना बस। खुद की सेहत की बजाय द्रौपदी की चिंता करते रहना कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण थोड़े ही था। एक तो जैसे-जैसे जाने का समय निकट आ रहा था मुझपर कार्य का बोझ यूं ही बढ़ता जा रहा था; और दूसरी तरफ रुक्मिणी भी मुझे नए-नए तरीके से परेशान करने में लगी ही हुई थी। अब तो वह इस बात से भी नाराज रहने लगी थी कि आप मुझपर समुचित ध्यान ही नहीं देते। लो, यह क्या बात हुई? इतने काम, इतनी जवाबदारियों के बावजूद उसका पूरा ख्याल रखे हुए था। अब इससे ज्यादा क्या कर सकता था? कुछ नहीं, मैं भी समझ ही रहा था कि ले-देकर परेशानी द्रौपदी की ही है, और जो वह खुलकर कह नहीं रही। अब कहे तो भी मेरे पास उसका इलाज क्या था?

सो, उसे भुला मैंने अपना पूरा ध्यान व्यवसाय व राजमहल के कार्यों में लगा दिया था। परंतु रुक्मिणी भी कम कमाल न थी। अंत में कहीं से बात बनती न देख उसने एक नए ही तरीके की रट पकड़ ली। वह चाहती थी कि मैं कुछ दिन बाद जाऊं क्योंकि अब किसी भी समय उसे संतान अपेक्षित थी। वह चाहती थी कि मैं एकबार संतान का मुंह देख लूं, फिर भले ही चला जाऊं। ...लेकिन यह शक्य नहीं था। क्योंकि युधिष्ठिर के राज्याभिषेक में अब सिर्फ बीस दिन बाकी थे। और वहां राज्याभिषेक हो जाने के बाद जाने का कोई तुक नहीं बनता था। अतः करीब सात रोज बाद मुझे निकलना ही था। फिर जितनी देर से जाऊंगा, उतनी ही देर से नाग-प्रदेश पहुंचूंगा। वहां पर दादाजी भी जीवन की अंतिम सांसें ले रहे थे। कहीं ऐसा न हो, मेरे पहुंचने से पहले ही वहां कुछ अनर्थ हो जाए। कुल-मिलाकर बिना वजह यात्रा को एक दिन के लिए भी टालने का सवाल ही नहीं उठता था। सो, एक तरफ जहां यात्रा की तैयारियों में लगा रहा, वहीं दूसरी तरफ यात्रा की पूर्व रात्रि तक मैं उसे समझाने का प्रयास भी करता रहा। क्योंकि इतनी लंबी यात्रा पर मैं रुक्मिणी की उदासी दूर किए बगैर निकलना नहीं चाहता था। अंतिम रात्रि तो मैंने उससे बड़ा प्यार जताने की भी कोशिश की। बाहर बरामदे में ही देर रात्रि तक उसके साथ झूला भी झूलता रहा। वहीं झूले पर प्रेम से उसे गले लगाते हुए समझाने के प्रयासरूप मैंने कहा भी कि- अपनी संतान मैं रहूं या न रहूं, पैदा होनी ही है। और उसकी व तुम्हारी देखभाल करने के लिए भाभी, सुभद्रा, माताजी व दास-दासियां हैं ही। फिर पैदा होने वाली संतान मुझे पहचानने वाली भी नहीं। तो फिर जहां मेरे रुकने से कोई फर्क नहीं पड़ना है, तुम चाहती हो मैं वहां रुक जाऊं..., और जहां मेरा पहुंचना आवश्यक है व जहां मेरी उपस्थिति महत्वपूर्ण है, वहां न जाऊं? ...यह तो मोह में पांसकर कर्तव्य-कर्म से मुख मोड़ना हुआ। और तुम अच्छे से जानती हो कि मैं अपने कर्तव्य-कर्मों से कभी पीछे नहीं हटता। और फिर यह क्यों नहीं सोचती पगली कि कल सुबह मुझे निकलना है। तुम समझदार हो, एक राजकुमारी हो, तुम राजमहल के कर्तव्यों व मेरे स्वभाव दोनों से अच्छी तरह वाकिफ हो, फिर क्यों नहीं मुझे हंसते हुए बिदा करती?

...लेकिन जो बात रुक्मिणी को मैं इतने समय में नहीं समझा पाया था, वह उसे एक रात में क्या समझा पाने वाला था? कमाल है, जिस रुक्मिणी को मुझे कर्तव्य की राह पर लगाना चाहिए था, वह उल्टा मुझे कर्तव्य कर्मों से विमुख करने की कोशिश कर रही थी। ऐसा नहीं है कि वह समझ नहीं रही थी, पर लगता है द्रौपदी की सुंदरता का बखान सुन उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। उसे असुरक्षा का भाव पकड़ लिया था। और एकबार असुरक्षा का भाव पकड़ ले, फिर मनुष्य होश में कहां रहता है...?

खैर; इन्हीं सब बातचीत व रूठने-मनाने में मध्यरात्रि बीत गई। सुबह मुझे जल्दी निकलना था। इतने

दिनों के दिन-रात किए कर्मों के कारण थकान वैसे ही अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुकी थी। ...आखिर रुक्मिणी को मेरी हालत व कोशिश दोनों पर रहम आ ही गया। यूं भी भीतर तो वह समझ ही रही थी कि मैं न तो गलत कह रहा हूँ, न कर रहा हूँ। बस उसके सारे प्रयास तो द्रौपदी नामक बला को जीवन से टालने तक सीमित थे। और वह उससे तमाम कोशिशों के बाद भी नहीं हो पाया था, ऐसे में उसने शायद समझदार राजकुमारी का कर्तव्य निभाना ही बेहतर समझा था। सो स्वयं मुझे झूले पर से उठाकर बिस्तर पर ले गई। और फिर लंबी यात्रा को देखते हुए बड़े प्रेम से मेरे सर पे हाथ फेरते हुए मुझे सुला दिया। अब इसे मैं अपना ''भाग्य'' कहूं या रुक्मिणी का ''हृदय-परिवर्तन''? चाहे जो हो, परिणाम में मुझे सुकून की नींद अवश्य नसीब हुई।

...सुबह मैं समय से ही उठ गया। फटाफट तैयार भी हो गया। आज एक अनूठे उत्साह से भरा हुआ था। पता नहीं यात्रा की मस्ती छाई थी या जीवन में आने वाले बदलाव का यह असर था। ...वैसे सुबह सुहानी होने की एक और वजह थी, रुक्मिणी का सामान्य व्यवहार। निश्चित ही उसका सामान्य व्यवहार मुझे बड़ा सुकून पहुंचा रहा था। हालांकि वह इस समय बड़ा भावुक भी हो उठी थी। लगे हाथों मैंने भी उसे गले लगाते हुए अपना पूरा ध्यान रखने की सख्त हिदायत दे डाली। ...आखिर वह मेरी जान थी। और कलाकार भी मेरी ही तरह थी, सो लगे हाथों मौका पाते ही उसने भी जल्द लौट आने की गुजारिश कर डाली। तो मैं भी क्या कम था, बस लगे हाथों मैंने भी उसे झूठा आश्वासन दे डाला।

खैर! उधर सभी मित्र, नानाजी, मां-पिताजी समेत हजारों द्वारकावासी मुझे समुद्र किनारे तक बिदा करने आए थे। क्यों न आते, पहली बार उनका द्वारकाधीश द्वारका से बाहर जा रहा था। हां, अंत समय में मैंने एक फेरबदल अवश्य किया था। दारुक के साथ-साथ उद्धव को भी अपने साथ ले जा रहा था। निश्चित ही इससे रुक्मिणी को काफी राहत पहुंची थी। उसका सोचना था कि उद्धव मेरे बेलगाम घोड़ों पर लगाम कसे रखेगा। अब बेचारी रुक्मिणी क्या जाने कि मुझे जो करने योग्य लगेगा वह मैं कर के रहूंगा, ...और उसमें उद्धव क्या भगवान भी मुझे रोकने में समर्थ नहीं है।

खैर! शानदार व भावुक बिदाई के साथ हमारी यात्रा शुरू हो चुकी थी। साथ लिए जाने से उद्धव भी बहुत खुश था। राजा होने के बाद यह मेरी पहली औपचारिक यात्रा थी; और निश्चित ही इस लिहाज से भी यह यात्रा ऐतिहासिक थी। ...फिर भी मन कहीं-न-कहीं कुछ उचाट था। दरअसल रुक्मिणी ने भले ही मेरी खातिर मुझे हंसते हुए बिदा किया था, पर मैं जानता था कि मन-ही-मन वह उदास है ही। एक तो उसे संतान अपेक्षित थी, व एक मां के लिए संतान क्या मायने रखती है, यह कहने की कोई जरूरत नहीं। ऊपर से मैं कम-से-कम एक वर्ष के लिए तो निकल ही पड़ा था। यानी साथ में इतनी लंबी जुदाई का दर्द भी उसे सहना था। और इन सबसे बढ़कर ''द्रौपदी'' नामक मानसिक उलझन जो उसे चारों ओर से घेरे हुए थी, उससे भी उसे निपटना था। बस इन्हींसब कारणों से रह-रहकर मुझे रुक्मिणी की चिंता पकड़ रही थी। पता नहीं क्यों कुदरत मुझे हमेशा कठिनतम चुनावों में ही पांसाती थी। अभी एक तरफ युधिष्ठिर का राज्याभिषेक था तो दूसरी तरफ संतान प्राप्ति अपेक्षित थी। ...वो भी पहली संतान की प्राप्ति। अब कोई बताए कि दोनों एक ही समय क्यों आ टपकी थीं? व्यर्थ ही रुक्मिणी को परेशानी सहन करनी पड़ रही थी न।

सचमुच जबसे रुक्मिणी द्वारका आई थी, सोचता था जीवन के संघर्षों से अब छुटकारा मिल जाएगा। लेकिन मुझे क्या पता था कि सुकून का लंबा जीवन मेरे भाग्य में है ही नहीं... अभी-अभी रुक्मिणी से संघर्ष करके निकला था और तीन-तीन महासंघर्ष में उतरने जा रहा था। उसमें भी एक संघर्ष तो द्रौपदी जैसी हसीना से करना था, जिस युद्ध कला में मैं पहले से ही कमजोर था। आप तो जानते ही हैं कि सुन्दरता से युद्ध जीतना मेरे स्वभाव को वैसे ही रास नहीं आता था। कहा जा सकता है कि पूरे एक वर्ष के आराम व आनंद के बाद संघर्षों ने फिर पुकारा था - कृष्ण आओ! आराम व शांति तुम्हारे लिए नहीं। तुम्हें तो संघर्ष में ही आनंद लेना है और मौत के साये में ही वंशी बजानी है। कोई बात नहीं; जैसी कुदरत की मर्जी। ...मैं तो हमेशा से कुदरत का एक समर्पित सिपाही था, हूँ और रहूंगा।

चलो छोड़ो! यह सब बात तो आपको कहने की जरूरत ही नहीं, आप जानते ही हैं। सो यात्रा के प्रथम दिन की बात करूं तो वह भी कम दिलचस्प नहीं रहा। रात्रि का पहला पड़ाव डाला ही था कि सांदीपनिजी का प्रस्ताव व रुक्मिणी के साथ बिताई उस रात ने मेरे जागरण की पूरी व्यवस्था कर दी। ...मुझे आज भी वह दिन अच्छी तरह याद है, जब सांदीपनिजी ने मुझे द्रौपदी का विवाह प्रस्ताव दिया था; और मैं सुनते ही काफी दुखी हो गया था। नहीं... नहीं, विवाह प्रस्ताव से नहीं, बल्कि प्रतिशोध के लिए पुत्री के इस्तेमाल ने मुझे हिलाकर रख दिया था। क्या प्रतिशोध में मनुष्य इतना गिर सकता है? क्या कोई आचार्य अपने प्रतिशोध के लिए शिष्य का उपयोग कर सकता

है? यदि राजे और आचार्य इस स्तर तक गिर जाएंगे तो फिर आम मनुष्यों के जीवन की शांति और आनंद का क्या होगा? क्या इससे मनुष्यजीवन का मूल उद्देश्य ही दांव पर नहीं लग जाएगा? ...उस दिन इन्हीं सब चिंताओं में डूबा हुआ मैं अपने शयन-कक्ष में गया था। हमेशा की तरह उस दिन भी रुक्मिणी वहीं बिस्तर पर लेटे हुए बड़ी बेसब्री से मेरा इन्तजार कर रही थी। उस दिन वह प्रसन्न भी कुछ ज्यादा ही थी, व वह मेरी ही पसंद की पीले रंग की रेशमी साड़ी पहने हुए थी। पीले रंग की रेशमी साड़ी पहनी रुक्मिणी मुझे वैसे ही बहुत आकर्षक लगती थी। और क्या बताऊं आपको, ...पीला रंग उस पर फबता भी खूब था। यह बात अलग थी कि मुझे स्वयं के लिए केसरी व गुलाबी रंग के पीताम्बर ज्यादा पसंद थे।

चलो छोड़ो उस बात को। अभी तो रुक्मिणी पर ही लौट आऊं। मुझे अच्छी तरह से याद है कि रुक्मिणी की उस दिन की प्रसन्नता की बात ही कुछ और थी। रुक्मिणी के बाबत एक और बात कह दूं कि प्राय: वह मेरी चिंता व उदासी तत्क्षण भांप लेती थी। और कई बार तो वह मुझे व्यर्थ की चिंता न करने की समझाइश भी दे डालती थी। लेकिन उस रोज वह अपनी ही किसी धुन में खोई हुई थी। मुझे देखते ही उसने तमाम दासियों को रवाना कर दिया था। और उनके जाते ही वह खड़े-खड़े ही मुझसे लिपट गई थी। यही नहीं, उसके पश्चात् मेरा हाथ पकड़कर उसने बड़े प्रेम से मुझे पलंग पर बिठाया था। और फिर मेरी छाती पर सिर रखते हुए उसने बड़ी प्रसन्नता से कहा था - आज मैं आपको वह खुशखबरी सुनाती हूँ जिसे सुनते ही आप मारे खुशी से झूम उठेंगे। पूरी द्वारका उत्सव में डूब जाएगी। जानते हैं, अब हमें अपनी संतान कभी भी अपेक्षित है।

...मुझे अच्छी तरह से याद है कि मैंने कुछ खास प्रतिक्रिया नहीं दी थी। आश्चर्य था, इस पर भी उसका ध्यान मेरी उदासी पर नहीं गया था। वह अपनी ही मस्ती में मस्त थी। बोलते ही चली जा रही थी - ...देखना लड़का होगा। बिल्कुल आप जैसा।सांवला, सुन्दर व पराक्रमी। अब तो हमारा पूरा समय उसे खिलाने-पिलाने में, उसके साथ खेलने में व उसे बड़ा करने में ही बीत जाएगा। ...बावजूद इसके मेरी खामोशी बरकरार थी। और तब कहीं जाकर वह मेरी खामोशी को ताड़ पाई थी। स्वाभाविक तौर पर इतनी बड़ी खबर सुनकर भी मेरा खुश नहीं होना, उसे बड़ा अप्रत्याशित लगा था। और फिर देखते-ही-देखते मेरे ठंडे प्रतिसाद के कारण प्रसन्न रुक्मिणी कितना उदास हो गई थी? यह बात मैं आज भी भुलाये नहीं भूलता। मैं उसकी प्रसन्नता में विघ्न पहुंचाना नहीं चाहता था; और कम-से-कम उसे उदास करना तो कतई नहीं चाहता था; लेकिन क्या करूं मनुष्यों की गिरावट ने मुझे परेशान कर रखा था। मनुष्य के भविष्य की चिंता मुझे पकड़ ली थी। ऐसे में चाहकर भी मैं उसकी खुशी में सहभागी नहीं हो पा रहा था। ...बेचारी इस हद तक नाराज हो गई थी कि मेरे इस रुखे-व्यवहार का रहस्य जानना चाहती थी। और मुझे भी क्या सूझी थी कि मैंने इस नाजुक मौके पर ज्ञान की गंगा ही बहा दी थी। मैंने रुक्मिणी के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा था - सुनो प्रिये! मेरी बात ध्यान से सुनो। गर्भवती होना, बालक होना यह सब हमारे कार्यों का फल है। कर्म करने पर फल तो आता ही है। मनुष्य को कर्म में तो उत्साह दिखाना चाहिए, क्योंकि पूरी ताकत लगाकर पूर्णता से कर्म करना उसका कर्तव्य है; लेकिन फल की चिंता व फल की आकांक्षा करना या फल के लिए उत्साहित होना गलत है। क्योंकि फल पर हमारा नहीं कुदरत का अधिकार है। इस कारण फल को बिना किसी पक्षपात के स्वीकारने वाला कभी दुखी नहीं होता है। अत: कर्म में उत्साह रखना अच्छा है, फल के प्रति इतना उत्साहित होना उचित नहीं। याद रखना प्रिये, फल के प्रति उत्साह हमेशा गंभीर परिणाम लेकर आता है।

...अब पता नहीं रुक्मिणी क्या समझी व कितना समझी थी, पर नाराज अवश्य हो गई थी। ठीक ही था। वह वक्त ऐसी गंभीर बातें कहने-समझने का थोड़े ही था? ...फिर भी बात तो मैंने सही ही की थी। सच ही तो है, फल की आशा व फल के प्रति उत्साह ही तो सारे दु:खों का मूल है। रुक्मिणी को ही देख लो। इतना उत्साह दिखाकर उसने अपने दु:ख की नींव स्वयं डाल दी थी कि नहीं...? अब यदि पुत्री होगी तो भी वह दुखी होगी। यदि पुत्र हुआ और वो मेरी तरह सुन्दर व पराक्रमी नहीं निकला तो भी बेवजह वह कष्ट पाएगी। मेरा कहना तो साफ था, उल्टा मैं उसे भविष्य के दु:खों से बचाना चाहता था। मैं तो उसे समझाना चाहता था कि जब कर्म किया है तो फल आएगा ही; तो आने दो... संतान जब आएगी और जैसी आएगी, उसे स्वीकार लेंगे। ...उसमें आज इतना खुश होने की या उत्साह दिखाने की आवश्यकता कहां है?

खैर; रुक्मिणी सिर्फ कमजोर भावनाओं का शिकार थी, ऐसा भी नहीं था। वह काफी समझदार व परिपक्व स्त्री भी थी। उसे हर विषय का अच्छा ज्ञान था। अत: मैं भी उसे अपना अच्छा मित्र मानते हुए हर बात उससे दिल खोलकर करता था। उस रोज भी उसने तमाम व्यक्तिगत कमजोरियों से ऊपर उठकर मेरी उदासी का कारण जानना चाहा था। और मैंने भी उसे पूरे विस्तार से सारी बातें बताई थी। मैंने साफ-साफ कह दिया था कि आचार्य सांदीपनिजी आर्यावर्त की श्रेष्ठ सुंदरी ''द्रौपदी'' का मेरे लिए विवाह प्रस्ताव लाए हैं। लेकिन आचार्य द्रोण से

प्रतिशोध लेना इस विवाह की अनिवार्य शर्त है। ...लेकिन अप्रत्याशित रूप से यह सुनते ही रुक्मिणी के चेहरे का रंग पूरी तरह उतर गया था। यही नहीं, वह चिंता की एक गहरी खाई में पांसी साफ देखी जा सकती थी। अब आप ही सोचो, पल भर पहले कितना खुश थी और पल भर में यह हाल? फल की इच्छा रखने वालों की यही तो मुसीबत है। उनकी खुशियां भी व्यर्थ, उनके दु:ख भी व्यर्थ। बस मैं यही सब तो उसे समझाना चाहता था।

चलो छोड़ो। यह फिर कहां दर्शन झाड़ने बैठ गया। उस दिन की बात करूं, व उस दिन कमाल ऐसा हो गया था कि पलभर में रुक्मिणी पूरी तरह सम्भल भी चुकी थी। यही नहीं, तत्क्षण उसने एक हसीन व्यंग कसते हुए कहा भी था कि- आपको तो यह प्रस्ताव स्वीकार लेना चाहिए। आचार्य द्रोण से प्रतिशोध लेने पर द्रौपदी जैसी सुंदरी मिलती है तो सौदा घाटे का नहीं। ...और मेरी भी क्या मति मारी गई थी कि मैं इस पर हाथोंहाथ एक परिहास कर बैठा था। मैंने कहा था कि- अरे वाह! तुमने तो मेरी उलझन ही सुलझा दी। पत्नी हो तो ऐसी समझदार! मैं आज ही अपने दूत भिजवाकर महाराजा द्रुपद को विवाह मंजूरी का संदेश भिजवा देता हूँ।

...बस गड़बड़ हो चुकी थी। अचानक ही उसका संतान प्राप्ति का सब नशा हिरण हो गया था। वह जितनी प्रसन्न थी, उससे कहीं ज्यादा दुखी हो गई थी। मैं भी दंग रह गया था। वाह रे मनुष्य! भविष्य के सुख-दु:खों को वह आज ही जी लेता है। वह यह नहीं समझता कि संतान तो आएगी तब आएगी और द्रौपदी भी आएगी तब आएगी। ...और ये दोनों होने तक तो हजारों नए सुख-दु:ख आएंगे और जाएंगे। फिर आज इन मायावी सुख-दु:खों को झेलकर क्यों परेशान होना?

अब सोच भले ही मेरी सही थी, पर दूसरी बार मैंने कोई ज्ञान देने की हिम्मत नहीं दिखाई थी। ताजा अनुभव से इतना तो समझ ही गया था कि यह समय नाराज रुक्मिणी को पटाने का है, ज्ञान झाड़ने का कतई नहीं। हालांकि इस बार उसने सामान्य होने में बड़ी मशक्कत करवाई थी। सात रोज में, वो भी टुकडे-टुकडे में मैं उसे बमुश्किल कुछ सामान्य कर पाया था। फिर भी उसकी उदासी व चिंता तो बरकरार ही थी, जो मेरे निकलते समय तक जारी रही। कुल-मिलाकर एक तरफ मैं हस्तिनापुर की यात्रा पर निकल पड़ा था, तो दूसरी तरफ रुक्मिणी का उदास चेहरा मेरे जहन से जाने का नाम नहीं ले रहा था। इस वजह से मैं पहले दिन ना तो यात्रा का आनंद ले पाया था, और ना ही ठीक से किसी अन्य बात पर चिंतन ही कर पाया था। लेकिन मैं भी मैं था। उदासी मेरे स्वभाव को रास ही कहां आती थी? व्यर्थ चिंता करना मेरा स्वभाव नहीं था। रुक्मिणी के दु:ख के मूल में गलत सोच व अहंकार था, अत: उस बाबत उसे स्वयं अपनी सहायता करनी थी। आखिर कब तक रुक्मिणी की चिंता करता? ...यहां पूरा आर्यावर्त मुझे पुकार रहा था। सामान्य प्रजा चिल्ला-चिल्लाकर कह रही थी कि हमें व्यर्थ के युद्धों व प्रतिशोध की आग में मत धकेलो, हम जीना व प्रगति करना चाहते हैं; कोई हमें बचाओ। और सर्वहित की पुकार तो मैं हमेशा से सुनता ही आया था। आज भी उसकी अनदेखी करने का कोई सवाल नहीं उठता था। बस सुबह होते-होते रुक्मिणी का दर्द स्वत: ही जहन से निकल गया।

इसके साथ ही एक नई सुबह ने दस्तक दी। मैं पूरी तरह यात्रा में डूब गया। यहां तक कि आज की यात्रा के प्रारंभ में ही रथ की कमान सम्भालते हुए मैंने उद्धव व दारुक को अपने साथ ही बिठा लिया। पीछे-पीछे पच्चीसों रथ चले ही आ रहे थे। रास्ते भर पड़ने वाले हर प्रदेश में द्वारकाधीश की सवारी को देख हलचल हो ही रही थी। द्वारकाधीश का रुआब चारों ओर पड़ रहा था। पर क्या बताऊं, बचपना अभी भी नहीं गया था। पूरी तरह तन कर ही बैठा हुआ था। कहा जा सकता है कि द्वारकाधीश बनने के बाद भी ग्वालापन नहीं छूटा था। खैर, यह मजाक की बात थी। अभी तो इस समय पांडवों से मिलने के नाम से मन बहुत प्रफुल्लित हो रहा था। साथ ही इतने दिनों बाद द्वारका से निकलना भी अच्छा लग रहा था। कहा जा सकता है कि रुक्मिणी के दर्द से छुटकारा पाते ही मन यात्रा का लुत्फ उठाने में खो गया था।

ऐसे में समय भी तेजी से कटना ही था। आखिर आठ दिनों की लगातार यात्रा के बाद हम हस्तिनापुर की सीमा के निकट पहुंच गए। हमने हस्तिनापुर के बाहर ही एक आश्रम में अपना पड़ाव डाला। दरअसल मैं सीधे हस्तिनापुर जाने की बजाए पहले उद्धव के हाथों अपने आने की सूचना भिजवाना चाहता था। और उसके भी दो कारण थे। यह तो सर्वविदित था ही कि बड़ी मुश्किल से युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो रहा है और ऐसे में दुर्योधन अपनी ओर से इसमें हजार रोड़े अटकाएगा ही। अत: मेरे आने की सूचना भिजवाने के बहाने वहां की आंतरिक परिस्थिति जानना मेरे लिए अत्यंत आवश्यक था। दूसरा, अब मैं द्वारकाधीश था, और द्वारकाधीश बनने के बाद यह मेरी पहली राजकीय यात्रा थी। अतः मैं द्वारकाधीश का यथायोग्य सम्मान व स्वागत चाहता था, और जो बिना पूर्व सूचना भिजवाये संभव नहीं था। यानी कहा जा सकता है कि जैसे मैं सबके प्रति अपने कर्तव्यों के बारे में सजग था, वैसे ही द्वारकाधीश के प्रति भी अपने कर्तव्यों से मैं अनजान नहीं था। और फिर मेरे साथ उद्धव जैसा गुणी व्यक्ति था

ही। समय के साथ वह सुंघने में ही नहीं, संदेश लाने, ले जाने में व राज उगलवाने तथा छिपाने में भी माहिर हो चुका था। एक राज की बात बताऊं तो सामान्य रूप से सीधा दिखने वाला उद्धव वास्तव में प्रारंभ से ही तमाम राजकीय-गुणों से ओत-प्रोत था। सो, मेरे समझाने की देर थी; वह पूरी बात समझ चुका था। तुरंत हस्तिनापुर जाने के लिए रवाना भी हो गया। और इधर मैं यात्रा की थकान उतारने में लग गया। द्वारकाधीश ने दोनों वक्त दास-दासियों से मालिश करवाई।

...लेकिन यहां दाव हो गया। जहां उद्धव को दूसरे दिन लौट आना चाहिए था, वह तीसरे दिन आया। उसके आने की सूचना पाते ही मैं सीधे दौड़ा-दौड़ा आश्रम के बाहर तक जा पहुंचा। परंतु यह क्या, वह अकेला आया था। माना परसों राज्याभिषेक है, सब व्यस्त होंगे; फिर भी मेरा स्वागत करने कम-से-कम अर्जुन या भीम में से एक को तो साथ आना ही चाहिए था। अभी मेरा अहंकार चोट खाने को ही था कि मेरी नजर उद्धव की शक्ल पर पड़ी। अरे ...उद्धव को यह क्या हो गया? उसकी तो मानो नानी ही मर गई थी। मैंने इतना दुखी व परेशान उद्धव को पहले कभी नहीं देखा था। मैं बुरी तरह से घबरा गया। मेरे मन को हजारों शंकाओं-कुशंकाओं ने घेर लिया। और इससे पहले कि मैं कुछ सोच-समझ पाऊं, मुझे देखते ही उद्धव छोटे बच्चों की तरह बिलख-बिलख कर रो पड़ा। मैं तो पूरी तरह सकपका गया। मेरी बुद्धि ने तो मेरा साथ ही छोड़ दिया।फिर भी उद्धव की हालत देखते हुए उसे पकड़कर कक्ष में ले गया। हम दोनों वहीं बिस्तर पर बैठ गए। वह अब भी रोए जा रहा था। कुछ अप्रत्याशित घटा था, यह तो तय था। अब तो उस अप्रत्याशित की भयानकता ही जाननी थी। मैंने उद्धव को शांत करने की कोशिश की। उसे पानी पिलवाया... उसे सांत्वना भी दी, लेकिन वह लाख कोशिश के बावजूद कुछ कहने की स्थिति में नहीं आ पा रहा था। अनजान कुछ ज्यादा ही भयानक होता है। अत: मैं ''क्या हुआ'' यह जल्द-से-जल्द जानना चाहता था। वहीं समाचार की भयानकता तो उसकी हालत ही बता रही थी। मेरी धड़कनें तेज हो गई थी, पर उद्धव था कि सामान्य होने का नाम ही नहीं ले रहा था। अब ऐसे में मैं सोचना चाहूं तो भी क्या सोचूं? और सोचूं भी तो इतना तो समझ आ ही रहा था कि खबर पांडवों को लेकर ही होनी चाहिए। लेकिन क्या? छोड़ो, उससे बेहतर था कि उद्धव को संभालूं। राज पर से परदा उसी से जल्दी उठने की उम्मीद थी। कोशिश जारी थी, पर फल काफी मशक्कत के बाद ही आया। कुछ सामान्य होते ही उसने बताया कि- दरअसल युधिष्ठिर का राज्याभिषेक तो कब का हो चुका था। पर आश्चर्य की बात यह कि उसे हस्तिनापुर का युवराज घोषित नहीं किया गया था, बल्कि रातोंरात एक नया राज्य ''वारणावत'' बनाकर उसे वहां का युवराज बनाया गया था। यानी हस्तिनापुर का ताज तो दुर्योधन के सर पर ही था। इसका उद्देश्य यह बताया गया कि कौरवों व पांडवों के पास जब अपने-अपने राज्य होंगे तो उनके आपसी झगड़े व कटुता हमेशा के लिय समाप्त हो जाएगी।

...इधर अभी तक उद्धव ने जो कुछ भी बताया था उसमें इतना उदास होने वाली कोई बात मुझे कहीं नजर नहीं आ रही थी। चलो पूरा हस्तिनापुर न सही, उसका एक टुकड़ा ही सही; पर आखिर युधिष्ठिर युवराज तो बना। यूं भी संतोष से बड़ा दुनिया में कोई धन नहीं। अभी मैं यह सब सोच ही रहा था कि उद्धव फिर बिलख-बिलख कर रो पड़ा। अब तो मैं बुरी तरह घबरा गया। जरूर कोई बहुत बुरा समाचार होना चाहिए, जो उद्धव सुनाने तक की स्थिति में नहीं आ पा रहा है। बात भी ऐसी जगह जाकर अटकाई थी कि वहां से कुछ भी समझ में आना मुश्किल था। अजब स्थिति हो चुकी थी। यहां मेरा दिल बैठा जा रहा था, वहां उद्धव रोये चला जा रहा था। खैर, बड़ी मशक्कत कर एकबार फिर उसे सामान्य किया। और तब कहीं जाकर वह आगे की बात बता पाया। उसने जो कुछ कहा वह सचमुच हिलाकर रख देने वाला था। उसने रोते-रोते बस इतना ही कहा- और कन्हैया एक दिन अपने राजमहल में सोते हुए ही कुंती बूआ समेत पांचों भाई जलकर भस्म हो गए [19] ।

...यह सुनते ही मेरा शरीर संज्ञा-शून्य हो गया। मैं वहीं-का-वहीं बैठ गया। यह क्या हो गया! बैठे-बिठाये राजमहल जल कर भस्म कैसे हो गया? एक तरफ मन में हजारों सवाल उठ रहे थे, दूसरी तरफ ऐसा लग रहा था कि सबकुछ लुट गया। मानो मेरे ही कुछ अंग जलकर भस्म हो गए हों। सच ही तो है, पांडव मेरे ही तो अंग थे। दो ही मुलाकातों में वे सब-के-सब कितने निकट आ चुके थे। अर्जुन और भीम तो मेरे जिगर के टुकड़े हो चुके थे। वे दोनों तो मेरे हृदय की धड़कनों में ही धड़कने लगे थे। कहां तो सोचकर आया था कि पांडवों के साथ शांति के कुछ पल बिताऊंगा। रात-रात भर बातें करूंगा। ...और कहां सबकुछ खत्म हो गया था। ऊपर से यह तो आर्यावर्त के लिए भी बड़े खतरे की घंटी थी। क्योंकि अब दुर्योधन एक खुला सांढ़ हो जाएगा। निश्चित ही उसकी दुष्ट महत्त्वाकांक्षाओं के कारण आर्यावर्त में युद्ध के बादल छा जाएंगे। यानी बर्बादी हो चुकी थी, महा-बर्बादी आशंकित थी।

खैर! समय के साथ मैंने स्वयं को संभाल ही लिया। वहां उद्धव के पास भी अब बहाने को और आंसू बचे नहीं थे। हालत ऐसे हो गए थे कि सांत्वना लेने-देने की स्थिति थी नहीं, और आपस में बातचीत करने को कोई विषय सूझ

नहीं रहा था। हां, मेरा मन-ही-मन चिंतन अवश्य चालू था। ले-देकर मुझे पूरा राजमहल भस्म हो जानेवाली बात समझ में नहीं आ रही थी। इधर समय ने उद्धव को भी काफी हद तक सामान्य कर ही दिया था। ...आखिर इस बाबत मैंने उद्धव की राय जाननी चाही। मैंने उससे पूछा- क्या तुम्हें राजमहल के जलने में किसी षडयंत्र की बू नहीं आ रही?

वह तो मानो ऐसे किसी सवाल का इंतजार ही कर रहा था। वह तुरंत बोल पड़ा- ठीक कहते हो कन्हैया! मुझे भी राजमहल का भस्म होना बिल्कुल समझ में नहीं आ रहा था। और इसी बात का पता लगाने के लिए मैं वहां एक दिन ज्यादा रुका था। वहां दबी-दबी आवाज में यह चर्चा थी ही कि राजमहल लाक्ष का बना हुआ था। एक और बात विशेष रूप से गौर करने लायक है कन्हैया कि राजमहल बनवाने की कमान दुर्योधन व शकुनि ने अपने ही हाथों में सम्भाल रखी थी। और सच कहूं तो इसके बाद मुझे कोई शंका नहीं रह गई थी कि पांडव षडयंत्र का ही शिकार हुए हैं।

तारण मेरा भी कुछ ऐसा ही था। मैं सोचने लगा कि आज की मनुष्यता को यह क्या हो गया है? क्या महत्त्वाकांक्षा के घोड़े पर सवार होकर मनुष्य अपने भाइयों की हत्या भी कर सकता है? कर क्या सकता है, कर ही डाली थी। बस यह विचार आते ही अचानक दु:ख तो गायब हो गया और क्रोध ने चारों ओर से आ घेरा। मुझे दुर्योधन-शकुनि पर ही नहीं, धृतराष्ट्र व पितामह पर भी काफी क्रोध आने लगा। वैसे तो अब कुछ नहीं किया जा सकता था, फिर भी बहुत कुछ किया ही जा सकता था। अत: मैंने हस्तिनापुर जाना तय किया।दोपहर चढ़ने को थी, बस मैंने तुरंत एकबार फिर उद्धव को अपने आने की सूचना देने हस्तिनापुर भेजा। क्योंकि मैं अब भी बिना पूर्व सूचना के हस्तिनापुर प्रवेश नहीं चाहता था। अब हस्तिनापुर क्या दूर था, उद्धव सूचना देकर रात्रि तक लौट आया।

...हमें भी कहां मुहुर्त देखना था? दूसरे दिन सुबह ही हम हस्तिनापुर जा धमके। सीमा में प्रवेश करते ही हमारे आने की सूचना राजमहल तक तुरंत पहुंच गई। स्वयं दुर्योधन अपने कुछ भाइयों के साथ हमारे स्वागत के लिए आ धमका। साथ में मामा शकुनि भी पधारे ही थे। एक बात थी कि पूरा हस्तिनापुर शोक में डूबा हुआ साफ दिखाई दे रहा था; लेकिन दुर्योधन के चेहरे पर कोई दु:ख नजर नहीं आ रहा था। और फिर हाथ कंगन को आरसी क्या? उसके चन्द व्यवहारों ने ही हमारी शंका को यकीन में तब्दील कर दिया कि ...हो न हो पांडव षडयंत्र का शिकार ही हुए हैं। क्योंकि वह पूरे राजकीय ठाठ से ही मेरा परंपरागत स्वागत करने आया हुआ था। अब मैं तो आया था हस्तिनापुर के दु:ख में शामिल होने के लिए, पर दुर्योधन ने मेरी अगवानी इस अंदाज में की थी मानों मैं किसी स्वागत समारोह में शामिल होने आया होऊं। यह कम था तो फिर सेविकाओं ने मुझे तिलक लगाया व आरती उतारकर मेरा अभिवादन करने लगी। एक तो मैं वैसे ही क्रोध में था, ऊपर से यह सब देखकर मैंने अपना आपा पूरी तरह खो दिया। मैंने तुरंत सब सेविकाओं को हटाने का निर्देश दिया व पूरे क्रोध में दुर्योधन से कहा- एक ओर तो मेरा मन रो रहा है, मेरी बूआ व पांडवों को कालाग्नि निगल गई है, और दूसरी ओर आप मेरा स्वागत ऐसे कर रहे हैं जैसे उनकी मृत्यु का जश्न मनाया जा रहा हो।

निश्चित ही यह मेरी दुर्योधन से प्रथम मुलाकात थी। लेकिन उसे पहचानने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुई थी। होगा, अभी तो इधर मेरा यह व्यवहार देख दुर्योधन पूरी तरह सकते में आ गया। शायद उसके लिए भी मुझे पहचानने हेतु यह प्रथम मुलाकात पर्याप्त सिद्ध हुई थी। निश्चित ही उसके लिए भी मेरा यह व्यवहार पूरी तरह अप्रत्याशित था। फिर भी चतरा इतना कि चुप ही रहा, बोला कुछ नहीं। इधर मामला बिगड़ता देख मामा शकुनि ने कमान सम्भाली। वह तुरंत बोल पड़ा- बात यह है वत्स कि तुम द्वारकाधीश बनने के बाद पहली बार हस्तिनापुर पधारे हो। इसलिए राजनीतिक तौर पर यह सब करना आवश्यक था। अन्यथा लोग यह समझते कि हम तुम्हारे द्वारकाधीश बनने से जलते हैं। यों तो दुर्योधन की इच्छा यह सब करने की नहीं थी। उसका मन तो कुछ करने का नहीं हो रहा था, लेकिन राजनैतिक मजबूरियों के आगे वह बेबस था। सच तो यह है कि वह इस हादसे से इतना दुखी हो गया है कि उसे कुछ समझ में आना ही बंद हो गया है।

उधर शकुनि के मुख से निकला हादसा शब्द मुझे ऐसा तो रास आ गया कि तुरंत मैंने आवाज ऊंची करते हुए बड़े आश्चर्य से कहा- हादसा या षडयंत्र...? इधर षडयंत्र शब्द सुनते ही दोनों के चेहरे की हवाइयां उड़ गई। उड़ा करे, मुझे क्या...? मैंने अपना प्रहार जारी रखा। तुरंत आग उगलते हुए बोला- और जहां तक दुर्योधन के दु:ख का सवाल है, उसका अनुभव तो मैंने हस्तिनापुर में कदम रखते ही कर लिया है। मुझे तो यहां की प्रजा दुर्योधन से ज्यादा दुखी नजर आ रही है।

मेरा व्यंग इतना तीखा था कि दोनों बुरी तरह से सकपका गए। मैंने भी मामले को यहीं छोड़ देना उचित समझा। क्योंकि अभी तो आगे बहुत कुछ करना बाकी था। अत: अबकी मैंने बात टालने के उद्देश्य से कहा- सबसे पहले

मैं फूफाजी यानी महाराजा धृतराष्ट्र से मिलकर उनके दु:खों में सम्मिलित होना चाहता हूँ।

अब यह कौन बड़ी इच्छा थी, तुरंत हमारा काफिला राजमहल की ओर चल पड़ा व पलभर में मैं महाराज के सामने हाजिर कर दिया गया। महाराजा धृतराष्ट्र मेरे आने की सूचना पाते ही सिंहासन से उठकर खड़े-खड़े चिल्ला पड़े - आओ... द्वारकाधीश आओ। ...और फिर सिसकियां लेते हुए बोले- तुम बड़ी विपत्ति के समय पधारे हो। हम सब इतने दुखी हैं कि हमारे ही बच्चे के द्वारकाधीश बनने पर भी मन उसे बधाई तक देने का नहीं कर रहा।

उधर महारानी गांधारी भी फूट-फूट कर रो रही थी। मैंने दोनों को आश्वासन देते हुए कहा- मैं आपके दु:ख को समझता हूँ, और उन्हीं दु:खों में सम्मिलित होने के लिए तो चला आया हूँ।

...धृतराष्ट्र व गांधारी सचमुच बड़े दुखी नजर आ रहे थे। स्पष्ट था वे इस षडयंत्र से पूरी तरह अनजान थे। खैर, कुछ देर यहां-वहां की बातें कर महाराज ने मेरे ठहरने की व्यवस्था के बारे में पूछा। मैंने बड़ी विनम्रता से कहा कि मैं राजमहल की जगह अपने मामा विदुरजी के यहां रुकना चाहता हूँ। स्पष्ट था, दुर्योधन व शकुनि के होते हुए मैं राजमहल में ठहरने का जोखिम उठाना नहीं चाहता था। पता चले, रात को सोते-सोते मैं भी भस्म हो गया। सो, बस हमारी यह मुलाकात यहीं समाप्त हुई; और मैं व उद्धव सीधे विदुरजी के यहां जा धमके। वे तो हमें अपने यहां मेहमान पाकर ही धन्य हो गए। यूं भी विदुरजी मेरे रिश्तेदार ही थे। चाहे जो हो, वे वाकई बड़े ही सरल व प्रेमी व्यक्ति जान पड़ रहे थे। वैसे भीम मुझे बता भी चुका था कि विदुरजी उनके परम हितैषी हैं। साथ ही उसने यह भी कहा था कि इसीलिए दुर्योधन व शकुनि उन्हें महामंत्री पद से हटाने की फिराक में लगे रहते हैं। यह भी एक कारण था कि मैं उनके यहां मेहमान हुआ था। शायद उन्हें भड़काकर राजमहल के कुछ राज उगलवा सकूं। दरअसल मैं हरहाल में इस षडयंत्र की तह तक पहुंचना चाहता था। और एकमात्र इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर मैं हस्तिनापुर आ धमका था, वरना जब पांडव ही नहीं रहे तो हस्तिनापुर में करना क्या था?

अब हस्तिनापुर में और कुछ करना था या नहीं करना था, पर जब आ ही टपका हूँ तो हस्तिनापुर के बाबत भी कुछ बता दूं। ...हस्तिनापुर द्वारका से दसियों गुना बड़ा राज्य था। एक मायने से हस्तिनापुर अपने आप में आर्यावर्त की एक बड़ी शक्ति थी। और यही मेरी चिंता का प्रमुख विषय था। वहीं सच कहूं तो यही चिंता मुझे यहां खींच भी लाई थी। क्योंकि पांडवों को हमेशा के लिए अपने रास्ते से हटाने के बाद दुर्योधन की बढ़ती महत्त्वाकांक्षा बेमतलब छोटे-मोटे राज्यों पर हमला बोल सकती थी। अत: आर्यावर्त में व्यर्थ की हिंसा रोकने के लिए दुर्योधन पर पांडवों को मारने के षडयंत्र का एक कलंक लगाना आवश्यक था, ताकि वह राजमहल व प्रजा दोनों की निगाहों से गिर जाए; और अंत में इसके चलते वह हस्तिनापुर में ही इतना उलझ कर रह जाए कि अन्य राज्यों पर हमला करने की सोच भी न सके। ...जैसा कि आप जानते हैं कि मुझे दो सेनाओं के युद्ध से सख्त नफरत थी। क्योंकि इसमें व्यर्थ ही जान-माल की बड़ी हानि होती है। साथ ही इसका जीवन-स्तर और अर्थव्यवस्था दोनों पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। पांडव को जाने थे, सो जा चुके। लेकिन उससे मेरे कर्तव्य समाप्त नहीं हो गए थे। जब यहां तक आ ही गया हूँ तो इतने बड़े विस्तार में शांति व सद्भावना बनाये रखना भी मैं अपना कर्तव्य समझता ही था।

खैर! दूसरे दिन प्रात:काल हम दिनचर्या निपटाकर भीष्म-पितामह से मिलने गए। विदुरजी हमारे साथ ही थे। पितामह सचमुच बड़े दुखी नजर आ रहे थे। मैंने उनके चरण-स्पर्श करते हुए कहा- माफ कीजिए! मुझे आने में थोड़ा विलंब हुआ।

पितामह बड़े दुखी होते हुए बोले- सचमुच! तुमने बड़ी देर कर दी कन्हैया...

मैंने कहा- आपके रहते जब यह सब हो गया तो मेरा रहना न रहना सब बराबर था।

मेरी यही विशेषता थी। मैं ना तो कटाक्ष करने का, और ना ही मानसिक प्रहार कर मनुष्य को अपराध-बोध कराने का एक भी मौका कभी चूकता था। इसी से तो सामने वाले को अपने अपराधी होने का ख्याल आता है, और उसी के चलते उसके अपराध पर कुछ लगाम भी लगाई जा सकती है। क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि अपराध करना तो सभी चाहते हैं पर दूसरे की निगाहों में अपराधी साबित होना कोई नहीं चाहता। और यही इस समय पितामह के साथ सिद्ध भी हुआ; मेरे एक व्यंग-मात्र से वे बुरी तरह हड़बड़ा गए, आखिर मैंने उन्हें भी दोष में शामिल तो कर ही लिया था। वाकई मेरे एक प्रहार ने उनका यह हाल कर दिया कि बेचारे कुछ देर की चुप्पी के बाद बड़े ही टूटे स्वर में बोले- ऐसा नहीं है। मैं तो अब उस दंतहीन वृद्ध सिंह की भांति हूँ, जिसकी दहाड़ भी अब अर्थहीन हो गई है। ...फिर अचानक उन्हें क्या हुआ कि वे जल्द ही सफाई पर उतर आए, और बोले- मैंने पांडवों के वारणावत जाने का विरोध इसलिए नहीं किया कि मुझे इससे कौरवों व पांडवों के झगड़े का स्थायी समाधान निकलने के आसार नजर आ रहे थे।

मेरा क्या था...? मैं कौन-सा उनकी उम्र का लिहाज करने वालों में से था या उनकी हालत पर तरस ही खाने

वाला था। मैंने फिर एक व्यंग कस डाला - और पांडवों की मृत्यु से झगड़े का स्थायी समाधान निकल भी आया।

...व्यंग तो यह भी बड़ा करारा ही मारा था। वर्तमान व्यंग उन्हें पूरी तरह समझ में भी आ गया था। बस वे अबकी बड़े व्याकुल होते हुए बोले- पर उनके भस्म हो जाने पर हमलोग क्या कर सकते थे? यह तो नियति का खेल था।

मैंने कहा- यदि नियति का खेल होता तो मैं कभी इतना दुखी न होता। कुदरत की इच्छा को मैंने हमेशा स्वीकारा है। लेकिन यह दुर्योधन व शकुनि द्वारा रचित षडयंत्र था। उनका राजमहल, राजमहल नहीं एक लाक्षागृह था। लाख से बनवाया गया था। ...जिसको भस्म करने के लिए एक छोटी-सी चिंगारी ही काफी थी।

ऐसा...! सुनते ही पितामह स्तब्ध हो गए। उनका मुंह खुला तो खुला ही रह गया। खुद पर इस कदर आक्रमण होते देख वे बुरी तरह सकपका गए व फिर सफाई पर उतर आए। अबकी करीब-करीब हाथ जोड़ते हुए बोले- कन्हैया! पूरा हस्तिनापुर जानता है कि मुझे पांडव व कौरव दोनों बराबरी पर प्रिय थे, लेकिन शायद मेरी दुर्बलता व विवशता के कारण यह सब हो गया।

मैं खुश हुआ! चलो कुछ तो स्वीकारा। हालांकि मुझे इतने-मात्र से संतोष नहीं था। मैं उनको छोड़ने के पक्ष में अभी भी नहीं था। मैं एक और प्रहार कर उनकी समझ अच्छे से जगाना चाहता था। हालांकि उम्र का लिहाज करते हुए मैंने विनम्रता बरकरार रखी, लेकिन हां... बात सीधे तौर पर इल्जाम लगाते हुए ही कही। मैंने कहा- पितामह! छोटा मुंह और बड़ी बात। क्षमा करें, लेकिन महत्त्व भावनाओं का नहीं, परिणाम का होता है। और परिणाम हमारी आंखों के सामने है। अत: मेरी दृष्टि में आप व महाराजा धृतराष्ट्र भी दुर्योधन व शकुनि के साथ-साथ इस षडयंत्र में बराबरी के भागीदार हैं। ...मेरा सीधा आक्षेप सुन उनका चेहरा जो उतरा, तो उतरता ही चला गया। फिर पितामह कुछ नहीं कह पाए। इधर मुझे भी उनकी उम्र पर तरस आ ही गया। यूं भी आज के लिए इतना काफी था। सो, उनसे मेरी प्रथम मुलाकात की यहीं समाप्ति कर उठ खड़ा हुआ। हालांकि जाते-जाते भी एक सलाह देने से नहीं चूका। मैंने एक प्यारी-सी चुटकी लेते हुए कह ही दिया कि कम-से-कम अब आप दुर्योधन व शकुनि पर अपनी लगाम कस लीजिए। इससे और कुछ नहीं तो भविष्य के अनर्थों से तो बचा जा सकेगा।

इतना कहते हुए मैंने उन से आज्ञा ली। और इसके साथ ही मैं व उद्धव विदुरजी के साथ वापस उनके घर जाने निकल पड़े। निश्चित ही मेरी बगल में बैठे विदुरजी पितामह व महाराज से दो-टूक बात किए जाने से बड़े खुश थे। लेकिन दुर्भाग्य से उधर मेरा क्रोध पितामह पर निकलने के बाद भी तृप्त नहीं हुआ था। क्योंकि मेरी दृष्टि में असफलता का कारण चाहे जो दिया जाए, असफलता अपनेआप में एक महापाप है जिसकी सजा हर हाल में भुगतनी ही पड़ती है। आप सभी जानते हैं कि मुझे असफलता से कितनी नफरत थी, और यही कारण था कि मैं जीवन में कभी असफल नहीं हुआ। मेरे मजबूत इरादों के कारण हमेशा सफलता ने मेरे कदम चूमे। और क्योंकि मैंने विजय को हरहाल में अपना भाग्य बनाया था, शायद इसीलिए मुझे 'जय-श्रीकृष्ण' कहा जाता है।

...मेरा मानना साफ था कि गलती चाहे जानबूझकर की गई हो या अनजाने में हुई हो, उसके दुष्परिणाम तो भुगतने ही पड़ते हैं। और क्योंकि विदुरजी के महामंत्री होते-सोते यह सबकुछ हो गया था, अत: वे सिर्फ अच्छी भावनाओं के जोर पर अपनी जवाबदारी से नहीं बच सकते। कहने का तात्पर्य क्रोधित तो था ही, सो उनकी भी बारी निकाल दी। घर पहुंचकर एकान्त पाते ही मैंने उन्हें धर-दबोचते हुए बड़ी ही कड़क भाषा में उनसे कहा- महामंत्री होने के बावजूद कौरवों के षडयंत्र की गंध तक आपको नहीं लगी, अत: मेरी दृष्टि में इस हादसे के लिए आप भी बराबरी के जवाबदार हैं। महाराज तो माना आंखों से पहले ही अंधे थे, और अब पुत्र-प्रेम ने उन्हें अक्ल से भी अंधा कर दिया है। लेकिन आप को क्या हो गया? पांडवों ने हमेशा आपके ज्ञान, अनुभव और विवेक पर पूरा भरोसा जताया था। आप ही बताइए ऐसे ज्ञान, अनुभव और विवेक का क्या प्रयोजन जो मेरी बूआ व उनके बेटों को ही न बचा पाए।

हालांकि इधर उद्धव को मेरा विदुरजी को इस तरह झाड़ना अच्छा नहीं लगा। लेकिन मैं विदुरजी को भी बराबरी का गुनाहगार मान ही रहा था। उधर मेरी दो-टूक बात सुन विदुरजी सिर्फ इतना बोले- मैं तब भी विवश था, अब भी विवश हूँ। उनकी यह वाहियात दलील सुन मेरा तो सर ही चकरा गया। इससे मैं उल्टा और क्रोधित हो उठा। अबकी करीब-करीब मैंने नाराज होते हुए कहा- यही तो हस्तिनापुर की खूबी है। वहां पितामह लाचार हैं, यहां आप विवश हैं; और उधर महाराज अंधे हैं। इसीलिए तो यहां पर बदनीयत व महत्त्वाकांक्षी दुर्योधन व शकुनि अपनी मनमर्जी चला पा रहे हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि हस्तिनापुर कोई छोटा राज्य नहीं है। यहां की प्रजा को प्रसन्न रखना व उन्हें प्रगति की राह पर लगाना आप सभी की सामूहिक जिम्मेदारी है। यदि आप लोगों को अपने कर्तव्यों का भान हो रहा हो तो और कुछ नहीं तो कम-से-कम अब तो ''दुर्योधन-शकुनि'' पर लगाम लगाएं।

...वैसे आज के लिए इतना काफी था। दरअसल इन सारी नौटंकियों के पीछे मेरा एक ही उद्देश्य था कि मैं हस्तिनापुर की प्रजा को खुले सांढ़ "दुर्योधन-शकुनि-दु:शासन" की त्रिपुटी से बचाना चाहता था। और इसीलिए इस त्रिपुटी के खिलाफ पितामह, विदुरजी व महाराज की त्रिपुटी को भड़का रहा था। क्योंकि मनुष्य कहीं भी व किसी भी राज्य का हो, उसे बचाना मैं अपना परम कर्तव्य मानता था। पांडव तो चले गए, पर जो बच गए उनका क्या? बस इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैंने यहां हस्तिनापुर में डेरा डाला हुआ था, ताकि दुर्योधन के खिलाफ समुचित माहौल बनाकर उस पर लगाम लगवा सकूं। अब यह सब तो आया तब से कर ही रहा था, सो एक अन्य बात बताऊं तो यहां हस्तिनापुर में माता व पिताजी के कई रिश्तेदार व हितैषी थे। आम प्रजा भी मुझे हस्तिनापुर का ही पुत्र मानती थी। और फिर मेरे पराक्रमों जैसे कंस, पंचजन, शृंगलव व कालयवन वध की चर्चा तो आर्यावर्त के घर-घर तक पहुंच चुकी थी। परिणामस्वरूप विदुरजी के यहां मुझसे मिलने वालों का तांता लगा ही रहता था। इधर मुझ कूटनीतिबाज ने इस बात का भी फायदा उठाने की सोची। अब यहां की प्रजा तो वैसे ही पांडवों को बहुत प्यार करती थी; बस मैंने धीरे-धीरे आमप्रजा से भी षडयंत्र की चर्चाएं करना शुरू कर दी। बात एक कान से दूसरे कान होते हुए पूरे हस्तिनापुर में फैल गई। और इससे जैसा कि अपेक्षित था, आमप्रजा में असंतोष भड़क उठा। पन्द्रह दिनों में ही माहौल राजमहल के खिलाफ हो गया। और कहने की जरूरत नहीं कि इससे राजमहल में भूचाल आ गया।

...अब एकबार भूचाल आया तो इसकी प्रतिक्रिया भी हुई। वह तो होनी ही थी। राजमहल बुरी तरह हिल गया। अब मैं कोई बीड़ा उठाऊं और असफल हो जाऊं, यह तो हो ही नहीं सकता था। और फिर राजमहल की तो पल-पल की खबर मुझ तक विदुरजी के जरिये तत्क्षण पहुंच जाया करती थी। आखिर वे महामंत्री थे, अतः स्वाभाविक तौर पर राजमहल की तमाम चर्चाएं उनके समक्ष ही होती थी। और एकबार उन्हें लताड़ क्या दिया था; खबर मुझ तक स्वत: ही पहुंचने लग गई थी। अब मुझ कलाकार को तो इन तमाम बातों का भरपूर फायदा उठाना ही था। ...कल ही विदुरजी ने बात-बात में बताया था कि आपके रुकने से व प्रजा को भड़काने से राजमहल में बड़ी बेचैनी हो गई है। पितामह ने कल ही दुर्योधन व शकुनि को बुलाकर झाड़ा था। इतना ही नहीं, उनसे षडयंत्र के बारे में पूछ-परछ भी कर रहे थे। घबराए शकुनि व दुर्योधन अवश्य सफाई देते रहे, षडयंत्र की चर्चाओं को अफवाह बताते रहे, लेकिन पितामह उनसे संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने तो दुर्योधन से यहां तक कह दिया कि यदि प्रजा में इसी तरह असंतोष भड़कता रहा तो तुम्हारा युवराज बने रहना आसान नहीं होगा। और यदि इस पर भी महाराज ने जिद कर तुम्हारा ही साथ दिया तो हो सकता है हम अपना शासन ही गंवा बैठें।

...फिर एक क्षण के मौन के बाद विदुरजी ने आगे बताते हुए कहा कि- यह सब तो ठीक पर असली बात तो यहीं से शुरू हुई थी। ...पितामह की ऐसी कटु बातें सुन दुर्योधन ने अपना आपा खो दिया था। हालांकि इससे पहले कि वह पितामह की शान में कोई गुस्ताखी कर बैठता, शकुनि किसी तरह उसे बाहर निकाल जरूर लाया था, पर पूरी तरह शांत नहीं करा पाया था। फलस्वरूप बाहर निकलते ही दुर्योधन बड़बड़ाया भी कि- यह सब और कुछ नहीं कृष्ण की करतूत है। उसे हस्तिनापुर से भगा देना चाहिए।

और यह सुनते ही शकुनि तुरंत घबराया हुआ बोला था कि- नहीं भांजे नहीं, अव्वल तो हम द्वारकाधीश को हस्तिनापुर से जाने का कह ही नहीं सकते, क्योंकि यह राजकीय अभद्रता होगी। और यदि हमने कहा भी तो इससे उल्टा पूरे हस्तिनापुर को कृष्ण से सहानुभुति हो जाएगी।

...पर पागल दुर्योधन कभी समझा था जो अब समझने वाला था? वह क्रोध में आगबबूला होता हुआ बोला- तो फिर उस दुष्ट को राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लेते हैं।

शकुनि बोला- अरे भांजे! यही तो कृष्ण चाहता है कि तुम कोई पागलपन करो और वह तुम्हारी सत्ता पलट दे।

दुर्योधन बोला- तो क्या हम चुप रहें?

शकुनि बड़ी लाचारी से बोला- क्या करें! कृष्ण ऐसी मुसीबत है जो आती भी अपनी मर्जी से है ...और जाती भी अपनी मर्जी से।

...मैं खुश हुआ। चलो बैठे-बिठाये दोनों को परेशान व हताश तो कर दिया। और फिर शकुनि जैसे शातिर ने मेरी तारीफ की, यह क्या कम गर्व की बात थी? उधर विदुरजी ने आगे बताया कि ये दोनों तो ठीक, पर पितामह व महाराज कुछ ज्यादा ही परेशान हैं। क्योंकि दोनों आपसे खरी-खोटी सुनने के बाद स्वयं को अपराधी मानने लगे हैं। परिणामस्वरूप दोनों मन-ही-मन तो उसी दिन से विचलित हैं, और ऊपर से यह प्रजा का असंतोष व आपके द्वारा लगाया गया राजमहल पर षडयंत्र का आरोप। बस सब मिलाकर इस उम्र में कलंकित होने का भय उन दोनों को दिन-रात सता रहा है। ...यह तो और भी खुशी की बात थी। इससे कम-से-कम तिकड़ी पर लगाम लगने की संभावना

और बढ़ गई थी। यह सब सुन मुझे इस बात का संतोष हुआ कि चलो, हस्तिनापुर की प्रजा के प्रति मैं अपना प्रथम कर्तव्य तो निभा पाया।

इधर जब विदुरजी ने इतना कुछ कहा था, तो मैं क्यों किसी बाबत उनसे परदा करने लगा? मैंने भी इस पूरे विषय पर उनसे अपनी राय खुल कर बांटी। मैंने उन्हें बड़ी दृढ़ता से कहा कि वास्तव में पितामह व महाराज को कलंकित होना ही चाहिए। उनसे सहानुभूति की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि पितामह व महाराज दोनों अपराधी हैं ही। मेरी दृष्टि में दुर्योधन इतना बड़ा अपराधी नहीं जितने शकुनि, महाराज व पितामह हैं। क्योंकि शकुनि दुर्योधन को जुल्म करने के लिए उकसाता है, महाराज उसे अनदेखा करते हैं, और भीष्म सबकुछ जानकर भी खामोश रहते हैं। ...हालांकि विदुरजी ने मेरी बात पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी; वे खामोश ही रहे। यूं भी बेचारे क्या कहते? उन्हें भी तो झाड़ ही चुका था। सोच रहे होंगे, कहीं कुछ उल्टा-सुल्टा मुंह से निकल गया तो फिर कटघरे में खड़ा न कर दिया जाऊं।

चलो इसके साथ ही यह बात तो आई-गई हो गई। उधर एक और अंदर की बात बताऊं तो मुझे मनुष्य के मन पढ़ने का विशेष शौक था। कोई कुछ बोला तो क्यों बोला? खामोश रहा तो क्यों रहा? क्योंकि जिस मनुष्य का आपने मन पढ़ लिया, वह आपका गुलाम हो गया। फिर उस पर प्रहार कर उससे मनचाहा काम आसानी से निकलवाया जा सकता है। और मैंने तो कितने बड़े-बड़े कार्य किए हैं, और कितने बड़े-बड़े कार्य अभी करने हैं। यह सब मैं नन्ही-सी जान अकेले थोड़े ही कर सकता हूँ? गुलामों की मुझे हरदम आवश्यकता रहती है। अत: मुझे जब मौका मिले, मैं लोगों के मन से खेलता ही रहता था। और सच कहूं तो इस समय पितामह-महाराज या दुर्योधन-शकुनि ही नहीं, पूरे हस्तिनापुर के मानस से खेल ही तो रहा था।

खैर! एक दिन ऐसे ही मैं और उद्धव, विदुरजी के घर के बाहर के बरामदे में बैठे हुए थे। संध्या का समय था। विदुरजी भी लौट आए थे। ऐसे में बातचीत का विषय तो सिवाय राजमहल के और कुछ हो ही नहीं सकता था। बहुत होता तो पांडवों को याद कर लेते थे। वैसे करीब-करीब यह रोज का नित्यकर्म था। लेकिन उस दिन हम सबके परम आश्चर्य के बीच सात्यकि आ धमका। उसके आने से ज्यादा आश्चर्य इस बात का था कि उसके चेहरे की हवा उड़ी हुई थी। वह काफी थका हुआ भी जान पड़ रहा था। अब थकान तो शायद यात्रा की रही होगी। ...लेकिन उदासी का क्या? निश्चित ही कोई बुरी खबर होनी चाहिए। जीवन में सबसे महत्वपूर्ण ''समय'' ही है। हमारा जीवन भी समय के ही अधीन है। यही क्यों, हमारी मनोदशा के मुताबिक समय में लगातार उतार-चढ़ाव व जीवन में सुख-दु:ख आते ही रहते हैं। समय का पहिया घूमता ही रहता है। और शायद क्योंकि अभी खराब समाचारों का समय था, शायद इसीलिए पांडवों की मृत्यु के दु:ख से उबरा भी नहीं था कि एक और खराब समाचार ने दस्तक दे दी थी। ...पर यह बुरी खबर क्या हो सकती थी, इस बात का अंदाजा लगाने की क्षमता इस वक्त मुझमें नहीं थी। ना ही मैं पहेली बुझाने की कोई कोशिश ही कर रहा था। उधर सात्यकि भी कुछ नहीं कह रहा था। खामोश ही था। हां; बीच-बीच में वह मुझे देख अवश्य रहा था। ...शायद बुरी खबर सुनने की मेरी क्षमता का आकलन कर रहा था। तभी अचानक क्या हुआ कि वह फूट-फूट कर रो पड़ा। इसका अर्थ तो खबर मेरी कल्पना से ज्यादा भयानक होना चाहिए। उधर सात्यकि का रोना देख अब तक खामोश बैठे उद्धव के चेहरे पर चिंता के हजार बादल छा गए। विदुरजी भी घबरा गए।

...सच कहूं तो सात्यकि का यह स्वरूप देख अबकी मैं पूरी तरह हतप्रभ रह गया। मुझे गहरी चिंता पकड़ ली। ऐसी भयानक खबर क्या हुई कि जिसने सात्यकि जैसे वीर को हिलाकर रख दिया। अब तो खबर जल्द-से-जल्द सुनना आवश्यक हो गया था। ...पर सात्यकि अब भी कुछ नहीं कह पा रहा था। मेरी धड़कनें तेज होती जा रही थी। मेरा कलेजा फटा जा रहा था। सूचना की भयानकता, सूचना की हकीकत से ज्यादा खतरनाक होती है। और इस समय सात्यकि की चुप्पी, सूचना की भयानकता बढ़ा रही थी। मेरी तो ''जान'' ही निकली जा रही थी। क्योंकि हो न हो बुरी खबर मेरी ''जान'' को लेकर ही होनी चाहिए। ...एक वही संकट में थी और मेरी इस यात्रा से दुखी भी एकमात्र वही थी। अब खबर वह हो या दूसरी, पर बुरी खबर का नियम तो यही है कि जितनी जल्दी सुन ली जाए, कष्ट उतना कम होता है। तो मैं सुनने से कौन-सा कतरा रहा था। लेकिन क्या करूं; सात्यकि कुछ कहने की स्थिति में ही नहीं आ पा रहा था। आखिर कितने ही आश्वासनों व कितनी ही हिम्मत दिलाने के बाद उसने अपना मुंह खोला, पर बोला सिसकियां लेते हुए ही - कृष्ण! तुम्हारे निकलने के चौथे रोज ही रुक्मिणी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई [20] । वह इतना सुंदर था मानो तुम्हारा बचपन ही लौट आया हो। रुक्मिणी तो पुत्र पाकर विश्व के उच्चतम शिखर पर विराजमान हो गई थी। उसने तो उसका नामकरण भी कर दिया था। हम सभी उसे ''प्रद्युम्न'' के नाम से पुकारने लगे थे। पूरी द्वारका में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई थी।द्वारकाधीश के यहां पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई, इससे बड़ी खुशखबरी द्वारकावासियों के लिए क्या हो सकती थी? पूरी द्वारका उत्सव में डूब गई थी।

...मैं उसका एक-एक शब्द ध्यान से सुन रहा था। उसे बिठाया भी हमने मेरे व उद्धव के बीच में ही था। लेकिन दिक्कत यह कि जाने क्या हुआ कि इतना कहते-कहते वह चुप हो गया। यह भी ठीक, पर अचानक उसका गला भर आया, वह फिर रोने जैसा भी हो गया। और फिर आगे कुछ न कह पाया। यह सब तमाशा देख मेरी समझ पर ही ताले पड़ गए। मुझे इतना सुंदर पुत्र प्राप्त हुआ है। द्वारका को अपना ''युवराज'' मिला है। तो फिर...सात्यकि इतना हताश क्यों है? कहीं रुक्मिणी...! नहीं... यह तो हो ही नहीं सकता। यदि उस ''जान'' को कुछ हुआ, तो इस ''जान'' का क्या होगा? अभी तो पूरी खबर सुनी भी नहीं थी और मैं खुद हताशा के महा-गर्त में समा गया था। मेरा शरीर, मेरा मन पूरी तरह बेजान हो चुका था। और सात्यकि था कि कुछ कह ही नहीं पा रहा था। अब तक तो यह भी स्पष्ट हो चुका था कि बुरी खबर रुक्मिणी या प्रद्युम्न को लेकर ही होनी चाहिए। एक...या फिर दोनों।

अजब दृश्य हो गया था। हम चारों अब तो गोलाकार बनाकर ही बैठ गए थे। सात्यकि कुछ कह नहीं पा रहा था और हम तीनों के कुछ संपट नहीं बैठ रहा था। उद्धव तो अब मरा-तब-मरा सा हो गया था। विदुरजी भी हताशा के गर्त में समा गए थे। मेरा हाल भी भिन्न नहीं था, पर पहले मैं एकबार खबर सुन लेना चाहता था। और उसके प्रयासरूप हम सात्यकि को पानी पर पानी पिलाये चले जा रहे थे। ...दारुक बेचारा भी बेहोश होने को ही नजर आ रहा था। होगा, पर अभी चिंता का विषय सात्यकि था, वह मुंह खोले तो कुछ समझ में आए। उसे हजार आश्वासन भी दिए गए। हमने सामान्य होने का नाटक भी किया। ...तब कहीं जाकर उसने फिर बोलना शुरू किया - शायद रुक्मिणी की यह खुशी कुदरत को रास नहीं आई। किसी ने सातवें रोज ही द्वारका के चिराग का अपहरण कर लिया। पूरी द्वारका शोक में डूब गई। रुक्मिणी का तो रो-रो कर बुरा हाल हो गया; वह करीब-करीब पगला ही गई। उधर तीन दिनों के अथक प्रयास के बाद भी हम ''अपहरण-कर्ता'' के बारे में कुछ पता नहीं लगा पाए। द्वारका, रुक्मिणी व प्रद्युम्न को तुम्हारी सख्त आवश्यकता है। अत: यह भयानक समाचार देने व तुमको साथ ले आने के लिए मुझे भेजा गया है।

खबर तो सचमुच बुरी थी। पर उतना दिल दहलाने वाली भी नहीं थी, जितनी सात्यकि के हाव-भाव से नजर आ रही थी। फिर भी खबर बुरी तो थी ही। बेचारा प्रद्युम्न; कौन उठा के ले गया होगा उसको? रुक्मिणी पर क्या बीत रही होगी? कुल-मिलाकर मामला तो गंभीर ही था। क्योंकि सवाल सिर्फ ''रुक्मिणी'' या ''प्रद्युम्न'' तक सीमित नहीं था। द्वारका जैसी सुरक्षित नगरी में यह घटना घट कैसे गई, यह कोई कम महत्वपूर्ण सवाल नहीं था। कोई बाहरी तत्व इसमें शामिल है या घर के ही भेदी ने यह कार्य किया है, यह भी सोचना जरूरी था। कुल-मिलाकर पलभर में तो मेरा चिंतन भावनात्मक रिश्तों से कहीं आगे निकल गया। जहन में सवाल द्वारका के अस्तित्व पर आ टिका कि यदि द्वारका ही सुरक्षित नहीं तो और क्या सुरक्षित हो सकता है? यानी सवाल हजार थे व उत्तर एक न था। कौन उठा ले जा सकता है उस मासूम को? ...और क्यों? क्या कोई मेरा शत्रु है...? या फिर कोई द्वारका का शत्रु है? कहीं यह कार्य जरासंध का तो नहीं? क्या सत्राजित मणि का सौदा करने के लिए तो प्रद्युम्न को नहीं उठा ले गया? पता नहीं; कुछ भी हो सकता है। और बेचारी रुक्मिणी! उसका क्या होगा? वह सचमुच इस समय कितना कष्ट पा रही होगी। मैंने उसे पहले ही सावधान किया था कि कर्म के फल के प्रति इतना उत्साह ठीक नहीं। मैंने कहा था... ''कर्म का आनंद लो और फल कुदरत पर छोड़ दो।'' अकारण संतान प्राप्ति के उत्साह से भरी पड़ी थी। लेकिन इसमें बेचारी रुक्मिणी का भी क्या दोष? आम मनुष्यों की तरह वह भी कुदरत के नियम कितने जानती थी?

खैर! चाहे जो हो, इसमें कोई दो राय नहीं कि इस समय रुक्मिणी और द्वारका को मेरी सख्त आवश्यकता थी। और फिर यह द्वारका के अस्तित्व का भी सवाल था। यदि अपहरण करने वाले को जल्द ही बेनकाब कर सजा न दी गई तो और कितने दिन द्वारका एक सुरक्षित नगरी रह पाएगी? फिर तो जरासंध, सत्राजित... सबकी हिम्मत बढ़ जाएगी। और यदि ऐसा हुआ, तो-तो द्वारका का हाल मथुरा जैसा होने में ज्यादा समय नहीं लगेगा। पांडवों के साथ जो होना था, हो चुका था।दुर्योधन को पहले ही मैं काफी कमजोर कर चुका था। बस दो-तीन रोज और रुककर तथा हस्तिनापुर के मानस पर कुछ और तीखे प्रहार कर मैंने द्वारका जाना तय कर लिया। और क्या करता...? मेरे तो एक नहीं दोनों सपने दांव पर लग गए थे। आप तो जानते हैं कि मैंने जीवन में ''रुक्मिणी'' और ''द्वारका'' यही तो दो सपने देखे थे।

छोड़ो, यह तो मेरी हुई। उधर उद्धव जो पांडवों की मृत्यु के सदमे से अब तक नहीं उबर पाया था, इस खबर ने उसे पूरी तरह तोड़ कर रख दिया। वह करीब-करीब संज्ञा-शून्य हो गया।दुखी तो मैं भी था; परंतु मैं मानवीय कमजोरियों में ज्यादा समय डूबे रहने की जगह तत्क्षण कर्म में लगना ज्यादा उचित समझता था। क्योंकि जो हो गया था, वह तो हो ही गया था। अब आगे क्या...? दूसरी तरफ विदुरजी भी काफी हिल गए थे। उन्होंने भी मुझे तुरंत द्वारका लौट जाने की सलाह दी। भावुकता में ही उन्होंने कहा कि आप हस्तिनापुर की चिंता न करें। यहां समय रहते

सबकुछ ठीक हो जाएगा।

विदुरजी का तो पता नहीं कि वे क्या व क्यों बोल गए पर उनकी इस बात ने मेरे तो होश ही उड़ा दिए। सच कहूं तो मुझे उनकी बात कुछ रहस्यमय मालूम हुई। हस्तिनापुर की चिंता कैसे न करूं? और फिर सब-कुछ ठीक कैसे हो जाएगा? पांडव तो मारे जा चुके, अब क्या खाक ठीक होगा? ...परंतु सवाल यह कि विदुरजी जैसे संजीदा आदमी ने यह बात ऐसे ही तो कही नहीं होगी। हो सकता है कुछ राज की बात हो। क्या मालूम क्यों मुझे ऐसा लग रहा था कि कोई ऐसी बात है जो मैं नहीं जानता और शायद जिससे सिर्फ विदुरजी ही वाकिफ हैं। मेरे अच्छे से टटोलने पर आखिरकार विदुरजी को रहस्य पर से परदा उठाना ही पड़ा। उन्होंने बताया कि बूआ व पांडव जीवित हैं। मैंने समय रहते उन्हें षडयंत्र के बारे में बता दिया था। लाक्षागृह जलने से पूर्व ही वे वहां से भाग चुके थे। वहां पर जली हुई जो लाशें मिली थी, वह किसी भील परिवार की थी। उसी से सब ने पांडवों को मृत मान लिया है।

...यह सुनते ही मैं तो उछल पड़ा। मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। मुझे आश्चर्य भी हुआ कि जब यही सबकुछ था तो फिर विदुरजी ने इतने समय तक मुझसे यह बात क्यों छिपाई? सच ही तो है, वे कैसे आसानी से किसी पर भरोसा कर लेते। चाहे जो हो, अभी तो मैं विदुरजी की दूर-दृष्टि व कर्तव्यनिष्ठा का कायल हो गया। मैंने व्यर्थ ही पितामह व धृतराष्ट्र के साथ उन्हें भी लपेट लिया था। मैंने सबसे पहले उनसे अपने उस दुर्व्यवहार की क्षमा मांगी। इस पर बड़ी विनम्रता से उन्होंने कहा- कैसी बात करते हो कृष्ण! यह तुम्हारा क्रोध ही पांडवों के प्रति तुम्हारे प्रेम का सबूत है, और तभी तो मैं तुम्हें यह रहस्य कह पाया हूँ।

खैर! पांडवों के जीवित होने की खबर सुनते ही पुत्र-अपहरण का गम हवा हो गया। मन इस नई खबर के बाद की परिस्थितियों व चिंता में उलझ गया। बाकी सब तो ठीक, पर मुझे इतना समझ अवश्य आ रहा था कि वर्तमान परिस्थितियों में मेरा पांडवों से तत्काल मिलना जरूरी था। लेकिन विदुरजी ने बताया कि वे कहां हैं, इसका उन्हें भी कुछ अंदाजा नहीं है। लेकिन वे जहां होंगे, भेष बदलकर ही रह रहे होंगे। उन्होंने आगे बताया कि यह सुझाव मेरा ही था, क्योंकि मेरी राय में जब तक हस्तिनापुर में परिस्थितियां सामान्य नहीं हो जाती; उनके लिए मृत बने रहना ही बेहतर है।

यह सुनते ही चिंता की हजारों लकीरें मेरे चेहरे पर उभर आई। अर्थात् पांडव जीवित हैं पर सुरक्षित नहीं। यानी यदि वे प्रकट हुए तो वे फिर दुर्योधन के षडयंत्र का शिकार हो ही सकते हैं। बात तो ठीक थी, पर अचानक मेरे चिंतन ने एक अनूठी ही दिशा पकड़ ली। पांडव काफी वीर हैं व हस्तिनापुर की प्रजा भी उनके साथ है। यानी वे इतने कमजोर भी नहीं जितने दिखाई दे रहे हैं। अत: आज नहीं तो कल पांडव सर जरूर उठाएंगे; अपना हक अवश्य मांगेंगे। इससे पांडवों व कौरवों का झगड़ा और बढ़ेगा। और इसका दुष्परिणाम ना सिर्फ हस्तिनापुर को, बल्कि हो सकता है पूरे आर्यावर्त को भुगतना पड़े। नहीं... यह नहीं होने दिया जा सकता। और इसका एक ही उपाय है उनकी आपसी सुलह। लेकिन यह तभी संभव है जब पांडव, कौरवों से ज्यादा मजबूत हो जाए, या फिर कौरव कमजोर हो जाएं। क्योंकि दुर्योधन राजी-खुशी तो कुछ देने वाला नहीं, उस पर काम तो दबाव ही करेगा। और दबाव भी तर्क-विचार या सत्य का नहीं, ‘‘ताकत’’ का।

यह सब तो ठीक, मैं समझ गया। पर अब मेरे लिए सोचने वाली बात यह कि हस्तिनापुर ना सिर्फ द्वारका से कई गुना बड़ा राज्य है, बल्कि हकीकत यह भी है कि यहां की समस्या पूरे आर्यावर्त को प्रभावित कर सकती है। अत: स्वाभाविक रूप से मेरी प्राथमिकता द्वारका की बजाय हस्तिनापुर की समस्या होनी चाहिए। अब ‘‘कर्तव्य’’ हेतु तो सब धरती गोपाल की, क्या ‘‘द्वारका’’, क्या ‘‘हस्तिनापुर’’? सो मुझे तो मोह से उठकर कर्तव्य की शरण जाना ही था। और यहां पांडवों को बचाना व उनको शक्तिशाली बनाना ही इस समस्या का एक स्थायी हल नजर आ रहा था। वैसे यह कार्य कौरवों को कमजोर करके भी किया जा सकता था, तो वह तो मैं जब से आया था तबसे कर ही रहा था। मुझे एक बात तो स्पष्ट समझ आ रही थी कि जबतक पांडवों के हाथ में हस्तिनापुर की बागडोर नहीं आएगी, तब तक यहां की प्रजा दुर्योधन की महत्वाकांक्षा के चक्कर में पिसती रहेगी। हस्तिनापुर ही क्यों, तब तक आस-पास के राज्य भी दुर्योधन की महत्वाकांक्षा के शिकार होते ही रहेंगे। अत: वर्तमान हालत को देखते हुए मेरी दृष्टि में पांडवों की सुरक्षा समय की ओर से मुझपर लादी गई सर्वोपरि प्राथमिकता थी। और फिर मेरा पांचाल जाकर महाराजा द्रुपद से मिलना भी आवश्यक था। क्योंकि द्रुपद के प्रतिशोध की आग भी आर्यावर्त को भयानक हिंसा में धकेल सकती थी। वैसे जाने को तो ‘‘नागकूट’’ जाना भी मेरा ‘‘परम-कर्तव्य’’ था। यदि इस उम्र में ‘‘परदादा’’ की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा तो मेरी कर्तव्य परायणता क्या हुई?

देखा आपने; हमेशा की तरह एकबार फिर जीवन ने मुझे कठिन चुनाव में डाल दिया था। इसमें इस बार भी उससे कोई चूक नहीं हुई थी। एक तरफ मेरी प्यारी रुक्मिणी का गम व मेरी अपनी पहली संतान के अपहरण की

चिंता थी, शायद इसके दूरगामी परिणाम भी द्वारका को भुगतने पड़ सकते थे; वहीं दूसरी ओर हस्तिनापुर में शक्ति-संतुलन स्थापित करना और महाराजा द्रुपद के प्रतिशोध की आग को शांत करना भी जरूरी था, नहीं तो पूरा आर्यावर्त इन आगों में जल सकता था। ...ऊपर से नागकूट का कर्तव्य तो पुकार ही रहा था। और चूंकि रुक्मिणी का गम व पुत्र का वियोग छोटा नुकसान था जबकि उसके सामने आर्यावर्त का जलना बड़ा नुकसान था। और मैं तो सदैव से सर्व का ही बनकर जीया हूँ; सर्व-हिताय ही मेरा ''परम-कर्तव्य'' है। रुक्मिणी व पुत्र प्रेम में आर्यावर्त को जलता हुआ छोड़ देना तो तुच्छ अहंकार का मोह हुआ, और मैं मोह में कहां बंधने वाला था?

...और एकबार जब चुनाव हो गया, फिर देर किस बात की? भिड़ गया काम पे। रुक्मिणी व द्वारका की चिंता त्याग दी। और सात्यकि को किसी तरह समझा-बुझाकर मैंने वापस द्वारका जाने के लिए राजी भी कर लिया। उसने शुरुआती विरोध किया, लेकिन मेरी समझाइश के चक्कर में पांस ही गया। जब उससे कुछ न बन पड़ा तो वह उद्धव को साथ ले जाने की जिद पर अड़ गया। लेकिन मेरा यहां का कार्य उद्धव के बगैर संभव ही नहीं था। अंत में हारकर उसे अकेले ही लौट जाना पड़ा। अब वहां पर रेवती भाभी है, सुभद्रा है, मां है ...वे रुक्मिणी का ख्याल रख ही सकती हैं। और फिर यदि द्वारका के गुप्तचर या भैया व सात्यकि जैसे वीर मिलकर भी प्रद्युम्न को खोजने या वापस लाने में कामयाब नहीं होते हैं, तो मैं अकेला द्वारका वापस जाकर क्या कर लूंगा? ...फिर पुत्र कैसा होगा, बड़ा होकर क्या करेगा, यह भी मैं नहीं जानता था। ऐसी हालत में उसे बचाने में शक्ति लगाने से तो अच्छा था कि वही शक्ति मैं संपूर्ण मनुष्यता को बचाने में लगाऊं। वैसे ये सब बातें मैंने उद्धव या सात्यकि से नहीं कही थी। मैं अपने कर्मों के कारणों की चर्चा करना या सफाई देना पसंद नहीं करता था। हालांकि मेरे इस निर्णय से सात्यकि को थोड़ा-बहुत धक्का अवश्य लगा था। आश्चर्यचकित तो विदुरजी भी हो गए थे। लेकिन उद्धव की बात ही निराली थी। वह कुछ समझे या न समझे, पर उसमें एक विशेषता थी, उसे मेरे कार्यों व निर्णयों पर पूरा भरोसा था। यही कारण था कि मैंने उसे नहीं जाने दिया था। यूं भी सवाल पांडवों को खोजने जाने का हो या पांचाल जाना हो, मुझे हर जगह उसकी आवश्यकता तो पड़नी ही थी। और फिर वह तो मेरी छाया था, भला काया से छाया जुदा कैसे हो सकती थी?

चलो यह सब तो बराबर है पर एक सच्ची बात कहूं तो द्वारका न जाने का कटु निर्णय ले तो लिया था, लेकिन एक क्षण को मेरे इस निर्णय ने मुझे भी हिलाकर रख दिया था। यदि प्रद्युम्न के अपहरण व रुक्मिणी के इतने गमगीन होने के बावजूद मेरे द्वारका नहीं जा पाने के निर्णय ने सात्यकि को इतना चौंकाया था, तो फिर निश्चित ही मेरा यह कदम रुक्मिणी को किसी भयानक सदमे से कम नहीं लगेगा। शायद मेरे सपनों की रानी जीवनभर मुझसे नाराज रहे, हो सकता है मुझे बेदर्द भी समझे; लेकिन इसमें मैं क्या कर सकता था? क्योंकि मुझे क्या करना चाहिए इसका निर्णय सिर्फ समय या परिस्थिति ले सकती है, किसी का मोह या उसकी आवश्यकता कतई नहीं। रुक्मिणी मेरी है, प्रद्युम्न मेरा है; मुझे दोनों से प्रेम है; दोनों की चिंता भी है, लेकिन कब...? जब मैं स्वयं अपना रहूं। जब समय की मांग ने मुझे ही पूरी प्रकृति का बना दिया है, तो ऐसे में मैं अपने ''परम-कर्तव्य'' से विमुख कैसे हो सकता था? यानी रुक्मिणी के दर्द की कल्पना का भयानक ''दर्द'' तो मुझे सहना ही था। कुल-मिलाकर भले ही मेरी जान की ''जान'' पे बन आई थी, परंतु फिर भी मुझे अपनी ''जान'' पर काबू रखना ही था।

खैर! जीवन में कर्तव्य निभाने हैं तो यह सब दर्द तो झेलने ही पड़ेंगे। सो, वह कोई विशेष बात नहीं थी। महत्वपूर्ण बात तो यह कि अब मेरा यहां हस्तिनापुर रुकना व्यर्थ था। कर्तव्य पांडवों को खोजने जाने को पुकार रहा था। और वहीं मन भी उनसे मिलने को बेचैन हो ही उठा था। सो मैं फटाफट हस्तिनापुर के कार्य सलटाने में लग गया। यहां भी अब कार्य क्या बच गए थे, बस चन्द शिष्टाचार निभाने थे। यूं भी पांडवों के जीवित होने की खबर ने मुझे एक नए उत्साह से तो भर ही दिया था। बस हस्तिनापुर छोड़ने से पूर्व मैं पितामह, महाराजा धृतराष्ट्र, मां गांधारी सबसे मिल आया। वैसे शिष्टाचारवश मैं मिला तो दुर्योधन व शकुनि से भी, वाकई उन दोनों के चेहरे पर मेरे हस्तिनापुर छोड़ने की खुशी स्पष्ट देखी जा सकती थी। शायद इतने दिनों में पहली बार उन्होंने राहत की सांस ली थी।

...यह सब तो ठीक है, पर सौ बातों की एक बात तो यही कि विदुरजी की सराहना में जितना कहा जाए, कम था। उन्होंने जो कर दिखाया था वह निश्चित ही किसी चमत्कार से कम न था। कहने की जरूरत नहीं कि जाते-जाते उनसे आशीर्वाद लेना व उन्हें धन्यवाद देना दोनों नहीं भूला था। और इसके साथ ही हमारा काफिला पांडवों की खोज में निकल पड़ा था। अब कहां व कितना घूमना पड़े यह तय नहीं था, अतः काफिला सिर्फ दस रथों तक सीमित रखा था। यानी आवश्यक सेवक-सिपाही लेकर ही निकल पड़े थे। हालांकि मेरा तो ठीक पर उद्धव की हालत अब भी बड़ी अजीब थी। एक ओर जहां उसके चेहरे पर भतीजे के अपहरण का दुःख था, वहीं दूसरी ओर पांडवों के जीवित होने की खुशी भी थी। जहां तक मेरा सवाल है, मैं तो रुक्मिणी, प्रद्युम्न व द्वारका को पूरी तरह भुला चुका था। इस समय मेरा पूरा चिंतन ''पांडवमय'' हो चुका था। यूं भी मैं प्रायः पूर्ण-वर्तमान में रहना पसंद करता था। खासकर

तब, जब प्रकृति के दिए कर्मों में लगा रहता था। ...ऐसे कठिन समय में मैं कुछ बातें कुदरत के न्याय पर छोड़ने की कला जानता था। यूं भी यदि यह कला न सीखी होती तो मुझ जैसे जीवन में तो शायद कबका चिंता से ही मर गया होता।

चलो छोड़ो इन बातों को। अभी तो हम एक अनजान यात्रा पर निकल पड़े थे। गंतव्य का कुछ पता नहीं था। हालांकि मेरे लिए अनजान की यात्रा कौन नई बात थी? जब जरासंध के कारण मथुरा छोड़नी पड़ी थी, तब भी गंतव्य का कुछ पता नहीं था। जब सांदीपनिजी की गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए पुनर्दत्त को खोजने जाना था, तब भी गंतव्य के बाबत कोई जानकारी कहां थी? यह मनुष्यजीवन भी तो एक अनजान की यात्रा ही है। अंतिम समय कौन, कहां व किस हाल में होगा, कौन जानता है? ...अब यह दर्शन लाख सही, फिर भी कोई एक दिशा तो पकड़नी ही थी। सो 'कापिल्य' की ओर चल पड़े। तीन दिनों की यात्रा के बाद ही हम कापिल्य की सीमा में प्रवेश कर चुके थे। यूं भी हस्तिनापुर से लगकर यही एक राज्य था जहां पांडवों के आसरा लेने की संभावना सबसे ज्यादा थी। कापिल्य पहुंचकर ज्ञात हुआ कि यहां "पाराशर मुनि" का आश्रम है। "पाराशर मुनि" आर्यावर्त के प्रतिष्ठित आचार्यों में से एक थे। आचार्य सांदीपनिजी ने मेरे जीवन पर इतना प्रभाव डाला था कि मेरे मन में आचार्यों से मिलने की, उनसे कुछ सीखने की इच्छा हमेशा बनी रहती थी। सो मैं स्वयं को उनके आश्रम में जाने से नहीं रोक पाया; हां उद्धव को अवश्य पांडवों की खोजबीन में लगा रखा था।

आश्चर्य था! इतने बड़े आचार्य का आश्रम और इतना छोटा, और वह भी नगर से इतनी दूर। ऊपर से आश्रम में कोई खास शिष्य भी नजर नहीं आ रहे थे। साफ लग रहा था कि आजकल राजमहल श्रेष्ठ आचार्यों का उतना सम्मान नहीं कर रहा है, जितना उन्हें करना चाहिए। निश्चित ही यह आर्यावर्त के राजाओं की गिरावट का सबूत था। होगा, अभी तो दोपहर का वक्त था व आश्रम के मध्य स्थित एक पीपल के पेड़ के नीचे आचार्यजी अपने पांच-छः शिष्यों को कुछ समझाने में लगे हुए थे। मैं तो दूर से उनके दर्शन-मात्र से धन्य हो गया था। वाकई बड़ा प्रभावशाली व्यक्तित्व था उनका। मैंने तत्क्षण उनके चरण-स्पर्श कर उनका आशीर्वाद लिया और हाथोंहाथ उन्हें अपना परिचय भी दे डाला। जैसे ही उन्हें मालूम हुआ कि मैं "कृष्ण" हूँ, वे भी काफी प्रसन्न हुए। यानी वे मेरे बारे में सबकुछ जानते थे। यहां तक कि उन्होंने मुझे द्वारका की बधाई भी दी। खुश तो इतने हो गए कि अपने सभी शिष्यों से परिचय करवाने के बाद उन्होंने सबको अपने-अपने कक्ष में जाने को कह दिया। यह भी ठीक, पर उनकी इच्छा थी कि मैं आज की रात्रि उनके साथ आश्रम में ही गुजारूं। मेरे पास इन्कार करने की ना तो गुंजाइश थी, ना ही कोई उचित वजह। और फिर ऐसे विद्वान आचार्य की संगत में दो बातें सीखने को ही मिलने वाली थी।

और हुआ भी यही। रात्रि को चर्चा के दरम्यान वे हस्तिनापुर की परिस्थिति को लेकर काफी चिंतित दिखाई दे रहे थे। दुर्योधन की महत्वाकांक्षा उन्हें विशेष रूप से सता रही थी। बस हम दोनों उन्हीं के कक्ष से सटे बरामदे में बैठे-बैठे ये सारी चर्चाएं कर रहे थे। बाकी सब तो ठीक, पर मैं आचार्यजी को मनुष्यता की इतनी चिंता करते देख आश्चर्यमिश्रित खुशी से भर गया था। बात-बात में उन्होंने कहा भी कि पांडवों की मृत्यु के लिए पितामह व धृतराष्ट्र की कायरता प्रमुख रूप से जवाबदार है। उनकी इस बात ने मुझे बड़ी राहत पहुंचाई। इसलिए नहीं कि उनकी राय मुझसे मेल खाती थी, बल्कि इसलिए कि वह ठीक भी थी। उधर पाराशर मुनि हस्तिनापुर की चर्चा करते-करते काफी उदास हो गए थे। मैंने उनका दु:ख कम करने के लिहाज से कहा भी कि आप फिक्र न करें, पांडव अभी जीवित हैं। यानी मैंने भावुकता में बहकर राज पर से परदा उठा दिया था।

अब उठा दिया था तो उठा दिया था। पर आश्चर्य तो इस बात का कि यह सुनते ही उन्होंने बड़ी अजीब निगाहों से मेरी तरफ देखा था। और मैं उनका यह भाव बिल्कुल नहीं समझ पाया था। क्योंकि उसमें न तो आश्चर्य था, न खुशी थी और ना ही अविश्वास का कोई भाव था। इसीलिए तो वे आचार्य थे। आम मनुष्य तो सोचना शुरू करे उससे पहले मैं समझ जाता था कि वह क्या सोच रहा है, या ज्यादा-से-ज्यादा क्या सोच सकता है? वह क्या कर रहा है, और क्या कर सकता है? लेकिन आचार्यों के मन की बात समझना इतना आसान नहीं होता। आखिर जब कुछ समझ में नहीं आया तो मैंने अंधेरे में ही तीर चला दिया। मैंने उनसे कहा- पांडव जीवित हैं, यह सत्य है। और उन्हें बचाने में महामंत्री विदुरजी का बहुत बड़ा योगदान है। और मैं उन्हीं की खोज में निकला हुआ हूँ।

...अबकी आचार्यजी ने बड़े शांत भाव से कहा- मैं जानता हूँ कि वे जीवित हैं। लाक्षागृह से बच निकलकर वे सभी अपनी मां कुंती के साथ सीधे मेरे आश्रम में ही आए थे। दरअसल वे किसी सुरक्षित स्थान पर आश्रय चाहते थे [21] ।

...यह सुनते ही मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैं बड़ा ही प्रसन्न हुआ। कठिन दिखने वाला कार्य इतनी आसानी से पार पड़ जाएगा, ऐसा तो कभी सोचा ही न था। अब तो गंतव्य का भी पता चल ही जाना था, क्योंकि

आचार्यजी जानते ही होंगे कि वे कहां गए हैं। मैंने उत्साहवश तुरंत जिज्ञासा जाहिर की - यदि आपको एतराज न हो तो आप बता सकते हैं वे किस ओर गए हैं?

आचार्यजी ने हंसते हुए कहा- मैंने उन्हें ‘‘पांचाल’’ जाने की सलाह दी थी, शायद वे वहीं गए होंगे।

यह सुनते ही मेरे होश उड़ गए। हजार चिंताओं ने मुझे आ घेरा। पांचाल यानी ‘‘महाराजा द्रुपद’’ के प्रदेश में। वे तो यूं ही अर्जुन व द्रोण से प्रतिशोध लेने के लिए पागल हुए जा रहे हैं। कहीं पांडव उनके हत्थे लग गए तो वे अर्जुन को तो किसी कीमत पर जीवित नहीं छोड़ेंगे। मेरे चेहरे पर उभरी चिंता की लकीरों को देखकर आचार्यजी की हंसी छूट गई। मैं न चाहते हुए भी झल्ला उठा। लो; यहां मेरी जान निकली जा रही है और उन्हें हंसी आ रही है। ...इधर मुझे इस तरह झल्लाया देख वे फिर हंसते हुए बोले- मेरी बात सुनकर पांडव भी इसी तरह चिंतित हुए थे। लेकिन मैंने उन्हें समझाया कि आप लोग ब्राह्मणों के भेष में पांचाल की सीमा में घुस जाओ व वहीं आसरा लो। यदि कल उठकर तुम्हारे जीवित होने की बात बाहर आई तो कौरव तुम्हारी खोज में जमीन-आसमान एक कर देंगे। और ऐसे में वे तुम्हें अन्य कहीं भी खोजें, पांचाल में कभी नहीं खाजेंगे। वहीं द्रुपद भी उन्हें अपने ही राज्य में तो कतई नहीं खोजेगा।

मैं तो आचार्यजी की बुद्धिमत्ता का कायल हो गया। मैं अपनेआप को महा-बुद्धिमान समझता था, यह तो मुझसे भी चार कदम आगे निकले। सच ही है, मूर्खों के साथ बैठकर खुद के बुद्धिमान होने का गर्व जल्द ही पकड़ लेता है। बुद्धिमानों के साथ उठो-बैठो तो यह गलतफहमी स्वत: ही दूर हो जाती है। तभी तो, जब भी किसी अच्छे आचार्यों से मिलता, मेरा यह गुरूर टूट ही जाता था। फिर वह आचार्य श्रुतिकेतुजी हों या सांदीपनिजी। महर्षि परशुराम हो या पाराशर मुनि।

खैर! हाल-फिलहाल पांडवों की सुरक्षा को कोई खतरा नहीं, यह मेरे लिए बड़ी राहत की बात थी। और इसमें भी कोई दो राय नहीं कि इस बात का पूरा श्रेय पाराशर मुनि को ही जाता था। मैं तो उनके प्रति पूरे सम्मान से भर गया था। मेरे एक पंथ दो काज हो गए थे। मुझे यूं भी महाराजा द्रुपद व द्रौपदी से मिलने पांचाल जाना ही था। और अब तो पांडवों ने भी वहीं आसरा ले रखा था। अत: उन्हें खोजने भी वहां जाना ही था। इधर रात्रि चढ़ते-चढ़ते उद्धव भी लौट ही आया था। निश्चित ही वह पांडवों की कोई खोज-खबर नहीं निकाल पाया था। तो अब जरूरत भी कहां थी। मैंने उसे सब बता ही दिया था, व उसके साथ ही खुशी-खुशी हम दोनों सो गए। ...सुबह होते ही मैंने आचार्यजी का आभार माना, उनके आशीर्वाद लिए व उसके साथ ही हमलोग पांचाल की ओर जाने के लिए निकल पड़े। ...आचार्यजी की मेहरबानी से अबकी गंतव्य तय था।

अपूर्व सुन्दरी द्रौपदी से मुलाकात

इस समय मैं काफी उत्साह से भरा हुआ था। एक तो जल्द ही पांडवों से मुलाकात संभव थी व दूसरा "द्रौपदी-दर्शन" भी होने वाले थे। आचार्य सांदीपनिजी के बताए अनुसार वह "विश्व सुंदरी" है। ...अब विश्वसुंदरी को मिलने का उत्साह तो कन्हैया को रहना ही था। सो, इस उत्साह के चलते पूरे रास्ते रथ की कमान मैंने स्वयं सम्भाली हुई थी। बस मैं दारुक और उद्धव, तथा पीछे सेवक-सिपाहियों की फौज। निश्चित ही बातचीत पांडवों को लेकर ही हो रही थी। वैसे जब मौका मिल रहा था, तब पूरी यात्रा के दरम्यान मैंने काफी चिंतन भी किया था। यूं भी जब करने को और कुछ नहीं होता, तो चिंतन मेरा प्रमुख शौक बनकर उभरता ही था। मैं सोच रहा था कि इतने कम समय में मैंने इतनी प्रगति की, इतना नाम कमाया, द्वारका की स्थापना की, इतने पराक्रम किए, आखिर कैसे? क्या मैं इतना योग्य हूँ? शायद नहीं... तो फिर इतनी प्रगति क्या मेरे भाग्य में थी? "भाग्य" में तो मेरा विश्वास ही नहीं। मैं तो "कर्मवादी" था। और कर्मवादी का भाग्य से क्या लेना-देना? यानी ले-देके बात कर्म व योग्यता पर आ अटकी थी। लेकिन ज्यादा गहराई से सोचूं तो मैंने ऐसे कोई खास कर्म भी नहीं किए थे। ...तो फिर इतनी बड़ी सिद्धि मुझे प्राप्त कैसे हुई?

...यदि मैं कहूं सिर्फ योग्यता के बल पर तो आप कहेंगे कि लो, मौका मिला नहीं कि अपने मुंह मियां-मिट्ठू बने नहीं। वैसे तो मेरी योग्यता व मेरी कर्म के प्रति निष्ठा पर सवाल नहीं उठाये जा सकते; फिर भी जब इतनी बात चली है तो अपनी योग्यता के उस पहलू से मिलवा दूं, जहां से श्रेय लिया भी जा सकता है व बांटा भी जा सकता है। दरअसल अपनी प्रगति का सबसे बड़ा कारण मैं यह मानता हूँ कि मैंने स्वयं को कुदरत के सामने बिल्कुल खुला छोड़ दिया था। जब जहां मर्जी हो, ले जाए। जब जो करवाना चाहे, करवा ले। उसकी मर्जी ही मेरी मर्जी। मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं, कोई जिद्द नहीं। और निश्चित ही कुदरत के प्रति मेरा यह समर्पण काम कर गया था। मेरा गणित भी साफ था, भला जो इतने बड़े चांद-तारे, हवा-पानी सभी को नियंत्रित किए हुए है, उसे अपने तुच्छ अहंकार व मोह से ऊपर उठकर अपना जीवन सौंपने में क्या जोखिम? ...जब उसकी प्रमुख ऊर्जा सर्वहित के लिए लगी ही हुई है, तो हमें भी अपना जीवन सर्वहित के लिए न्यौछावर करके उसके साथ बहने में क्या दिक्कत? कुल-मिलाकर आज मैं जिस मुकाम पर पहुंचा था, वह मेरी योग्यता व कर्म में आस्था के अलावा मेरी अहंकार-शून्यता को भी आभारी था जो मैं कुदरत को पूरी तरह समर्पित हो पाया था।

और जब इतनी बात चली है तो एक बात और आपको दावे से कह देता हूँ कि एकबार जिसने अपने तुच्छ अहंकारों का त्याग कर स्वयं को सर्वहित पर निछावर कर दिया, कुदरत ने उसे प्रगति के उच्चतम-शिखर पर बिठाया ही समझो। उसके हृदय को आनंद व सुकून से भरा ही समझो। वह आत्म-संतोष से ओत-प्रोत हुआ ही समझो। और आत्म-संतोष से बड़ा धन इस दुनिया में कोई नहीं। पूरे ब्रह्मांड को रोशन करने वाली प्रकृति अपने "समर्पित-सिपाही" को कितना रोशन कर देती है, मैं उसका एक जीता जागता श्रेष्ठ उदाहरण था। खैर, छोड़ो इन बातों को। कुल-मिलाकर इन्हीं चिंतनों के चलते और उद्धव से बातें करते-करते हम पांचाल की सीमा पर भी पहुंच गए यानी यात्रा कब और कैसे कटी, इसका कुछ अंदाजा ही न रहा। सचमुच अस्तित्वहीन जीवन जीने का मजा ही कुछ और होता है।

खैर! पांचाल में मुझे दो महत्त्वपूर्ण कार्य थे। एक महाराजा द्रुपद व द्रौपदी से मुलाकात करनी थी व दूसरा पांडवों को खोजना था। वैसे पांडवों को खोजना एक गुप्त कार्य था, जिसे उद्धव को ही निपटाना था। अत: ले-देकर मेरे पास बच गया था द्रुपद व द्रौपदी से मुलाकात करने का हसीन कार्य। लेकिन मैं ऐसे ही बिना सूचना के महाराजा द्रुपद के दरबार में जाना नहीं चाहता था। आखिर अब मैं द्वारकाधीश था और शायद महाराज का होने वाला जमाता। कम-से-कम महाराज तो मेरे बारे में यही सोचते हैं। अत: मैंने सीमा के पास ही एक आश्रम में आश्रय लिया, और अपने आने की सूचना महाराज तक पहुंचाने उद्धव को रवाना किया। अच्छा तो यही था कि इसी बहाने रात्रि विश्राम कर सुबह तरोताजा होकर फिर पांचाल की सीमा में प्रवेश किया जाए। वहीं सच कहूं तो यह प्रवेश टालने के पीछे दो अन्य कारण भी थे। एक तो मैं आर्यावर्त की राजनीति में पहली दफा एक ताकत के रूप में देखा जा रहा था। अब मेरी राजनीति द्वारका तक ही सिमटी हुई नहीं थी। अत: मैं पूर्व सूचना पहुंचाकर द्वारकाधीश की उभरती गरिमा को और निखारना चाहता था। दूसरा, मैं महाराजा द्रुपद के स्वागत से इस बात का अंदाजा लगाना चाहता था कि मुझे जमाता बनाने के लिए वे किस हद तक उतावले हैं? और मेरा आर्यावर्त में वास्तविक प्रभाव क्या है? वैसे भी

जितना आवश्यक शत्रुओं के शत्रुता की तह पहचानना है, उतना ही आवश्यक मित्रों के मित्रता की गहराई परखना भी है।

उधर मेरे आने की सूचना पाते ही दूसरे दिन सुबह होते-होते तो महामंत्री उद्घाष तथा राजकुमार धृष्टद्युम्न पूरे राजकीय सम्मान के साथ मेरे स्वागत के लिए आश्रम पधारे और सीधे मुझे राजमहल ले गए, जहां महाराजा द्रुपद ने स्वयं द्वार पर आकर मेरा स्वागत किया। ...यह सब देखकर "द्वारकाधीश" को बड़ा संतोष हुआ। एक समय वह भी था जब जरासंध के भय से कोई भी राजा मुझे आसरा तक देने को तैयार नहीं था, और कहां आज हर राजा मेरे स्वागत को लालायित है...? ...कहते हैं वक्त बदलते देर नहीं लगती। लेकिन यहां वक्त कहां बदला था, यह सारी बदलाहट तो मेरे कर्मों के कारण थी। अत: इस सम्मान का मैं अधिकारी भी था। यह सम्मान मुझे कोई इसलिए नहीं मिल रहा था कि मैं किसी बड़े राजा का पुत्र हूँ। नहीं...; यह सम्मान तो मेरे भव्य कर्मों को आभारी था। और जहां तक कुदरत का सवाल है, उसकी मंशा तो मुझे पैदा होते ही मारने की थी। उसने तो मेरे सर से मौत का साया कभी हटने ही नहीं दिया था। यानी मेरा वक्त तो मेरे पैदा होने से आज तक एकबार को नहीं बदला था। ...तभी तो जोर से कहता हूँ कि मेरी यह सफलता मेरे अपने लगातार किए गए महान कार्यों का फल है। कुदरत व समाज से लगातार संघर्ष कर मैं अपने कर्मों से इस मुकाम तक पहुंचा हूँ। अत: कम-से-कम आज तो मैं अपनी इस सफलता का श्रेय किसी के साथ नहीं बांट सकता, न कुदरत, न धर्म, न समाज। मेरे जीवन की तमाम सफलताएं मेरे नि:स्वार्थ कर्मों का प्रतिफल थी। कहने का तात्पर्य, सिर्फ और सिर्फ सर्व-शक्तिमान को समर्पित होकर किए गए सर्वहित के कार्यों को मैं इस सफलता का श्रेय देता हूँ। लेकिन तब भी कार्य तो मैंने ही किए थे, समर्पित तो मैं ही हुआ था; यानी घुमा-फिराकर भी श्रेय का हकदार तो "मैं" ही हुआ। बस इसी तारण के साथ मैंने अपने "परम-अहंकार" को पूरी तरह तृप्त कर दिया। और इसी तृप्ति के साथ पांचाल के राजमहल में प्रवेश किया।

...उधर महाराजा द्रुपद तो मुझे पांचाल में पाकर ही धन्य हो गए थे। देखा आपने; कर्म ने क्या रंग दिखाया था? वृन्दावन की गोपियों के साथ खेलने वाला यह कान्हा आज पांचाल की राजकुमारी से विवाह करने हेतु ससम्मान आमंत्रित था, वह भी ऐसी-वैसी नहीं, "विश्वसुंदरी" से... और आव-भगत तो ऐसी कि महाराजा द्रुपद सीधे मुझे अपने व्यक्तिगत सभागृह में ले गए। तुरंत हमारे लिए जलपान मंगवाया गया। यह सब देख सुकून तो बहुत मिल रहा था, पर सच कहूं तो लगातार की गई यात्रा व पांडवों के जीने-मरने के चक्कर ने मुझे काफी थका दिया था। और इस समय गंतव्य पर पहुंचने के बाद थकान और भी बुरी तरह महसूस हो रही थी। दिन-दो-दिन का विश्राम आवश्यक हो गया था। अत: मैंने अन्य कोई बातचीत टालते हुए महाराज से फिर आने का वादा कर इजाजत ली।

...अब आव-भगत का आनंद फिर कभी ले लिया जाएगा; यूं भी प्रथम-दृष्टि में जितना समझना था, समझ चुका था। फिर हम तो यहां डेरा डालने ही आए हुए थे। जब तक पांडव नहीं मिल जाते, पांचाल छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता था। यानी समझने-समझाने और मेहमाननवाजी भोगने को बहुत समय पड़ा था। सो, अभी तो मेरे आराम करने की इच्छा जाहिर करते ही हमें राजमहल के ही एक अतिथि-कक्ष में ससम्मान ठहरा दिया गया। ...वैसे मैं महाराजा द्रुपद के स्वागत से ही नहीं, उनके राजमहल व उनके रहन-सहन के राजसी ठाठ-बाट से भी बड़ा प्रभावित हुआ था। उनका हर कार्य बड़ा सलीकेदार था।पूरे राजमहल में साज-शृंगार की एक से बढ़कर एक सामग्रियां थी। पूरा राजमहल शेर व बाघों की खालों से भरा पड़ा था। अति शानदार अस्त्र-शस्त्र दीवारों पर लटके पड़े थे। साथ ही राजमहल की दीवारों पर टंगी तस्वीरें व चित्रकारी भी बेजोड़ थी। राजमहल का कोना-कोना पांचाल की संपन्नता की गवाही दे रहा था। स्पष्ट था, आर्यावर्त में वैभव की कमी नहीं थी। यह तो मथुरा जैसे राज्य ही प्रजा के कुकर्मों के कारण बर्बाद थे। होगा, अभी तो सबसे पहले हमने गुप्तचर को अपनी खबर पहुंचाने हेतु द्वारका रवाना किया। साथ ही वहां की कोई ताजा खबर हो तो वह लेता भी आए।

खैर! इधर दिनभर आराम करने के बाद रात्रि को मैं और उद्धव ऐसे ही गप्पें मार रहे थे। पहले हस्तिनापुर, फिर महाराजा द्रुपद के यहां मिले सम्मान से मेरा अहंकार यूं ही उफान पर था। बस बात-बात में मैंने उद्धव से कहा- कहां तो हम वृन्दावन में भटकते फिर रहे थे। जानवर तक हमें देखते ही काटने को दौड़ते थे। और आज हमारा कितना सम्मान है? बड़े-बड़े राजा हमें अपने यहां पाकर धन्य हो जाते हैं।

उद्धव ने हंसते हुए कहा- हां! इसमें कोई शक नहीं कि आज हम आर्यावर्त के अति सम्मानित राजाओं में से एक हैं। लेकिन मेरे ख्याल से पांचाल में हुआ यह स्वागत द्वारकाधीश का कम व अपने होने वाले "बहादुर जमाता" का ज्यादा नजर आ रहा था।

मुझे भी उद्धव की बात सच ही जान पड़ रही थी। मैं यहां कोई द्वारकाधीश की हैसियत से तो आमंत्रित था नहीं, और आया भी महाराजा का संभावित जमाता बनकर ही था। यह तो ठीक पर इधर जमाता शब्द कान में क्या

पड़ा, मैं अचानक द्रौपदी के ख्यालों में खो गया। कहते हैं कि आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी है। कैसी होगी वह? क्या बात करूंगा उससे? उससे विवाह होगा या नहीं? करना चाहिए या नहीं? कहीं मैं उसके सामने बिल्कुल फीका तो नहीं पड़ जाऊंगा? अरे, यह क्या कह रहे हो...? ''कृष्ण'' और स्त्रियों के सामने फीका पड़ जाए, यह तो हो ही नहीं सकता? वैसे यह सब भविष्य की बातें थी जिसे भविष्य पर छोड़कर हाल-फिलहाल विश्राम करना ही उचित था। सो, कुछ देर यहां-वहां की बातें कर मैं और उद्धव समय से ही सो गए।

...इधर आराम पूरा हुआ न हुआ कि सुबह-ही-सुबह महाराज के साथ दोपहर-भोज का निमंत्रण लेकर स्वयं धृष्टद्युम्न आ पधारा। और आश्चर्यजनक रूप से यह निमंत्रण नितांत व्यक्तिगत था। उद्धव आमंत्रित नहीं था। इससे उसके जाते ही उद्धव को परिहास का एक मौका मिल गया। वह बोला भी- जानते हो कन्हैया! होने वाले जमाता को अकेले कब बुलाया जाता है? जब विवाह की बात पक्की करनी हो। ...और जमाता इतने उत्साह से निमंत्रण कब स्वीकारता है; ...जब वह ''हां'' कहने को उतावला हो रहा हो।

विश्लेषण श्रेष्ठ था। बात सचोट थी। लेकिन मैंने इस समय उसकी बात पर ज्यादा ध्यान देना या कोई उत्तर देना उचित नहीं समझा था। क्योंकि इससे परिहास के व्यंग में बदलने के आसार थे। लेकिन जो मौके की ताड़ में ही बैठा हो, उसको मेरी खामोशी से क्या फर्क पड़ने वाला था? उसे तो जो कहना था, कहना ही था। सो उसने फिर अपना मुंह खोला। वह बोला- वैसे कन्हैया! ठीक से सोचो तो यह मेल कुदरत का ही जमाया मालूम होता है। महाराज को बहादुर जमाई चाहिए जो तुम हो ही। वहीं श्रीमान ठहरे सुंदरता के पुजारी और श्रीमती विश्वसुंदरी।

मैं अब भी चुप ही रहा। चुपचाप भोज पर जाने की तैयारियों में लगा रहा। सच कहूं तो आज उद्धव के रंग-ढंग देखकर उससे उलझना सेहत के लिए ठीक नहीं जान पड़ रहा था। हालांकि उद्धव भी उद्धव था। मेरे द्वारा की जा रही अवहेलना का भी उस पर कोई असर नहीं हो रहा था। वह हाथ लगा यह मौका छोड़ने के पक्ष में बिल्कुल नहीं था। सो, मेरी तरफ से कोई प्रतिक्रिया न पाकर उसने एक धमकी भरी समझाइश दे डाली। बड़ा प्यार जताते हुए बोला- देखो कन्हैया! तुम्हें मुझसे तो अपने दिल की बात कहनी ही होगी। आखिर नाराज रुक्मिणी भाभी को समझाने के लिए मैं ही काम आऊंगा। कहना तो मुझे ही पड़ेगा कि कन्हैया तो इस विवाह के लिए कतई राजी नहीं था, लेकिन क्या करता बेचारा ...आचार्य सांदीपनिजी का हुक्म टाल भी तो नहीं सकता था?

...अबकी मुझे हंसी आ गई। आखिर कब तक चुप रह पाता। उद्धव ने इसे अपनी विजय माना। तो कुछ गलत भी नहीं था, जीत ही तो गया था वह। मेरी प्रतिक्रिया लेकर ही तो माना था। और फिर बात भी उसकी सही थी। यदि ऐसी कोई परिस्थिति आई तो रुक्मिणी को सिर्फ उद्धव ही समझा सकता था। अच्छा यह था कि दारुक को इन सब बातों व व्यंगों से ज्यादा मतलब नहीं था। होगा, अभी तो रुक्मिणी का ख्याल आते ही मैं एकबार फिर चिंतित हो उठा। जाने किस हाल में होगी वह? क्या सोच रही होगी? इस संकट की घड़ी में भी मैं क्यों नहीं आया? ...शायद द्रौपदी के लिए। यदि ऐसा सोच रही हो तो उसका दु:ख स्वयं जनित है। तुच्छ अहंकार का है। मुझे नहीं पहचान पाने का है। अब ऐसे में मैं उसकी क्या मदद कर सकता था? चलो रुक्मिणी तो ठीक है, माना वह अपनी सोच का भोग रही है। पर प्रद्युम्न का क्या? पता नहीं वह मिला भी होगा या नहीं? मालूम नहीं कहां होगा वह? किस हाल में होगा? इस छोटी-सी उम्र में मां से बिछड़ने का गम मुझसे बेहतर कौन जान सकता था? वैसे मुझे तो ठीक, मांओं की मां यशोदा मिल गई थी; पर उसको कौन पालेगा? ...बस यही सब सोचते-सोचते अचानक उदासी ने चारों ओर से मुझे घेर लिया। मेरा मन कमजोर होने लगा। तुरंत मैंने स्वयं को जगाया।द्रष्टा में स्थिर हुआ। अरे कृष्ण! तुम कहां मोह-माया में पांसे जा रहे हो? जब रुक्मिणी के गम से छुटकारा पा लिया, तो पुत्र के गम से छुटकारा पाने में क्या देर...? सचमुच मोह-माया में पांसकर एक क्षण को मैं कितना कमजोर हो गया था, हालांकि द्रष्टा में स्थित होते ही मैं तत्क्षण सम्भल भी गया। अरे, जैसे मैंने तमाम विकट परिस्थितियों के बावजूद स्वयं को अपने कर्मों से बनाया है, वैसे ही प्रद्युमन भी अपने को बनाएगा। ...और यही उसका उसके प्रति कर्तव्य है। और फिर मुझे तो इस समय अपने कर्तव्य-कर्मों को निभाना है। और हर प्रकार का ''मोह'' कर्तव्य-कर्मों में बाधक होता ही है। अत: मैं सारी मोह-माया भूलकर तटस्थ हो गया।

...अब मैं दोपहर-भोज के लिए पूरी तरह तैयार था। इंतजार था तो राजमहल से बुलावे का। वह भी ज्यादा नहीं करना पड़ा, धृष्टद्युम्न नियत समय पर ही आ गया। मैं तो तैयार ही था, झट से उसके साथ चल दिया। हालांकि जाते वक्त उद्धव बोला तो कुछ भी नहीं, शायद धृष्टद्युम्न की उपस्थिति ने उसे खामोश कर दिया था; ...लेकिन बिदाई उसने बड़ी ही व्यंगात्मक मुस्कुराहट के साथ ही दी। अब इतना तो चलता है। इधर राजमहल के गलियारों में भी चलते-चलते मैं धृष्टद्युम्न की सुंदरता को ही निहार रहा था। उसकी ऊंचाई मुझसे कहीं ज्यादा थी। रंग तो एकदम गोरा था। चेहरा भी अति आकर्षक था। सच कहूं तो मैंने इससे सुंदर नवयुवक अपने जीवन में अभी तक नहीं देखा

था। स्वाभाविक तौर पर उसकी सुंदरता देखते ही मन एकबार फिर द्रौपदी के विचारों में खो गया। जिसका भाई इतना सुंदर है, वह खुद कितनी सुंदर होगी? शायद मेरी तो आंखें ही चौंधिया जाएगी। अब मैं आपसे क्या कहूं...? बैठे-बिठाए द्रौपदी की हजारों तस्वीरें मेरी आंखों के सामने नाचने लगी।

माजरा यह हुआ कि द्रौपदी के ख्यालों में खोया हुआ मैं कब महाराज के समक्ष पहुंच गया, होश ही न रहा। लेकिन यह क्या...? मैं भोजन-कक्ष की जगह महल के दक्षिण में स्थित एक सुंदर व विशाल उद्यान के आम्रकुंज में ले जाया गया था। इतना बड़ा व सुंदर उपवन मैंने आज तक किसी राजमहल में नहीं देखा था। ...तो मैंने राजमहल ही कितने देखे थे? बस जबरदस्ती लाड़ दिया था। सो छोड़ो, उपवन की बात करूं तो उपवन में एक बड़ा व दो छोटे जलकुंड दूर से ही नजर आ रहे थे। वहीं पानी के कई छोटे-मोटे कुंड भी हर जगह नजर आ रहे थे, जो ना सिर्फ फूलों से भरे थे बल्कि उसके आसपास तरह-तरह के पक्षी भी मंडरा रहे थे। तरह-तरह के विशालकाय पेड़ों से घिरा यह उपवन प्रथम-दृष्टि में ही किसी को भी लुभाने में समर्थ था। वहीं सुरक्षा की बात करूं तो दस-बारह यहां-वहां घूमते सिपाही भी नजर आ रहे थे। खैर, अभी तो महाराजा द्रुपद, महामंत्री उद्धाष के साथ वहां उपवन के मध्य में बनी एक विशाल बैठक में पहले से ही विराजमान थे। मुझे देखते ही महाराज व महामंत्री ने खड़े होकर मेरा अभिवादन किया व सम्मान पूर्वक मुझे विराजने के लिए कहा। मेरे व धृष्टद्युम्न के बैठते ही महामंत्री उठकर चल दिए। मैं समझ गया कि बातें नितांत व्यक्तिगत स्तर पर होनी है। ...कुछ ही देर में कुछ सुंदरियां मय के आकर्षक कुंभों के साथ निकली और स्वर्ण चषकों में मय उलेड़ने लगी। जब मेरी ओर चषक बढ़ाया तो मैंने बड़ी विनम्रता से कहा- मुझे वैसे भी इसकी कोई खास आदत नहीं, इसलिए दिन के वक्त लेना मेरे लिए बिल्कुल असंभव है। हां, यदि मेरे भैया होते तो वे आपका साथ अंत तक देते।

...तब तो मुझे उन्हें ही बुलाना चाहिए था - बड़े उदास स्वर में द्रुपद के मुख से निकल गया।

धृष्टद्युम्न को महाराज की यह बात ठीक नहीं लगी। महाराज भी समझ गए कि उनसे गलती हुई। उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए था। उन्होंने तुरंत क्षमा मांगते हुए कहा- पता नहीं आजकल मुझे क्या हो गया है? कहना कुछ चाहता हूँ और मुंह से निकल कुछ जाता है।

मैं उनकी लाचारी समझ रहा था। वे शीघ्रातिशीघ्र द्रोण व अर्जुन को अपने कदमों में पड़ा देखना चाहते थे। दरसअल प्रतिशोध की आग ने उन्हें पागल कर दिया था। अत: मैंने उनकी बात का बुरा भी नहीं माना, बस मुस्कुरा भर दिया। हालांकि मैं जानता हूँ कि जो मुंह से अचानक निकल जाता है, वही उसके हृदय की बात होती है। क्योंकि सोच-समझकर बोलने में तो मस्तिष्क का उपयोग होता है। और मस्तिष्क भीतर की बात को छिपाकर बाहर कुछ और प्रकट करने में माहिर होता है। और फिर मुझे यह सब क्या समझाना, मैंने तो अनेकों बार इस कला का उपयोग किया है। क्योंकि किसी से सीधे-सीधे पूछने पर वह थोड़े ही कहता है कि मुझे आप पर क्रोध है। वह तो हमेशा हंसते हुए प्रेम का इजहार ही करता है। किसी के भीतर छिपे भाव को उजागर करने के लिए उसके मस्तिष्क को कुछ क्षण के लिए रोकना जरूरी है। और मस्तिष्क को रोकने के लिए उसे उकसाना आवश्यक है। उसे इतना उकसा दो कि अचानक स्फूर्त-वाणी उसके मुख से निकल पड़े। और वही उसकी वास्तविक मनोदशा होती है। कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि द्रुपद ने भले ही अपने मुख से निकले शब्दों के लिए क्षमा मांगी हो, परंतु जो अचानक मुख से निकला वही द्रुपद की वास्तविक मनोदशा थी। और सच ही तो है, इस समय द्रुपद को द्वारकाधीश की नहीं, उनके प्रतिशोध में साथ देने वाले की आवश्यकता थी। और इसमें गलत भी क्या था, यह अपनी-अपनी जरूरत की बात थी।

खैर! बातें करते-करते ही उन्होंने एक के बाद एक कई चषक भीतर उलेड़ दिए। कई बार मेरी ओर देखा भी...! स्पष्ट था, कुछ कहना चाह रहे हैं, पर कहने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। लेकिन अक्सर मदिरा की अधिकता आवश्यक साहस पैदा करने में सहायक होती है। ...आखिर उन्होंने भी बात कहने का साहस जुटा ही लिया। उन्होंने बड़ी संजीदगी से पूछा- आपको सांदीपनिजी द्वारा भेजा गया मेरा संदेश तो मिल ही गया होगा।

मैंने हामी में सिर्फ सिर हिलाया। मैं पूरी तरह से सावधान था।संतुलन बनाए रखना आवश्यक था। छोटी-सी चूक गलत निष्कर्ष पर पहुंचा सकती थी। मुझे सिर्फ सिर हिलाकर इस तरह खामोश होते देख महाराजा द्रुपद ने बात को फिर आगे बढ़ाया - ...तो फिर आपने द्रौपदी से विवाह के संबंध में क्या सोचा है?

यह तो द्रुपद ने बड़ा ही सीधा सवाल दाग दिया। अब इसका घुमाकर उत्तर कैसे दिया जाए? फिर भी मैं... मैं था। उत्तर में सवाल करना ऐसे सीधे सवाल से बचने का एकमात्र उपाय होता है। वही मैंने किया। मैंने कहा- आप जानते हैं कि मैं विवाहित हूँ। फिर भी आप मुझपर ही यह कृपा क्यों करना चाहते हैं?

द्रुपद बोले- क्योंकि एक आप ही हैं जो द्रोण व अर्जुन से मेरे अपमान का बदला ले सकते हैं।

लो; यह तो एकदम सीधी बात पर उतारू हैं। कोई बात नहीं। मैंने फिर बात सम्भालते हुए कहा- महाराज!

शायद आप नहीं जानते कि पांडव लाक्षागृह में जल मरे हैं। अर्जुन को अपने किए की सजा मिल चुकी है। और आज नहीं तो कल द्रोण को भी अपनी करनी की सजा कुदरत दे ही देगी। व्यर्थ आप क्यों प्रतिशोध का पाप अपने सिर पर लेना चाहते हैं?

लेकिन प्रतिशोध की आग अन्य क्रोध से भिन्न व गहरी होती है। मैंने देखा, अर्जुन की मृत्यु का समाचार सुनकर भी महाराज खुश नहीं हुए। बल्कि एक गहरी उदासी के बाद वे बोले- यह तो बहुत बुरा हुआ। उसे तो मेरे हाथों मरना था। कोई बात नहीं, लेकिन उसके गुरु को सजा मैं खुद दूंगा। वह भी आपकी सहायता से, आपको जमाता बनाकर।

मैंने कहा- अर्थात् मुझे द्रौपदी के साथ-साथ आपके प्रतिशोध को भी स्वीकारना होगा?

द्रुपद बोले- बिल्कुल।

द्रुपद तो एकदम स्पष्ट बातें कर रहे थे। बात टालने का या घुमाने का कोई मौका ही नहीं दे रहे थे। लेकिन मुझे तो अपनी ओर से बात घुमाने के प्रयास करने ही थे। बात किसी निष्कर्ष पर पहुंचने ही नहीं देनी थी। उधर धृष्टद्युम्न भी अपने पिता की ऐसी दो-टूक बात सुन चौंक गया था। यानी मुझे तो छोड़ो, शायद उसे भी द्रुपद से ऐसी स्पष्ट बातों की उम्मीद नहीं थी। अब उम्मीद हो या नहीं, अभी तो वे सीधी व स्पष्ट बातों पर ही उतारू थे। अत: मैंने फिर बात टालने के प्रयासरूप कहा- आप अपनी प्रतिशोध की अग्नि में अपनी पुत्री तक के भविष्य को दांव पर लगाने के लिए तैयार हो गए हैं। लेकिन क्या आपने कभी इस बारे में द्रौपदी से पूछा है?

द्रुपद बोले- अवश्य! आप क्या समझ रहे हैं कि इतना बड़ा निर्णय मैं उससे पूछे बगैर ही ले रहा हूँ? वह महाराजा द्रुपद की पुत्री है, द्रोण व अर्जुन से प्रतिशोध लेने के लिए वह मुझसे भी ज्यादा लालायित है। क्योंकि वह अपने पिता का अपमान सहन नहीं कर पा रही है।

लो, कर लो बात। अब क्या कहूं? बाप-बेटी दोनों एक ही नाव पे सवार हैं। ऊपर से द्रुपद सीधी व सपाट बात करने पर उतारू हैं। और अभी स्पष्ट "हां" या "ना" कहने का यह समय नहीं। बड़े होशियार बनते हो न कृष्ण, अब महाराज को घुमाओ? लो अभी घुमाये देते हैं। बस मैंने तपाक से बात का रुख मोड़ते हुए कहा- आप पितामह जैसे किसी व्यक्ति को मध्यस्थ बनाकर चर्चा क्यों नहीं करते?

यह सुनते ही द्रुपद भड़क उठे- मेरे और द्रोण के बीच में वह क्या मध्यस्थता करेगा? वह आज तक कौरवों व पांडवों के बीच तो मध्यस्थता कर नहीं पाया।

उनकी बात तो सोलह आना सच थी। मैं पूरी तरह चुप हो गया। इसका कोई उत्तर हो ही नहीं सकता था। और तत्काल किसी नए सवाल की गुंजाइश नहीं थी। सो मैंने खामोश रहना ही उचित समझा। मुझे इस कदर खामोश देखकर अबकी द्रुपद झुंझलाते हुए बोले- आप इधर-उधर की बातें छोड़कर मेरे प्रस्ताव पर अपना निर्णय बताने की कृपा क्यों नहीं करते?

यह तो द्रुपद ने मुझे और भी बड़ी दुविधा में डाल दिया। मैं तुरंत "हां" कहने की स्थिति में बिल्कुल नहीं था, और "ना" कहकर द्रुपद की आशाओं पर पानी फेरना भी नहीं चाहता था। क्योंकि "हां" कहने का अर्थ था अर्जुन व द्रोण से युद्ध, यानी व्यर्थ की हिंसा; और ना कहने का मतलब था द्रौपदी के विवाह की संभावना का द्वार किसी अन्य राजा के लिए खोलना। ...और उसका भी अंतिम परिणाम तो युद्ध ही होगा। होने को तो यह भी हो सकता था कि महाराजा द्रुपद प्रतिशोध की आग में इतना गिर जाए कि अपने से बड़ी उम्र के जरासंध जैसे दुष्ट से द्रौपदी का विवाह करवा बैठें। सच कहूं तो महाराज की वर्तमान हालत देखते हुए इस संभावना से इन्कार भी नहीं किया जा सकता था। बल्कि सच कहूं तो मुझे तो यही संभावना ज्यादा नजर आ रही थी। और यदि जरासंध ने द्रोण पर हमला किया तो पांडवों और कौरवों समेत पूरा हस्तिनापुर द्रोण के साथ खड़ा होगा। अर्थात् फिर तो वह महायुद्ध हो जाएगा। और महायुद्ध का अर्थ है, हजारों बेगुनाह सैनिकों की मौत। लाखों मनुष्यों का जीवन बर्बाद। नहीं ...नहीं, ऐसा तो कतई नहीं होने दिया जा सकता।

कुल-मिलाकर मामला सचमुच पेचीदा स्वरूप धारण कर चुका था। द्रुपद प्रतिशोध लिए बगैर मानेंगे नहीं, वहीं दूसरी ओर बेटी... बाप से भी दो-कदम आगे जान पड़ रही थी। यानी 'एक तो करेला, ऊपर से नीम चढ़ा'। और इसमें भी कोई दो राय नहीं थी कि ऐसी सुंदरी से विवाह करने के लिए कोई भी द्रोण से प्रतिशोध लेने को राजी हो जाएगा। यानी युद्ध तो होकर रहेगा। और निश्चित ही इस समय मेरी एकमात्र प्राथमिकता युद्ध टालने की थी। मनुष्यजीवन को इस व्यर्थ के विनाश से बचाने की थी। लेकिन मामला ऐसा उलझा पड़ा था कि "हां" कहने पर प्रतिशोध मुझे लेना था, व "ना" कहने पर किसी और को। अर्थात् सौ बातों की एक बात यह थी कि बात को उलझाये रखना व द्रुपद को उल्टे रास्ते लगाना ही युद्ध टालने का एकमात्र उपाय था। और उसके लिए बातचीत जारी रहना

जरूरी था, बात पर पूर्णविराम कतई नहीं लगाया जा सकता था। अत: एकबार फिर बात को टालने के हिसाब से मैंने कहा- ठीक है, तो एकबार मैं द्रौपदी से मिल लेता हूँ। उसके विचार भी जानना आवश्यक है। उसे भी पता होना चाहिए कि उसे अपना जीवन किस व्यक्ति के साथ और किन परिस्थितियों में गुजारना है? ...मेरी यह बात सुनते ही द्रुपद के चेहरे पर कुछ राहत महसूस करने के भाव अवश्य उभरे। बस मैंने भी उन्हें आश्वस्त करने और बात टालने के उद्देश्य से कह दिया- आप फिक्र न करें महाराज! मैं और द्रौपदी मिलकर उचित निर्णय ले लेंगे। अब आप पूर्णत: निश्चिंत हो सकते हैं।

महाराज मेरी बात से सहमत नजर आए। मैंने भी चैन की सांस ली कि चलो इसी बहाने बात कुछ दिनों के लिए तो टली। भले ही द्रुपद को कोई चक्कर में नहीं डाल पाया, शायद द्रौपदी को उलझा पाऊं? वह थोड़े ही अपने पिता की तरह पक्की होगी? अब द्रौपदी से मुलाकात भी कौन-सी दूर थी।दो दिन बाद ही द्रौपदी से मुलाकात करना तय हुआ था। सो भोजन वगैरह कर, महाराज से इजाजत लेकर व किसी तरह अपनी जान छुड़ाकर मैं वहां से भाग खड़ा हुआ।

वाकई बड़ी मानसिक मशक्कत करवाई थी द्रुपद ने। यह तो मैं ही था जो बात उलझाकर निकल आने में सफल हो पाया था। हालांकि लौट आने पर भी मानस तो वहीं उलझा हुआ था। युद्ध हरहाल में टालना था, पर टालने का कोई उपाय नहीं दिख रहा था। अब आगे का पूरा दारोमदार द्रौपदी को घुमा पाने पर ही निर्भर था। लेकिन प्रमुख चिंतनीय विषय यह था कि जब द्रुपद के आगे नहीं चली, तो सुंदरता के सामने कैसे चलेगी? सुंदरता तो मेरी स्वभावगत कमजोरी थी। वैसे मौका आने दो, उससे भी निपट लिया जाएगा।

खैर! इधर मेरे मन में यह सब चल रहा था तो उधर उद्धव महाराज मेरे हावभावों से द्रौपदी से मुलाकात कैसी रही, इसका अंदाजा लगाने में लगे हुए थे। होगा, मैंने भी चिंतन को लगाम दे कुछ देर उससे बतियाने में ही अपनी भलाई समझी। इधर उद्धव ने द्रौपदी व पांडव से निकलकर चिंतन की दिशा द्वारका की ओर मोड़ दी। बात भी सही थी, वहां से बहुत दिनों से कोई समाचार नहीं था। अच्छा ही था, मुझे भी वहां के किसी समाचार की कोई विशेष प्रतीक्षा नहीं थी। अन्यथा गुप्तचर तो भेज ही दिया था, वह जब खबर लाएगा, सुन ली जाएगी। वरना एक मैं नहीं तो क्या, वहां पूरी द्वारका है। मैं व्यर्थ क्यों चिंता कर दुबला होऊं? अभी जो सर पे आ पड़ी है, पहले उससे तो निपटूं। बस यही सब सोचकर रात्रि होते-होते मैंने वापस अपना पूरा ध्यान द्रौपदी से होने वाली मुलाकात पर केन्द्रित कर दिया। ...यहां आपसे स्पष्ट कर दूं कि मैं बने वहां तक हमेशा एकाग्र रहना पसंद करता था। अक्सर जहां मेरा शरीर होता था, वहीं मेरा मन होता था। मनुष्य का मन चाहे तो एकबार में हजारों स्थान पर हो सकता है, परंतु शरीर एक समय में एक ही स्थान पर रह सकता है। यही मनुष्य के शरीर की सीमा है। और मैं हमेशा मन वहीं रखता था जहां मेरा शरीर होता था। और मेरा शरीर वहीं होता था, जहां उसे उस समय होना चाहिएथा। अत: इस समय मेरा शरीर ही नहीं, मन भी पूरी तरह ''पांचाल'' में ही था। और चिंतन आर्यावर्त पर मंडरा रहे युद्ध के बादल छांटने में लगा हुआ था। ऐसे में व्यर्थ द्वारका की चिंता कर स्वयं को विभाजित करने का सवाल ही नहीं उठता था।

खैर! एक तो लगातार की गई यात्रा की थकान, ऊपर से यहां झेलनी पड़ रही मानसिक थकान, दो दिन कहां बीत गए कुछ पता ही न चला। कहने को ये दो दिन शरीर ने पूरा आराम किया था, लेकिन शायद चिंतन में उलझे मन के कारण समय का पता नहीं चला था। होगा, आज द्रौपदी से मुलाकात का समय मुकर्रर था। उधर द्रौपदी से मुलाकात को लेकर उद्धव मुझसे कहीं ज्यादा उत्साहित नजर आ रहा था। वैसे उसके उत्साह के पीछे एक ही कारण था। घूम-फिरकर उसे मुझपर व्यंग कसने का मौका मिल रहा था। वहीं, इधर मैं उसकी अवहेलना कर स्वयं को द्रौपदी से होने वाली मुलाकात के लिए मानसिक रूप से तैयार करने में लगा हुआ था। साथ ही मेरा ध्यान सजने-धजने में भी लगा ही हुआ था। मैं सुबह से ही एक वस्त्र निकालता तो दूसरा अंदर रखता। एक गहना पहनता तो दूसरा निकालता। बस उद्धव के कटाक्ष सुनते-सुनते यह सब कार्य करने में भी लगा हुआ था। अब जिसे विश्वसुंदरी कहते हों उससे मिलने का उत्साह तो बना ही रहना था। और-तो-और, अंत में तो मैं अपनी स्वाभाविक पसंदीदा वेशभूषा, जैसे सिर पर मोर-मुकुट, पीतांबर, घुटनों तक लहराता स्वर्णिम कुर्ता, गुंजों की माला व हाथ में सुदर्शन-चक्र और वंशी के साथ सज्ज होकर ही तैयार हुआ था।

इधर मुझे अपनी स्वाभाविक वेशभूषा में इस कदर सावधानीपूर्वक तैयार हुआ देखकर उद्धव को परिहास का एक मौका और मिल गया। कोई बात नहीं, यह तो सुबह से चल रहा था। वह अपने कर्म में लगा हुआ था, मैं अपने। मजे दारुक के थे; जिसे सिर्फ तमाशा देखना था। ...अब ऐसा भी नहीं था कि मैं विश्व सुंदरी से मिलने जा रहा था, इसलिए विशेष रूप से सजधज कर तैयार हुआ था। सत्य यह भी था कि अच्छे से तैयार होना मुझे अन्यथा भी पसंद था। हां, आज कुछ विशेष रूप से तैयार अवश्य हुआ था। अब इतना तो चलता ही है। लेकिन इस समय उद्धव

को सफाई देना दो-चार और व्यंगों को न्यौता देने के समान था। वैसे मेरी एक और विशेषता थी, और लगे हाथों उसका भी मैं आज आप से जिक्र कर ही दूं। बाहर लाख उपद्रव क्यों न चल रहा हो, मेरे भीतर एक गजब की शांति हमेशा बनी ही रहती थी। भीतर वंशी की एक मधुर धुन बजती ही रहती थी। और मेरे इसी गुण के कारण मेरे व्यक्तित्व में एक चुंबकीय आकर्षण बना ही रहता था। खासकर स्त्रियों को इस वजह से मैं बड़ा आकर्षक मालूम होता था। यह बात मैं आज इसलिए कह रहा हूँ कि शायद आज विश्वसुंदरी से मुलाकात के बाद कहीं यह मेरी गलतफहमी ही साबित न हो जाए? कहीं ऐसा न हो कि मैं अपनी तारीफ करने के इस मौके से ही वंचित रह जाऊं?

...छोड़ो इन व्यर्थ की बातों में क्या रखा है। आज तो दो परम आकर्षणों की टकराहट थी। एक ऐतिहासिक मुलाकात थी। कौन किसको अपने आकर्षण के जाल में कितना पांसा पाता है और कितना पांसता है, यह खेल देखने में मेरे द्रष्टा को भी मजा आने ही वाला था। सो, यहां-वहां की बात करने की बजाय चर्चा उसकी ही की जाए। अब यहां उत्साह के चलते तैयार तो कबका हो चुका था, बस यूं ही मारे इन्तजार के कक्ष में यहां-से-वहां चक्कर लगा रहा था। हालांकि यहां यह स्पष्ट कर दूं कि टहलना यूं भी मेरी आदत थी। मैं ज्यादा देर एक स्थान पर बैठ ही नहीं सकता था। अत: इन्तजार नहीं भी कर रहा होता तो भी फालतू बैठने की बजाय चक्कर ही लगा रहा होता। और उद्धव भी यह बात अच्छे से जानता ही था। लेकिन आज उससे क्या होना था, आज तो माहौल भी था व इरादा भी। बस उसे इस पर भी परिहास सूझा। वह मुझे चक्कर लगाता हुआ देख थोड़ा इतराता हुआ बोला- दुल्हे राजा! ऐसी भी क्या बेकरारी? थोड़ा सब्र कीजिए, बुलावा आ ही रहा होगा। ...अब मैं तो इन सब बातों के लिए तैयार ही था। सो, उसकी बात सुनी-अनसुनी कर अपना टहलना जारी रखा। अब तैयार होने के बाद इन्सान टहल रहा है, तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वह इन्तजार में दुबला हुआ जा रहा है? ...बात करता है...

खैर! उधर दोपहर होते-होते धृष्टद्युम्न मुझे लेने आ गया। मैं तो तैयार ही था और यूं भी उद्धव से जान छुड़ाना चाहता ही था, तुरंत उसके साथ हो लिया। इस समय महल के गलियारों से गुजरते हुए मैं छप-छप कर धृष्टद्युम्न के साथ बढ़ा जा रहा था। पीछे चार सिपाही भी चले आ रहे थे। अब महल के महल में तो जाना था, समय क्या लगना था? फिर भी इन चन्द क्षणों में मेरे मन में हजारों तूफान उठे व थमे। और तब तक हम द्रौपदी के कक्ष के बाहर भी पहुंच चुके थे। उधर धृष्टद्युम्न ने मुझे द्रौपदी के कक्ष के बाहर छोड़ा व भीतर जाने का इशारा कर चलता बना। यानी अपनी ओर से उसने मुझे पहले ही एकान्त बख्श दिया। मैंने भी पूरे उत्साह से व बड़ी शान से खटखटाते हुए आर्यावर्त की ''सर्वश्रेष्ठ-सुंदरी'' के कक्ष में प्रवेश किया। पूरा कक्ष धूप व इत्तर की खुशबू से महक रहा था। द्रौपदी अपनी सेविकाओं के साथ मेरी ही प्रतीक्षा कर रही थी। अरुणाभ रेशमी वस्त्रों से सुसज्जित उसकी काया खिलती सूर्यास्त की किरणों की भांति प्रकाशमान थी। उसे देखते ही मेरे मन पर उसके सौंदर्य और शरीरयष्टि का प्रथम दबाव ही बड़ा गहरा पड़ा। पहला ख्याल ही यह आया कि स्त्री इससे ज्यादा सुंदर हो ही नहीं सकती। द्रौपदी, मेरी हजार कल्पनाओं से भी हजारों गुना सुंदर थी। हां, उसका रंग अपने भाई जितना गोरा नहीं था। ...चुप कर। सांवला तो तू भी है... तो क्या...? मैं कितना मनमोहक हूँ, नहीं जानते क्या? बस सौंदर्य की पराकाष्ठा देख मन-ही-मन बड़बड़ाने लग गया था।

...अजब दृश्य था। मैं अब भी दरवाजे के पास खड़ा-खड़ा उसे निहार रहा था। आगे का कुछ भी संपट बैठना बंद हो गया था। उधर द्रौपदी आरामप्रिय बैठक में बैठी हुई थी। कुल जमा चार सेविकाएं उसकी सेवा में हाजिर थीं। दो उसे पंखा झल रही थी व दो उसके किसी अन्य हुक्म का इन्तजार कर रही थी। और द्रौपदी की कहूं तो उस बाबत कुछ जानने के लिए उसे गौर से देखना तो आवश्यक था। बस कुछ होश आते ही ऊपर से नीचे तक उसे टटोलना प्रारंभ कर दिया। उसकी आंखें, उसके होंठ, उसके बाल, उसकी नाक, उसका अंग-अंग, सर्वश्रेष्ठ था। उसका कोई भी एक अंग उसे विश्वसुंदरी बनाने के लिए पर्याप्त था। द्रौपदी आज के समय की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी तो जान पड़ ही रही थी, पर मैं दावे से कह सकता हूँ कि ऐसा सौंदर्य हजारों वर्षों में कभी-कभार प्रकट होता होगा। ऐसा अद्‌भुत सौंदर्य देख मुझ सौंदर्य-प्रेमी के तो होश ही उड़ गए थे। यह तो द्रौपदी ने खराश की आवाज की, तब कहीं जाकर मैं वापस होश में आया। होश में आते ही कह सकता हूँ कि पहली बार मैंने उसे ध्यान से देखा। वह मेरी तरफ देखकर मुस्कुरा रही थी। अब पता नहीं वह मुझे देखकर मुस्कुरा रही थी ...या मेरी हालत पर मुस्कुरा रही थी। चाहे जो हो, जवाब में मैंने भी मुस्कुराहट बिखेर दी। लेकिन उसकी मुस्कुराहट के सामने मेरी मुस्कुराहट एकदम फीकी पड़ गई थी। ...हालांकि उसकी मुस्कुराहट में एक गुमान छिपा साफ नजर आ रहा था। पता नहीं, यह गर्व अपने सौंदर्य का था या मुझ जैसों के होश उड़ाने का? हालांकि अभी हमारी औपचारिक मुलाकात हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। न बातचीत हुई थी न पहचान। यदि हम दोनों के बीच कोई संवाद हुआ था तो वह मुस्कुराहटों का ही हुआ था। एक तरीके से तो मुस्कुराहटों के आदान-प्रदान मात्र से ही उसने मेरे आकर्षक व्यक्तित्व के अहंकार का पूरा नशा चकनाचूर कर दिया

था।

...कृष्ण की यह दुर्गति। नहीं...नहीं! यह बर्दाश्त किया ही नहीं जा सकता। इससे पहले कि बाजी पूरी तरह हाथ से निकल जाए या जमाने भर की किरकिरी हो जाए, कुछ सम्भलो कृष्ण-महाराज। जागो मोहन प्यारे! अपने मोहरूपी अहंकार को दूर करो। द्रष्टा को मजबूत करो। यह तो तुम द्रौपदी के आकर्षण में खोये जा रहे हो। अपने हाथों अपने व्यक्तित्व का मजाक उड़वा रहे हो? अपने मन, बुद्धि व हृदय की कमान द्रष्टा को सौंपो। जल्दी कुछ करो... वरना काम से भी जाओगे और नाम से भी। हालांकि साधारण परिस्थिति होती तो मैं अपने अहंकार, मन या बुद्धि पर नियंत्रण कभी नहीं करता। उन्हें द्रौपदी जैसी सुंदरी के आकर्षण में खो जाने की पूरी छूट देता। फजीहत हो जाती तो हो जाने देता। लेकिन इस समय तो मैं अपने परम कर्तव्य ''सर्व हिताय-सर्वसुखाय'' से बंधा हुआ था। अभी मुझे कौरवों व पांडवों के बीच समाधान खोजना था। द्रुपद व द्रोण के बीच का संभावित युद्ध टालना था। ऐसे में यह कोई द्रौपदी की सुंदरता के आकर्षण में खोने का उचित समय थोड़े ही था? ...बस पलभर में ही मैंने स्वयं को पूरी तरह सम्भाल लिया। अब मेरे व्यक्तित्व की पूरी कमान मेरे द्रष्टा के हाथ में थी। मेरा मन, मेरा अहंकार सब शून्य हो चुका था। क्षणभर में मैं पूरी तरह प्रकृतिस्थ हो चुका था। अब द्रौपदी की सुंदरता के तीरों से कोई खतरा न था। चाहे जितनी अदाएं दिखाए, चाहे जितने तीर चला ले। ...सब बेकार। मेरी कमान मेरे द्रष्टा ने क्या सम्भाली, मेरी मुस्कुराहट का जादू पूरे कक्ष पर छा गया। अब मेरी मुस्कुराहट, मेरा व्यक्तित्व द्रौपदी से कहीं कमजोर नहीं पड़ रहा था। बेकार ही अहंकार के वश में आकर अपनी साख कमजोर कर रहा था।

खैर! अब मेरा पूरा ध्यान युद्ध टालने पर लगा हुआ था। द्रुपद को तो नहीं उलझा पाया था, पर द्रौपदी को तो उलझाना ही पड़े, ऐसा था। और इस हेतु मुझे सुंदरता की इस देवी रूपी रस्सी पर एक नट की तरह चलना था। क्योंकि न तो जल्दबाजी में इससे विवाह करने का निर्णय लिया जा सकता था, और इन्कार...वह तो किया ही नहीं जा सकता था। उससे तो द्रुपद के ''द्वार'' दूसरों के लिए तत्क्षण खुल जाएंगे। उस सूरत में तो वे जरासंध जैसा कोई भी विकल्प चुन लेंगे। और द्रौपदी की सुंदरता उनके प्रतिशोध की आग ठंडी करने हेतु ...किसी को, किसी भी स्तर की हिंसा करवाने में सक्षम नजर आ ही रही थी। और यही मैं नहीं चाहता था। व्यर्थ की हिंसा टालने के उद्देश्य से ही तो मैं यहां आया हुआ था। अजब हालत थी मेरी। एक तरफ द्रौपदी की सुंदरता के चलते मन में वैसे ही संघर्ष चल रहा था, तो दूसरी तरफ पूरे आर्यावर्त की राजनीति सर पे सवार होकर खड़ी थी।

...हालांकि इस उधेडबुन के बावजूद मैं स्वतः ही कक्ष के काफी भीतर व द्रौपदी के कुछ निकट जाकर खड़ा अवश्य हो गया था। उधर मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान थमते ही द्रौपदी भी अपने स्थान से उठ खड़ी हुई थी। और इससे पहले कि मैं कुछ समझूं, स्वर्ण थाल में जल रहे दीपकों से मेरी आरती उतारकर उसने मेरा स्वागत किया। वह भी इस अदा से आंखों में झांककर कि किसी को भी घायल कर दे। यह तो अच्छा था जो सही समय पर मैंने द्रष्टा को कमान सौंप दी थी, वरना शायद यहीं उसके चरणों में ढेर हो गया होता। लेकिन अब उसकी सुंदर अदाओं में वह जादू कहां बचा था जो मेरे स्थिर-द्रष्टा को हिला सके? पर यह तो मेरे मन की बात थी। उसकी ओर से बात कहां थमी थी? यहां तो आरती पूर्ण होते ही मुझपर इत्तर छिड़का गया। तत्पश्चात् एक सेविका ने चंदन का थाल द्रौपदी के सामने बढ़ाया और दूसरी सेविका ने उसके हाथ में एक हार थमाया। मैंने सहयोग करने की भावना से टीका लगाने हेतु अपना कपाल आगे बढ़ाया, लेकिन द्रौपदी ने मुझे न तो चंदन का टीका लगाया ...ना हार ही पहनाया। उल्टा वह हार वापस सेविका को देते हुए बोली- अभी नहीं। हार पहनाने का अभी समय नहीं आया है।

उसके मुख से निकला यह पहला शब्द था, और वह भी इतना करारा कि मैं तो पूरी तरह अवाक् रह गया। उसकी वाणी जितनी मधुर थी, उसका व्यंग उतना ही सटीक था। उसके अंदाज से ही स्पष्ट था कि वह श्रेष्ठ सुंदरी ही नहीं, मधुर वाणी व तेज बुद्धि की भी मालकिन है। मैंने तो मारे झेंप के आगे बढ़ाया हुआ कपाल व हार पहनने को बेताब हो रही गर्दन दोनों को अपनी यथास्थिति पर ला दिया। तौबा...तौबा; यह तो द्रष्टा को भी झुका गई। एक बात तय थी कि कुदरत ने द्रौपदी को पुरुष को घायल करने के और उसे गुलाम बनाने के सभी हथियारों से नवाजा था। शायद इस समय मेरा द्रष्टा मजबूत न होता तो मुझे भी कबका अपना दीवाना बना चुकी होती। होगा, अभी तो उसने इशारे से मुझे सामने ही एक भव्य सिंहासन पर बैठने का निवेदन किया। जैसे दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंक कर पीता है, वैसे ही तिलक लगाने व हार पहनाने के भुलावे से ठगा गया मैं बड़ा सम्भल कर सिंहासन पर बैठा। मेरे बैठते ही उसने ऊपर से नीचे तक मुझे टटोला। ऐसे, जैसे मैं यहां कोई परीक्षा देने आया होऊं। तत्पश्चात् एक प्यारी-सी मुस्कान बिखेरते हुए बोली-मैंने आपके बारे में जैसा सुना था, वैसा ही पाया।

...इतना कहकर वह खिल-खिलाकर ऐसे मौन हो गई, जैसे कोई नागिन डंसकर उलट जाए। हालांकि अब तक मैं भी काफी कुछ सम्भल चुका था। उसके सौंदर्य के मोह से पूरी तरह बाहर आ चुका था। तत्क्षण मैंने पलटवार

करते हुए कहा- यही बात मैं आपके संबंध में भी कह सकता हूँ।

यह सुनकर कुछ देर तो वह मुस्कुराती रही, फिर मुझे निहारते हुए बोली- जैसा सुना था... आप झूठ बोलना अच्छे से जानते हैं। निश्चित ही आपने मुझे जैसा सुना था, उससे कहीं बेहतर पायाहोगा।

मैं तो यह सुनते ही दंग रह गया। इतना अहंकार..., अच्छा नहीं। हालांकि मौके की नजाकतता को देखते हुए कहा तो कुछ नहीं, खामोश ही रहा। लेकिन बात कुछ जमी नहीं। इधर अचानक उसे क्या सूझी कि करतल ध्वनि से उसने अपनी सेविकाओं को चले जाने का आदेश दिया। और उनके जाते ही वह ठीक मेरे सामने स्थित उसके आरामप्रिय आसन पर अर्ध लेटी मुद्रा में बैठ गई। अब हम दोनों उस विशाल कक्ष में अकेले थे। कुछ देर के लिए कक्ष में फिर खामोशी छा गई। बस एक-दूसरे को निहारने व मुस्कुराहटों के आदान-प्रदान से काम चला रहे थे। आखिर खामोशी मैंने ही तोड़ी। ऐसे ही कहने के लिए कह दिया - आपने सेविकाओं को हटाकर अच्छा नहीं किया।

क्यों- वह बोली।

मैंने कहा- इससे उनके मन में हमारे प्रति जिज्ञासा जागेगी। व्यर्थ की ताक-झांक करेंगी।

द्रौपदी बोली- इस संबंध में आपके मन में उठा भय मेरे लिए बड़ा महत्वपूर्ण है।

मैंने चौंकते हुए पूछा- वह क्यों?

वह बोली- एक तो इससे यह तय है कि आप अपनी मर्यादा में रहेंगे। दूसरा यह भय इस बात का भी सूचक है कि आप मेरे प्रभाव से बचने का प्रयत्न कर रहे हैं।

उसकी बात सुनकर ऐसा लगा मानो वह मेरे मस्तिष्क और मेरे अहंकार से ही नहीं, बल्कि मेरे पूरे व्यक्तित्व से चौपर खेल रही हो। वैसे मस्तिष्क से चौपर खेलने में मैं भी कम माहिर नहीं था। लेकिन क्या करता, यह समय चौपर खेलने का नहीं था। दुर्भाग्य से इस समय ''दीवाने-कृष्ण'' का पूरा ध्यान महाराजा द्रुपद के प्रतिशोध की अग्नि शांत करने में लगा हुआ था। ...वरना तो खेल भी पसंद का था व पात्र भी श्रेष्ठ था। उधर कुछ देर की चौपर खेलकर वह स्वयं ही मुख्य-बिंदु पर आ गई। उसने बड़े शांत भाव से पूछा- आपको पिताजी का प्रस्ताव तो मिल ही गया होगा?

मैं पूरी तरह सतर्क हो गया। सौंदर्य व वाकपटुता की हजार मार स्वीकार्य थी। मानसिक चौपर में भी हारना मंजूर था। लेकिन प्रतिशोध की आग को प्रेम में रूपांतरित करने के सवाल पर कोई बांध-छोड़ मंजूर नहीं थी। अत: मैंने बड़ा नाप-तौल के कहा- हां! आपसे विवाह का और बदले में द्रोण व अर्जुन से प्रतिशोध लेने का मिला-जुला प्रस्ताव मुझे मिला था। लेकिन इस विषय में मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ।

अबकी वह इठलाते हुए बोली- आप चाहें तो अभी से मुझे आप की बजाए तुम कह सकते हैं।

मैं एकदम चुप हो गया। इससे बात कैसे की जाए? ये तो बात-बात में निरुत्तर कर देती है। वाक्पटुता में तो मेरी भी नानी है। मुझे इस कदर खामोश देखकर फिर वही बोली- अब क्या सोचने लगे?

मैंने कहा- देखो पांचाली! तुम सुंदर भी हो और समझदार भी। मैं सोच रहा था कि आज इस आर्यावर्त को क्या हो गया है? आज हर जगह आपसी संबंधों और राजनीति को मिलाकर नारी की अस्मिता दांव पर लगाई जा रही है। उधर जरासंध केवल राजनैतिक लाभ के लिए अपनी पौत्री ''अप्नर्वा'' का विवाह रुक्मी से करना चाहता है। वहीं रुक्मी जरासंध को खुश करने के लिए रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से करना चाहता था। यहां आपके पिताजी एक प्रतिशोध के लिए तुम्हारा विवाह मुझसे करवाना चाहते हैं। कायदे से विवाह प्रेम का संबंध होना चाहिए, योग्य वर का चुनाव होना चाहिए, सौदा नहीं।

कमाल था! मेरी इतनी संजीदा बात सुनकर भी वह रत्तीभर गंभीर नहीं हुई। उल्टा मेरी गंभीर बात की हंसी उड़ाती हुई बोली- लेकिन यहां तो मामला ही उल्टा है। यहां तो पिताजी मुझे आपको सौंपने से कहीं अधिक आपको अपनाना चाहते हैं, ताकि आपके सहयोग से वे द्रोण से प्रतिशोध ले सकें। ...फिर कुछ देर की खामोशी के बाद कातिल मुस्कुराहट बिखेरते हुए बोली - और...भगवान का शुक्र है जो आप, ...आप से तुम पर तो आए।

लेकिन सच कहूं तो मैं अपनी इस संजीदा बात को किसी कीमत पर हंसी में उड़ने देना नहीं चाहता था। यदि बात इस बिंदु से हट गई तब तो बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाएगी। क्योंकि द्रुपद को चक्कर में न ले पाने के बाद द्रौपदी ही मेरी अंतिम उम्मीद थी। अत: मैंने बात को गंभीरता प्रदान करने का प्रयास करते हुए कहा- लेकिन क्या तुम अपना जीवन सिर्फ एक प्रतिशोध के लिए दांव पर लगाना चाहती हो?

पर द्रौपदी भी द्रौपदी थी। मेरे सोचने या प्रयास करने से क्या होने वाला था? वह संजीदा होना ही कहां चाहती थी? सो संजीदगी का तो सवाल ही नहीं उठता था। वह तो फिर अपनी कातिल मुस्कुराहट बिखेरते हुए बोली- मैं अपना जीवन दांव पर कहां लगा रही हूँ, मैं तो उल्टा आप पर दांव खेल रही हूँ।

द्रौपदी के सामने मैं पूरी तरह से नि:सहाय था। मेरी एक नहीं चल रही थी। उसे गंभीर करने के मेरे सारे प्रयत्न वह विफल कर चुकी थी। और उसकी वाक्पटुता का तो कहना ही क्या? जिस प्रकार से वह मेरी हर बात के सटीक उत्तर दे रही थी, उससे तो उल्टा मुझे द्रुपद से निपटना ज्यादा आसान लगने लगा था। द्रुपद सीधी बात पर उतर आए थे, अत: घबराकर मैंने फैसला द्रौपदी पर टाल दिया था। लेकिन यह तो और भी सटीक बात करने पर उतारू हो गई है। सोचा था, स्त्री है ...पटाना आसान होगा। पर यहां तो मामला ही उल्टा हो गया था। जिसने अपनी वाक्पटुता से बड़े-बड़े राजाओं को चक्कर में डाल दिया था, अपने शब्दों के मायाजाल से कई बार पूरे-के-पूरे दरबारों को हिलाकर रख दिया था; वही "कृष्ण" आज एक स्त्री के सामने लाचार हो गया था। ...यह कैसे चलेगा? आखिर मैंने हारकर ...स्त्रियों पर हमेशा कारगर सिद्ध होने वाला ब्रह्मास्त्र चलाया। मैंने बड़ी हमदर्दी जताते हुए कहा- लेकिन तुम तो जानती हो कि मैं शादीशुदा हूँ। और तुम जैसी सुंदर व गुणवान को पटरानी की जगह रानी बनकर रहना, शायद शोभा न दे।

लेकिन द्रौपदी के सामने यह भी बेकार। जवाब में संजीदा होने की बजाय वह थोड़ा इतराते हुए बोली- तो क्या? आप दस विवाह और कर लीजिए, ...मेरी बला से। इतनी शादियों के बावजूद आप रहेंगे तो मेरे ही।

एक दृष्टि से देखा जाए तो उसका अहंकार गलत भी नहीं था। एकबार द्रौपदी को पाकर कौन किसका कब हो सकता था? लेकिन अहंकार सही हो या गलत, होता तो अहंकार ही है। मुझे तो समझ नहीं आ रहा था कि अब किया क्या जाए? मैं चाहता था कि बात टलती जाए... टलती जाए, और तब तक टलती जाए जब तक बाप-बेटी के दिमाग से प्रतिशोध का फितुर निकल न जाए। सो, बात को किसी तरह सम्भाले रखना जरूरी था। बस, मैंने अब बातों की डोर दूसरी तरफ ले जाने के प्रयासरूप समझाते हुए कहा- अपमान की अग्नि का शमन सामान्य नहीं है पांचाली। क्योंकि प्रतिशोध पहले स्वयं को जलाता है फिर दूसरे को। और अक्सर तो यही देखा गया है कि मनुष्य स्वयं को प्रतिशोध की आग में इतना जला देता है कि उसमें प्रतिशोध लेने लायक आग ही नहीं बचती।

मेरी यह बात सुनकर अचानक वह पूरी तरह गंभीर हो गई। मैंने सोचा तीर निशाने पर लगा। लेकिन नहीं, यहां तो बात ही उल्टी पड़ गई। प्रत्युत्तर में वह पूरी गंभीरता से दृढ़तापूर्वक बोली- चिंता न करो द्वारकाधीश। मुझ में प्रतिहिंसा की आग इतनी अधिक है कि यह पूरे आर्यावर्त को जलाकर भस्म कर दे, फिर भी शांत होने वाली नहीं।

...अब मैं उससे क्या कहूं कि इसी बात का डर तो मुझे यहां खींच लाया है। अहंकार के साथ यही परेशानी है, उससे निपटना आसान नहीं होता। उसे एक तरफ चोट करो, वह दूसरी तरफ चला जाता है। दूसरी तरफ चोट करो तो तीसरी तरफ झुक जाता है। हजार प्रयास करो, मध्य में आता ही नहीं। ज्यादा खाना या उपवास करना, ये दोनों बातें अहंकार की समझ में आ जाती है। लेकिन नियमित व संतुलित भोजन करना उसकी समझ में नहीं आता है। ...आपको याद होगा, यही बात मैंने अर्जुन से गीता में कहीं भी थी कि - "योग प्राप्ति के मार्ग में संतुलित आहार, संतुलित विश्राम व संतुलित व्यायाम अति आवश्यक है। यह योग न तो बहुत ज्यादा खाने वाले का, न बिल्कुल न खाने वाले का ही सिद्ध होता है। पापों का नाश करने वाला यह योग तो यथायोग्य खाने वाले का, यथायोग्य शयन करने वाले का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का ही सिद्ध होता ह? [22] ।" परंतु अहंकारी यहीं मार खा जाते हैं। या तो वह पूर्ण संसारी हो सकता है या घबराकर संन्यास ले सकता है। लेकिन संसार में रहकर संन्यासी बने रहने की कला उसे आती ही नहीं। कहने का तात्पर्य द्रौपदी का अहंकार भी इस समय कुछ ऐसी ही समस्याओं में उलझा पड़ा था। किसी जगह वह स्थिर होने को तैयार नहीं था। लेकिन मैं कहां हार मानने वालों में से था? आखिर सवाल हजारों जीवन का था। अत: अबकी मैंने बात को एक दूसरा ही मोड़ देने का प्रयास करते हुए कहा- पांचाली! तुम तो जानती हो कि क्षमा से बड़ा कोई तप नहीं होता। क्षमा स्वयं को व दूसरे को तत्क्षण शीतल कर देती है। क्या हम द्रोण को क्षमा नहीं कर सकते?

क्या कहूं, मेरी यह चाल भी विफल हो गई। उल्टा अबकी वह बिफर ही पड़ी। उसकी आंखें क्रोध से लाल हो गई। मारे गुस्से के वह कांपने लगी। और फिर अचानक अपने स्वर को ऊंचा करते हुए बोली- आपको उस स्थिति की कल्पना तक नहीं है जब द्रोण के दुष्ट शिष्य अर्जुन ने मेरे पिता को बंदी बनाया था। कहते हैं, उस समय पिताजी वट वृक्ष के नीचे बैठे आराम कर रहे थे। तभी अचानक अर्जुन ने पिताजी पर हमला बोल दिया। उसने एक बाण उनके मुकुट में दे मारा। पिताजी का मुकुट हवा में उड़ गया। वे तो हक्का-बक्का रह गए कि यह क्या हो गया? तब तक उसका दूसरा बाण उनके पैरों में जा लगा। वे वहीं गिर पड़े। पिताजी कुछ समझे उससे पहले ही अर्जुन अपने साथियों के साथ उन पर गिद्ध की तरह झपटा, व उन्हें बांधकर बड़ी बेदर्दी से खींचता हुआ ले गया; और डाल दिया उन्हें द्रोण के कदमों में। ...क्या मैं यह सब भूल जाऊं? कितना अन्यायपूर्ण था यह! बड़े-से-बड़ा शत्रु भी पहले चेतावनी देता है, सावधान होने का मौका देता है, फिर वार करता है। अपने निहत्थे पिताजी का यह अपमान मैं कभी नहीं भूल सकती।

आप वहां होते तो आप भी उबाल खा जाते। इसलिए याद रखो द्वारकाधीश! मैं अपने पिताजी का बदला लेने हेतु कुछ भी कर सकती हूँ।

मैंने कहा- कुछ भी...?

वह पूरे आपे से बोली- हां। मैं द्रोण व अर्जुन से प्रतिशोध लेने के लिए जरासंध तक से विवाह कर सकती हूँ। वह तो दोनों को चुटकी बजाते ही मसल डालेगा।

मैं तो बुरी तरह चौंक गया। मैंने कहा- पांचाली, शायद तुम नहीं जानती कि अर्जुन तो वैसे ही अग्नि में जलकर भस्म हो गया है।

वह बोली- अर्जुन नहीं रहा तो क्या द्रोण तो अभी जीवित है। मैं उसे मरवाकर ही अपने प्रतिशोध की अग्नि शांत कर लूंगी।

मैंने कहा- यह तो समझा, पर क्या तुम यह नहीं जानती कि जरासंध तुम्हारे पिताजी की उम्र का है।

वह बोली- मैं सिर्फ इतना जानती हूँ कि वह बलवान है और द्रोण अभी तक जीवित है।

मैंने कहा- चलो जरासंध की छोड़ो, लेकिन द्रोण की बात करूं तो जहां तक मुझे मालूम है यह आपसी रंजिश का नतीजा था। गलती एकतरफा द्रोण की कतई नहीं थी।

द्रौपदी बोली- कैसी रंजिश? कब की रंजिश?

मैंने कहा- देखो द्रौपदी यह बात उस समय की है जब तुम्हारे पिता व द्रोण दोनों कृपाचार्य के यहां शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। दोनों में गाढ़ी दोस्ती भी थी। दोस्ती के जोश में ही तुम्हारे पिता यानी महाराज द्रुपद ने द्रोण से कहा कि शिक्षा समाप्त होने पर वह अपने राज्य में द्रोण का गुरुकुल स्थापित करवाएंगे। कई वर्षों बाद जब द्रोण यहां आए, उस समय तुम्हारे पिता जी यहां के महाराज हो चुके थे। उन्होंने बचपन की दोस्ती को बचपना समझकर उनका तिरस्कार किया। फलस्वरूप अपमानित द्रोण ने इस घटना को गांठ बांध लिया, और जिसकी परिणति की चर्चा अब तुम कर रही हो।

...द्रौपदी मेरी बात सुनते ही पूरी तरह गंभीर हो गई। फिर अनायास ही दुखी होते हुए बोली- हो सकता है आप ठीक कह रहे हों। पर एक तो यह मेरे पैदा होने के पहले की बात है। दूसरा पिताजी ने आश्रम खोलने देने से इन्कार कर भी दिया, तो क्या उनका इस कदर अपमान करोगे? उनका आधा राज्य ही हड़प लोगे...?

मैं अब पूरी तरह से मौन हो गया। मैं समझ गया, बाप-बेटी में से एक भी मानने वाले नहीं। युद्ध टालने का जो बीड़ा मैंने उठाया था, उसे पूरा करना इतना आसान नजर नहीं आ रहा था। मुझे अर्जुन की चिंता हो रही थी। क्या होगा उसका। एक तरफ कौरव उसे जीने नहीं दे रहे, दूसरी ओर यह बाप-बेटी हजार शैतान उसके पीछे लगाकर ही दम लेंगे। अब इसके पहले कि बात पूरी तरह से बिगड़ जाए, बात सम्भालना आवश्यक हो गया था। क्योंकि बातचीत का दौर जारी रहेगा, तो आज नहीं तो कल कोई हल निकालने की सूरत बनेगी। अत: अबकी मैंने उसके मन की बात कही- तुम ठीक कहती हो पांचाली। द्रोण कतई क्षमा के पात्र नहीं हैं। हम उससे प्रतिशोध अवश्य लेंगे। उन्होंने आचार्य होते हुए आचार्यों की गरिमा को ताक पे रख दिया।

यह सुनते ही द्रौपदी तत्क्षण सामान्य हो गई। और सामान्य होते ही फिर उसने एक सटीक सवाल दाग दिया। वह बोली- तो क्या, मैं यह समझूं कि आपने विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया?

मैंने कहा- नहीं। मैंने ऐसा कब कहा? मैंने तो प्रतिशोध को उचित ठहराया। और द्रोण से प्रतिशोध में मैं आपके साथ हूँ।

द्रौपदी बोली- यानी आपको विवाह से इनकार है, और प्रतिशोध के लिए हां है।

मैंने कहा- मैंने यह भी नहीं कहा।

अबकी बारी मेरी थी। शुरुआत में उसने अपनी वाक्पटुता से मुझे बहुत छकाया था। जरा महारानी मेरी वाक्पटुता का भी अनुभव कर ले। और कमाल यह कि मेरे दो ही वार में वह झुंझला गई। ...और झुंझलाते हुए ही बोली- तो आप कहना क्या चाहते हैं?

मैंने कहा- मैं यही कहना चाहता हूँ कि मुझे आपकी किसी भी बात से इन्कार नहीं, लेकिन अंतिम निर्णय लेने से पूर्व मैं कई परिस्थितियों का ठीक से आकलन करना चाहता हूँ। उम्मीद है आपको ज्यादा जल्दी न होगी...!

वह मुस्कुराते हुए बोली- ना... ज्यादा जल्दी तो नहीं; परंतु हां, ज्यादा प्रतीक्षा भी नहीं की जा सकती है। वैसे यदि आप रुक्मिणी को शिशुपाल से बचा सकते हैं, तो मैं इतनी उम्मीद तो कर ही सकती हूँ कि मुझे जरासंध से बचाने अवश्य आ पहुंचेंगे।

...यह सुनकर मैं सिर्फ मुस्कुरा दिया। निश्चित ही इस समय चेहरे पर यह मुस्कुराहट राहत महसूस करने के

कारण उभरी थी और अभी द्रौपदी से कुछ मोहलत तो मिल ही चुकी थी, अब ऐसा न हो कोई नई बात छिड़ जाए। अत: जल्द मुलाकात का वचन देकर तत्काल यह ''रणछोड़'' वहां से भाग खड़ा हुआ। वाह...? क्या स्त्री थी? उसकी सुंदरता की तारीफ करूं या उसकी वाकपटुता की? उसकी मुस्कुराहट की प्रशंसा करूं या उसकी बुद्धिमत्ता की? मैं द्रौपदी के कक्ष से तो निकल आया था, परंतु द्रौपदी के प्रभाव से अब भी बाहर नहीं आ पा रहा था। इतनी सुंदर, वाक्पटुता में श्रेष्ठ और प्यारी मुस्कुराहट की मालकिन, ...उसका तो कहना ही क्या? क्या कहूं, उसकी झंकृत वाणी अब भी मेरे कानों में सुनाई दे रही थी। उसका सुंदर मुखड़ा तो मानो आंखों में ही बस गया था। द्रौपदी के कक्ष में गुजारे इस समय को मैं कठिन कहूं या हसीन, निर्णय करना मुश्किल था। कठिन इसलिए कि मैं स्वयं को उसकी सुंदरता के जाल में उलझने से कैसे बचा पाया हूँ, यह मैं ही जानता हूँ। और हसीन इसलिए कि विश्व सुंदरी के सामने बराबरी पर बैठने का मौका मिला था। उसकी सुंदरता, उसकी वाक्पटुता, उसकी शरीरयष्टि, उसकी मुस्कुराहट; सब-का-सब निहारने का अवसर मिला था। शायद इस लिहाज से इसके हर पहलू पर विचार करने के बाद इसे ''कठिनतम-हसीन'' समय कहना ज्यादा उचित होगा।

खैर! द्रौपदी से एकबार को तो निपट ही चुका था। अब मुझे पांडवों की चिंता सताने लगी थी। उनके पांचाल में होने के ख्याल-मात्र से मेरे रोंगटे खड़े हो रहे थे। बाप-बेटी के व्यवहार से यह स्पष्ट था कि यदि वे यहां पकड़े गए, तो फिर उनको बचा पाना मेरे लिए असंभव हो जाएगा। अत: कक्ष में पहुंचते ही सबसे पहले मैंने उद्धव से इस विषय पर चर्चा करनी चाही। लेकिन यहां भी पासा उल्टा पड़ गया। मेरा बेसब्री से इन्तजार कर रहे उद्धव ने बात की गंभीरता को नजरअंदाज करते हुए अपना ध्यान परिहास पर ही बनाये रखा। मैं तो बहुत बुरा पांस गया था। उधर द्रौपदी मेरी किसी बात को गंभीरता से नहीं ले रही थी, इधर उद्धव परेशान करने पर तुला हुआ था। वैसे तो मैं जीवन में गंभीर कम ही हुआ करता था। अक्सर दूसरों की व्यर्थ गंभीर बातों को हंसी में उड़ा दिया करता था। ...लेकिन आज जब मामला वाकई गंभीर है, तो सबकोई मिलकर उसे हंसी में उड़ाने पर तुले हुए थे। और उद्धव ने तो हद ही कर दी थी। उसकी उदंडता का आलम तो यह कि चलो गंभीर नहीं हो रहा कोई बात नहीं; पर बात तो पांडवों की करे। उसे तो ऐसी मस्ती सूझ रही थी कि पांडवों की चर्चा ही नहीं। ...उल्टा मुझसे पूछता है - कन्हैया! वापसी पर हम द्वारका अकेले जाने वाले हैं या द्रौपदी भाभी को साथ लेकर जाने वाले हैं? यदि ऐसा है तो मैं विश्वसुंदरी के स्वागत की तैयारी करने हेतु द्वारका पहले चला जाऊं।

अब इस बात का क्या जवाब देता? मुस्कुरा भर दिया। समझ गया कि इस समय वह मेरी किसी भी बात को गंभीरता से नहीं लेने वाला। कोई बात नहीं। रात्रि भोज पर मैंने फिर वही चर्चा छेड़ दी। पांडवों की चिंता जताई। उनको खोजना, उनसे मिलना व संभावित खतरों से उन्हें सावधान कराने की आवश्यकता समझाई। गनीमत यह कि इस समय उद्धव ने मेरी बात पूरी संजीदगी से सुनी। यह तय हुआ कि वह कल सुबह ही वह और दारुक पांडवों को खोजने निकल जाएंगे। वैसे पांचाल बड़ा राज्य था, पर उद्धव के लिए यह कोई बाधा नहीं थी। वह ऐसे कार्यों में निपुण हो चुका था।

उधर उद्धव दूसरे दिन सुबह ही दारुक को लेकर पांडवों को खोजने निकल पड़ा। ...इधर मैं समस्याओं से जूझने अकेला रह गया। यहां की तो समस्या ही निराली थी। यहां तो मुझे हर तीसरे दिन कभी द्रुपद से तो कभी द्रौपदी से मुलाकात करनी ही पड़ रही थी। क्योंकि बातचीत की डोर हरहाल में सम्भाले रखना आवश्यक था। लेकिन मेरी तमाम कोशिशों के बावजूद उनके प्रतिशोध की आग को मैं रत्तीभर कमजोर नहीं कर पा रहा था। वे टस-से-मस होने को तैयार ही नहीं थे। मैं कितना ही घुमाता, दोनों फिर मुख्य-बिंदु पर लौट आते।दूसरी ओर प्रस्ताव स्वीकारने का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता था। क्योंकि प्रतिशोध व शत्रुता जैसे शब्द मेरे शब्दकोष में थे ही नहीं। जब मैंने आज तक कभी जरासंध को अपना शत्रु नहीं माना था, तो द्रोण से प्रतिशोध लेने का तो सवाल ही नहीं उठता था। और फिर मेरे लिए प्रेम तो बिना चाह का समर्पण है। यहां तो समर्पण की जगह अकड़ है, और चाह में तो उल्टा प्रतिशोध है। सच कहूं तो प्रस्ताव स्वीकारने में प्रतिशोध की आग के अलावा द्रौपदी का अहंकार भी बाधक था। अपनाने में तो मैंने कुब्जा को भी अपनाया था। भला प्रेम व समर्पण को इन्कार की गुंजाइश ही कहां?

...लेकिन यहां तो समस्या यहीं समाप्त नहीं होती थी। मैं द्रौपदी का विवाह अन्य किसी राजा से भी नहीं होने दे सकता था, खासकर जरासंध जैसे किसी दुष्ट से तो कभी नहीं। अजीब परिस्थिति हो गई थी। इकरार मैं करना नहीं चाहता था, और इन्कार कर उनके द्वार दुष्टों के लिए खुलवाना नहीं चाहता था। तथा जीवनभर वह कुंवारी रहने वाली नहीं थी। ...यानी समस्या के तीनों पहलू खतरनाक रूप धारण कर चुके थे। चौथी संभावना पर तो पहले ही ताले पड़ चुके थे।द्रुपद व द्रौपदी के प्रतिशोध की आग शांत होने के आसार बिल्कुल नजर नहीं आ रहे थे। साथ ही एक पांचवीं समस्या भी उभरकर सामने आ गई थी। अब बाप-बेटी को ज्यादा दिन घुमा पाना भी संभव नजर नहीं आ

रहा था। कुल-मिलाकर समस्या कठिन-से-कठिनतमहो गई थी।

तो क्या...! यूं भी कुदरत ने मुझे कभी किसी आसान समस्या में डाला भी कहां था? मुझे तो अक्सर ऐसा लगता था कि मानो कुदरत संसार की सबसे जटिलतम समस्याओं के निर्माण-कार्य में व्यस्त है ताकि मैं उनसे निपटता रहूं। और फिर समस्याओं पर भी समस्या यह कि समस्याओं की फेहरिस्त सिर्फ पांचाल तक सीमित नहीं थी। चिंता तो पांडवों की सुरक्षा की भी थी। समस्या तो रुक्मिणी व प्रद्युम्न की भी खड़ी ही थी। उलझन तो द्वारका की सुरक्षा व नाग-प्रदेश के संकट की भी थी। लेकिन मैं अकेला एक साथ तो सारी समस्याएं नहीं निपटा सकता था। निपटानी तो एक-एक करके ही थी। अत: मैं अपना ध्यान इस समय एक ही समस्या पर लगाये हुए था, यानी पांचाल और पांडव। बाकी समस्याओं से मैंने स्वयं को मानसिक तौर पर पूर्णत: आजाद कर रखा था।

यूं भी आप तो जानते ही हैं कि एकबार में एक कार्य, यह मेरी विशेषता थी। बचे कार्य व बाकी की समस्याएं कुदरत के न्याय पर छोड़ने की कला मैं जानता था। सोचता था कि यदि सबकुछ मैं ही कर लूंगा ...तो बेचारी कुदरत क्या करेगी? वह अपना समय कैसे बिताएगी? आखिर उसको भी तो कुछ कार्य चाहिए या नहीं? क्योंकि आम मनुष्य तो एक साथ हजारों समस्याओं से उलझने की क्षमता रखता है। वह अपनी एक भी समस्या कभी कुदरत के न्याय पर नहीं छोड़ पाता है। अत: कुदरत को व्यस्त रखने की जवाबदारी तो मुझ जैसे चन्द समझदारों को ही उठानी पड़ती है। और वैसे भी मेरे और कुदरत के बीच कई खेल चलते ही रहते हैं। वह मुझे पांसाने के लिए एक से बढ़कर एक समस्याएं भेजती रहती है, और मैं उनमें विजयी होकर उसे निराश करता रहता हूँ। कुदरत एक साथ कई उटपटांग समस्याएं भेजकर मुझे व्यस्त रखना चाहती है, मैं अधिकांश समस्याएं उसके न्याय पर छोड़कर उल्टा उसी को व्यस्त कर देता हूँ। ...फिर वहां जो कुदरत की मर्जी हो जाए, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं जो होगा उसे स्वीकार लूंगा। लेकिन जहां मैं मौजूद हूँ, वहां मंजूरे-कुदरत कतई मंजूर नहीं। वहां तो वही होगा जो ''मंजूरे-कृष्ण'' होगा।

खैर! इन बातों में भी क्या रखा था। कोई बातें करने-मात्र से तो यहां मंजूरे-कृष्ण होने वाला नहीं था। उसके लिए तो किसी अद्‌भुत कर्म की आवश्यकता थी, और जो सूझ नहीं रहा था। दिन तेजी से बीतते जा रहे थे। उधर उद्धव भी अब तक लौटकर नहीं आया था कि राहत महसूस हो। इधर कई मुलाकातों के बावजूद ना तो मैं द्रुपद या द्रौपदी को कुछ समझा पाने में सफल हुआ था, ना ही वे मुझे प्रस्ताव स्वीकारने को राजी कर पाए थे। हां, मैं उन्हें हर बार नए-नए तरीके से घुमाकर समय व्यतीत करने में अवश्य सफल हुआ था। लेकिन यह सब भी कब तक चलने वाला था? आखिर जिस बात का डर था वह हो ही गया। एक दिन दोनों के सब्र का बांध टूट ही गया। बाप-बेटी ने मुझे तीन दिन में अपना अंतिम व स्पष्ट निर्णय सुनाने को कह दिया। ना तो मैं उन लोगों को अपने अहिंसा के उपदेशों में पांसा पाया था, ना ही द्रौपदी मुझे अपनी सुंदरता के जाल में उलझा पाई थी। क्या करें, दोनों सूरतें अपनी-अपनी जगह अटल थी। ...यानी अब बात टालने का कोई उपाय नहीं बचा था। अब तीन दिन बाद मुझे या तो प्रस्ताव स्वीकार करना था या इस विवाह से इन्कार करना था। स्वीकारना संभव न था, व इन्कार करने पर आर्यावर्त में महाविनाश तय था। मैं काफी बेचैन हो उठा था। मामला पेचीदगी की सारी सीमाएं पार कर चुका था। हालांकि बावजूद इसके, मैंने मानसिक तौर पर हथियार नहीं डाले थे। पता नहीं कुदरत किस समस्या का समाधान कब और कैसे खोज ले? इसलिए हारने से पहले हार मान लेना या हार जाना मेरा स्वभाव नहीं था।

उधर उद्धव का अब भी कोई समाचार नहीं आ रहा था। पता नहीं इतने समय में भी वह पांडवों को क्यों नहीं खोज पाया था? धीरे-धीरे कर यह बात भी मेरे लिए चिंता का कारण बनती जा रही थी। वाकई इस समय एक-एक क्षण मुझपर भारी पड़ रहा था। पास में कोई बात करने को भी नहीं था। किसी से चर्चा करो, किसी को दिल का हाल सुनाओ तो निश्चित ही मन का बोझ हल्का हो जाता है। चलो! जब कोई नहीं तो स्वयं से बात कर बोझ हल्का कर लेते हैं। अब मैं महाराजा द्रुपद व द्रौपदी को क्या कहूं? हां या ना? पांडव किस हाल में होंगे? कहीं कौरवों या द्रुपद को उनके जीवित होने की भनक तो नहीं लग गई है? दो-दिन तो खुद ही सवाल-जवाब करते-करते किसी तरह गुजार दिए। कल अग्निपरीक्षा का दिन था। जीवन में पहली बार असफलता मुंह फाड़े खड़ी नजर आ रही थी। आर्यावर्त में महाविनाश टालने का कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था।

दोपहर का समय था और इन्हीं उलझनों में मैं कक्ष में यहां से वहां घूम रहा था। ...तभी कमाल हो गया। उद्धव तो नहीं आया, पर अचानक सात्यकि आ टपका। जरूर द्वारका से कोई खास समाचार होगा। समय को देखते हुए अच्छे समाचार की उम्मीद कम ही थी। मेरा अंदाजा ठीक था। द्वारका से भी निराशाजनक खबर ही थी। सात्यकि ने बताया कि रुक्मिणी की हालत अभी स्थिर है, परंतु प्रद्युम्न का कोई ओर-छोर नहीं मिल रहा है। उसे कौन उठा ले गया और क्यों उठा ले गया, कुछ पता नहीं चल रहा। चलो, कम-से-कम रुक्मिणी तो कुछ सम्भल गई थी। वर्तमान परिस्थिति में यह भी किसी शुभ-समाचार से कम न था। और फिर कब तक नहीं सम्भलती? बड़े से बड़ा सदमा क्यों

न हो, मनुष्य कुछ समय में सम्भल ही जाता है।

...चलो यह सब तो ठीक, लेकिन प्रद्युम्न का क्या? किसने किया होगा उसका अपहरण? यदि भैया व सात्यकि जैसे वीर द्वारका के गुप्तचरों के साथ मिलकर उसकी खोज-खबर निकालने में असफल हो गए हैं, तब तो निश्चित ही यह कार्य किसी बड़े शत्रु का होना चाहिए। शायद जरासंध भी हो सकता है। होने को तो सत्राजित भी हो सकता है। या हो सकता है दोनों ने मिलकर यह दुष्कर्म किया हो। और यदि ऐसा है तो दोनों मिलकर द्वारका में जल्द ही मथुरा जैसे हालात खड़े कर देंगे। अरे कृष्ण! यह कहां उल्टे चक्कर में पड़ गए? द्वारका की चिंता द्वारका जा के करना। अभी तो कल तुम्हें द्रुपद व द्रौपदी का सामना करना है। सच ही है ...उनको टालने का कोई उपाय सूझ नहीं रहा, और द्वारका की चिंता में कहां डूबा जा रहा हूँ? सो सात्यकि से कुछ देर यहां-वहां की बातें कर द्वारका से जान छुड़ाई। यही नहीं, मैं रात्रि भोजन के बाद सोने भी जल्दी चला गया, ताकि सोने के बहाने कल आने वाली मुसीबत पर कुछ चिंतन कर सकूं। और कहने की जरूरत नहीं कि रातभर पांचाल की समस्या का ही चिंतन चलता रहा। ...समस्या क्या थी उनकी? उन्हें द्रोण से प्रतिशोध लेना था। उन्हें रस मुझमें नहीं, प्रतिशोध में था। यदि उन्हें प्रतिशोध लेने का कोई तगड़ा उपाय सुझाकर लटका दिया जाए, तो मेरी भी जान छूट सकती थी और एकबार को युद्ध भी टाला जा सकता था। यह तो अनायास ही चिंतन ने सही दिशा पकड़ ली। और एकबार चिंतन ने ठीक दिशा पकड़ी, तो सटीक उपाय भी निकल आया। मैंने राहत की सांस ली। सचमुच बड़ी दूर की कौड़ी खोज के लाया था। एकबार फिर यह सिद्ध हो गया था कि समस्या कितनी ही गहरी क्यों न हो, यदि ठीक दिशा में चिंतन लगाया जाए तो उसका कोई-न-कोई हल निकल ही आता है।

...मैं अब द्रुपद व द्रौपदी दोनों का सामना करने को पूरी तरह तैयार था। हालांकि इस चक्कर में रात अच्छी-खासी बीत चुकी थी। कोई बात नहीं, सफलता का सहारा क्या मिला कि कुछ देर की झपकी से ही मैं तरोताजा हो गया। और फिर फटाफट तैयार भी हो गया। आज द्रुपद नामक समस्या का अंतिम परिणाम निकल ही आना था। उनका सब्र टूट चुका था, तो इधर मैं समाधान खोज चुका था। उधर सात्यकि मेरा सजना, मेरी बेचैनी व मेरा टहलना देखता ही रह गया। होगा, अभी तो आज मुझे बुलाने महामंत्री व धृष्टद्युम्न समय से आ पधारे थे। मैं तो तैयार ही था बस उनके साथ चल दिया। वे सीधे मुझे महाराज के निजी कक्ष में ले गए। दोपहर-भोज वहीं पर रखा गया था। साफ था, बातें काफी व्यक्तिगत स्तर पर होनी थी। तो, आज तो मैं भी तैयारी से ही आया हुआ था। उधर महाराज के शयनकक्ष से लगा बैठक कक्ष मैं देखता ही रह गया। करीब दस से बारह व्यक्ति बैठ सके, इतना विशाल व भव्य बना हुआ था। और इसकी कारीगरी का तो कहना ही क्या? वहीं कक्ष में लगे परदे, चित्रकारी व जानवरों की खालें... सब मिलकर कक्ष की शोभा में चार चांद लगा रहे थे। ...आज तो मेरे कक्ष में प्रवेश के साथ ही महाराजा द्रुपद ने खड़े होकर बड़ी आत्मीयता से मेरा स्वागत किया। मुझे ठीक अपने सामने विराजने को कहा। धृष्टद्युम्न व महामंत्री भी पास ही बैठ गए। लेकिन द्रौपदी कहीं नजर नहीं आ रही थी। होगा, शायद विवाह की चर्चा में स्वयं का बैठना उसे उचित न जान पड़ा हो। वैसे उसका न होना मेरे लिए अच्छा ही था। क्योंकि यदि एकबार में बात न बने तो ऐसे में द्रौपदी से चर्चा के बहाने बात के तार टूटने से बचाये जा सकते थे। ...उधर बेसब्र महाराज द्रुपद ने बिना किसी प्रस्तावना के बड़ा ही सीधा सवाल किया- मुझे उम्मीद है कि आपने मेरा प्रस्ताव स्वीकारने का मन बना लिया होगा।

इतने अनुभवों के बाद मुझे महाराजा द्रुपद से इतने ही सीधे सवाल की उम्मीद थी। और अच्छा यह था जो आज मैं एक पक्की योजना लेकर उपस्थित हुआ था। वरना बात के तार यहीं टूट जाते। हालांकि बावजूद इसके जवाब मैंने उन्हें अपने तरीके से ही दिया। मैंने कहा- मैंने आपका प्रस्ताव स्वीकारा भी और नहीं भी।

द्रुपद तुरंत चौंक कर बोले- मतलब?

मैंने कहा- आपकी प्रथम प्राथमिकता द्रोण से प्रतिशोध लेने की है। द्रौपदी का विवाह आपकी समस्या नहीं। वह रूपवान भी है व गुणवान भी। कोई भी उससे विवाह कर धन्य हो जाएगा।

द्रुपद को बात ही समझ में नहीं आई। महामंत्री व धृष्टद्युम्न का हाल भी उनसे भिन्न नहीं था। हालांकि अब द्रुपद से नहीं रहा गया। वे कुछ झुंझलाकर बोले- तो आप ही धन्य क्यों नहीं हो जाते हैं महाराज! रोज घुमा-घुमाकर नए प्रस्ताव लेकर चले आते हैं।

मैंने कहा- महाराज! आप मेरी बात ठीक से समझे नहीं।

द्रुपद बोले- तो आप ठीक से समझाइए न! आप पिछले एक महीने से रोज नई-नई बात करते आए हैं। लेकिन आज आपको कोई नया प्रस्ताव नहीं देना है, बल्कि मेरे प्रस्ताव का सीधा-सीधा ‘‘हां’’ या ‘‘ना’’ में जवाब देना है।

मैं यह सुनकर थोड़ा हड़बड़ाया। क्योंकि सीधी "हां" या "ना" कहने की स्थिति में तो मैं आज भी नहीं था। कान तो आज भी उल्टे हाथ से ही पकड़ना था। लेकिन समस्या यह थी कि पिछले एक महीने से द्रुपद को इतना घुमा चुका था कि उन्हें एकबार और घुमाना अब आसान न था। अब आसान हो या न हो, एक अंतिम बार तो घुमाना ही था। और फिर ऐसे कार्यों को अंजाम देने के लिए मेरे पास भावों की या शब्दों की कभी कोई कमी तो रहती नहीं थी। बस मैंने अपने ही अंदाज में बात फिर आगे बढ़ाई। मैंने कहा- मुझे आपका द्रोण से प्रतिशोध लेने का प्रस्ताव स्वीकार्य है। क्योंकि द्रोण ने जो दुष्टता आपके साथ की है उसे देखते हुए उसे छोड़ने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। और फिर जो आचार्य गुरुदक्षिणा में उस व्यक्ति से अंगूठा मांग सकता है जिसे उसने धनुर्विद्या सिखाई ही नहीं है, ऐसे नीच का हनन करने में कोई अपराध नहीं। ...मेरा द्रोण को भला-बुरा कहना उन्हें अच्छा लगा। लगना ही था। यही तो मेरी चाल थी। वैसे भी यदि किसी को अप्रिय बात में उलझाना हो तो पहले उसे प्रिय बात कहकर विश्वास में लेना आवश्यक होता है। वही मैंने भी किया। इधर बात बनती देख बगैर किसी अन्य प्रस्तावना के मैं सीधे मुख्य-बिंदु पर आ गया। ...मैंने कहा- हमारे लिए जितना आवश्यक द्रोण से प्रतिशोध लेना है, उतना ही जरूरी द्रौपदी के लिए श्रेष्ठ वर का चुनाव करना भी है।

...अभी मैं बात पूरी करूं उससे पहले ही द्रुपद ने तपाक से जवाब दिया- वह तो आप हैं ही।

मैंने कहा- यह मेरा सौभाग्य है कि आप मुझे इस लायक समझ रहे हैं। द्रौपदी को पत्नी के रूप में पाकर मैं भी धन्य होना चाहता हूँ। मैंने इस बाबत काफी विचार भी किया। परंतु प्रमुख अड़चन यह है कि द्रोण एक श्रेष्ठ धनुर्धारी है। साथ ही उनके अधिकांश शिष्य इस युद्ध-कला में माहिर हैं। पूरा हस्तिनापुर उनके साथ है। और दुर्भाग्य से मैं धनुर्विद्या में शून्य हूँ। और फिर दूसरी समस्या यह है कि द्रौपदी जैसी सुंदरी को हर कोई पाना चाहेगा। यदि ऐसे में आपने बगैर स्वयंवर रचे उसका विवाह मेरे साथ किया तो पूरा आर्यावर्त हमारे खिलाफ एक हो जाएगा। और मेरे स्थायी शत्रु जैसे जरासंध, शाल्व, पुण्यजन आदि तो हो सकता है मुझसे बदला लेने के लिए द्रोण से ही मिल जाएं। ऐसी परिस्थिति में हमारा द्रोण को हराना असंभव हो जाएगा। उल्टा हमारा प्रतिशोध हम पर ही भारी पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि द्रौपदी जैसी योग्य स्त्री पाने हेतु मैं आपके अरमानों की बलि चढ़ा दूं।

यह सुनते ही महाराजा द्रुपद के चेहरे पर चिंता की कई लकीरें उभर आई। मैं मन-ही-मन बड़ा खुश हुआ था। क्योंकि अपनी लप्पो-छप्पो बात से मैं स्वयंवर की अनिवार्यता सफलतापूर्वक स्थापित कर चुका था। और इसके साथ ही वे पूरी तरह से मेरे जाल में पांस गए थे। परिणाम यह कि जब कुछ न सूझा तो बड़े ही दुखी होकर बोले- तो क्या मैं द्रोण से प्रतिशोध कभी नहीं ले पाऊंगा?

...उनकी यह हताशा मेरे बड़े काम की थी। क्योंकि हताश व्यक्ति ही उंगली पकड़कर चलने को राजी होता है। और मैं तो उंगली पकड़ाने को "आया" तभी से तैयार बैठा था। ना-नुकुर तो बाप-बेटी की तरफ से हो रही थी। नहा-धोकर मुझ गरीब के पीछे पड़े हुए थे। लेकिन अब जब किसी दूसरे मार्ग पर चलने को तैयार है, तो मेरे पास योजनाओं की क्या कमी? तुरंत मैंने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा- कैसी बात करते हैं महाराज! द्रोण जैसे दुष्ट को हम कभी नहीं बख्शेंगे। उसको अपने कर्मों की सजा अवश्य मिलेगी। आज से आप द्वारका व पांचाल को एक ही समझें। आज के बाद मेरे जीवन का भी प्रमुख मकसद द्रोण से आपका प्रतिशोध लेना ही होगा। वैसे तो मैं द्रौपदी से विवाह को भी बड़ा लालायित हूँ... पर जैसा कि मैंने कहा, मैं अपने निजी स्वार्थ को आपके प्रतिशोध के आड़े आने देना नहीं चाहता हूँ। ...फिर एक ठंडी सांस लेते हुए मैंने आगे कहा- ...और इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मैंने एक पक्की योजना बनाई है। करीब एक वर्ष बाद हम द्रौपदी का स्वयंवर रखते हैं। आर्यावर्त के सभी राजाओं व युवराजों को उसमें सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण भेजते हैं। और इसमें धनुर्विद्या की एक ऐसी कठिन परीक्षा रखते हैं कि जिसमें स्वयं द्रोण उत्तीर्ण न हो सके। स्पष्ट है धनुर्विद्या में जीतने वाला द्रोण या उनके शिष्यों से कहीं बेहतर धनुर्धारी होगा। आप तो जानते ही हैं कि आर्यावर्त में वीरों की कोई कमी नहीं। और यह भी तय है कि द्रौपदी को पाने के लिए सभी अपनी पूरी ताकत लगाएंगे। यह भी कहने की जरूरत नहीं कि यह आर्यावर्त का सबसे बड़ा, भव्य व चर्चित स्वयंवर होगा। बस जो भी इस प्रतियोगिता में विजयी रहेगा, हम द्रौपदी का विवाह उससे कर देंगे। फिर वह और मैं मिलकर द्रोण को आपके चरणों में ला खड़ा करेंगे।

...मेरी पूरी बात सुनते ही द्रुपद तो उछल पड़े। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। लेकिन दूसरे ही पल वह कुछ उदास हो गए। दरअसल एक वर्ष का समय उन्हें बहुत लम्बा जान पड़ रहा था। अत: मुझे उन्हें समझाना पड़ा। पूरे आर्यावर्त को आमंत्रित करने हेतु समय तो चाहिए ही। दूसरा, प्रतिशोध का नशा भी मदिरा जैसा है, जितनी पुरानी उतना ज्यादा आनंद। परंतु उधर द्रुपद मेरी इन काव्यात्मक बातों से कोई बहुत ज्यादा संतुष्ट हुए हों, ऐसा नहीं जान पड़ रहा था। उनके मन में अब भी हजार शंकाएं उठ रही थी। उन्होंने कहा भी- महाराज! प्रतियोगिता इतनी

कठिन मत रख दीजिएगा कि कोई उसे जीत ही न पाए। कहीं ऐसा न हो आपके चक्कर में मैं प्रतिशोध से जाऊं और द्रौपदी विवाह से।

द्रुपद की बात तो सही थी। मेरे चक्कर में पड़े व्यक्ति का कुछ भी हो सकता है। सच कहूं तो द्रुपद की बात सुनकर मुझे हंसी भी आ गई। हालांकि मौके की नजाकतता देखते हुए मैं हंसा नहीं। हंसी तो रोक ली, लेकिन दूसरे ही पल चिंता ने घेर लिया। कहीं ऐसा न हो बनी-बनायी बाजी बिगड़ जाए। नहीं नहीं, द्रुपद को बगैर समय बिताए एक तगड़ा आश्वासन देना ही होगा। बस यही सोचकर मैंने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा- यदि इस प्रतियोगिता में कोई विजयी नहीं हुआ तो फिर मैं द्रौपदी से विवाह करूंगा। और अपनी जान की बाजी लगाकर द्रोण से आपका प्रतिशोध लूंगा। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आपका प्रतिशोध मेरा प्रतिशोध।

यह सुनते ही वे बड़े खुश हुए। पूरी तरह आश्वस्त भी हो गए। यही नहीं, बड़ी कृतज्ञता के साथ बोले भी कि- आपने सचमुच अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर मेरे प्रतिशोध के लिए कितना सोचा?

मैंने भी भावुकता प्रकट करते हुए कहा- आप मुझपर भरोसा रखें। अब आप और मैं कोई अलग-अलग थोड़े ही हैं?

यह सुन द्रुपद दोनों हाथ जोड़ बड़ी विनम्रता से बोले- अब तो मैं आपके ही भरोसे हूँ।

द्रुपद के इस कदर भरोसा जताते ही मेरा काम बन गया था। द्रौपदी का विवाह एक वर्ष के लिए टल चुका था। और इसके साथ ही प्रतिशोध की बात भी डेढ़-दो वर्ष के लिए तो टल ही गई थी। अब इजाजत लेने का समय आ गया था। सो, मैंने उठते-उठते उनसे निवेदन किया कि अब आप द्रौपदी को भी अपनी योजना के बारे में विस्तार से बता दें। बाद में मैं भी उससे चर्चा कर लूंगा। और तत्पश्चात् हम सभी मिलकर स्वयंवर की रूपरेखा तैयार कर लेंगे। बस हमारी यह मुलाकात यहीं समाप्त हुई। मैं खुश था कि चलो, अब कम-से-कम पांचाल की परिस्थिति तो मेरे नियंत्रण में आ गई थी। द्रुपद व धृष्टद्युम्न तो पूरी तरह मुझपर विश्वास करने लगे थे। अब सिर्फ द्रौपदी का विश्वास जीतना बाकी था। वैसे जब उसके पिताजी व भाई मेरे इतने प्रभाव में हैं, तो फिर कुछ हद तक तो बेटी भी अपने आप मेरे प्रभाव में आ ही जाएगी। और फिर उस पर बचा हुआ प्रभाव डालने के लिए मैं तो हूँ ही।

बस यह सब सोचते-सोचते मैं कक्ष में पहुंचा। उधर सात्यकि मेरा इन्तजार कर ही रहा था। यहां तक तो ठीक, पर मेरे इतने दिन पांचाल में रुकने से सात्यकि के मन में भी द्रौपदी को लेकर कई जिज्ञासाएं जाग रही थी। उसने मेरे आते ही चन्द सवाल भी दाग दिए थे। अब राजमहल में मैं क्या खिचड़ी पका रहा हूँ, यह तो मैं किसी से कह नहीं सकता था। सभी व्यर्थ मुझे पागल समझते। पागल तो मैं हूँ ही। नहीं तो कौन पूरे आर्यावर्त की चिंता करता है? मैं क्यों पांडवों व कौरवों के बीच में शक्ति-संतुलन बनाये रखने का प्रयास करूं? क्यों द्रोण व द्रुपद का युद्ध टालने की कोशिश में लगूं? एक पागल के सिवाय कौन पूरे विश्व की मनुष्यता के लिए इतना प्रयास करता है? आजकल तो राजा अपनी प्रजा की, या परिवार का मुखिया अपने परिवार तक की फिक्र नहीं कर रहा। तो फिर मैं यह किस प्रयास में लगा हूँ? वह भी तब जब मेरा ही परिवार और मेरी ही द्वारका हजार समस्याओं से जूझ रही है? ...शायद मैं पागल ही हूँ। और यही कारण था कि मित्रों तक में से कोई भी जब द्रौपदी की बात करता, मैं मुस्कुरा भर देता। इसी से गलतफहमी बढ़ जाती। ये लोग मेरे और द्रौपदी के विवाह की बात को और गंभीरता से लेने लगते। परिणामस्वरूप उनको मुझपर व्यंग कसने के रोज नए बहाने मिल जाते। उनका परिहास हो जाता, मुझे अकारण सजा भुगतनी पड़ती। पर मुझे आर्यावतर्् में शांति-स्थापना की शर्त पर परिहास का विषय बनना मंजूर था। वैसे भी यही मित्रता का वह आनंद है, जिसे लूटते आना जीवन को हसीन बनाने के लिए आवश्यक होता है। एक तरीके से यह मानकर मैं मन में संतोष मान लेता था। यानी कुल-मिलाकर सात्यकि की जिज्ञासा हाल-फिलहाल मुझे परेशान नहीं कर रही थी।

चलो छोड़ो, जब मित्र है तो यह सब मजाक-मस्तियां तो चलती ही रहेगी। अभी तो प्रसन्नता का विषय यह कि यहां पांचाल की झंझटों से मैं मुक्त हो गया था। हालांकि एक झंझट से मुक्त होते ही दूसरी परेशानी ने अवश्य पकड़ लिया था। जी हां, अब पांडवों की फिक्र सिद्दत से सताने लगी थी। पता नहीं उद्धव क्यों अब तक पांडवों को नहीं खोज पाया था? कहीं पांडव या उद्धव या दोनों किसी मुसीबत में तो नहीं पांस गए हैं? सचमुच बैठे-बिठाये किन-किन कार्यों में मैं स्वयं को उलझा देता था। हालांकि सच कहूं तो इसी बात को लेकर मुझे स्वयं पर गर्व भी होता था। क्योंकि द्वारका का सुखी व प्रसन्न जीवन छोड़कर पूरी मनुष्यता को बचाने का बीड़ा कितनी आसानी से मैं स्वीकार पाया था। वह भी तब, जब पत्नी और पुत्र महासंकट में घिरे पड़े हैं। ...तभी तो कहता हूँ कि मेरे जैसा न कोई पहले हुआ है... और शायद ही आगे कोई होगा। क्योंकि इसके लिए हिम्मत व अक्ल दोनों चाहिए। और दोनों हो तो भी कार्य को हरहाल में पूरा करने की दृढ़ प्रतिज्ञा तो चाहिए ही। कोई पेड़ के नीचे बैठने से या जंगलों में घूमने से या फिर अहिंसा का

उपदेश देने-मात्र से बड़ी-बड़ी हिंसाएं थोड़े ही रोकी जा सकती है? यदि कोरे उपदेशों से ही काम हो जाता होता तो मैंने महाराजा द्रुपद व द्रौपदी को अहिंसा के कोई कम उपदेश तो दिए नहीं थे?

खैर छोड़ो! इधर उद्धव व पांडवों को लेकर मेरी व्यग्रता भले ही बढ़ती जा रही थी, पर उनकी कोई खबर अब भी नहीं आ रही थी। उधर यहां की ये सब परेशानियां देख सात्यकि भी द्वारका की चिंता भूल यहां की चिंताओं में डूब गया था। हालांकि अच्छा यह हुआ था कि इससे पहले कि यह व्यग्रता हमें बुरी तरह से व्याकुल कर दे, अचानक एक दिन सुबह-सुबह उद्धव लौट आया था। खुशी की बात यह कि वह काफी प्रसन्न दिखाई दे रहा था। उसकी प्रसन्नता ना सिर्फ कार्य की सफलता का, बल्कि पांडवों के सुरक्षित होने का भी सबूत थी। फिर क्या था, बस हम चारों कक्ष में झूम उठे। लेकिन झूमना अपनी जगह था, पर बात तो पूरी जाननी ही थी। सो, हम चारों कक्ष में फैल के बैठ गए। उधर उद्धव तो बताने को तैयार ही बैठा था। और उसने जो कुछ बताया वह सचमुच दिल को प्रसन्न करने वाला था। मैं तो दोनों घुटने चढ़ाकर व हाथ गाल पे रखकर सुनने में इतना मस्त हो गया था कि पूछो ही मत।

...सबसे पहले उसने बताया कि उसे पांडवों को खोजने में इतना समय इसलिए लगा कि शुरुआत में वह उन्हें ब्राह्मणों के भेष में और वह भी पांचाल की सीमा में ही ढूंढ रहा था। क्योंकि ''पाराशर मुनि'' ने यही बताया था। परंतु पांडव न तो ब्राह्मणों के भेष में थे, ना ही पांचाल की सीमा में।

...इतना कहकर वह हंसते हुए चुप तो ऐसे हो गया मानो उसने कोई बहुत बड़ा लतीफा सुना दिया हो। तो फिर वे कहां थे व किस स्वरूप में थे? स्वाभाविक रूप से मुझे जिज्ञासा जागी।

इसपर उद्धव ने बड़े चहकते हुए कहा- उनके तो भाग्य में ही राजयोग लिखा हुआ है। पांचाल से थोड़ी ही दूर नाग-प्रदेश से सटा हुआ राक्षसों का एक प्रदेश है, आजकल भीम वहां का राजा बना बैठा है। और उसका नाम अब ''राजा वक्रोदर'' है।

यह सुनकर मुझे आश्चर्य भी हुआ और खुशी भी। आश्चर्य इस बात का कि वह राक्षसों का राजा कैसे बन गया? खुशी इस बात की थी कि राक्षस के रूप में उन्हें न कौरव पहचान पाएंगे ना ही द्रुपद खोज पाएगा। अर्थात् वे अब पूरी तरह सुरक्षित हैं। लेकिन यह सब क्या व कैसे हुआ। ...इधर उद्धव ने भी परिस्थिति समझते हुए मुझे जिज्ञासाओं के भंवर से जल्द ही निकाल लिया। आगे बगैर सवाल पूछे उसने स्वत: ही सारी बात विस्तार से बताना प्रारंभ किया। ...उद्धव के अनुसार हुआ यूं था कि ब्राह्मणों के भेष में ही पांडव पांचाल की ओर बढ़े आ रहे थे, तभी इन नरभक्षी राक्षसों ने पांडवों को धर-दबोचा। बूआ तक को उन्होंने कैद कर लिया। उधर भीम माता कुंती को बंधा देखकर इतने जोश में आ गया कि उसने राक्षस-राजा हिडिंब को युद्ध के लिए ललकारा। अब भीम तो भीम है। उसने गदा के दो ही वार से उसका वध कर दिया। और फिर राक्षसी परंपरा के अनुसार भीम को वहां का राजा भी बनना पड़ा व राजा की बहन हिडिंबा से विवाह भी करना पड़ा।

...चलो, मेरा तो काम ही हो गया। उधर द्रुपद पूर्णत: मेरे नियंत्रण में था, और इधर पांडव पूरी तरह सुरक्षित थे; यानी समय ने पलटी खा ली थी। खबरें सब ओर से संतोषजनक थी। सचमुच उद्धव का कामकाज एकदम पक्का हो गया था। वह बड़ी तेजी से परिपक्व होता जा रहा था। सच कहूं तो दारुक की ही तरह धीरे-धीरे उद्धव भी मेरी स्थायी आवश्यकता बनता जा रहा था। उसने पांडवों को भी मेरी चिंता व हमारी हस्तिनापुर यात्रा के बारे में विस्तार से बता ही दिया था। उधर पांडव भी यह जानकर काफी प्रसन्न हुए थे कि कोई उनकी चिंता भी कर रहा है। वैसे तो पांडवों से मेरी मित्रता बहुत पुरानी नहीं थी। बमुश्किल दो बार मुलाकात हुई थी। फिर कोरी मित्रता के नाते मैं इतना कभी करता भी नहीं। मेरे लिए तो पांडवों का सुरक्षित रहना हस्तिनापुर की आवश्यकता थी, और वही ज्यादा महत्वपूर्ण था। यदि मुझे रिश्तों के ही मोह में फांसना होता, तो-तो कबका ''प्रद्युम्न'' को खोजने न निकल गया होता?

हालांकि मैं मोह में फांसू-न-फांसू व फांसना चाहूं-न-चाहूं; पर इधर मित्र निरंतर मुझे मोह में फांसाने की कोशिश में लगे ही रहते थे। आज के ही दोपहर-भोज की बात लो। मैं बमुश्किल पांचाल व पांडवों की चिंता से मुक्त हुआ मस्ती से खा रहा था कि एकबार फिर सबने मिलकर द्वारका की बात छेड़ दी। उनके अनुसार हमें अब द्वारका जाकर 'प्रद्युम्न' की खोज तेज कर देनी चाहिए। मुझे कुछ दिन रुक्मिणी के साथ रुककर अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। तो क्या मेरा मन यह सब करना नहीं चाहता होगा? मैं कोई पत्थर थोड़े ही था? लेकिन मैं अपनी मर्यादा पहचानता था। मेरे लिए अपने कमजोर हृदय से ज्यादा महत्वपूर्ण कुदरत का हुक्म था। आत्मा की आवाज से बढ़कर और कोई आवाज मैंने कभी नहीं मानी। मित्रों की सीमित दृष्टि में रुक्मिणी और प्रद्युम्न की समस्या प्राथमिक हो सकती थी, लेकिन मेरी असीमित दृष्टि मुझे द्रुपद-द्रौपदी व पांडव ही नहीं... नागप्रदेश जाकर दादाजी की समस्याओं का निराकरण करने का भी हुक्म दे ही रही थी। ...अब मित्रों से सीमित और असीमित दृष्टिकोण के फर्क पर तो चर्चा

की नहीं जा सकती थी। और फिर मुझे जो करना है, वह करना ही है। मुझे जो प्राथमिकता जान पड़ रही है, वही प्राथमिकता है। उनका क्या था, उन्हें तो ना तो मेरा पांचाल में डेरा डालने का कोई कारण समझ आ रहा था, ना ही मेरा द्वारका की ओर रुख न करना समझ में आ रहा था। ले-देकर उन्हें मेरा यहां रुकने का एक ही कारण समझ में आ रहा था और वह यह कि मैं रूप का पुजारी द्रौपदी के सौंदर्य-जाल में पांस गया हूँ।

...अब मेरी बात कहूं तो मुझे उनकी ऐसी समझ से कोई एतराज भी न था, पर मुसीबत यह थी कि इस समझ के कारण मैं मित्रों के बीच परिहास का एक अच्छाखासा विषय बनता जा रहा था। जब उद्धव अकेला था, तब तक ठीक था। सात्यकि आया था तब भी सब ठीक ही था। लेकिन अब जब दोनों मिल गए थे, तो जोश कुछ ज्यादा ही बढ़ गया था। व्यंगों और कटाक्षों की दिनभर बौछार होने लगी थी। एक तो सात्यकि सीधे द्वारका से आ रहा था, अत: वह मुझे द्वारका ले जाने के बाबत कुछ ज्यादा ही गंभीर था। और इधर मैं ना तो वश में आ रहा था, ना ही उनकी किसी बात का जवाब ही दे रहा था। ऊपर से मुसीबत यह कि चूंकि डेरा एक ही कक्ष में डाला हुआ था तो उनसे बचने का कोई उपाय भी न था। अब व्यंग कसना व राय देना उनके हाथ में था, पर उनकी बातों की अवहेलना करना तो मेरे हाथ में था। सो, ...कितने व कैसे ही व्यंग कसे, मैं सुना-अनसुना कर देता था। और मुस्कुराता तो गलती से भी नहीं था। प्राय: सात्यकि को अच्छे से व्यंग वगैरह कसना आते भी नहीं थे। इस राजनीतिक भाषा में तो उद्धव ही माहिर था। सो कुल-मिलाकर मुझे निपटना उस अकेले से ही पड़ रहा था। लेकिन एक दिन बात-बात में सात्यकि ने एक ऐसा तीखा व्यंग कसा कि पूछो ही मत। शायद यह उद्धव के साथ का असर था। अब उद्धव को क्यों बदनाम करूं, उस पर भी तो मेरे ही संसर्ग का असर था। छोड़ो, मैं अपनी तारीफ में कहां लग गया? अभी तो सात्यकि के कसे व्यंग के बारे में बताऊं। एक दिन रात्रि विश्राम के वक्त सात्यकि ने बड़ी गंभीरता से कहा- कृष्ण! माना विश्व सुंदरी के प्रेम में पड़कर उससे जुदाई बर्दाश्त कर पाना मुश्किल है। परंतु यूं बगैर विवाह के किसी के राजमहल में मेहमान बनकर कितने दिन रहा जा सकता है? अपनी नहीं तो कम-से-कम हमारी इज्जत का तो कुछ ख्याल करो...?

क्या कहूं, व्यंग इतना अच्छा था कि सुनकर हंसी आ ही गई। और कहने की जरूरत नहीं कि मेरी इस बेवक्त की हंसी ने मुझे बुरी तरह पांसा दिया। उनको लगा, उनका तीर निशाने पर लगा है। अब उन्हें कौन समझाए कि ऐसे हजारों तीर हजारों दिशाओं से चलाओ, तो भी कृष्ण के मन की बात थोड़े ही जान सकते हो? माना वे मन की बात नहीं जान सकते, पर हंस के पांस गए उसका क्या? अब भुगतो। जिस बात का डर था, वही हुआ। मेरी हंसी ने उद्धव की हौसला-अफ्जाई की। बस उसने भी मौका जान बड़ी गंभीरतापूर्वक एक व्यंग ठोक डाला - कन्हैया! जल्द ही द्वारका चलो। हम फटाफट सारी तैयारियां करके बारात लेकर आ जाते हैं। इतनी बेकरारी उचित नहीं। कन्हैया तक भी ठीक, पर द्वारकाधीश को तो यह कतई शोभा नहीं देता। अपने दिल पर कुछ तो नियंत्रण रखना सीखो।

हालांकि व्यंग तो उद्धव का भी अच्छा था; पर अबकी मैं बिल्कुल नहीं हंसा। मैंने अपनी हंसी पर नियंत्रण रखा। ताजा प्राप्त अनुभव से कुछ तो सीखना ही था। वैसे हमारे इन व्यंगों की रस्साकसी में दारुक प्राय: चुप ही रहता था। उसे व्यंग कसने बिल्कुल नहीं आते थे। परंतु इनके व्यंग पर वह हंसता इतना खुलकर था कि उसकी हंसी मेरे लिए इन दोनों के व्यंग से ज्यादा भारी पड़ती थी। ऊपर से एक ही कक्ष में एक साथ डेरा डाले होने की वजह से देर रात तक इनके व्यंगों के तीर झेलना मेरा भाग्य हो चुका था। धीरे-धीरे इनका उत्साह इतना बढ़ गया था कि अब तो ये लोग रात को ठीक से सोने भी नहीं दे रहे थे। और-तो-और, सब के सब दिन-ब-दिन दो-दो कदम आगे ही बढ़ते जा रहे थे। इसी के तहत जब व्यंग कस-कस कर थक गए तो परेशान करने का एक नया ही नुस्खा खोज निकाला। ...भई एकबार तो भाभी से मिलवाओ। विश्वसुंदरी के दर्शन तो कराओ। बस दिन-रात यह नई रट पकड़ ली। एक तो यूं ही मैं द्रौपदी की सुंदरता व बुद्धिमत्ता के आकर्षण से पूरी तरह नहीं बच पाया था। ऊपर से मित्रों के व्यंग बेवजह मेरे मन में उसके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ाने का काम कर रहे थे। वहीं द्रौपदी मुझपर वैसे ही लट्टू हुई पड़ी थी। तो मैं भी कौन कम था? उसे प्रभावित करने का एक भी मौका कहां चूक रहा था? और सच कहूं तो द्रौपदी का मेरी तरफ खिंचाव बढ़ना मुझे भी अच्छा ही लग रहा था। पर ये लोग बैठे-बिठाये मुझे उसकी ओर आकर्षित करने पर तुले हुए हैं, उसका क्या...?

चलो, उसका भी जो होगा देखा जाएगा। अभी तो यहां यदि मित्रों ने मुझे परिहास का विषय बनाकर अपने आनंद का मार्ग खोज लिया था, तो पीछे मैं भी नहीं था। मैंने भी अपने आनंद के रास्ते खोज ही लिए थे। यूं भी शुरू से उस मामले में मैं कुदरत पर बिल्कुल निर्भर नहीं रहता था। एक तरफ यदि द्रुपद से चौपर खेल रहा था तो दूसरी ओर द्रौपदी की मानसिकता से भी खेल ही रहा था। वहीं मित्रों से भी व्यंग व परिहास का खेल तो जारी ही था। वे व्यंग कसकर मजा ले रहे थे, तो मैं कटाक्ष सहकर आनंद ले रहा था। जब जीवन ही एक खेल है तो हर छोटे-मोटे खेलों को खेलकर उनका पूर्ण आनंद क्यों न उठाया जाए? कहने का तात्पर्य हजार उलझनों के बावजूद जब जैसा खेल हाथ लगे

खेलकर अपना मन बहलाते हुए महाराज व द्रौपदी के बातचीत हो जाने का इन्तजार कर रहा था। सच कहूं तो बीतते दिनों के साथ इस विषय पर मेरी बेचैनी भी बढ़ती जा रही थी। ...वैसे भी पांचाल की परिस्थिति पूरी तरह से नियंत्रण में आ गई है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता था। महाराजा द्रुपद को तो स्वयंवर हेतु राजी कर चुका था, पर उस पर जब तक द्रौपदी की मुहर न लग जाए बात पक्की नहीं कही जा सकती थी। द्रुपद तो राजनैतिक कारणों में उलझ गए थे। ...मेरी धनुर्विद्या में कमजोरी, जरासंध से स्थायी शत्रुता और आर्यावर्त में मेरे शत्रुओं की लंबी सूची जैसे कारणों ने मिलकर उन्हें पांसने पर मजबूर कर दिया था। लेकिन इन राजनैतिक कारणों के चलते द्रुपद, द्रौपदी को किस हद तक राजी कर पाते हैं, यह प्रमुख सवाल था। कहीं द्रौपदी किसी बात के लिए अड़ गई तो सब दोबारा क-ख-ग से शुरू करना पड़ेगा।

अत: इतना समय बीत जाने पर भी जब राजमहल से कोई बुलावा नहीं आया तो मैं स्वाभाविक रूप से चिंतित हो उठा। किसी भी कारण से महाराज को द्रौपदी को समझाने में इतना समय नहीं लगना चाहिए था। कहीं ऐसा तो नहीं कि वे द्रौपदी को समझाने में नाकाम हो गए हों? कहीं ऐसा तो नहीं कि द्रौपदी ने स्वयंवर के विरोध में कोई स्वर उच्चार दिया हो? यूं भी मुझे द्रुपद से ज्यादा समझदार द्रौपदी ही नजर आ रही थी। कहीं ऐसा न हो कि द्रुपद, द्रौपदी को समझाने जाए और उल्टा द्रौपदी ही द्रुपद को समझा दे। दूसरा डर यह भी सता रहा था कि कहीं द्रौपदी की मानसिकता से इतना ज्यादा तो नहीं खेल गया हूँ कि वह मेरे अलावा किसी अन्य से विवाह की सोच ही न रही हो? जिद्दी तो वह नजर आ ही रही थी। ...कहीं ऐसा न हो कि आयावर्त की राजनीति करते-करते मेरी ही बलि चढ़ जाए?

...ऐसा हो भी सकता है। मुझे याद आया, एकबार बात-बात में मैंने द्रौपदी से पूछा भी था - तुम्हें मेरा व्यक्तित्व पसंद है कि मेरी वीरता। और उसने हंसकर कहा था कि मेरे दिल को तुम पसंद हो, और मेरे प्रतिशोध को तुम्हारी वीरता। यानी कि आप पांचाली को पूरे-के-पूरे पसंद हैं। ...निश्चित ही मुझे यह सुनकर बड़ा अच्छा लगा था। मेरा पौरुषत्व बड़ा तृप्त हुआ था। वैसे द्रौपदी उम्र में रुक्मिणी से कुछ बड़ी थी। उसकी उम्र इस समय करीब पच्चीस वर्ष होगी; मेरी उम्र चौंतीस वर्ष थी। आप कहेंगे, जब इतना सबकुछ है तो द्रौपदी से विवाह हेतु राजी क्यों नहीं हो जाते महाराज? ठीक है, इस बाबत भी दिल खोलकर आपके सामने रख देता हूँ। एक तो मुझे व्यर्थ की हिंसा कतई पसंद नहीं थी। और वह भी प्रतिशोध के उद्देश्य से तो कभी नहीं।दूसरा, मैं द्रौपदी के अहंकार से घबरा रहा था। क्योंकि इतना अहंकार कुदरत में कभी माफी योग्य नहीं। वह आज नहीं तो कल टूटेगा ...और जोर से टूटेगा, ऐसे में मैं उससे विवाह कर व्यर्थ अपने जीवन में अहंकार की मार झेलना नहीं चाहता था। अन्यथा कब का विवाह हेतु राजी हो गया होता। और फिर मैं सौंदर्य का नहीं, प्रेम व समर्पण का पुजारी था। मुझे हजार कुब्जा स्वीकार्य थीं, पर एक द्रौपदी नहीं। वरना चलो, प्रतिशोध का वचन देकर विवाह कर लेता व फिर प्रतिशोध न लेता तो महाराज क्या कर लेते? मैं बेशरम विवाह के बाद कौन-सा उनकी पकड़ में आने वाला था? ''वचन'' वगैरह तो यूं ही मेरे आड़े नहीं आते थे। युद्ध स्वत: ही टल जाता। लेकिन ''सर्व'' को बचाने के साथ-साथ स्वयं को बचाना भी तो मेरी जवाबदारी थी।

चलो छोड़ो, मैं भी बेचैनी के चलते कहां की बात कहां ले गया था। अभी तो वह कहूं जो सकारात्मक था। और वह यह कि ...चाहे जो हो, कम-से-कम द्रौपदी ने मुझे इतना उत्साहित तो कर ही दिया था कि जीवन-भर मैंने स्वस्थ, सुंदर व फुर्ती में रहने का निश्चय कर लिया था। सुंदरता की यही तो एक खूबी होती है। उसे अपनाओ न अपनाओ, संबंध बांधो न बांधो, चाहे सुंदरता तुम्हें ठुकरा ही क्यों न दे; परंतु सुंदरता के आस-पास भटकते ही मनुष्य स्वस्थ रहने तथा बनने-ठनने पर अपनेआप ज्यादा ध्यान देना शुरू कर देता है।

खैर! इधर मुझे और ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। राजमहल से बुलावा आ ही गया। धृष्टद्युम्न स्वयं ही निमंत्रण लेकर आया। मैं तो तैयार ही था, और निमंत्रण भी आज के रात्रि-भोज का ही था। ऐसे में मित्रों के व्यंग-बाणों को झेलते-झुलाते संध्या होने में क्या देर लगनी थी? बस धृष्टद्युम्न नियत समय पर बुलाने आ गया और मैं फटाक से उसके साथ चल दिया। हमलोग सीधे महाराज के निजी कक्ष में पहुंचे।द्रुपद काफी प्रसन्न नजर आ रहे थे। बड़ी ही आत्मीयता से उन्होंने मेरा स्वागत किया। स्वागत से ही स्पष्ट था कि बात बन गई है।द्रौपदी भी आज यहीं उपस्थित थी। कहने की जरूरत नहीं कि अपने कातिलाना अंदाज में ही विराजमान थी। हमेशा की तरह आज भी हमने एक-दूसरे को देखकर मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान किया, और उसके साथ ही मैंने व धृष्टद्युम्न ने भी अपना-अपना स्थान ग्रहण किया। कुछ देर यहां-वहां की बात कर महाराजा द्रुपद तुरंत मुख्य बात पर आ गए। वे पूरी गंभीरता से बोले- मैंने द्रौपदी से स्वयंवर की योजना के बाबत विस्तार से चर्चा की। शुरुआत में वह स्वयंवर के लिए राजी नहीं थी। लेकिन उसके तमाम पहलुओं पर दोबारा विचार करने के बाद अंत में वह राजी हो ही गई।

मैंने कहा- मुझे तो इनकी समझदारी पर पहले से गर्व है।

द्रौपदी हंसकर बोली- मुझे भी आपकी ऐसी समझदारी पर कम नाज नहीं है।

...इधर हम लोग अपनी मजाक-मस्ती कर रहे थे, तो उधर दूसरी तरफ द्रुपद पूरी तरह गंभीर थे। कुछ बेचैन भी नजर आ रहे थे। स्पष्ट था, उन्हें इस गंभीर विषय में यह हल्का-फुल्का परिहास भी रास नहीं आ रहा था। अत: तुरंत बात वापस स्वयंवर पर लाते हुए बोले- द्वारकाधीश! कृपया स्वयंवर की पूरी योजना विस्तार से बतलाइए, ताकि हमें तैयारियों का पता चल सके।

मैंने कहा- आप वर्ष भर के भीतर की कोई भी तिथि स्वयंवर के लिए तय कर लीजिए। और तिथि तय होते ही आर्यावर्त के सभी राजाओं को स्वयंवर में आमंत्रित करने हेतु निमंत्रण-पत्र भेज दीजिए।

द्रुपद ने कहा- राजपुरोहित ने अगले वर्ष चैत्र मास में एक शुभ मुहुर्त निकाला है।

मैं मन-ही-मन सोचने लगा, इन पुरोहितों ने कब समय की आवश्यकतानुसार मुहुर्त निकाले हैं? लेकिन इस समय ऐसे व्यंग कसने का समय नहीं था। अत: मैंने पूरी गंभीरता से कहा- ठीक है, आप निमंत्रण-पत्र बनवाकर आर्यावर्त के सभी राजाओं को भिजवा दीजिए।

द्रुपद ने फिर पूछा- लेकिन निमंत्रण-पत्र में लिखना क्या होगा?

मैंने कहा- निमंत्रण-पत्र सिर्फ चार वाक्यों का होगा। उसमें लिखा होगा कि:

हे महानुभाव,

अगले वर्ष चैत्र माह की तीज को मेरी रूपवान व गुणवान सुपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर रखा गया है। और जिसमें एक धनुर्विद्या की प्रतियोगिता रखी गई है। जो इस प्रतियोगिता में विजयी होगा, मेरी पुत्री द्रौपदी उसी के गले में वरमाला डालेगी।

आप सभी राजा अपने राजकुमारों व युवराजों के साथ सादर आमंत्रित हैं।

आपका,
पांचाल नरेश राजा द्रुपद।

पत्र की सरल भाषा से महाराज ही नहीं, द्रौपदी भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। लेकिन बात यहीं नहीं रुकी। द्रुपद आज सारी बात पक्की कर लेना चाहते थे। तुरंत उन्होंने अगला सवाल किया- कृपा कर यह भी बतलाइए कि धनुर्विद्या की प्रतिस्पर्धा कैसी होगी?

मैंने कहा- इसका निर्णय प्रतिस्पर्धा से एक माह पूर्व ही किया जाएगा। अभी से तय करने पर हो सकता है कि प्रतिस्पर्धा की विश्वसनीयता ही दांव पर लग जाए। फिर यह भी हो सकता है कि प्रतियोगी अपने यहां अभ्यास प्रारंभ कर दे। हां, एक बात तय है कि प्रतिस्पर्धा इतनी कठिन रखी जाएगी कि इसे जीतने वाला एक नहीं दस द्रोण को आपके चरणों में झुकाने में सक्षम होगा।

...अब मैंने यह बात ताव पर चढ़ाने हेतु कही थी, पर दाव उल्टा पड़ गया। द्रुपद थोड़ा चिंतित होकर बोले- वो तो ठीक है, परंतु प्रतियोगिता इतना कठिन न हो जाए कि उसे कोई जीत ही न पाए?

हालांकि इस कठिन प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट मुझे नहीं उठाना पड़ा। द्रौपदी तुरंत अपने पिताजी को सांत्वना देते हुए बोली- आप चिंता क्यों करते हैं, पिताजी! यदि ऐसा हुआ तो मैं द्वारकाधीश के गले में वरमाला डाल दूंगी। ...बात हंसने की थी, सभी हंस दिए। मैं कुछ ज्यादा ही जोर से हंस दिया। चलो कम-से-कम इसी बहाने बात हंसी में तो उड़ गई।

खैर; मोटा-मोटी तौर पर अब सारी बातें तय हो चुकी थी। मैं भी एक वर्ष तक के लिए तो पूर्ण आश्वस्त हो ही चुका था। द्रुपद व द्रोण की टकराहट एक वर्ष के लिए तो टल ही गई थी। अब मेरा पांचाल में रुकने का कोई औचित्य नहीं था। सो भोज पर बैठते ही मैंने महाराज से लौटने की इजाजत चाही। महाराज ने इजाजत तो दी, परंतु स्वयंवर की पूरी जिम्मेदारी निभाने का वादा लेकर। मैंने भी हंसते हुए कह दिया - यह भी कोई कहने की बात है? स्वयंवर को सफलतापूर्वक पार पाड़ने की ही नहीं, बल्कि इस स्वयंवर को एक यादगार स्वयंवर बनाने की पूरी जिम्मेदारी मैं स्वीकारता हूँ। आप पूर्णत: निश्चिंत हो जाइए। मैं स्वयंवर से कम-से-कम डेढ़-दो माह पूर्व पांचाल आ जाऊंगा। यही नहीं, अपने साथ धनुष बनाने वाले लोहिता को भी लेता आऊंगा ताकि प्रतियोगिता की गोपनीयता को कोई आंच न आए। ...साथ ही जाते-जाते मैंने महाराज को निर्देश दिए कि इस स्वयंवर में क्षत्रिय ही नहीं, सभी वर्ण के लोगों को खुलकर निमंत्रण भेजिए। क्योंकि हमें क्षत्रिय की नहीं, सर्वश्रेष्ठ तीरंदाज की जरूरत है। इधर इतना कहकर मैं कक्ष के बाहर निकलने को ही था कि द्रौपदी ने बड़ी अदा से कहा- जाने से पहले एकबार मुझसे मिल कर अवश्य जाइएगा।

मैंने कहा- मेरी भी यही इच्छा थी।

द्रौपदी मुस्कुराकर बोली- यूं भी कहते हैं, पहले इच्छाएं मिलती हैं ...तब कहीं जाकर हृदय मिलते हैं। ...मेरे पास मुस्कुराने के सिवाय इसका और कोई बेहतर उत्तर नहीं था, सो मुस्कुरा के बात टाल गया।

...अब तो द्रौपदी भी मेरे कहने में थी। पूरा पांचाल मेरे नियंत्रण में था। मैं बड़ा प्रसन्न था। और इसी खुशखुशाल मुद्रा में मैंने अपने विश्राम-कक्ष में प्रवेश किया। लेकिन मित्रों को मेरी यह प्रसन्नता रास नहीं आई। उन्होंने तो इसे भी परिहास का एक मौका बना दिया। वे भी क्या करें, मैं यहां अपने कामों और योजनाओं में व्यस्त रहता था और उनके पास कोई कार्य था नहीं। ऐसे में उन लोगों के पास सिवाय हंसी-ठिठोली करने के बच क्या जाता था? बस मुझे इतना प्रसन्न देखकर पहला व्यंग बाण उद्धव ने छोड़ा। वह बोला- लगता है दुल्हे राजा आज बात पक्की करके आए हैं।

इस पर सात्यकि को भी मजाक सूझा - पता नहीं, शादीशुदा व्यक्ति को ही इतने रिश्ते क्यों आते हैं? हम कुंवारों को तो कोई पूछता ही नहीं?

मैं मन-ही-मन खिसिया गया। अब इसमें मैं क्या करूं। दरअसल आज मेरी इच्छा परिहास करने की बिल्कुल नहीं थी। इतने समय से पांचाल में चलाते आ रहे चक्करों से आज बमुश्किल छुटकारा मिला था। फलस्वरूप मन व शरीर दोनों आराम मांग रहे थे। मैं जी भरकर चैन की नींद सोना चाहता था। क्योंकि कार्य में व्यस्त रहने पर थकान का अंदाजा कभी नहीं लगता है। उसका एहसास तो कार्य के निपटने पर ही होता है। सो इस समय मैं वाकई काफी थकान महसूस कर रहा था। अत: मैंने सभी से दोनों हाथ जोड़कर विनती की कि यदि वे आज की रात्रि अपने कटाक्षों और व्यंगों को विश्राम दें, तो उनकी मुझपर बड़ी मेहरबानी होगी। क्योंकि आज मैं आराम से सोना चाहता हूँ। ...लेकिन परिहास का ऐसा माहौल जम गया था कि किसी ने मेरी बात
को गंभीरता से नहीं लिया। उल्टा उद्धव ने तो इस पर भी एक व्यंग कस दिया। वह बोला- सोना चाहते हो कि उस बहाने से द्रौपदी के सपने देखना चाहते हो? ...इस कटाक्ष पर भी मैंने अपनी गंभीरता बनाये रखी। सभी समझ गए कि आज कन्हैया को ज्यादा छेड़ना उचित नहीं। सो बात यहीं समाप्त हो गई।

खैर! दूसरे दिन मेरे परम आश्चर्य के बीच महामंत्री फिर रात्रि-भोज का निमंत्रण लेकर पधारे। और आज के रात्रि-भोज की विशेषता यह कि इसमें मित्र भी आमंत्रित थे। स्वाभाविक तौर पर निमंत्रण पाते ही सभी चहक उठे। और ऐसे चहके कि महामंत्री के जाते ही फिर परिहास का दौर शुरू हो गया। अबकी शुरुआत सात्यकि ने की। वह बोला- वैसे तो विश्वसुंदरी पर बातचीत नहीं करने का फरमान रात्रि तक सीमित था। सो मेरे पेट में तो इस निमंत्रण को लेकर कुछ गुड़-गुड़ शुरू हो गई है।

मैंने भी हंसते हुए कह दिया- आप अपनी गुड़-गुड़ निकाल ही लीजिए, वरना आपका हाजमा बिगड़ जाएगा।

सात्यकि बोला- आज जमाता के साथ मित्र भी आमंत्रित हैं। लगता है बातचीत बहुत आगे बढ़ चुकी है।

यह सुनकर उद्धव कहां चुप रहने वाला था। उसको भी अपने सुंदर मुख से कुछ तो कहना ही था, सो बोला- मैं तो सिर्फ यह पूछना चाहता हूँ कि वहां भोज पर हम तुम्हें ‘‘कृष्ण’’ कह सकते हैं या फिर ‘‘द्वारकाधीश’’ कहकर ही बुलाना होगा? और द्रौपदी को क्या कहकर संबोधित करें?

मित्रों पे छायी मस्ती का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि सवाल मुझसे पूछा गया था और उत्तर सात्यकि ने दिया- कमाल है उद्धव! यह भी कोई पूछने की बात है? हमें तो उन्हें भाभी कहकर ही बुलाना पड़ेगा।

मैंने दोनों से मुस्कुराते हुए ही हाथ जोड़कर कहा- आप जिसे जो कहकर बुलाना चाहें, बुला लेना। परंतु मेहरबानी कर अपनी इन मजाक-मस्तियों को भोज तक मत ले जाना।

उद्धव बोला- यह भी कोई कहने की बात है। भले ही हमें विवाह का कोई अनुभव नहीं, परंतु विवाह पूर्व दुल्हे राजा की इज्जत का क्या महत्व है... यह तो हम जानते ही हैं। भाभी के सामने थोड़े ही तुम्हारी बात बिगाड़ेंगे। अब मेरे पास सिवाय मुस्कुराने के और कोई रास्ता नहीं था। और ऊपर से व्यंग भी प्यारा ही था, सो मुस्कुरा दिया।

उधर संध्या होते ही हम सब बुलावा आते ही निकल पड़े।मित्रों में विश्वसुंदरी को देखने का विशेष उत्साह था। आज का रात्रि-भोजन स्वाभाविक रूप से भोजन-कक्ष में रखा गया था। महामंत्री, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी सभी वहां पहले से उपस्थित थे। यह सब तो ठीक पर मित्र तो द्रौपदी को देखते ही रह गए। ऐसे भभकते हुए अद्‌भुत सौंदर्य की उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की होगी। होगा, अभी तो मैंने बाकायदा द्रौपदी से उनका परिचय भी करवाया। पर उनमें से कोई कुछ ज्यादा बोला नहीं। शायद द्रौपदी के प्रभाव ने उन्हें खामोश कर रखा था। चलो यह तो अच्छा ही हुआ था, कम-से-कम इस बहाने मैं यहां उनके व्यंगों से सुरक्षित था। उधर अब तक महाराज भी आ गए थे। उनके

आते ही हम सबने खड़े होकर उनका अभिवादन किया। वे द्रौपदी के पास जाकर ही बैठ गए।धृष्टद्युम्न व द्रौपदी भी उनके आसपास ही बैठे हुए थे। हमलोगों ने उनके सामने की तरफ डेरा डाला हुआ था। भोजन-कक्ष भी बड़ा ही विशाल व शानदार था। इधर कुछ ही देर में हमारे सामने स्वर्ण-थाल रख दिए गए। इतना विशाल थाल व उसमें जमायी कटोरियां मैं देखता ही रह गया। सबसे बड़ी बात तो ये कि यह सब बातें मैं इसलिए कर रहा हूँ कि आज मित्रों के सामने मैं द्रौपदी को ज्यादा तवज्जो नहीं दे रहा था। व्यर्थ ये मूर्ख लोग कहीं बात का बतंगड़ न बना दे। मेरा तो ठीक, पर व्यर्थ इससे द्रौपदी व रुक्मिणी दोनों का अहित हो सकता था। सो, अभी तो भोजन पर ही लौट आऊं।

...आज के भोज में शानदार व्यंजनों के साथ-साथ मेरी पसंद का भी पूरा ख्याल रखा गया था। आज के इस शाही भोजन में एक-से-एक पकवानों व व्यंजनों के साथ-साथ माखन, दही सबकुछ था। एक और बात अच्छी थी कि आज महाराजा द्रुपद अकेले नहीं थे, सात्यकि ने मदिरा पीने में अंत तक उनका साथ निभाया था। बाकी हम सभी तो घूंट-दो-घूंट के ही मेहमान थे। ...इधर अब तक खाने-पीने में मस्त दिख रहे महाराजा द्रुपद ने भोजन की समाप्ति पर मित्रों की परवाह किए बगैर अपनी बात फिर दोहराई। उन्होंने मुझे संबोधित करते हुए कहा- स्वयंवर से कम-से-कम दो माह पूर्व आप अवश्य आ जाना। अब मैं आपके ही भरोसे हूँ।

द्रौपदी ने भी हंसते हुए कहा- और मैं भी...

मैंने भी अपनी सदाबहार मुस्कान बिखेरते हुए कहा- आप बेफिक्र रहें। मैं अपने पर भरोसा करने वालों का उद्धार अवश्य करता हूँ।

और इस तरह विश्वास के वातावरण में रात्रि-भोज समाप्त हुआ। कहने की जरूरत नहीं कि महाराज व द्रौपदी से कहीं ज्यादा संतुष्ट मैं था। उधर भोजन के समय पूरी तरह खामोश रहे उद्धव व सात्यकि विश्राम-कक्ष में आते ही फिर सक्रिय हो उठे। अबकी शुरुआत उद्धव ने की। वह बोला- सचमुच! आपकी व द्रौपदी की जोड़ी आर्यावर्त की श्रेष्ठ जोड़ी साबित होगी।

मैंने भी पूरी गंभीरतापूर्वक बात पर लगाम लगाने के उद्देश्य से कह दिया- वह तो मैं भी जानता हूँ।

इस पर सात्यकि ने पूछा- लेकिन यह जोड़ी बनने वाली कब है?

मैंने कहा- आप अपने व्यंगों को लगाम देंगे, तब कहीं जाकर तो मैं इस विषय में सोच पाऊंगा।

...कहने की जरूरत नहीं कि मेरे आवश्यकता से अधिक गंभीरता दिखाने का उचित परिणाम भी आया। आज का यह दौर यहीं समाप्त हो गया। ...यूं भी इतनी रात गए ऐसे फिजूल के व्यंग कहीं छोड़े जाते हैं। सो आज की रात तो निकल गई। अब मैं जल्द-से जल्द यहां से निकलना चाहता था। बस सुबह होते ही व्यायाम व दिनचर्या से निपटकर मैंने तुरंत दरबान को द्रौपदी के पास मुलाकात की इच्छा का संदेश लेकर भेजा। सच कहूं तो निकलने की जल्दी के बावजूद भी न जाने क्यों मैं द्रौपदी से इस यात्रा की अंतिम मुलाकात के लिए कुछ ज्यादा ही उत्साहित था। शायद इसलिए कि द्रौपदी से हुई अब तक की सारी मुलाकातों में मुझे बड़ा सम्भल-सम्भल कर चलना पड़ रहा था। मैं अपने स्वाभाविक रूप में उससे अभी तक नहीं मिल पाया था। लेकिन अब जबकि बाप-बेटी को पूरी तरह से चक्कर में ले चुका था, तो निश्चित ही अबकी मुलाकात का मजा ही कुछ और रहना था। कम-से-कम पूरी स्वतंत्रता बरतते हुए मैं उसे अपना स्वाभाविक रंग तो दिखा पाऊंगा। और फिर यूं भी जाने से पूर्व मिलकर जाने का निवेदन तो द्रौपदी का ही था; सो उसकी इच्छा तो मुझे पूरी करनी ही थी।

...वैसे मुझे ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा।द्रौपदी की ओर से रात्रि-भोज का निमंत्रण आ चुका था।संध्या होते ही दरबान मुझे लेने आ गया। मैं तैयार ही था, झट से उसके साथ निकल पड़ा। आज का रात्रि-भोज द्रौपदी के कक्ष में ही रखा गया था। पूरा कक्ष चंदन के इत्तर से महक रहा था। कमरे में धीमी-धीमी दीपकों की रोशनी वातावरण को और भी हसीन बनाये हुए थी। गुलाबी रंग के रेशमी वस्त्रों से सजी द्रौपदी आज जैसी प्रभावशाली पहले कभी नहीं लगी थी। वह वही अपनी चित-परिचित मुस्कान के साथ अपनी पसंदीदा बैठक में अर्ध-लेटी बैठी हुई थी। मैं तो उसे देखता ही रह गया था, सच इस सौंदर्य में समर्पण होता तो कितना अच्छा होता।

खैर; हमेशा की तरह आज भी मुलाकात की शुरुआत मुस्कुराहटों के आदान-प्रदान से ही हुई। मुलाकात-दर-मुलाकात के बाद मुस्कुराहटों का यह आदान-प्रदान हमारी मुलाकात की रीत बनता जा रहा था। सच पूछा जाए तो अब तो यही हमारी एकदूसरे के हाल-चाल पूछने की पद्धति बन गई थी। होगा, अभी मैं कक्ष के द्वार के पास ही खड़ा था कि मुस्कुराहटों का दौर निपटते ही अचानक बड़ी फुर्ती से वह उठ खड़ी हुई। अभी मैं कुछ समझूं उससे पहले वह सीधे आकर मेरे पास खड़ी हो गई व मेरा हाथ पकड़कर एक ऊंचे सिंहासन की तरफ ले गई, और फिर बड़ी अदा से वहां विराजने का इशारा किया। उसकी इस अदा ने मुझे किसी काम का नहीं छोड़ा। निर्णय करना मुश्किल हो गया था कि यह स्त्री है या कातिल?

...वैसे यह स्पष्ट कर दूं कि अभी तक हमारे बीच एक भी शब्द का आदान-प्रदान नहीं हुआ था। हां, हम दोनों अपने स्थान पर बैठे-बैठे एक-दूसरे को निहार अवश्य रहे थे। वैसे यह दृश्य भी लंबा न चला। यूं भी आज कक्ष में और कोई न था। और एकान्त में खामोशी टिकती तो भी कब तक? बस कुछ देर की खामोशी के बाद वह उठी व स्वयं के हाथों से कुछ फल काटकर मुझे प्रस्तुत किए। सच कहता हूँ द्रौपदी के हाथ लगते ही फलों की मिठास ही कुछ और हो गई थी। आश्चर्य यह कि मैं सारे फल चट कर गया था, पर हमारे बीच कोई बातचीत अब भी नहीं हुई थी। विषय तो हजार थे, पर शायद अंतिम मुलाकात के कारण शब्द नहीं मिल रहे थे। तभी उसे क्या सूझी कि अचानक वह खड़ी हो गई व खिड़की से बाहर की ओर झांकने लगी। उसकी पीठ मेरी ओर थी। ...अब मुझसे नहीं रहा गया। सो मैंने चुप्पी तोड़ते हुए पूछ ही लिया- क्या देख रही हो?

वह बोली- उस मार्ग को देख रही हूँ जहां से आप जाने वाले हैं।

...स्पष्ट था वह मेरे जाने से काफी उदास थी। उसकी आवाज भी इस बात की गवाही दे रही थी। सच कहूं तो उससे बिछड़ने का दु:ख तो मुझे भी था। कम मुलाकातों के बावजूद हम दोनों के बीच आत्मीयता काफी गहरी हो गई थी। हालांकि मैंने वातावरण को सामान्य करने के उद्देश्य से बात को एक अलग ही दिशा देते हुए कहा- ...या फिर उस मार्ग को देख रही हो जहां से मैं स्वयंवर की तैयारियों के लिए आने वाला हूँ?

यह सुनते ही वह कुछ सामान्य अवश्य हुई। मैं उसकी मनोदशा समझ सकता था। एक तो मेरा व्यक्तित्व, उस पर उसका कोरा मन। और फिर इतने समय से हम दोनों के विवाह की चल रही चर्चाएं, मन भ्रमित होना लाजिमी ही था। दूसरी ओर देखा जाए तो उसके जीवन का यह पहला अवसर था, जबकि मैं इस क्षेत्र का एक परिपक्व खिलाड़ी था। यही नहीं, हम दोनों की परिस्थिति में एक और फर्क था, उसके पास मजबूत अहंकार था और मेरे पास मजबूत द्रष्टा। वैसे तो हमदोनों में एक बुनियादी भिन्नता और भी थी ...वह बेचारी सबकुछ सत्य कह रही थी, और मैं उससे ना सिर्फ झूठ बोल रहा था बल्कि उसके साथ नाटक भी कर रहा था।

खैर, इधर कक्ष में खामोशी का साम्राज्य स्थापित हो गया था। द्रौपदी अब भी वहीं खिड़की पर खड़ी थी। आखिर मुझसे न रहा गया। मैं भी उसके निकट जाकर खड़ा हो गया व बाहर के नजारे देखने लगा। वह कुछ ज्यादा ही गहरी सोच में डूबी नजर आ रही थी। ...मैंने उसकी सोच का रहस्य जानना चाहा। इस पर वह बोली- सोच रही हूँ द्वारकाधीश कि आप यह सारी मेहनत व्यर्थ ही कर रहे हैं। मुझे नहीं लगता इतनी कठिन प्रतियोगिता में कोई विजयी हो पाएगा।

शायद मेरे निकट जाके खड़े होने से अचानक वह अपने रंग में आई मालूम पड़ रही थी। क्योंकि इतना कहकर वह द्वार की ओर मुड़ी और फिर अपनी चित-परिचित मुस्कुराहट बिखेरते हुए उसने ताली बजाई। जिज्ञासावश मैं भी मुड़ा, देखें क्या करना चाह रही है। उधर तुरंत कुछ दासियां सजे हुए थाल में एक वरमाला लेकर उपस्थित हुई। द्रौपदी ने मेरी आंखों में झांकते हुए वरमाला उठायी व सामने ही पड़े एक दर्पण पर टांग दी। एक क्षण को तो उसकी इस अदा ने मुझे भी चौंका दिया था। पर वह यहां कहां रुकने वाली थी? उसने तो मेरा कत्ल करने की ठान ही ली थी। सो, कुछ देर की खामोशी के बाद बड़े ही इतराते हुए बोली- देखना द्वारकाधीश! स्वयंवर की समाप्ति पर भी यह वरमाला आपके ही गले का इंतजार करती हुई यहीं पाई जाएगी।

उसका यह रंग देख मैं भी अपने रंग में आ गया। लगे हाथों मैंने भी पूरी छटा से कहा- निश्चित जानो द्रौपदी, उन परिस्थितियों में मेरा गला भी तुमको इस वरमाला का इंतजार करता हुआ ही मिलेगा।

...यह सुनते ही वह खिल-खिलाकर हंस दी। इस उदासी के माहौल में अचानक उसका हंसना मुझे बहुत अच्छा लगा। वैसे भोजन का वक्त भी हो ही चुका था। दासियां भोजन परोस भी चुकी थी। भोजन के समय हम दोनों खामोश ही रहे। पर यह खामोशी शब्दों तक ही सीमित थी। अब भी हमारा ध्यान भोजन पर कम व एक-दूसरे को निहारने में ज्यादा लगा हुआ था। भोजन के पश्चात् बातचीत द्रौपदी ने ही प्रारंभ की। उसने बड़ी सहजता से कहा- जानते हो द्वारकाधीश! मेरा स्वभाव आसानी से किसी पर विश्वास करने का नहीं हैं। आप वे पहले व्यक्ति हैं, जिन पर विश्वास कर मैंने स्वयंवर के लिए हां कही है।

मैंने कहा- मुझपर विश्वास करना तुम्हारी समझदारी का सबूत है। सच कहूं तो तुम्हारी यही समझदारी आर्यावर्त में तुम्हें बेजोड़ करती है।

यह सुनते ही वह बड़ा इठला कर बोली- आर्यावर्त में बेजोड़ तो मुझे अपनी सुंदरता भी करती है।

...मैं मुस्कुरा दिया। कमाल थी द्रौपदी भी। पल में माशा पल में तोला। कभी उदास और फिर...अचानक खुश, बहुत खुश... वैसे रात काफी हो चुकी थी, सो मैंने इजाजत चाही। मेरे जाने के नाम से ही द्रौपदी की आंखें भर आई। उसने भरी हुई आंखों से ही खामोशी पूर्वक इशारे से इजाजत दी। सच कहूं तो बिछड़ने का गम मुझे भी था। आंखें मेरी

भी भर आई थी। कृष्ण के आज के इन आंसुओं में नाटक कम व आत्मीयता ज्यादा थी। यह बात अलग है कि मेरी आत्मीयता के मायने सर्वथा भिन्न थे।

होगा, आज सुबह हमें निकलना था। पांचाल छोड़ने का उत्साह सभी के चेहरों पर स्पष्ट देखा जा सकता था। वैसे सात्यकि को हमने वापस द्वारका भेज दिया, क्योंकि इस समय उसकी जरूरत मुझसे कहीं ज्यादा भैया को थी। उधर मेरे परम आश्चर्य के बीच निकलते वक्त महाराजा द्रुपद ना सिर्फ अपने पुत्र व महामंत्री के साथ हमें सीमा तक छोड़ने आए, बल्कि खुश होकर मुझे भेंट स्वरूप कुछ खजाना भी दिया। मैंने भी इसे अपना सम्मान जान स्वीकार किया। और इसके साथ ही हमारी यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी। हम लोग यहां से सीधे पांडवों से मिलने जा रहे थे। पांडवों से मुलाकात के नाम से ही मैं काफी उत्साहित हो उठा था। इसी उत्साह में रथ की कमान मैंने अपने ही हाथों में सम्भाल रखी थी। कहने की जरूरत नहीं कि हम भेष बदलकर जा रहे थे, क्योंकि मुलाकात की गुप्तता अति महत्वपूर्ण थी। एक छोटी-सी चूक उनके जीवित होने की गुप्तता उजागर कर सकती थी। इससे द्रुपद और कौरवों को तो काम मिल जाता, ...और शायद बेचारे पांडव काम से जाते।

खैर! राक्षस-राज पांचाल की सीमा से सटकर ही था। दो दिनों की संक्षिप्त यात्रा के बाद ही हम राक्षस प्रदेश पहुंच चुके थे। प्रदेश क्या था, एक घना जंगल ही था।पूरी तरह से अविकसित जंगल। और पांडवों का राजमहल क्या, टूटे-फूटे बांस व मिट्टी से बना एक ठीक-ठाक घर था। चूंकि सुबह का वक्त था सभी अपने महल में ही विराजमान थे। कहने की जरूरत नहीं कि पांडव मुझे देखते ही खुश हो गए थे। होगा, अभी तो सर्वप्रथम मैंने बुआजी के चरण-स्पर्श कर उनके आशीर्वाद लिए। कुंती बूआ काफी निराश नजर आ रही थी। हालांकि आत्मविश्वास तो पांडवों का भी डगमगाया हुआ ही नजर आ रहा था। हां, ‘‘महाराजा वक्रोदर’’ यानी भीम काफी प्रसन्न नजर आ रहा था। ...नहीं-नहीं, वह प्रसन्न इसलिए नहीं था कि वह राजा बन गया था या उसका विवाह हुआ था, बल्कि इसलिए कि एक राजा होने के नाते उसे दोनों वक्त भरपेट भोजन नसीब हो रहा था। सचमुच छोटी-छोटी बातों से प्रसन्न हो जाने वाला कितना आनंदित रहता है। और भीम इस समय इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण पेश कर रहा था।

दूसरी ओर बाकी सब तो ऐसा मुंह लटकाए बैठे थे कि बातचीत का मन ही न होए। वैसे जल्द ही कुंती बूआ को छोड़ हम सभी बाहर खुले में आ गए। चार-पांच पेड़ों के झुंड के बीच हम सभी जमीन पर ही यहां-वहां फैल गए। अब तक हमलोगों के बीच कोई विशेष बातचीत नहीं हो रही थी। स्वाभाविक तौर पर सन्नाटे को चीरती हुई पहली आवाज भीम की ही सुनाई दी। भीम ने बताया कि शुरू-शुरू में भोजन की बड़ी समस्या हो रही थी कन्हैया, क्योंकि सभी राक्षस नरभक्षी थे। लेकिन मेरे राजा बनते ही मैंने मानव हिंसा पर प्रतिबंध लगा दिया। मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि अच्छे लोगों के राजा बनने का यही फायदा है। इसलिए तो मैं हमेशा से राज्य की कमान अच्छे व्यक्तियों को सौंपने का पक्षधर रहा हूँ।

खैर! यह बात तो आई-गई हो गई पर सच कहूं तो पांडवों की इस असमय की हताशा ने मुझे एक अनूठी चिंता में डाल दिया था। क्योंकि अभी उन्हें यह सबकुछ लंबे समय तक सहना था। उनके उद्धार का समय अभी नहीं आया था। और समय पूर्व की बेचैनी उद्धार में बाधक सिद्ध होती है। ऊपर से मुसीबत यह कि कोई कुछ कह भी नहीं रहा था। उदासी का कोई कारण भी नहीं बता रहा था। लेकिन सबके चेहरों पे छायी मनहूसियत स्थिति की गंभीरता बयां कर ही रही थी।

होगा, अभी तो बूआ की ओर से भोजन का निमंत्रण आ चुका था, सो हम सब खाने पर टूट पड़े थे। भोजन के पश्चात् भी बातचीत का कोई विशेष माहौल नहीं बन पा रहा था। कोई बात नहीं, वक्त का फायदा उठाते हुए हम सभी यहां-वहां बैठक कक्ष में ही लेट गए। इन सब चक्करों में संध्या हो गई। अब और इन्तजार नहीं किया जा सकता था। बस मैं अर्जुन को लेकर टहलने निकल पड़ा। मैं जानता था कि एकान्त मिलते ही वह दिल की भड़ास अवश्य निकालेगा। हुआ भी यही, मुझे अकेला पाकर अर्जुन ने काफी सवाल किए। बहुत-सी बातचीत की। मेरा उसे टहलने ले जाना सार्थक सिद्ध हुआ। तमाम रहस्यों पर से परदा उठ चुका था। ...पूरी बात का सार यह था कि अर्जुन व भीम दोनों इन परिस्थितियों के लिए युधिष्ठिर को जवाबदार मान रहे थे। उनका कहना था कि पता नहीं कब युधिष्ठिर ने महाराज धृतराष्ट्र से बातचीत की व जाने कब वारणावत जाने का प्रस्ताव स्वीकार किया, हमें कुछ पता नहीं। वे इस चर्चा हेतु हममें से किसी को भी अपने साथ नहीं ले गए थे, वरना हम यह प्रस्ताव कभी नहीं स्वीकारते। लो यह भी कोई बात हुई? ठुकराना चाहो तो प्रस्ताव तो युधिष्ठिर के स्वीकारने के बाद भी ठुकराया जा सकता था। वह अकेला था व तुम चार। असली समस्या यह थी कि ये लोग युधिष्ठिर का विरोध ही नहीं करते थे। अरे, इतना हो जाने के बावजूद कोई युधिष्ठिर के सामने खुलकर कुछ भी बोलने को तैयार कहां था?

खैर! संध्या का भोजन हम सब ने महाराज वक्रोदर यानी भीम के राजमहल में ही किया। कुल जमा दो

हजार राक्षसों की यह बस्ती थी। होगा, अभी तो भोजन के पश्चात् मैं सभी भाइयों के साथ एक कक्ष में बैठ गया। उन्हें बहुत कुछ समझाना जरूरी था। परिस्थिति की वास्तविकता से उन्हें अवगत कराना भी आवश्यक था। इसी मकसद से तो मैं यहां आया हुआ था। अत: सबसे पहले मैंने सभी को हमेशा सावधान रहने की सलाह दी। उनके जीवित होने की गुप्तता बनाये रखने की आवश्यकता भी समझाई। क्योंकि अब खतरा केवल कौरवों की ओर से नहीं था, अब तो महाराजा द्रुपद भी अर्जुन से प्रतिशोध की आग में जल रहे थे। यानी खतरा दो-तरफा मंडरा रहा था। ऐसे में इस समय न तो उनका हस्तिनापुर जाना खतरे से खाली था, ना ही प्रकट होना। अभी मेरा समझाना जारी ही था कि चालू बातचीत में भीम उबाल खा गया। हकीकत में द्रुपद के उनके शत्रु होने ने भीम को उकसा दिया था। बस सारी बातें सुनकर वह द्रोण पर काफी नाराज हुआ। उसका कहना था कि यह द्रुपद नामक बीमारी हमारे पीछे आचार्य के कारण ही लगी है। वह इतना भड़क गया था कि उसने द्रोण को काफी भला-बुरा भी कह डाला। उसने यहां तक कहा कि आचार्य दिल से बड़े ही दुष्ट हैं। ब्राह्मण व आचार्य होकर भी गुरुदक्षिणा में हिंसा व प्रतिशोध मांगते हैं।

उधर स्वाभाविक तौर पर अर्जुन व युधिष्ठिर को भीम का द्रोण को भला-बुरा कहना अच्छा नहीं लगा। लेकिन मैं इस समय ऐसे मामलों को तूल देना नहीं चाहता था, ना ही मैं यहां ज्यादा रुकना चाहता था। क्योंकि भेष बदलने के बावजूद भेद खुलने का खतरा तो बना ही हुआ था। मैं तो यहां सिर्फ पांडवों से मिलने, उनके हाल-चाल पूछने और एक विशिष्ट निर्देश देने आया हुआ था। सो मैंने बात का रुख मोड़ते हुए बड़ी गंभीरतापूर्वक सबसे कहा- यदि आप लोग मुझपर भरोसा कर पाएं तो मेरी यह राय है कि आप यह राज्य छोड़कर कहीं मत जाइएगा। इसी में आपकी भलाई है।

यह सुनते ही युधिष्ठिर तपाक से बोला- कैसी बात करते हो कृष्ण! अब हमें आप ही का तो सहारा है। इस संकट की घड़ी में हमारा है ही कौन?

पता नहीं क्यों युधिष्ठिर के बोलते ही मुझे कुछ हो जाता था। मेरे मुंह से तपाक से निकल गया- धर्मराज! इसका अर्थ यह हुआ कि मुझपर भरोसा करना आपकी मजबूरी है।

मेरी बात सुनते ही सभी चौंक गए। मामला बिगड़ता देख अर्जुन ने कमान सम्भाली। उसने स्पष्ट करते हुए कहा- भैया के कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं है। हम लोगों का आप पर अन्यथा भी पूर्ण विश्वास है।

मैं वैसे भी इस समय किसी बात को तूल देने के पक्ष में नहीं था। अत: मैंने बात टालते हुए बड़े शांत होकर कहा- "ठीक है, फिर अगले छ: आठ महीनों में या हो सकता है एक वर्ष भी लग जाए, मैं या उद्धव या दोनों आपके पास एक पक्की योजना लेकर आएंगे। मेरा आपसे निवेदन है कि तब तक आप यहीं पर अपना गुप्त जीवन बिताइए। और हो सके तो अपने क्रोध व दु:ख पर काबू रखना जल्द-से-जल्द सीख जाइए।

...सभी ने एकमत से मेरी बात पर पूर्णत: अमल करने का आश्वासन दिया। साथ ही मेरी हर समझाइश को ध्यान में रखने का वचन भी दिया। इसके साथ ही मेरा कार्य पूर्ण हुआ। वैसे तो मेरा मन भीम व अर्जुन के साथ और समय बिताना चाहता था, परंतु रहस्य खुलने के परिणामों को देखते हुए यहां रुकने की हिम्मत नहीं हो रही थी। यूं भी सावधानी की कीमत पर मुझे अन्य कुछ मंजूर नहीं था। अत: दूसरे दिन सुबह ही हमने यह प्रदेश छोड़ने का फैसला किया। बाकी सब तो शांति से सो गए, परंतु मैं, उद्धव, अर्जुन व भीम देर रात्रि तक बातें करते रहे। ...फिर यह मौका कब हाथ लगे, पता नहीं।

मेरा नागकन्या से विवाह

दूसरे दिन सुबह ही हम लोग ''नाग-प्रदेश'' जाने के लिए रवाना हो गए। यह प्रदेश भी पांचाल की सीमा से लगा ही हुआ था। मन दादा-परदादा को मिलने के ख्याल-मात्र से ही प्रफुल्लित हुआ जा रहा था। लेकिन जैसे-जैसे हमारी यात्रा आगे बढ़ रही थी, प्रसन्नता का सुरूर उतर रहा था और एक अनजान चिंता ने मुझे घेरना शुरू कर दिया था। मैं सोचने यह लगा कि नागकूट पर कोई गहरा संकट अवश्य आया होना चाहिए जो मुझे इस कदर याद किया गया है। पर वह संकट क्या हो सकता है? अब संकट चाहे जो हो, उसका पूर्ण समाधान तो करना ही था। हम द्वारका में मौज करें व हमारे पुरखे संकटों से घिरे रहें, तो इस मौज-मस्ती का अर्थ ही क्या रहा? बात तो एकदम ठीक, पर संकट दूर तो पहुंचने पर ही किया जा सकेगा? सो, बेहतर है चिंता खुद तक ही रखूं व आपसे अभी यात्रा की ही बात करूं।

वैसे तो ये सारे प्रदेश एक-दूसरे से सटे हुए थे। परंतु कोई व्यवस्थित मार्ग न होने की वजह से रह-रहकर यात्रा अत्यंत धीमी पड़ जाती थी। कोई बात नहीं, इसके बावजूद तीसरे दिन ही हमने नागकूट की सीमा छू ली थी। बस मैं तो अचानक दादा व परदादा से मिलने की खुशी से भर गया। ...और मजा यह कि अभी हमने सीमा प्रवेश किया ही था कि मेरी खुशी को बढ़ाने मौसम भी कूद पड़ा। चारों ओर कुदरत की मेहरबानी हो गई।मौसम अचानक सुहावना हो गया। वर्षा-ऋतु ने दस्तक दे दी। चारों तरफ बादलों की तेज गड़गड़ाहट सुनाई देने लगी। देखते-ही-देखते पूरे आकाश पर घने बादल छा गए। अभी आगे और कुछ सोचो या समझो, उससे पहले तो भारी वर्षा प्रारंभ भी हो गई। एक तरीके से नागकूट में मैंने व वर्षा ऋतु ने एक साथ पदार्पण किया। और यह अच्छा ही हुआ था जो हमारे नागप्रदेश में प्रवेश के बाद वर्षा प्रारंभ हुई थी। वरना मार्गों की हालत देखते हुए यह स्पष्ट था कि हमारी दो दिनों की यात्रा दस दिनों की हो जाती। सबूत के तौर पर अभी तो बारिश ने दस्तक ही दी थी कि चारों ओर कीचड़-ही-कीचड़ हो गया था। भीनी माटी की खुशबू तो बहुत दूर की बात है, पूरा वातावरण बदबूदार हो गया था। प्रवेश के साथ ही इतना तो समझ आ ही गया कि यह एक अविकसित प्रदेश है। सच कहूं तो इससे कहीं ज्यादा विकसित तो वृन्दावन व गोकुल थे। ...सचमुच आज पहली बार आर्यावर्त के अलग-अलग राज्यों के जीवन-स्तर में फर्क महसूस हो रहा था। समृद्धि व विकास जो मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है, वाकई उससे भी मनुष्यता कितनी अछूती रह गई है? ...कब पूरा आर्यावर्त समृद्धि व विकास की नई ऊंचाइयां छूएगा? शायद जब पूरा आर्यावर्त एक हो जाएगा। वरना तब तक विकसित व अविकसित राज्यों का भेद बना ही रहेगा। और इतने राजाओं व उनकी आपसी महत्वाकांक्षा व दुश्मनी के चलते यह आर्यावर्त कभी एक हो पाएगा? ऐसा हाल-फिलहाल तो नहीं लग रहा...

होगा, अभी तो मैंने अपने चिंतन पर लगाम कसी व अपना ध्यान वर्तमान यात्रा पर लगाया। वर्षा अब भी अपने उफान पर थी। हमारे रथों की गति अत्यंत धीमी पड़ चुकी थी। रथों के आधे पहिये जमीन में धंस रहे थे। अब तो रथों को चलाना भी मुश्किल हो रहा था। कई रथ बुरी तरह पांस भी चुके थे। कुल-मिलाकर अब हमारे पास पैदल चलने के अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं बचा था। सो रथ से उतर तो गए परंतु वास्तविकता यह थी कि पैदल चलना भी इतना आसान न था। बार-बार पांव कीचड़ में धंस रहे थे। कई बार तो पांव इतने बुरे पांस जाते थे कि उन्हें जोर लगाकर निकालना पड़ रहा था। अजब दृश्य हो चुका था। आगे छप-छप करते कीचड़ से बने रास्तों पर हम बढ़ने की कोशिश कर रहे थे, और पीछे-पीछे यही कृत्य दोहराते सेवक चले आ रहे थे। उधर वर्षा जोर पकड़ती जा रही थी, तो इधर कीचड़ व बदबू अपना रंग जमा रहे थे। सबसे बुरी हालत रथ-चालकों की व सिपाहियों की हो चुकी थी। बेचारे किसी तरह घोड़ों की लगाम पकड़कर रथ को घसिटवाते चले आ रहे थे। यह कम था तो वातावरण भी अंधियारा हो चुका था व उसपर जंगल भी काफी घना नजर आ रहा था। और बस्ती का दूर-दूर तक कुछ पता नहीं था। यात्रा की गति देखते हुए यात्रा के लंबी होने के आसार साफ दिख रहे थे।

होगा! इन सबके बावजूद मुझे तो मजा आ रहा था। ...अब वर्षा ऋतु मुझे यूं ही रोमांचित कर देती थी। उस पर वर्षा में नहाना तो मुझे पागल करके छोड़ता था। कहने का तात्पर्य, तमाम कष्टों के बावजूद कम-से-कम इस समय मेरे इस आनंद की पूर्ति अवश्य हो रही थी। कहा जा सकता है कि जमीन भले ही नाराज थी पर आसमां मेहरबान था। यानी कमाल हो गया था, प्रकृति के दोनों सिरे इस समय हमसे भिन्न-भिन्न व्यवहार कर रहे थे। हालांकि मेरा पूरा ध्यान वर्षा का आनंद लेने में लगा हुआ था, ...पांव का कष्ट पांव जाने। पर यह तो मेरी बात हुई, उधर दूसरी ओर उद्धव-दारुक समेत सभी बड़े दुखी थे। क्योंकि उनका पूरा ध्यान कीचड़ व बदबू पर था। वे लोग

यह नहीं समझ रहे थे कि प्रतिकूल परिस्थिति आपको तभी तक परेशान कर सकती है जब तक उस पर ध्यान दिया जाए। यदि मनुष्य अपना पूरा ध्यान प्रतिकूल परिस्थिति से हटाकर किसी भी अनुकूल जगह लगा सके, तो प्रतिकूल परिस्थिति का दर्द तत्क्षण कम हो जाता है। लेकिन जीने की यह अद्भुत कला ये लोग नहीं जानते थे, इसीलिए इतनी प्यारी वर्षा में भीगने के आनंद से वंचित रह गए थे।

खैर! हमें ज्यादा देर कीचड़ में नहीं चलना पड़ा। शायद हमारे आगमन की सूचना राजमहल तक पहुंच चुकी थी। कुछ लोग पालकी लेकर हमें लेने आ पधारे थे। मजा यह कि हम तो इन ढकी पालकियों पे चढ़ गए थे, पर इनको ढोने वालों को न कीचड़ बाधा था न वर्षा बाधा थी। वे तो हमें लेकर तेज गति से बढ़े जा रहे थे। दो बांसों के बीच में कपड़े व बांसों से बनी ये पालकियां दो-दो जने मिलकर ढो रहे थे। यह भी अपने तरीके का एक नया ही अनुभव था। हालांकि पालकी की वजह से यदि पांवों को कीचड़ से छुटकारा मिलने का सुख था, तो सामने वर्षा में भीगने का आनंद भी छू हो गया था। इससे एकबार फिर सिद्ध हो गया था कि जीवन में सुख और दु:ख साथ-साथ चलते है। दु:ख हटते ही सुख भी हट जाता है। फिर भी न जाने क्यूं मनुष्य दु:ख हटाने की गलत चेष्टा में पूरा जीवन बिता देता है। और परिणामस्वरूप मिलने वाले आनंद से स्वत: ही वंचित हो जाता है।

दु:ख और सुख तो एक-दूसरे के स्थायी संगी-साथी हैं; एक-दूसरे की छाया है। अत: एक को हटाते ही दूसरा अपने आप हट जाता है। या तो मनुष्य दु:ख और सुख दोनों का एक साथ साक्षी बनकर मेरी तरह हमेशा आनंद में रह सकता है, या अपना ध्यान दु:ख की जगह सुख में लगाकर सुखी हो सकता है। लेकिन दु:ख हटाने की चेष्टा करने वाला अकारण पूरा जीवन दु:ख में बिता देता है। मेरी समझ से यह मनुष्य अपना ध्यान दु:ख पर लगाने की वजह से ही इतना दुखी है। हालांकि उसकी मूर्खता यहीं नहीं रुकती। वह दु:खों को दूर करने की चेष्टा में दु:खों में उल्टा बढ़ोतरीही करता चला जाता है। और एक दिन इस तरह वह अपना पूरा जीवन दु:खमय बना लेता है। सीधे-सीधे दु:ख और सुख को समान मानकर जीता क्यों नहीं चला जाता है?

होगा, बाकी मनुष्यों की बाकी मनुष्य जाने। मैंने तो दु:खों का परदा फाड़ अपने सुख का रास्ता खोज लिया था। मैंने अपनी मुंडी व हाथ दोनों पालकी से बाहर निकाल लिए थे। यानी पांव को कीचड़ से छुटकारा भी मिल गया था व वर्षा में भीगने का आनंद भी मिलना शुरू हो गया था। उधर जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जा रहे थे नागकूट की गलियां अत्यंत संकरी होती जा रही थी। एक समय में एक ही पालकी निकल पा रही थी। अर्थात् रथों का इन संकरी गलियों से गुजरना असंभव था। हालांकि हमारी इस अनोखी यात्रा का अंत नजदीक ही नजर आ रहा था। हम लोग बस्ती के काफी करीब पहुंच चुके थे। दूर से ही कच्चे-पक्के मकान नजर भी आने लगे थे। यहां के जंगल भी काफी हरे व घने मालूम पड़ रहे थे। यानी राहत की बात यह कि यहां प्राकृतिक संपदा की कहीं कोई कमी दिखाई नहीं दे रही थी। वैसे यहां की एक और बात ने विशेष रूप से मेरा ध्यान आकर्षित किया था। यहां सभी छोटे कद के थे। सभी के चेहरे चपटे व आंखें भूरी थीं। वैसे तो मैंने बस्ती में घुसने के बाद एक और बात गौर की थी। यहां के पुरुष नाटे व चपटे होने के कारण भले ही विचित्र नजर आ रहे थे, परंतु चपटे चेहरों व भूरी आंखों के कारण यहां की स्त्रियां काफी सुंदर व आकर्षक नजर आ रही थीं। या हो सकता है मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा था कि मुझे स्त्री में कोई बुराई कभी नजर आती ही नहीं थी। यह भी हो सकता है कि इसी रूप-रंग की वजह से इसे नागकूट कहते होंगे व यहां के लोग नाग-जाति के कहे जाते होंगे। ...लेकिन मैं तो अत्यंत सुंदर हूँ। न तो मेरा चेहरा चपटा है, ना ही मेरा कद नाटा है। मैं भी तो इन्हीं का वंशज हूँ।पिताजी भी कहीं से नाग-प्रदेश के नहीं लगते हैं। अब तो पितामह व प्रपितामह को देखने की उत्सुकता और बढ़ गई थी। हो सकता है वे भी ऐसे न दिखते हों। या कुदरत की लीला हो सकती हैं, जहां कहीं भी, कभी भी और-कुछ भी हो सकता है। या यह भी हो सकता था कि हम लोग मां या उनके परिवार वालों पे गए हों।

होगा! अभी तो इधर जैसे-जैसे मेरे आने की खबर फैलती जा रही थी, भरी वर्षा में भी मुझे देखने वालों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। संकरी गलियों में उमड़ी इस भीड़ के कारण हमारी यात्रा और भी धीमी पड़ चुकी थी। कहने की जरूरत नहीं कि सभी पूरे सम्मान के साथ मेरा अभिवादन कर रहे थे। मैं भी सभी के अभिवादन का ससम्मान प्रत्युत्तर दे रहा था। सचमुच इन भोले नागकूट वासियों की आंखों में मेरे प्रति उमड़ा प्रेम व सम्मान देखते ही बनता था। ऐसे तो नागकूट वासियों का मेरे प्रति प्रेम व सम्मान समझ में भी आता था। मैं उन्हीं का वंशज था व आज अपना राज्य स्थापित कर तथा आर्यावर्त में अपनी धाक जमाकर उनके बीच आया था। सो नागकूट को अपने पुत्र की इस उपलब्धि पर गौरवान्वित होना ही था।

इधर उनका ऐसा भोला व सच्चा प्यार देख मुझसे नहीं रहा गया। वे पैदल चलें और मैं पालकी में बैठा रहूं। बस मैं पालकी से नीचे उतर आया। मेरे उतरते ही उद्धव व दारुक भी उतर आए। अब हम सबके साथ पैदल ही राजमहल की ओर बढ़े चले जा रहे थे। उधर मेरा यह व्यवहार देख सब इतने तो अभिभूत हो गए कि भीड़ और बढ़

गई। यूं भी रथ तो काफी पीछे थम गए थे।हां, पालकी वाले अवश्य अब भी हमारे पीछे-पीछे चले आ रहे थे; शायद हमारा इरादा बदल जाए।

होगा, अभी तो बस्ती प्रारंभ हो जाने के बावजूद रास्तों की ऐसी खास्ता हालत देख मेरे मन में नागकूट को लेकर हजार तरीके की नई चिंतायें उभर आई थीं। प्रदेश की हालत वाकई अत्यंत दयनीय नजर आ रही थी। चारों ओर कीचड़-ही-कीचड़ व बदबू-ही-बदबू थी। यदि मौसम की पहली वर्षा ने नागकूट का यह हाल कर दिया था, तो फिर यह प्रदेश पूरी वर्षा ऋतु कैसे झेलता होगा...? जीवन सचमुच यहां जानवरों से भी बदतर प्रतीत हो रहा था। जब अपने ही वंशज इतना कष्ट भोग रहे हैं तो द्वारका की समृद्धि के क्या मायने रह जाते हैं? क्या कभी पूरा आर्यावर्त द्वारका जैसी वैभवता व संपन्नता को प्राप्त होगा?

...इन्हीं विचारों में खोया हुआ था कि तभी सामने वाली गली में एक अर्ध-मूर्छित अवस्था में पड़े हुए कुत्ते पर मेरी नजर पड़ी। वह बुरी तरह घायल हो चुका था। कौवे उसका मांस नोच रहे थे। कई छोटे-छोटे जीव जंतु उस पर भिनभिना रहे थे। वह बुरी तरह दर्द से कराह रहा था। शायद वह दर्द की अधिकता के कारण ही मूर्छित हो गया था। वह कुत्ता इतनी बदबू मार रहा था कि सभी ने अपनी राह ही बदल दी। लेकिन मुझसे उसका दर्द नहीं देखा गया। कम-से-कम उसमें प्राण तो थे। और प्राण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण विश्व में और क्या है? मैं झट से दौड़कर उस कुत्ते के निकट जा पहुंचा। उधर मेरे जाते ही कौवे तो उड़ गए, परंतु छोटे-छोटे जीव जंतु अब भी उसे परेशान कर रहे थे। मैंने हाथ हिला-हिलाकर उन सबको भी उड़ाया। फिर उसे गोद में उठाकर अच्छे से पानी डालकर नहलाया। तत्पश्चात् उसके पूरे बदन पर चिकनी मिट्टी मल दी। स्पष्ट लग रहा था कि इससे उसे काफी राहत पहुंची है। उसका कराहना काफी कम हो चुका था। शायद यह मरहम-पट्टी से कहीं ज्यादा मेरे प्रेम का असर था। वैसे भी संसार में प्रेम से बढ़कर दूसरी कोई औषधि नहीं होती। मनुष्य बीमार हो, परेशान हो या संकटों से घिरा हुआ हो, या फिर अन्य किसी तकलीफ में क्यों न हो; सच कहता हूँ कि सच्ची-प्रेमपूर्ण हमदर्दी से बढ़कर कोई जड़ी-बूटी नहीं।

...सो, बस मैं उसे अपनी गोद में उठाकर अपने साथ ही राजमहल ले गया। राजमहल क्या था, लकड़ी से बना हुआ एक विशाल मकान था। उसके सामने ही एक बहुत बड़ा चौगान था। जहां मेरे दर्शनार्थ काफी भीड़ पहले से एकत्रित थी। मैंने राजमहल प्रवेश से पहले सबका अभिवादन किया और कुत्ता वहीं द्वारपालों को सौंप दिया। साथ ही उसको तुरंत वैद्यराज के पास ले जाने व उसकी अच्छे से देखभाल करने के निर्देश भी दिए। उधर राजमहल के द्वार पर ही महामंत्री ने हमारा स्वागत किया। लेकिन मैं पूरा कीचड़ में लथपथ था। अत: मैंने ज्यादा तकल्लुफ पालने की बजाय अपने विश्राम-कक्ष जाना उचित समझा। सबसे पहले मैंने जमकर स्नान किया। बाद में शरीर व कपड़ों पर ढेर सारा इत्तर छिड़का, आप मानेंगे नहीं तब कहीं जाकर मैं वापस मनुष्य हो पाया था। स्नान की यही खूबी होती है, कितनी भी थकान हो, उतर ही जाती है। वैसे इत्तर की भी एक खूबी होती है, मन कैसा भी हो, इत्तर की महक से प्रफुल्लित हो ही उठता है। यानी इस समय दोनों बेमिसाल जड़ी-बूटियों के सहारे मैं पूरी तरह तरोताजा हो चुका था। लेकिन उद्धव की थकान बरकरार थी। उसका भी कारण था, मुझे छोड़कर मेरा कोई भी मित्र व्यायाम में नियमित नहीं था। इसलिए दो-तीन दिन की रथ-यात्रा में ही उनके अस्थि-पंजर ढीले हो जाया करते थे।

होगा! अभी तो हम लोग नहाने-धोने के बाद लेट गए। उद्धव व दारुक तो पड़ते ही सो गए, पर मुझ बेचैन को नींद नहीं आ रही थी। दरअसल मुझे पितामह व प्रपितामह के दर्शन करने की तीव्र इच्छा हो रही थी। यूं भी नानाजी से मुझे बेहद प्यार मिला था। पितामह व प्रपितामह से भी उससे कम प्यार मिलने की उम्मीद नहीं थी। अत: मैंने द्वारपाल से कहकर महामंत्रीजी को बुलवाया। उनसे मैंने पितामह व प्रपितामह से मिलने की इच्छा जाहिर की। लेकिन जाने क्या सोचकर वे पहले मुझे पितामही के भाई के कक्ष में ले गए। मैंने भी एतराज नहीं किया। क्योंकि उनसे भी मिलना तो था ही। मैंने देखा वे काफी बूढ़े हो चुके थे। सिर के सारे बाल सफेद हो चुके थे। आकृति पर झुर्रियां उभर आई थी। मैंने उनके चरण-स्पर्श कर आशीर्वाद लिए और सोचने लगा कि इनके यह हाल है तो बाकियों की क्या स्थिति होगी? अच्छा हुआ जो मैं अभी यहां आ गया, वरना शायद बहुत देर हो जाती।

खैर! वहां से निकलते ही महामंत्रीजी मुझे पितामह के कक्ष में ले गए। वे तो और भी वृद्ध नजर आ रहे थे। मेरा परिचय पाते ही वे गद्गद् हो गए। उनकी आंखों से आंसू की धारा बह निकली। कुछ देर यहां-वहां की बातें कर मैं प्रपितामह से मिलने चल पड़ा। वे तो पूरी तरह से बुढ़ा चुके थे। यूं भी बुढ़ाने में बचा ही क्या था? उनकी उम्र करीब एक सौ साठ वर्ष थी। हालांकि स्नेह ऐसा कि मुझे आया जानकर इस उम्र में भी उनकी बांछें खिल गई थी। अभी मैंने उनके चरण-स्पर्श कर आशीर्वाद लिए ही थे कि उन्होंने आगे बढ़कर मुझे गले लगा लिया। मेरा तो मानो जीवन ही धन्य हो गया। तत्पश्चात् मैंने उन्हें ध्यान से देखा। अस्थि-पंजर को छोड़कर एकदम झूल गई उनकी त्वचा किसी प्राचीन ग्रंथों पर बंधे हुए वस्त्रों की याद दिलाती थी। प्रकृति की पवित्रता और इतिहास की एक लंबी परंपरा को

अपनी धड़कनों में समाए प्रपितामह प्रथम दृष्टि में ही मेरे आकर्षण व सम्मान के केंद्र हो चुके थे। बातचीत करते-करते बार-बार उनकी आंखों में आंसू आ जाते थे। मैं उनके चरणों के पास ही बैठ गया था व लगातार उनके पांव सहला रहा था। वाकई उनकी सेवा करने में आनंद ही कुछ और था। उनकी निर्दोष आत्मीयता दिल की गहराइयों तक सुकून पहुंचाने वाली थी। सचमुच यदि मैं यहां न आया होता तो शायद जीवन के एक महान अनुभव से वंचित रह जाता। वैसे भी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से सिवाय नि:स्वार्थ प्रेम की अनुभूति के और क्या चाहिए होता है? वैसे भी जबसे नागकूट आया हूँ, तबसे सबका निर्दोष प्रेम ही तो पा रहा हूँ। सच कहूं तो यहां आते ही मैं एकबार फिर से यशोदा की गोद में खेलता दो वर्ष का कन्हैया हो गया था। दूसरी तरफ 'प्रपितामह-दर्शन'' ने पूरे चिंतन को एक नई ऊर्जा से भर दिया था। हालांकि कुछ देर बैठने के बाद मुझे उनसे भी इजाजत लेनी पड़ी, क्योंकि उन्हें अब विश्राम की आवश्यकता महसूस हो रही थी।

इधर नागकूट के बाबत एक बात स्पष्ट कर दूं कि पितामह वगैरह सब नाम के ही थे, उम्र सबको धोखा दे गई थी; फलस्वरूप यहां का पूरा कामकाज महामंत्री ही सम्भालते थे। पितामह व प्रपितामह रोज-रोज के कार्यों से पूर्णत: आजाद थे। वे सिर्फ महत्त्वपूर्ण कार्यों में अपनी राय दिया करते थे। यूं तो उम्र का तकाजा भी यही कहता था। ...उधर खुशी की बात यह कि महामंत्रीजी ने हमारे सम्मान में शानदार रात्रि-भोज का आयोजन किया था। अच्छा यह भी था कि उसमें पूरी मंत्रिपरिषद आमंत्रित थी। मैं भी यहां की परिस्थितियों व परेशानियों के बाबत जल्द-से-जल्द जानना ही चाहता था। बस कुछ देर सुस्ता कर मैं समय से ही पहुंच गया था। दूसरी ओर उद्धव भी दिनभर का विश्राम कर पूरी तरह तरोताजा हो चुका था। सो स्वाभाविक तौर पर उसे भी अपने साथ ले गया था। इधर देखते-ही-देखते पूरी मंत्रिपरिषद एकत्रित हो चुकी थी। पितामह व प्रपितामह भी पधार चुके थे। मैंने उनके चरण-स्पर्श करते हुए उन्हें उद्धव से मिलवाया। उनका उद्धव से वही रिश्ता था जो मुझसे था। वह भी उनका पोता व परपोता ही था। इधर भोज से पूर्व महामंत्री ने मेरा परिचय पूरी मंत्रिपरिषद से करवाया। यह सभाकक्ष कोई बहुत सजा-धजा तो नहीं था परंतु करीब तीस लोग समा जाए इतना विशाल अवश्य था। और इस समय पूरी तरह भरा भी हुआ था। उधर मुलाकात की औपचारिकताएं निपटते ही बातचीत का सिलसिला प्रपितामह ने ही प्रारंभ किया। उन्होंने कहा- मैं तो अपने जीते जी तुमसे मिलने की उम्मीद ही छोड़ चुका था।

मैंने कहा- ऐसा क्यों कहते हैं। अब तो मैं आ गया हूँ।

...यह सुनते ही वे बड़े भावुक हो उठे। फिर कुछ देर यहां-वहां की बात चलती रही। मुझे द्वारका स्थापना की सामूहिक बधाई भी दी गई। यह सब तो ठीक, पर मेरा मन नागकूट की दयनीय व अविकसित हालत देख काफी उदास हो गया था। अत: मैं यहां की मुसीबतों के बारे में विस्तार से जानना चाहता था। साथ ही मुझे यह भी लग रहा था कि कहने को तो हर कोई बहुत कुछ चाहता है, पर कैसे कहें या कहें ना कहें; बस इन्हीं उलझनों में सब पांसे जान पड़ रहे थे। और मैं इस रात्रि-भोज को व्यर्थ जाने देना कतई नहीं चाहता था। मैं सारी समस्याओं पर से परदा आज ही उठवा लेना चाहता था। अत: जब मैंने देखा कि कोई कुछ आसानी से कहने वाला नहीं तो मैंने ही सीधा पूछ लिया- क्या कारण है कि यह प्रदेश बिल्कुल विकसित नहीं है? पिताजी भी बता रहे थे कि यहां अन्य मुसीबतें भी काफी बढ़ चुकी हैं। मैं सबकुछ विस्तार से जानना चाहता हूँ, ताकि मैं उन समस्याओं का यथायोग्य समाधान निकाल सकूं।

मेरी बात सुनते ही पूरे दरबार में खामोशी छा गई। स्वाभाविक तौर पर अभी मैं आया ही था। अब आते ही दुखड़ा सुनाना कौन पसंद करेगा? पितामह ने तो कहा भी कि अभी तुम थककर आए हो; ये सब बातें फिर कभी हो जाएगी। लेकिन मैं सबकुछ आज ही जानना चाहता था।भला समस्याओं का निराकरण भी कहीं टाला जाता है? सो मेरे दो-तीन बार कहने पर आखिर महामंत्री ने प्रपितामह की आज्ञा लेकर विस्तार से समस्याओं का वर्णन करना प्रारंभ किया। उनके कहने का सार था - नागकूट की हालत शुरू से इतनी दयनीय नहीं थी। भले ही यह विकसित कभी नहीं था, पर हम लोग खाते-पीते सुखी थे। नागकूट की बदकिस्मती यह हुई कि इसकी सीमाएं हस्तिनापुर व पांचाल जैसे बड़े राज्यों से सटी हुई हैं। और पिछले कुछ वर्षों से हस्तिनापुर व पांचाल के सैनिक जबरन नागकूट की सीमा में घुस आते हैं, और खुल्लम-खुल्ला हमारी कन्याएं व गायों को उठाकर ले जाते हैं। आजकल इनके आतंक से घबराई नाग-कन्याएं दूर जंगल तक जाने से भी घबराने लगी हैं। पता नहीं क्यों पिछले कुछ वर्षों से इन नागकन्याओं की सेवा व सुंदरता दोनों राजमहलों को खूब भा गई है।

सचमुच समस्या बड़ी गंभीर थी। यहां तो बहू-बेटियों की अस्मिता ही दांव पर लगी हुई थी। अरे हां..., मुझे ध्यान आया कि हस्तिनापुर व पांचाल के राजदरबार की कई दासियां व सेविकाएं नागकन्याएं ही तो थीं। चलो, यह तो बराबर है, माना समस्या भी गहरी ही है, पर सच कहूं तो मेरे मन में पूरी बात सुनने के बाद इन सबको लेकर

हजारों सवाल उठ रहे थे। पहले मैं उन सबका समाधान चाहता था। अत: मैंने उत्सुकता-वश पूछा- लेकिन आप लोग उनका सामना क्यों नहीं करते? वे कोई सैन्य हमला तो कर नहीं रहे? क्या उनके चंद सिपाहियों से भी आप निपटने में अक्षम हैं?

महामंत्रीजी ने तत्क्षण सफाई देते हुए कहा- क्या करें! उनके पास ना सिर्फ अश्वारोही सैनिक हैं, बल्कि कई दुरतगामी रथ व आधुनिक हथियार भी हैं। और वे युद्ध में निष्णात् भी हैं। एकबार उन्होंने नागकन्या को रथ में बिठाया तो हम उनका पीछा भी नहीं कर सकते। हमारे पास तो न अश्व हैं, न शस्त्र।

...अच्छा तो यह बात है। यूं तो हस्तिनापुर व पांचाल दोनों मेरे प्रभाव में थे। कहने को तो उनसे कहकर भी यह दुष्कर्म रोका ही जा सकता था। लेकिन यह उचित नहीं जान पड़ रहा था। और फिर ना ही यह समस्या का स्थायी समाधान ही था। क्योंकि हर मनुष्य व हर प्रदेश को अपनी रक्षा स्वयं करनी होती है। और जो अपनी या अपने प्रदेश की रक्षा नहीं कर सकता, उसका यह हाल स्वाभाविक ही है। इधर मैं अभी यही सब सोच रहा था कि महामंत्री ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा- हस्तिनापुर व पांचाल इन दो दिशाओं से तो हम पर हमले होते ही रहते थे, लेकिन आजकल नागकूट की तीसरी सीमा भी सुरक्षित नहीं रही। वहां "राक्षस-राज" है और वह नरभक्षी है। वे भी किसी-न-किसी को उठाकर ले जाते हैं। वैसे पिछले कुछ माह से उनके हमले बंद हो गए हैं।

मैं समझ गया, राक्षस राज यानी महाराजा वक्रोदर का प्रदेश। लेकिन अब भीम के आदेश के बाद उन्होंने मानव-मांस खाना बंद कर दिया है। अत: अभी हमले बंद है। लेकिन यह तय है कि नागकूट तीनों दिशाओं से घिरा हुआ है। क्योंकि भीम कोई वहां का स्थायी राजा तो है नहीं।

...मैं इन्हीं सब बातों पर विचार कर ही रहा था कि अबकी प्रपितामह बड़े दुखी होते हुए बोले- ये सारी मुसीबतें कम थी तो अभी हाल ही में एक और समस्या खड़ी हो गई है। जब से पांडव जल मरे हैं, दुर्योधन खुला सांढ़ हो गया है। वह हस्तिनापुर के आसपास के राजाओं को परेशान कर रहा है। यहां तक कि उसने चेकितान पर हमला कर उसका प्रदेश हस्तिनापुर में मिला लिया है। चेकितान अब अपने कुछ सैनिकों के साथ यहां-वहां भागता फिर रहा है। परिणामस्वरूप अपनी जरूरतें पूरी करने वह भी भूखे भेड़ियों की तरह नागकूट पर आक्रमण करने लगा हैं। उसके सैनिक भी यहां से कन्या, गायें, भोजन जो भी मिलता है; उठा ले जाते हैं।

यह सुनते ही मेरा तो पूरा चिंतन हिल गया। एक बात तो स्पष्ट थी कि नागकूट चारों ओर से घिर गया है। पूरा प्रदेश मौत के साये में जी रहा है। लेकिन दुर्योधन का चेकितान पर हमला करना उससे भी ज्यादा चिंता में डालने वाली खबर थी। अभी मुझे हस्तिनापुर छोड़े बमुश्किल तीन माह ही हुए हैं, और इतने में दुर्योधन ने अपना रंग दिखाना शुरू भी कर दिया। मेरा माथा ज्यादा इसलिए ठनक गया था कि चेकितान और हस्तिनापुर मित्र राज्य हैं। रिश्तेदार भी है। फिर भी दुर्योधन की महत्त्वाकांक्षा का घोड़ा इतना बेलगाम कैसे हो गया? दुर्योधन व शकुनि तो माना स्वभाव से ही नीच हैं, लेकिन क्या भीष्म व धृतराष्ट्र भी दुर्योधन को यह कुकर्म करने से नहीं रोक पाए? ...ऐसा ही जान पड़ता है। तब तो यह बहुत बुरी खबर हुई। दुर्योधन अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यदि चेकितान पर हमला कर सकता है, तब तो कल उठकर वह आसपास के किसी भी राज्य पर हमला कर सकता है। यानी उस पर लगाम कसना आवश्यक हो गया है। और उस पर लगाम लगाने का एक ही उपाय नजर आ रहा था कि पांडवों को शक्तिशाली बनाकर वापस हस्तिनापुर भेजा जाए।

खैर! यह सब भविष्य की बातें थी। उसमें वक्त लगना था। और नागकूट का इससे कुछ लेना-देना भी नहीं था। सबसे पहले नागकूट की समस्या का समाधान खोज लिया जाए, फिर इन सब बातों पर भी विचार कर लिया जाएगा। अब "कृष्ण एक-समस्याएं अनेक।" द्वारका, हस्तिनापुर, पांचाल, नागकूट सब किसी-न-किसी समस्या से घिरे पड़े हैं। ऐसे में अकेला कृष्ण कहां-कहां दौड़े? बेहतर है एक के बाद एक समस्या का निवारण किया जाए। सामने नागकूट है, मैं भी नागकूट में हूँ; अत: नागकूट की समस्या को ही प्राथमिकता से निपटाया जाए। सो मैं पूरी तरह से नागकूट में आ गया। और यहां की समस्या के बाबत कहूं तो समस्या अच्छे से समझ भी चुका था व समस्या बाबत जितना सोचना था, सोच भी चुका था। और मेरी सोच का तारण कहूं तो यहां की सबसे बड़ी समस्या जो मुझे नजर आ रही थी, वह थी यहां का थका हुआ व बूढ़ा नेतृत्व। सबसे पहले यहां युवा शक्ति को आगे लाने की आवश्यकता थी। यूं भी किसी भी समस्या का समाधान कर्म के दायरे में ही खोजना होता है। बिना कर्म किए तो पत्ता भी नहीं हिलाया जा सकता। बस मामूली से चिंतन के बाद मैं अपनी ओर से समस्या पर रोशनी डालने हेतु तैयार था। उधर सभी मेरे कुछ कहने का इन्तजार ही कर रहे थे। मैंने तुरंत अपनी बात रखते हुए कहा- यहां की समस्या इतनी गहरी नहीं है जितनी दिखाई दे रही हैं। मेरी राय में नागकूट की प्रमुख समस्या युवा शक्ति का निष्क्रिय होना है। अत: हमें सबसे पहले युवा नेतृत्व पैदा करना होगा। युवा-शक्ति को सक्रिय कर उन्हें जवाबदारी सौंपनी होगी। उनका उत्साह बढ़ाते

हुए ना सिर्फ बहू-बेटियों की सुरक्षा, बल्कि प्रदेश के विकास का जिम्मा भी उन्हें सौंपना होगा। वास्तव में अनुभव का कार्य सलाह देने तक सीमित होना चाहिए। अत: आप लोगों को एतराज न हो तो मैं महामंत्री के साथ मिलकर आगे की योजना बना लूं।

एतराज होने का सवाल ही नहीं उठता था। सर्वसम्मति से मुझे व महामंत्री को आगे की योजना बनाने व उनके कार्यान्वयन के सारे अधिकार दे दिए गए। और इसके साथ ही भोज समाप्त हुआ। ...पर मैं सक्रिय हो गया। मैंने हाथोंहाथ महामंत्रीजी को जल्द-से-जल्द युवकों की एक सभा चौगान में आयोजित करने के निर्देश दिए। अब महामंत्रीजी को सभा बुलवाने में दो-चार दिन का वक्त तो लगना ही था। और तब तक हमारे पास करने को कुछ खास नहीं था। यानी हम पूर्णरूपेण स्वतंत्र और स्वच्छंद हो चुके थे। बस उस खुशी में रात जो सोये तो सीधे दोपहर को ही उठे। फिर क्या था, बस फटाफट तैयार होकर नागकूट भ्रमण पर निकल पड़े। बारिश रुक चुकी थी व मौसम वैसे ही सुहावना हो चुका था। हम जहां से गुजरते हमें मिलने व बात करने वालों की भीड़ जमा हो जाती। यहां की सबसे बड़ी विशेषता जो नजर आ रही थी वह यह कि यहां की बस्तियां दूर-दूर तक फैली हुई थी, लेकिन बावजूद इसके वे आपस में किन्हीं व्यवस्थित मार्गो से जुड़ी हुई नहीं थी। होगा, अभी तो एक राज की बात बताऊं तो यहां की नाग-कन्याओं ने मुझे वृन्दावन की याद ताजा करवा दी थी। अभी तो आज मेरा प्रथम दिन था और अभी से मेरा हाल "चारों तरफ नाग-कन्या और बीच में कन्हैया" वाला हो गया था। और झूठ क्यों कहूं, मुझे तो यूं भी बचपन से कन्याओं से घिरा रहना बहुत पसंद आता था। बस अगले तीन-चार दिन यही क्रम चलता रहा। हम सभी सुबह से शाम तक नागकूट का चक्कर लगाते रहते थे। दोपहर का भोजन तीन-चार घरों में हो जाया करता था।पूरे नागकूट में हमारी मेहमाननवाजी की होड़ मची हुई थी। कहने की जरूरत नहीं कि कन्याएं विशेष रूप से उत्साहित थीं।जिस घर में भोजन करते, पूरा परिवार अपने को धन्य समझने लगता। सच कहता हूँ कि मनुष्य की सबसे बड़ी पूंजी ही आपसी प्रेम है और उसकी नागकूट में कहीं कोई कमी नजर नहीं आ रही थी। मैं तो दो-चार दिनों में ही यहां की प्रजा के साथ पूरी तरह से घुल-मिल गया था। अब तो आते-जाते सबसे मजाक-मस्ती भी कर लिया करता था, खासकर नाग-कन्याओं से।

...चलो छोड़ो, यह सब तो कृष्ण का पुराना रोना है। नई बात तो यह कि यहां के तीन-चार रोज के भ्रमण में एक बात ने मेरा ध्यान विशेष रूप से खींचा। जहां देखो वहां हरियाली-ही-हरियाली थी। यानी यहां फल-फूल की कोई कमी नहीं थी। अर्थात् थोड़ी-सी मेहनत से यहां का जीवन-स्तर सुधारा जा सकता था।दूसरी बात जो समझ में आ रही थी वह यह कि नागकूट तक पहुंचने के सिर्फ तीन प्रमुख मार्ग थे। दुश्मन के सैनिक इन्हीं तीन मार्गों से नगरी में प्रवेश कर सकते थे। यदि इन मार्गों में कांटों की बाड़ लगा दी जाए, तो नागकूट प्रवेश इतना आसान नहीं रह जाएगा। शायद एक समस्या का निदान तो इसी से आ जाएगा। वहीं यहां की दूसरी समस्या की बात करूं तो भूखंड की दृष्टि से यह एक अत्यंत छोटा प्रदेश था, लेकिन यहां की आबादी करीब बीस हजार थी। और ऊपर से आबादी चारों ओर फैली भी हुई थी। मैं इतना चिंतन इसलिए कर रहा था कि मुझे इन भोले नागकूट वासियों से इतना लगाव हो गया था कि मैं इन्हें जल्द-से-जल्द सुखी, संपन्न व सुरक्षित देखना चाहता था।

खैर! इन्हीं सब चिंतनों व आव-भगत में चार दिन बीत भी गए और उधर महामंत्रीजी ने युवाओं के सभा के आयोजन की पूरी तैयारियां भी कर ली। सभा कल सुबह चढ़ते ही बुलवाई गई थी। अब रात हो गई तो सुबह होने में क्या देर थी? ...हजार के करीब युवाओं की उत्साहित भीड़ चौगान में सुबह से ही जमा थी। मैं भी उद्धव व दारुक के साथ समय पर ही वहां पहुंच गया था। इतने उत्साहित युवाओं को एकसाथ देखकर स्वाभाविक रूप से मैं स्वयं काफी उत्साहित हो गया था। उधर हमारे लिए लकड़ी का एक साधारण-सा मंच बनवाया गया था, जिस पर मेरे और उद्धव के साथ महामंत्री व उनकी मंत्रिपरिषद के कुछ सदस्य विराजमान थे। और नजारा ऐसा कि हमारे ठीक सामने युवाओं का हुजूम खड़ा हुआ था। सभा के प्रारंभ में जैसे ही महामंत्रीजी ने मेरा परिचय कराया, सभी ने तालियां बजाकर मेरा अभिवादन किया। मैंने भी प्रत्युत्तर में खड़े होकर हाथ हिलाया। आप तो जानते ही हैं कि मुझे भीड़ को संबोधित करना यूं ही पसंद था। वृन्दावन हो या मथुरा, मैंने आज तक सभा बुलवाने या संबोधित करने का एक भी मौका कहां छोड़ा था? लेकिन आज का संबोधन कुछ विशिष्ट था। हजार के करीब युवाओं की विशाल भीड़ को संबोधित करने का मौका पहली बार मिल रहा था। स्वाभाविक तौर पर मैंने अपने स्थान पर खड़े होते हुए पूरे जोश के साथ अपना संबोधन प्रारंभ किया। मैंने कहा- पिछले चार दिनों में मैंने आप लोगों से जो प्यार पाया है, उससे मैं पूरी तरह अभिभूत हूँ। वैसे भी यह मेरे पितामह व प्रपितामह का प्रदेश है। मेरा अपना प्रदेश है। मैंने अपने नागकूट को संपन्न व सुरक्षित बनाने का संकल्प लिया है। ध्यान रहे, किसी भी प्रदेश को संपन्न व सुरक्षित बनाने की जवाबदारी उस प्रदेश के युवाओं की होती है। अत: मैं चाहता हूँ कि मेरे साथ आप भी आज से यह जिम्मेवारी उठाने का संकल्प लें।

मेरी बात सुनते ही सभी ने उत्साह से संकल्प दोहराया। उनका उत्साह ही बता रहा था कि अब तक प्रशासन ने उनका ठीक से उपयोग नहीं किया था। आज अचानक इतना महत्व पाकर सभी खुश हो गए थे। स्पष्ट था, बात प्रतिभा की नहीं मौके की थी। बस सही राह पकड़ी जान मैंने अपना संबोधन आगे बढ़ाते हुए कहा- सर्वप्रथम मैं आपसे नागकूट की सुरक्षा-व्यवस्था पर चर्चा करना चाहता हूँ। यह सभी जानते हैं कि नागकूट में प्रवेश के तीन प्रमुख मार्ग हैं। सबसे पहले हमें उन तीनों मार्गों पर कांटों की बड़ी व घनी बाड़ लगानी होगी, ताकि शत्रु आसानी से नागकूट में प्रवेश न कर सके। दूसरा, हमें अपनी फौज बनानी होगी। और उस फौज के कुछ सिपाहियों को अश्व-चालन के साथ-साथ आधुनिक हथियार चलाना भी सीखना होगा।

यह सुनते ही सभी जोश में आ गए। सबके जोश ने मेरा जोश और बढ़ा दिया। उधर युवाओं का इतना उत्साह देख महामंत्री की आंखें ही भर आई। सभा में माहौल बनता देख मैंने दोगुने जोश से अपना संबोधन फिर प्रारंभ किया। मैंने कहा- सुरक्षित होने के साथ-साथ प्रदेश का संपन्न होना भी आवश्यक होता है। अत: पूरे प्रदेश के लिए आवश्यक फल-फूल व लकड़ियां जंगलों से तोड़कर लाना भी हमारी ही जवाबदारी होगी। इसके अलावा यहां की सड़कों को साफ-सुथरी व चौड़ी बनाना भी जरूरी है। और हमें जीवन-स्तर सुधारने हेतु बड़ी मात्रा में आधुनिक मकानों का निर्माण भी करना आवश्यक है। ...यह हमारा सद्भाग्य है कि हमारे पास प्राकृतिक संपदा की कोई कमी नहीं है। न तो भोजन के लिए फल और फूलों की समस्या है, ना ही घर-निर्माण के लिए लकड़ी, पत्थर या मिट्टी की समस्या है। यदि हम ईमानदारी से मेहनत करें तो वर्ष-दो-वर्ष में ही बस्ती बसायी जा सकती है। और बेहतर होगा यदि बस्ती राजमहल के आसपास ही बसायी जाए। इससे किसी भी बाहरी खतरे से निपटना आसान हो जाएगा। अव्वल तो कांटों की बाड़ के कारण किसी का यहां तक पहुंचना ही मुश्किल होगा, और यदि पहुंच भी जाए तो इतनी बड़ी संगठित बस्ती से उनका सलामत वापस जाना असंभव हो जाएगा।

सभा का माहौल ही बता रहा था कि सभी मेरी बात से अक्षरश: सहमत थे। फिर भी मैं लाड़ने से बाज नहीं आया। मैंने पूछ ही लिया- यदि आप लोग मेरी बात से सहमत हों तो आगे के कार्यों की रूपरेखा बना ली जाए। ...यह सुनते ही हां...हां की आवाज से चौगान गूंज उठा। सभी उत्साह से भर चुके थे। एक तरफ जहां कार्यों का जोश था, वहीं दूसरी तरफ जीवन-स्तर सुधरने के सपने भी देखे जा रहे थे। मारे उत्साह के चारों ओर से मेरी जयकार बोला दी गई थी। सबका उमंग और जोश तो देखते ही बनता था। सचमुच युवा-शक्ति जैसा उत्साह और कहीं नहीं पाया जा सकता होगा, अभी तो इधर वातावरण जैसे ही कुछ ठंडा हुआ कि मैंने मंच से नीचे उतरकर तुरंत पन्द्रह के करीब तेज-तर्रार युवकों को चुनकर उनके नेतृत्व में बीस-बीस, तीस-तीस युवकों की टोलियां बना दी; ...और हाथोंहाथ उन्हें अलग-अलग कार्यों का आवंटन भी कर दिया। किसी टुकड़ी को फल-फूल तोड़कर लाने थे, तो किसी को लकड़ियां व पत्थर एकत्रित करने थे। किसी टुकड़ी के जिम्मे सड़कें चौड़ी करने का कार्य था तो किसी के जिम्मे गृह-निर्माण का। बचे हुए ढाई सौ युवकों को हथियार चलाना सीखना था। साथ ही सभी को दिन-भर किए गए कार्यों का विवरण मुझे, उद्धव या महामंत्रीजी को देना था।

सारी बातें तय हो जाने के साथ ही सभा तो समाप्त हो गई, लेकिन युवकों का उत्साह इतना ज्यादा था कि सभी अपनी-अपनी टोलियों में आगे के कार्यों की रूपरेखा तैयार करने में जुट गए थे। युवकों की यही तो खूबी होती है। उन्हें सही नेतृत्वव ठीक मार्गदर्शन मिल जाए तो वे गजब ढा देते हैं। महामंत्री ही नहीं, पूरी मंत्रिपरिषद सभा की सफलता से उत्साहित थी। जिसे देखो, वही नए नागकूट के सपनों में खोया हुआ था। इस उम्र में भी महामंत्री की स्फूर्ति व उत्साह प्रेरणादायक था। उनकी उम्र इस समय एक सौ बीस वर्ष से कम नहीं होगी। सचमुच उम्र के लिहाज से उनका स्वास्थ्य देखते ही बनता था। बाकी सब तो ठीक, पर उनको देख मेरा तो उद्धार ही हो गया था। उनसे प्रेरणा पाकर मैंने भी यह तय किया कि मैं भी उम्र के अंतिम पड़ाव तक कार्य करता रहूंगा। यूं भी मुझे हमेशा स्फूर्ति में रहना पसंद ही था। संतुलित आहार व संतुलित नींद का मैं हमेशा पक्षधर था। नियमित व्यायाम का तो मैं यूं भी शौकीन था ही। योग, प्राणायाम व टहलना तो वैसे ही मेरे नित्यकर्म के हिस्से थे। भैया, अर्जुन, सात्यकि या अन्य मित्रों की तरह अकारण रात्रि जागरण से मैं हमेशा बचने का प्रयत्न करता रहता था। मदिरा जैसे व्यसनों से भी मैंने स्वयं को किसी हद तक बचाकर रखा ही हुआ था। सो, मुझे आजीवन स्वस्थ रहने में कोई बाधा भी नजर नहीं आ रही थी।

खैर! मेरे नेतृत्व में नागकूट के करीब पूरे-के-पूरे हजार युवक कार्यों में भिड़ गए थे। मैं और उद्धव भी अलग-अलग टुकड़ियों के साथ दिन बिताकर उनका उत्साह बढ़ाते ही रहते थे। चारों तरफ कार्य पूरे जोर पर चल रहा था। अब आगे के कार्य हेतु कुछ अश्व, सामान लाने-ले-जाने के लिए बैल-गाड़ियां, घर बनाने के आधुनिक औजार, व कुछ शस्त्रों की आवश्यकता थी। मैंने उद्धव व दारुक को कुछ नाग युवकों के साथ सारा सामान लेने

पांचाल भेज दिया। धन की समस्या तो थी नहीं, क्योंकि महाराजा द्रुपद की सम्मान स्वरूप दी हुई भेंट हमारे पास थी ही। उधर वे लोग चले गए व इधर हमलोग अपने कार्यों में दोगुने उत्साह से भिड़ गए। ...यहां चल रहे कार्यों की बात करूं तो सड़कें साफ सुथरी व चौड़ी होना प्रारंभ हो चुकी थी। घरों का निर्माण-कार्य भी प्रारंभ हो गया था। यह सब देख मेरा उत्साह सातवें आसमान को छू गया था। और इसी उत्साह के चलते एक अनोखा विचार आया। मैं सोचने लगा... नवयुवक तो काम पर लग ही चुके हैं, लेकिन किसी भी प्रदेश के चौ-तरफा विकास के लिए युवतियों का भी कार्यों में हाथ बंटाना आवश्यक होता है। क्यों न उन्हें भी काम पर लगा दिया जाए। बस मैंने महामंत्रीजी से कहकर नाग-युवतियों की भी एक सभा बुलवाने का निवेदन किया। महामंत्रीजी ने दो रोज में ही सभा के आयोजन का आश्वासन दिया। अब तो सभी मेरे हर शब्द को कुदरत का ''हुक्मनामा'' मानने लगे थे। उधर इतनी व्यस्तता के बावजूद मैं पितामह व प्रपितामह से मिलने का समय निकाल ही लिया करता था। दोनों का स्वास्थ्य तेजी से सुधर रहा था। निश्चित ही इस स्वास्थ्य-लाभ में मेरी उपस्थिति के अलावा नागकूट में चल रहे विकास कार्यों का भी बड़ा योगदान था।

खैर! इधर कार्यों की व्यस्तता के चलते दो दिन कहां बीत गए, यह भी पता न चला। आज युवतियों की सभा का दिन था। प्रात: काल से ही प्रांगण में युवतियों का एकत्रित होना प्रारंभ हो चुका था। मेरे पहुंचते-पहुंचते तो प्रांगण युवतियों से खचाखच भर गया था। महामंत्री व उनकी मंत्रिपरिषद वहां पहले से ही मौजूद थी। मेरे आगमन के साथ ही युवतियों ने मेरा शानदार अभिवादन किया। उनका उत्साह तो युवकों को मात दे, ऐसा नजर आ रहा था। दूसरी ओर मेरा रोमांच भी अपनी चरम सीमा पर था ही। जीवन में पहली दफा युवतियों की सभा को संबोधित करने का उत्साह रोम-रोम में बस गया था। ...बस इसी उत्साह के चलते मैंने बिना किसी प्रस्तावना के अपना संबोधन प्रारंभ किया। मैंने कहा- आप लोग कार्यदक्षता में युवकों से किसी तरह कम नजर नहीं आ रही हैं। किसी भी प्रदेश के प्रारंभिक विकास के लिए युवक व युवतियों का कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य करना आवश्यक होता है। पुरुष का कार्य है घर के बाहर कड़ी मेहनत करना। पुरुष को इतनी मेहनत के बाद घर पर अच्छा भोजन मिले, घर साफ सुथरा रहे व अच्छे वस्त्र मिले यह जिम्मेवारी स्त्रियों की होती है। क्या आप लोग यह जिम्मेदारी उठाने को तैयार हैं?

सभी ने एक साथ ''हां'' की जोरदार आवाज लगाई। यह तो ठीक, लेकिन सिर्फ इस आवाज लगाने-मात्र में भी एक युवती ने मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। थोड़ी सांवली व तीखे नैन-नक्श वाली यह युवती कुछ ज्यादा ही चुलबुली नजर आ रही थी। वह खड़ी भी सबसे आगे थी। आप मानेंगे नहीं, इतनी भीड़ व इतना महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में होते हुए भी हमारी नजरें मिली व मुस्कुराहटों का आदान-प्रदान हुआ। उसकी कद-काठी भी बाकी युवतियों से बेहतर नजर आ रही थी। ...फिर भटक गए न कृष्ण! लो सम्भल भी गए। तत्क्षण उस पर से ध्यान हटाकर मैंने अपना ध्यान फिर संबोधन पर लगाया। मैनें कहा- आपका जोश देख मैं भी उत्साह से भर गया हूँ। सबसे पहले आप लोगों को गाय व भैंसों का दूध निकालना सीखना होगा। तत्पश्चात् उसका दही व माखन बनाना भी सीखना होगा। इतना ही नहीं, उससे तरह-तरह के व्यंजन व पकवान बनाना भी सीखने होंगे। क्योंकि बेहतर भोजन जीवन में उमंग बनाये रखने हेतु अति आवश्यक है। हालांकि यह सब तो आपको मैं ही सिखा दूंगा; लेकिन इसके अलावा आप लोगों को छोटे-मोटे वस्त्र बुनना, और मिट्टी के बर्तन बनाना भी सीखना चाहिए। मैं कोशिश करूंगा कि आपको ज्यादा-से-ज्यादा कार्य सिखाने के लिए श्रेष्ठ कारीगरों की व्यवस्था करूं। क्या आप लोग यह सारा कार्य सीखने व करने हेतु तैयार हैं?

जैसी कि अपेक्षा थी, मेरा सवाल सुनते ही ''हां तैयार हैं'' की आवाज से पूरा प्रांगण गूंज उठा। जोश तो ऐसा था कि मुर्दे में जान पूंक दे। जब सारी बातें तय हो चुकी तो युवकों की तरह ही मैंने युवतियों की भी टुकड़ियां बना दी, और तात्कालिक-प्रभाव से सभी को अपने-अपने कार्यों पर लगा भी दिया। बाकी सब तो ठीक था, लेकिन वह आकर्षक लड़की सभा समाप्त होने के बाद भी लगातार मुझे ही निहार रही थी। स्पष्ट लग रहा था कि वह मेरे आकर्षण में बुरी तरह पांस चुकी है। कहीं मेरी मुस्कुराहट मुझपर ही भारी न पड़ जाए। वैसे यह कुछ ज्यादा ही लाड़ गया था, सच तो यह है कि वह भी मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो ही चुकी थी। ...अरे! यह क्या, ...अचानक वह उठी और पूरे आत्मविश्वास से मंच पर चढ़ गई। मैं तो उसका आत्मविश्वास देखता ही रह गया। यह तो बड़ी बिंदास निकली। क्या कोई इस तरह सीधे किसी से मिलने चला आता है? लेकिन यहां भी उसने मेरी सोच को मात दे दी। वह मंच पर चढ़ी जरूर पर मुझसे मिलने नहीं, बल्कि मजोधर से बात करने। मजोधर रिश्ते में हमारे दूर के दादा लगते थे। होगा, अभी तो माजरा यह कि बात वह मजोधर से कर रही थी, पर उसकी निगाहें मुझपर ही बनी हुई थी। यानी कि ''कहीं पे निगाहें कहीं पे निशाना'' था। तो मैं कौन-सा पीछे था, आदत का मारा मैं बेचारा भी मुस्कुराकर उसकी हौसला-अफ्जाई कर ही रहा था। दरअसल वह मजोधर की पोती थी व उसका नाम ''भद्रा'' था

[23] ।

खैर! मुलाकात तो हो चुकी थी, लेकिन बात यहीं नहीं थमी। अब वह रोज ही किसी-न-किसी कार्य के बहाने या कुछ समझने के लिहाज से मुझसे मिलने आने लगी। अब भला मुझे इसमें क्या एतराज हो सकता था? यूं भी यहां करने को और था क्या? मुझे उसका बार-बार आना अच्छा ही लग रहा था। इधर इस बीच उद्धव पूरी साधन-सामग्री लेकर आ चुका था। जब उसने युवतियों को काम करते देखा, व खासकर भद्रा को किसी-न-किसी बहाने बार-बार मेरे आसपास मंडराते देखा... तो वह इस परिवर्तन से बड़ा आश्चर्यचकित हुआ। यहां तक कि वह व्यंग कसने से भी बाज नहीं आया। वह बोला भी कि- मेरे जाते ही रास-लीला प्रारंभ कर दी। क्या नागकूट को भी वृन्दावन बनाने का इरादा है...? ...मैं क्या कहता? मुस्कुरा भर दिया। मेरे इरादों से मैं स्वयं वाकिफ कहां हुआ करता था, जो कोई उत्तर देता? अब क्षण-क्षण जीने वाले के क्या इरादे व क्या इच्छा-अनिच्छा?

खैर! यह बात तो आई-गई हो गई। उधर सभी अपने-अपने कार्यों में पूरी तन्मयता से भिड़े हुए थे। अब तो हर दस दिनों में पांच-सात घरों का निर्माण होना भी प्रारंभ हो गया था। योजना एक वर्ष में कम-से-कम तीन-चार सौ मकान बनाने की थी; ताकि वर्ष भर में सभी नागकूट वासियों का जीवन-स्तर सुधारा जा सके। और उस ओर कामकाज भी पुरजोर चल ही रहा था। अब सबको काम पे लगा ही चुका था व यहां मेरे पास करने को कुछ विशेष था नहीं, ऐसे में चिंतन न चाहते हुए भी चौतरफा सक्रिय हो गया। इसी के चलते अचानक एक दिन मेरे चिंतन में एक विचार आया। मैंने तुरंत ही उद्धव को भीम व उसके महामंत्री को बुलवाने भेजा। उसको मैंने यह स्पष्ट आदेश दिया कि उन्हें नागकूट-वासियों ने मंत्रणा के लिए बुलाया है, यही कहना। साथ ही भीम को मुझे न पहचानने का नाटक करने का भी कह देना। सच कहूं तो बैठे बिठाये यह एक अच्छी योजना जहन में उतर आई थी। मुझे तो इस एक प्रयास से यहां की तीन-चार समस्याएं हल होती नजर आ रही थी। एक तो स्वयं "राक्षसराज" के पधारने से नागकूट-वासियों का आत्मविश्वास बढ़ना तय था। दूसरा, राक्षसों व नागकूट वासियों की आपस में संधि करवा दूं तो किसी भी बाहरी मुसीबत के समय दोनों मिलकर उसका मुकाबला आसानी से कर सकते थे। इसके अलावा दोनों प्रदेशों के संबंध सुधरने से पांडवों को भी आवन-जावन के लिए एक नई जगह मिल जाती थी, जिससे उनका भी यहां मन लगा रहना तय था। यानी कुल-मिलाकर योजना एक तीर से तीन शिकार करने की थी। अब कौड़ी तो मैं दूर की खोज के लाया था, पर सबकुछ ठीक से पार पड़ जाए तब पक्का था।

खैर! यहां मैं यह सब सोचता ही रह गया और उधर उद्धव चार दिनों में ही भीम यानी महाराजा वक्रोदर को उनके मंत्री के साथ लेकर आ भी गया। मैंने व महामंत्रीजी ने स्वयं उनका शानदार स्वागत किया। महामंत्री तो उनका स्वागत कर फूले नहीं समा रहे थे। इधर जैसी कि उम्मीद थी, राक्षसराज को लेकर पूरे नागकूट में उत्सुकता का माहौल बन गया था। परिणामस्वरूप उनको देखने पूरा नागकूट उमड़ पड़ा था। अब राक्षसों से खौफ खाए हुए बेचारे नागकूट-वासियों के लिए राक्षसराज का स्वयं चलकर नागकूट आना किसी महा-आश्चर्य से कम न था। इधर स्वागत की औपचारिकताएं पूर्ण कर मैं भीम व उद्धव को सीधे मंत्रणा कक्ष में ले गया। मंत्रणा तो कुछ करनी नहीं थी, मुझे तो भीम को सिर्फ निर्देश देने थे। कुछ देर यहां-वहां की बात कर मैंने भीम को दोनों राज्यों की संधि बाबत पूरी बात समझा दी। सीधा-सादा दिखने वाला भीम इतना अच्छा अभिनय भी कर सकता है, इसकी मुझे कतई उम्मीद नहीं थी। वह पूरे रास्ते सबकी उपस्थिति में ऐसा अनजान बना बैठा था, मानो मुझे जानता ही नहीं।

खैर! सबसे पहले मैंने राक्षसों से सहयोग-संधि की सूचना मंत्रिपरिषद समेत पितामह तथा प्रपितामह को दी। यह सुनते ही सभी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इतने जुल्म ढाने वाले राक्षस स्वयं आकर उनसे संधि कर लेंगे, ऐसा तो वे कल्पना में भी नहीं सोच सकते थे। यूं भी सामान्य परिस्थितियों में तो यह असंभव ही था। परंतु क्योंकि अब भीम वहां का राजा था, इसीलिए यह चमत्कार संभव हो पाया था। ...लेकिन यह तो मैं और उद्धव ही जानते थे, बाकी सब के लिए तो यह अब भी एक चमत्कार ही था। होगा, अभी तो इधर सबकुछ तय हो जाने की खुशी में अगले दिन महाराजा वक्रोदर का राजमहल की ओर से खुले प्रांगण में सम्मान समारोह रखा गया। पूरा प्रांगण नागकूट-वासियों से खचाखच भर गया था। पितामह व प्रपितामह भी इस समारोह में मौजूद थे। समारोह के अंत में मैंने भीम का संबोधन रखा था। संबोधन क्या था, जो मैंने उसे कहने को कहा था वही उसे दोहराना था। भीम ने यह नाटक भी बड़ी स्वाभाविकता से निभा डाला। भीम ने अपने संबोधन में कहा- हम लोग नागकूट से सहयोग संधि स्थापित करने हेतु राजी हो गए हैं। अब हमारा कोई भी राक्षस कभी भी न तो किसी नागकूट वासी का अपहरण करेगा, ना ही उन्हें सताएगा। इतना ही नहीं, मैं वचन देता हूँ कि यदि नागकूट पर कोई भी बाहरी संकट आया तो हम उसे अपना संकट मानते हुए डटकर उसका मुकाबला करेंगे।

यह सुनते ही चारों ओर खुशी की लहर दौड़ गई। पूरा प्रांगण तालियों की गुंज में डूब गया। किसी को

विश्वास ही नहीं हो रहा था कि राक्षसराज उनका मित्र हो चुका है। बस इसी खुशनुमा वातावरण में आज की सभा समाप्त हुई। और एक रात्रि की और आव-भगत भोग महाराज वक्रोदर यानी भीम अपने प्रदेश लौट गए। वाकई योजना बड़ी परिणामकारी रही। अब तो पूरे नागकूट-वासियों का आत्मविश्वास अपनी चरम सीमा पर था। इसका सीधा प्रभाव कार्यों की गति पर भी पड़ा। हालांकि नागकूट में रह-रहकर भारी वर्षा हो रही थी। वर्षा निश्चित ही कार्यों की गति में व्यवधान पहुंचा रही थी। फिर भी उत्साह से भरा हर कोई सारी बाधाएं भुलाकर पूरे जोश से भिड़ा ही हुआ था। वैसे जोर तो मैंने भी अपनी ओर से बढ़ा दिया था। अब तो रोज संध्या मैंने चालीस-पचास नागकन्याओं को एकत्रित कर उन्हें गायों को दोहना सिखाना प्रारंभ कर दिया था। गायों को दोहना कोई मुश्किल कार्य तो था नहीं, दो-चार रोज में ही सभी सीख गईं। तत्पश्चात् गायों से निकले दूध से दही-माखन बनाना भी सिखा दिया। हालांकि सबसे ज्यादा उत्साह से व सबसे जल्दी यह सारे कार्य भद्रा ही सीखी थी। नागकन्याएं दही-माखन बनाना क्या सीख गईं मेरी तो चांदी-ही-चांदी हो गई। सबको मालूम ही था कि ''दही-माखन'' मेरा सर्वाधिक रुचिकर भोजन है, बस मुझे दही-माखन खिलाने की नागकन्याओं में होड़ मच गई। यूं भी कन्हैया और कन्याओं का साथ शायद जनम-जनम का था, तभी तो कहीं भी जाऊं, कन्याओं का साथ नसीब हो ही जाता था।

वैसे दही-माखन खिलाने में भी बाजी भद्रा ही मार ले गई थी। यही नहीं, धीरे-धीरे मेरे दही-माखन की पूरी जिम्मेदारी भी भद्रा ने उठा ली थी। एक तरीके से वह मेरा अद्‌भुत ख्याल रखे हुए थी। यूं तो ख्याल रखने में कोई पीछे न थी। मुझे अपने हाथों माखन-दही खिलाने की होड़ दिन-रात मची ही रहती थी। यह ग्वाला भी प्रेम से माखन-दही खाकर तृप्त हो जाया करता था। वृन्दावन न सही नागकूट ही सही, गोपियां न सही नागकन्याएं ही सही, ...यह ''कान्हा'' तो कन्याओं से घिरा ही हुआ था। अब इसे मैं अपना सद्भाग्य कहूं या कन्याओं का? ...छोड़ो इसका फैसला मैं नहीं करता, आप पर छोड़ता हूँ।

और अभी तो आगे कन्हैया महाराज क्या-क्या गुल खिला रहे हैं, यह बताता हूँ। आप मानेंगे नहीं कि धीरे-धीरे मुझे नागकन्याओं को शिक्षित करना इतना भा गया था कि उत्साह में आकर मैंने उनको तरह-तरह के पकवान व व्यंजन तैयार करने की शिक्षा देना भी प्रारंभ कर दिया था। वाह रे कृष्ण; खुद तो जीवन में पढ़े नहीं, और यहां कन्याओं के गुरुकुल के आचार्य बन बैठे हो। तो क्या, यही तो मेरी वे लीलाएं हैं जिन पर मैं खुद फिदा हो जाता हूँ। कुल-मिलाकर सारी बातों का सार यह कि जहां एक ओर सभी कड़ी मेहनत में लगे हुए थे, वहीं दूसरी ओर उन्हें काम पे लगाने वाले कन्हैया के दिन बड़े मजे में कट रहे थे। और यहां चल रहे कार्यों की बात करूं तो यहां इतने कार्य थे कि उनका अंत आता नहीं दिख रहा था। ऊपर से वर्षा भी अपनी ओर से कार्य में बाधा पहुंचाने में कोई कसर नहीं छोड़े हुए थी। सच कहूं तो नागकूट की भारी वर्षा ने मुझे इतना थका दिया था कि अब मैं अपनी सबसे प्रिय वर्षा ऋतु के जाने का इन्तजार करने लगाथा।

यह सब तो ठीक, पर एक ऐसी बात है जो आपसे कहूं तो कहूं कैसे, मन भर आता है। नागकूट का बच्चा-बच्चा मेरे प्रति आदर से भर गया था। सम्मान ऐसा मिल रहा था कि जिसकी जीवन में मैंने कभी कल्पना ही नहीं की थी। जहां जाता और जो करता, हाथोंहाथ ले लिया जाता। हालांकि माना कि मैंने यहां आने के बाद चन्द काम ही ऐसे किए थे; पर वह तो मैंने अनेकों बार अनेकों प्रदेश में किए थे। तभी तो कह रहा हूँ कि यहां के भोलेपन व भावुकता की बात ही कुछ और थी। सच कहूं तो मुझे तो बैठेबिठाये रह-रहकर अपनी कार्य-दक्षता पर भी गर्व हो रहा था। वैसे भी आप तो जानते हैं कि बने वहां तक मैं अपनी उपलब्धियों का श्रेय दूसरों को देने की बजाय स्वयं के कर्मों को देना पसंद करता हूँ। ...फिर वह दूसरा चाहे मनुष्य हो या ईश्वर। इसके दो फायदे हैं, एक तो कर्मों में आपकी आस्था बनी रहती है व दूसरा इससे आपको अपनी जवाबदारी का एहसास भी होता रहता है। और सबसे बड़ी बात यह कि आप व्यर्थ दूसरों के भरोसे नहीं जीते। सो, कुल-मिलाकर बस मैं मिल रहे इस मान-सम्मान का स्वयं को अधिकारी मान उसका पूरा गर्व लूटने में लगा हुआ था।

खैर! नागकूट की बात करूं तो एक तरफ जहां चल रहे निर्माण-कार्यों से सभी खुश थे, वहीं दूसरी ओर युवाओं के जोश ने सभी को सुखद आश्चर्य में डाल रखा था। जहां एक ओर अश्व, गाड़े व लाए गए अस्त्रों-शस्त्रों ने सब में विश्वास जगाया था, वहीं दूसरी तरफ राक्षसराज से हुई संधि ने सबके आत्मविश्वास को सातवें आसमान पर पहुंचा दिया था। चारों ओर खुशी देख मैं भी अनूठे उत्साह से भर गया था। ऊपर से यहां मिल रहा प्रेम व सम्मान वैसे ही मेरे दिल को छू रहा था। कुल-मिलाकर मन नागकूट के लिए और भी बहुत कुछ करने को मचल उठा था। बस इसी के चलते मेरे चैतन्य में एक नई ही योजना ने जन्म लिया। मैंने उद्धव को किसी भी तरह चेकितान को खोजने व उसे यहां मेरे पास ले आने को कहा। मैं चेकितान से काफी कुछ मंत्रणा करना चाहता था। उद्धव को तो मेरा इशारा काफी था। वह तुरंत निकल पड़ा।

इधर भद्रा का रोज किसी-न-किसी बहाने मुझसे मिलने आना अब भी जारी था। अब तो हम दोनों में कार्य के अलावा भी काफी बातें होने लगी थी। वह वृन्दावन, मथुरा व द्वारका के मेरे जीवन बाबत काफी सवाल करती रहती थी। उससे बात कर एक बात समझ में आ चुकी थी कि वह अन्य नागकूट-वासियों के मुकाबले कई गुना प्रतिभावान व बुद्धिमान है। शायद यह उसके दादाजी मजोधर की तालीम का नतीजा था। मजोधर से तो मैं यूं ही प्रभावित हुआ पड़ा था। होगा, अभी तो भद्रा ना सिर्फ नागकूट के विकास में रस ले रही थी, बल्कि मुझ से मिल रहे उत्साह के सहारे उसने अब तो दादा-मजोधर के साथ मिलकर प्रशासनिक कार्यों को समझना भी प्रारंभ कर दिया था।

...समय इसी तरह कट रहा था। समय के साथ-साथ नागकूट-वासियों का जीवनस्तर भी सुधरता चला जा रहा था। भोजन में मिल रहे दही-माखन ने तो सबको दीवाना बना रखा था। इधर मैंने भी वर्षा-ऋतु का आनंद लेना शुरू कर दिया था। अब वंशी बजाना करीब-करीब रोज का हो गया था। लेकिन यहां भी मेरी वंशी का जादू कुछ ऐसा चला कि भद्रा समेत सभी नाग-कन्याओं को मेरा वंशी-वादन अत्यंत भा गया था, और परिणामस्वरूप वंशी बजाता हुआ 'कान्हा' एकबार फिर कन्याओं से घिरा रहने लगा था। बाकी सबका तो ठीक, परंतु मेरी वंशी ने भद्रा के तो प्राण ही निकाल दिए थे। इसका अंतिम परिणाम यह हुआ कि मैं चाहूं-न-चाहूं, भद्रा मेरे निकट आने लगी।

तो आने दो। अभी तो मेरा ध्यान नागकूट के निर्माण-कार्यों पर ही लगा हुआ था। वैसे यहां सबकुछ ठीकठाक ही चल रहा था। सो मेरा चिंतन फुर्सत में एकबार फिर सक्रिय हो गया। ...अनायास मुझे हस्तिनापुर की चिंता सताने लगी। इसी के चलते चेकितान का इन्तजार बेसब्री में बदल गया। हालांकि एकबार उद्धव को कार्य सौपा, तो कार्य हुआ ही समझो। बस उद्धव जल्द ही चेकितान को खोजकर ले आया। इधर मैंने भी उसे पूरे राजकीय सम्मान के साथ राजमहल में ही ठहरवाया। कहने की जरूरत नहीं कि चेकितान जैसे राजा को अपने यहां मेहमान पाकर पूरा नागकूट अपने को गौरवान्वित महसूस कर रहा था। यह सब तो ठीक, पर मेरी योजना के लिए राहत की बात यह कि मेरी अपेक्षा के मुताबिक चेकितान दुर्योधन के हमले से पूरी तरह टूट चुका था। वह काफी दुखी व हताश नजर आ रहा था। वैसे भी एक राजा के लिए राज्य छिन जाने से बड़ा दु:ख और क्या हो सकता है? स्पष्ट लग रहा था कि उसे किसी सहारे की जरूरत है। तो मैं बैठा तो हूँ... पूरा आर्यावर्त जानता है कि मैं कंस, पंचजन, शृंगलव व कालयवन जैसे राजाओं का वध द्वारका की स्थापना से पहले ही कर चुका था। यही क्यों, दो बार तो मैं जरासंध को भी मात दे चुका था। चेकितान के भी मेरी इन शक्तियों से वाकिफ नहीं होने का सवाल ही नहीं उठता था। और फिर यूं भी डूबते को तिनके का सहारा, बस चेकितान जल्द ही पूरी तरह मेरे प्रभाव में आ गया।

यानी चन्द दिनों में ही बातचीत का माहौल पूरी तरह बन गया था। लेकिन मैं अपनी जानकारी के लिए उसकी कुछ भी मदद करने से पूर्व उसकी वर्तमान शक्ति जानना चाहता था। इस बारे में पूछे जाने पर उसने बताया कि उसके पास अब भी करीब पांच सौ वफादार सैनिकों की टुकड़ी है। इतना ही नहीं, भागने से पूर्व आधे से ज्यादा राजकोष भी वह बचा पाया था जो आज भी उसके पास है। मुझे चेकितान की क्षमता पर गर्व हुआ। वह हारकर भी पूरी तरह से नहीं हारा था। युद्ध हारने के बाद भी इतने सैनिक व इतना राजकोष बचा पाना उसके साहस व दूरदृष्टि का सबूत था। चेकितान के साहस व दूरदृष्टि ने मेरा उत्साह बढ़ाया। बस मैं जो चाहता था, उसमें चेकितान मेरे बड़े काम का आदमी सिद्ध हो सकता था।

आप कहेंगे, यह सब तो ठीक पर आप चाहते क्या हैं महाराज, यह तो बताओ। तो सुनो, दरअसल एक ओर जहां दुर्योधन की बढ़ती महत्त्वाकांक्षा मेरी चिंता का विषय बनी हुई थी, वहीं दूसरी ओर नागकूट व चेकितान की हालत मुझे परेशान किए हुए थी। सौ बातों की एक बात मैं दुर्योधन के बढ़ते दुस्साहस पर लगाम लगाना चाहता था। इसी संदर्भ में मेरा सोचना था कि क्यों न चेकितान, नागकूट व राक्षसराज की संधि करवाकर एक संयुक्त सेना बना ली जाए। जब उनकी इस संयुक्त सेना के साथ मेरा नाम भी जुड़ जाएगा, तो दुर्योधन के लिए कुछ भी इतना आसान नहीं रह जाएगा। यूं भी राजनीति का भूत तो मुझे मथुरा में कदम रखने के साथ ही चढ़ गया था; पर आप तो जानते हैं कि इधर द्वारका निर्माण के बाद इसका कोई अवसर मिलता नहीं था। सीधी बात है, अपने ही राज्य में कोई राजनीति थोड़े ही की जाती है? सो, मन-ही-मन यह बड़ी राजनीति खेलने की योजना बना डाली थी। और अब चेकितान से मिल वातावरण अनुकूल जान मैंने अपने संयुक्त सेनावाले विचार पर मुहर भी लगा दी। इसी के तहत तुरंत उद्धव को भेजकर राक्षसराज वक्रोदर यानी भीम को नागकूट बुलवा लिया। अब भीम को तो इसमें कुछ करना नहीं था, उसे तो बस मेरी "हां" में "हां" मिलानी थी।

खैर! अगले दिन ही मैंने राजमहल के सभा-कक्ष में एक संयुक्त सभा बुलवाई। इसमें पितामह, प्रपितामह,

मजोधर व महामंत्रीजी नागकूट की ओर से आमंत्रित थे। चेकितान नरेश व महाराजा वक्रोदर भी अपने-अपने महामंत्रियों के साथ उपस्थित थे। मैं और उद्धव तो थे ही। नागकूट के राजमहल का अजीब नजारा था। सभी शत्रु एक साथ विराजमान थे। यह अपनेआप में किसी चमत्कार से कम नहीं था। यूं भी जहां मैं होऊं वहां कर्मों के चमत्कार तो होते ही रहते हैं। अब वह सब तो ठीक पर निश्चित ही इस समय राजमहल का वातावरण तंग व गंभीर था। ऐसे में आपसी बातचीत का तो सवाल ही नहीं उठता था। स्पष्ट था, सभी के पुराने जख्म अब भी हरे थे। वातावरण हल्का करने के उद्देश्य से मैंने ही सभी का औपचारिक परिचय करवाकर सभा का प्रारंभ किया। इतना ही नहीं, मैंने सबको सामान्य करने के उद्देश्य से एक व्यावहारिक संबोधन भी दे डाला। मैंने कहा- आप सभी आपस में शत्रु सही, लेकिन मेरे आप सभी अच्छे मित्र हैं। वैसे तो शत्रुता वैभवता का दूसरा नाम है। लेकिन जब हम स्वयं कष्ट में हों या हमें ही जीने के लाले पड़े हुए हों, ऐसे में शत्रुता स्वयं को नष्ट करनेवाली ही साबित होती है। जरा गौर से समझा जाए तो मैं आप सभी का समान रूप से मित्र हूँ, वहीं दूसरी ओर दुर्योधन आप सभी का स्थायी शत्रु है। इस लिहाज से सोचा जाए तो आप सभी आपस में मित्र ही हुए। अत: मैंने एक ऐसी योजना बनाई है जिसमें आप तीनों का फायदा है व दुर्योधन का नुकसान-ही-नुकसान है। बस इसीलिए मैंने आप सबको यहां एकत्रित किया है। यदि आप लोगों को मुझपर विश्वास हो तो मैं अपनी योजना विस्तार से कहूं?

स्वयं का फायदा व दुर्योधन का नुकसान, कौन राजी नहीं होता? कौन ऐसा बेवकूफ होगा जो विश्वास नहीं करता? यूं भी चार हारे हुओं को मिलाना आसान होता है, क्योंकि सभी को सहारे की जरूरत होती है। हारे हुओं का अहंकार पहले ही टूट चुका होता है, सो उनके लिए तो बस अपनी जरूरतें ही मायने रखती हैं। हां, इनकी जगह यदि दुर्योधन, जरासंध या द्रुपद जैसों को बिठाकर संधि करवानी होती तो बड़ी मशक्कत करनी पड़ती। ...चूंकि क्योंकि अभी उन सभी का अहंकार मजबूत है, कौन झुकने को तैयार होता? हालांकि आज नहीं तो कल उनका भी अहंकार टूटेगा ही; क्योंकि कब किसका अहंकार सदा के लिए टिका है? ...और शायद वह ऐसा टूटेगा कि वे संधि के लायक भी नहीं बचेंगे।

खैर! यह सब फिजूल के चिंतन छोड़ मुद्दे की बात पर आ जाऊं तो यहां सबके विश्वास जताते ही मैंने तत्क्षण अपनी योजना बताना प्रारंभ किया। मैंने कहा- आप सभी इस समय एक या दूसरी मुसीबतों से घिरे हुए हैं। इस समय आप में से कोई भी इतना सक्षम नहीं कि अकेले हाथों अपनी समस्याएं सुलझा सके। जैसा कि आप सभी जानते हैं कि दुर्योधन ने चेकितान का राज्य हड़प लिया है, हालांकि राहत की बात यह कि फिर भी चेकितान के पास सेना व धन की कमी नहीं है। लेकिन चिंतनीय बात यह कि कोई भी सेना या धन कितने दिन बगैर राज्य के चेकितान का साथ दे पाएगी? आज नहीं तो कल, सैनिक चेकितान को छोड़कर भाग जाएंगे, और बगैर सेना का धन कोई भी लूट लेगा।

...यह सुनते ही चेकितान के चेहरे पर चिंता की हजार लकीरें उभर आई। ...यही मैं चाहता था। और इससे पहले कि वह कुछ अन्यथा सोच पाए, मैंने तुरंत दोबारा कहना प्रारंभ कर दिया- वैसे ही नागकूट की अपनी समस्याएं हैं। यहां कोई अनुभवी राजा ही नहीं है। पितामह, प्रपितामह व मजोधर वृद्ध हो चुके हैं। इनके पास संगठित सैन्य-शक्ति भी नहीं है।दुर्योधन तो पूरे नागकूट को एक ही दिन में गुलाम बना सकता है। और यदि ऐसा हुआ तो यहां की सारी युवतियां दासियां बनकर उसके दरबार की शोभा बढ़ाती हुई नजर आएगी। ...कहने की जरूरत नहीं कि यह सुनते ही पितामह, मजोधर, महामंत्री व प्रपितामह के चेहरे पर चिंता के बादल छा गए। अब मेरा कार्य आसान हो गया था। दोनों को आवश्यक भय दे चुका था। अब कोई बाधा न थी। सो, तत्क्षण मैंने आगे कहना शुरू किया - वैसे ही राक्षस राज की अपनी समस्या है। इनके पास शक्ति तो है, परंतु जीवन नहीं है। अपनी शक्ति देकर जीवन खरीदना इनकी आवश्यकता है।

अब राक्षसों के राजा तो पांडव ही थे। मैं चाहता था कि अगले एक वर्ष वे यहीं डटे रहें। परंतु राक्षस सभ्यता में ज्यादा दिन रुक पाना उनके वश में नजर नहीं आ रहा था। भीम को छोड़कर बाकी सबकी बेचैनी मैं देख भी चुका था। लेकिन यदि पांडवों को आसपास घूमने की जगह मिल जाए, और अपना मनपसंद भोजन व वातावरण मिल जाए तो वे एक वर्ष यहां टिक सकते थे। और उनका द्रौपदी-स्वयंवर तक यहां डटकर जमे रहना हर लिहाज से अत्यंत जरूरी था। यानी इस लिहाज से सच कहूं तो मैं एक पंथ चार काज कर रहा था। होगा, अभी तो उधर जैसा कि अपेक्षित था, मेरी बात सुनते ही पूरा सभाकक्ष गंभीर हो गया था। सभी के चेहरों पर उभरी चिंता की लकीरें स्पष्ट देखी जा सकती थी। यानी मेरे मन मुताबिक वातावरण निर्मित हो चुका था। यह जग जाहिर है कि किसी भी प्रकार की संधि के लिए मनुष्य का भयभीत होना आवश्यक है। और भय के साथ यदि लोभ भी जोड़ दिया जाए तो बात बनी ही समझो। भयभीत तो मैं सबको पहले ही कर चुका था, सो अब बारी थी लोभ जड़ित शस्त्र चलाने की। लोभ और भय यह दो ही तो वे हथियार हैं, जिससे मनुष्य को चाहे जिस दिशा में चलायमान किया जा सकता है।

...बस मैंने फिर अपना संबोधन प्रारंभ किया। अबकी लोभ-जड़ित शब्दों को उड़ेलते हुए मैंने कहा- मैं चाहता हूँ कि आप तीनों मिलकर एक ''महाराज्य'' बना लें। नागकूट जमीनी तौर पर उसका केन्द्र हो। इससे चेकितान के सैनिकों को जमीन मिल जाएगी, जिस कारण उन्हें दुर्योधन के भय से रोज-रोज यहां-वहां भागना नहीं पड़ेगा। और इसी बहाने उनका खजाना भी सुरक्षित रहेगा।दूसरी तरफ चेकितान के युद्ध-कौशल्य का फायदा उठाते हुए नागकूट व राक्षसराज को मिलाकर दूसरे दो हजार सैनिक तैयार किए जा सकते हैं। मेरा मानना है कि प्रशिक्षित ढाई-तीन हजार सैनिकों की टुकड़ी तीनों राज्यों की सुरक्षा में सक्षम होगी। साथ ही चेकितान के अनुभव को देखते हुए उसे इस संयुक्त-राज्य का महाराज घोषित कर दिया जाए।

मेरा गणित साफ था। प्रशिक्षित किए जाने पर एक-एक राक्षस दस-दस सैनिकों पर भारी पड़ सकता था। साथ ही इस संयुक्त सेना में भीम, अर्जुन व चेकितान जैसे महायोद्धा भी शामिल थे, जो एकबार को दुर्योधन को ललकारने में भी सक्षम सिद्ध हो सकते थे। हालांकि बोलते वक्त मेरी निगाह सभी के हावभावों पर लगी ही हुई थी। स्पष्ट था कि चेकितान तो वर्तमान प्रस्ताव से खुश नजर आ रहा था, पर पितामह व मजोधर चेकितान को राजा बनाना पचा नहीं पा रहे थे।

...तो अभी मेरी बात पूरी कहां हुई थी? मेरा संबोधन तो जारी ही था। अब उनके मतलब की बात कह देते हैं। बस मैंने बात आगे बढ़ाते हुए कहा- दूसरी तरफ चेकितान को राज्य मिलने के एवज में अपना धन नागकूट व राक्षसराज की प्रगति में लगाना होगा। इस धन से ना सिर्फ आधुनिक हथियार खरीदे जाएंगे, बल्कि चेकितान के लिए एक आधुनिक राजमहल भी बनवाया जाएगा। हां; इस नए राज्य के सभी महत्वपूर्ण निर्णय सबकी सलाह से होंगे, खासकर पितामह व प्रपितामह के अनुभवों को देखते हुए उनकी सलाहों को विशेष महत्व दिया जाएगा।

भीम यानी महाराज वक्रोदर को तो यूं भी मेरी हर बात माननी ही थी। उधर चेकितान को भी धन देकर राज्य मिल ही रहा था, साथ ही फिर से राजा होने का गौरव भी प्राप्त हो रहा था; सो अलग। वहीं नागकूट को विकास व सुरक्षा के साथ-साथ एक अनुभवी राजा मिल रहा था। वैसे तो पांडवों को भी नागकूट घूमने-फिरने व यहां के पकवान व व्यंजन खाने की छूट मिल रही थी, और साथ ही उन्हें समय गुजारने हेतु एक बेहतर स्थान भी मिल रहा था। कहने का तात्पर्य उन्हें एकबार फिर मनुष्यों-सा जीवन व्यतीत करने का मौका मिल रहा था। अत: कुल-मिलाकर सभी को खुशी-खुशी राजी होना ही था। वैसे अब पितामह व प्रपितामह भी संतुष्ट नजर आ रहे थे। भले ही राजा चेकितान हो, कम-से-कम उनकी अंतिम सलाह मानने को तो वह भी बाध्य ही था। और मेरी इन सारी समझाइशों व जोड़-तोड़ का अंतिम परिणाम यह हुआ कि जो सभा एक गंभीर वातावरण में प्रारंभ हुई थी, अचानक एक उत्साहित वातावरण में तब्दील हो गई थी। उस पर जब मैंने इस महान कार्य के लिए स्वयं भी आर्थिक सहायता देने का वचन दिया, तो सभी गद्गद् हो गए। मैंने महाराजा द्रुपद से प्राप्त भेंट में से अधिकांश प्रपितामह के चरणों में रख दी। इससे चारों ओर जश्न का माहौल हो गया। सभी का उत्साह सातवें आसमान को छू गया। यह सब तो ठीक, पर उधर राजनीति के जानकार उद्धव को यह सब किसी जादू से कम नजर नहीं आ रहा था। तो क्या, यह था भी जादू ही।

होगा; अभी तो मैं बहुत खुश था। यकीनन मेरे चलाये इस एक चक्कर से नागकूट का नक्शा बदल जाना तय था। यूं भी बीस हजार के करीब लोगों का जीवन सुधार पाने से बढ़कर खुशी और क्या हो सकती थी? दूसरी ओर मुझे ठीक समय पर पितामह के काम आने का भी संतोष था। चेकितान के अनुभव व उत्साह को देखते हुए मैं आगे लाजवाब काम के प्रति पूरी तरह आश्वस्त था।

और चन्द दिनों में ही उसने यह सिद्ध भी कर दिया। उसकी प्रशासनिक पकड़ सचमुच काबिले-तारीफ थी। उसका कार्यान्वयन भी तेज था। कुल-मिलाकर चेकितान के आने के बाद एक नए ही उत्साहित वातावरण के तहत नागकूट में चारों ओर युद्ध-स्तर पर कार्य चालू हो गया था। जहां एक तरफ चेकितान के राजमहल का निर्माण-कार्य चालू था, वहीं दूसरी ओर मकानों के निर्माण-कार्य में भी अचानक तेजी आ गई थी। कहीं सड़कों का कार्य चालू था तो कहीं तालाब और कूओं को स्वच्छ करने का। सभी के दिल भी आपस में मिल चुके थे। लगता ही नहीं था कि यह त्रिवेणी संगम है। अब तो राक्षसों का भी नागकूट आना-जाना चालू हो गया था। नागकूटवासी भी बिना किसी भय के बेधड़क राक्षसों के प्रदेश में आने-जाने लग गए थे। कहने का तात्पर्य चारों ओर उत्सव व उत्साह का माहौल था। अब ऐसा माहौल हो और कृष्ण के होते-सोते उत्सव न रखा जाए, भला ऐसा हो सकता है? बेचारे नागकूट-वासियों को तो उत्सव क्या होता है, यह भी पता नहीं होगा। यही सोचकर मैंने तीन दिन के ''राजकीय-उत्सव'' का ऐलान किया। उत्सव की पूरी जवाबदारी भी मैंने और उद्धव ने ही उठाई। यूं भी उत्सव का सारा खर्च द्रुपद से प्राप्त खजाने में से जो थोड़ा-बहुत बचा हुआ था, उसी में से कर रहा था।

खैर! यहां उत्सव के नाम से ही नागकूट-वासियों में एक जिज्ञासा की लहर दौड़ गई थी। निश्चित ही उत्सव

की सारी तैयारियां मेरे और उद्धव के नेतृत्व में ही की गई। कहने की जरूरत नहीं कि भद्रा व उसकी सहेलियों ने भी उसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। चूंकि उत्सव हफ्तेभर बाद ही रखा गया था, सो इन तैयारियों के चलते वह दिन भी आ ही गया। चेकितान के सैनिकों व नागकूट-वासियों ने ही नहीं, राक्षसों ने भी इस उत्सव में बढ़-चढ़कर भाग लिया। सुबह से देर रात तक चल रहे इस उत्सव में खेल-कूद, नृत्य, संगीत सबकुछ शामिल था। आप मानेंगे नहीं कि कुल जमा तीन हजार के करीब युवाओं ने इसमें शिरकत दी थी। खास बात बताऊं तो भद्रा के नेतृत्व में हुए नाग-कन्याओं के नृत्य ने मेरे समेत सभी को मोहित कर दिया था। यहां तक कि उत्साह में आकर मैंने स्वयं भद्रा के साथ एक नृत्य पेश किया था। सबको खुश देख मैं इतना मस्त हो गया था कि फिर तो मैंने वंशी-वादन भी किया। सचमुच इस उत्सव ने मेरी ही नहीं, सभी की तीस जन्मों की थकान उतार दी थी। अब तो कोई मुझे जादूगर समझने लगा था तो कोई देवता।

हां; मेरे लिए एक बात अच्छी थी कि जिस तेजी से मेरा राजकीय कद बढ़ता जा रहा था, उससे कहीं ज्यादा तेजी से सभी राज्यों की प्रजा के मन में मेरे प्रति प्यार व सम्मान की भावना बढ़ती जा रही थी। अब मैं तो आनंद और उत्सव का यूं ही खोजी था, ऐसे में किसी और को भी आनंद लेते देख कर मुझे जो तृप्ति मिलती थी, वह किसी और चीज से कभी नहीं मिलती थी। वास्तव में आनंद ही एक ऐसा कर्म है कि जिसका फल हमेशा ''आनंद'' के रूप में हाथों-हाथ मिलता है। खेल, उत्सव, प्रेम और कला के अलावा के सारे कर्मों में आशारूपी फल समाया हुआ ही रहता है। तभी तो मैं हमेशा कहता हूँ कि शुद्ध आनंद सिर्फ उपरोक्त चार कर्मों से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए तो सदैव आनंदित रहने हेतु मैंने अपने पूरे जीवन को एक खेल बना रखा था। ...और देखो न, मेरे द्वारा रखे गए इस उत्सव ने सभी को कितना आनंदित कर दिया था। आगे ये लोग जीवन में चाहे जितनी प्रगति कर लें, इस आनंद को कभी नहीं भुला सकते। मनुष्यजीवन का सार ही कर्तव्य कर्म करते हुए आनंदरूपी खजाने को बटोरते जाने में है। हमारी मृत्यु हमसे तीन ही सवाल पूछती है। एक, जीते-जी कहीं किसी कर्तव्य-कर्म से पीछे तो नहीं हटे थे? क्या आनंद का कोई मौका चूके तो नहीं हो? ...और जीवन से भरपूर प्रेम तो किया है न? सचमुच कर्तव्य कर्म, प्रेम और आनंद के अलावा आपने जीते-जी जो भी अच्छे-बुरे कर्म किए हैं, सब अंत में जाकर सिवाय ''महापाप'' के और कुछ सिद्ध नहीं होते।

खैर! वैसे तो यहां के सारे कार्य समाप्त हो चुके थे। मुझे यहां आए हुए भी पांच माह से ज्यादा का समय बीत चुका था। और इन पांच महीनों के दरम्यान 'नागकूट' में जो प्यार पाया था, वह वृन्दावन में मिले प्यार से कतई कम न था। यूं तो तीनों राज्यों को मिलाने पर मेरा एक जाती फायदा भी हुआ था। दो-तीन बार भीम के साथ अर्जुन भी नागकूट प्रवास पर आया था। इसी बहाने कम-से-कम भीम व अर्जुन से मुलाकात तो हो रही थी। यूं भी वर्तमान समय में हमारी आपसी मुलाकात दोनों के लिए लाभप्रद थी। जहां एक ओर भीम और अर्जुन से बतियाकर मेरी थकान उतर जाया करती थी, वहीं दूसरी ओर मुझसे मिलकर अर्जुन को सांत्वना मिल जाती थी।

होगा, अभी तो इधर नागकूट में चारों ओर कार्यों ने अपनी तेजी पकड़ ली थी। अब तो चेकितान के रूप में उन्हें एक अनुभवी संचालक भी मिल गया था। जोश और उमंग की तो कहीं कोई कमी वैसे ही नहीं थी। जो सिखाना था, सिखा चुका था। महासंधि करवाकर सबको जीवन और सुरक्षा भी दे ही चुका था। अब मेरे यहां रुकने से कोई विशेष फायदा होता नजर नहीं आ रहा था। यूं भी आगे का सारा कार्य चेकितान को ही सम्भालना था। अत: मैंने जाने का निर्णय कर लिया। और तत्काल प्रभाव से मैं, दारुक व उद्धव जाने की तैयारियों में जुट गए। अभी दिन-दो-दिन ही हुए थे कि मेरे चिंतन ने मेरा ध्यान एक और कर्तव्य की ओर खींचा। वाकई जाने से पूर्व यह भी अति-आवश्यक था। क्या दुर्योधन की महत्वाकांक्षा पर एक तगड़ी लगाम कसना आवश्यक नहीं? यूं भी सफलता उत्साहित करती ही है। मैं सोचने लगा, क्यों न हस्तिनापुर पर चेकितान को राज्य वापस करने के लिए दबाव डाला जाए? तभी दूसरा विचार आया, क्या हस्तिनापुर पर दबाव संभव है? कहीं मैं भलते ही उत्साह में आकर अपने प्रभाव से बढ़कर कोई उड़ान भरने की तो नहीं सोच रहा? नहीं...नहीं कन्हैया! विचार शुभ भी है व आवश्यक भी। क्योंकि यदि इस विस्तार में शांति चाहते हो तो दुर्योधन जैसे पागल-सांढ को खुला नहीं छोड़ा जा सकता। और फिर तुम्हारे लिए क्या असंभव है? ...चला दो कोई चक्कर।

...बस मैंने इस दिशा में चिंतन चालू कर दिया। कहते हैं न कि जब इच्छा दृढ़ हो व विचार सर्वहित का हो तो उपाय निकल ही आता है। मेरे जहन में भी जल्द ही एक योजना ने जन्म ले लिया। मैंने हजार काम छोड़ तुरंत उद्धव को खोजा। ...और उससे कहा- मैं चाहता हूँ कि हस्तिनापुर चेकितान को अपना राज्य वापस कर दे।

मेरे मुख से अचानक ऐसी बात सुन उद्धव भी आश्चर्यचकित होता हुआ बोला- बात तो ठीक है कन्हैया! परंतु तुम्हारे चाहने से होगा क्या?

मैंने कहा- यदि चाह दृढ़ हो तो परिणाम चाहने से ही आते हैं। तुम देखते जाओ, यदि दुर्योधन हाथ जोड़कर चेकितान को राज्य वापस न करे तो मेरा नाम ''कन्हैया'' नहीं। बस तुम्हें हस्तिनापुर जाना होगा।

उद्धव भी उद्धव था। वह कर्म में पीछे हटने वालों में से तो था ही नहीं। तुरंत जाने को तैयार हो गया। कहां तो वह द्वारका लौटने के उत्साह में खोया हुआ था, कहां क्षणभर में कर्तव्य निभाने हेतु तैयार खड़ा हो गया था। अब उसका एक ही सवाल था, वहां जाकर करना क्या होगा? मैंने तत्क्षण उसका भी समाधान कर दिया। मैंने कहा- तुम्हें वहां जाकर कुछ खास नहीं, सिर्फ दुर्योधन को द्रौपदी की अपार सुंदरता का बखान करना होगा। यह एकबारनहीं बार-बार करना होगा, जब तक वह द्रौपदी को पाने के सपनों में न खो जाए।

उद्धव बोला- वह तो ठीक, पर उससे क्या होगा?

मैंने कहा- इतने अधीर मत बनो। अभी मेरी पूरी बात तो सुनो। जब वह द्रौपदी के सपने देखना प्रारंभ कर दे, तब उससे द्रौपदी-स्वयंवर की चर्चा छेड़ देना। बात-बात में उसे अच्छे से समझा देना कि ''द्रौपदी-स्वयंवर'' की पूरी बागडोर कृष्ण के हाथ में है। कृष्ण तुम्हारी वीरता व बुद्धिमानी से इतने प्रभावित हैं कि वे चाहते हैं द्रौपदी का विवाह तुम जैसे किसी वीर से ही हो। अत: कृष्ण तहेदिल से चाहता है कि यह स्वयंवर तुम ही जीतो। आगे उससे यह भी कहना कि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही कृष्ण ने मुझे यहां आपको स्वयंवर की सूचना देने भेजा है। इस स्वयंवर में कृष्ण के संचालन में ही एक धनुर्स्पर्धा रखी गई है। कृष्ण ने कहलवा भेजा है कि आप शीघ्र ही धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारंभ कर दें। समय रहते बाकी की सूचना भी आप तक पहुंचा दी जाएगी। क्योंकि कृष्ण का मानना है कि पूरे आर्यावर्त में दुर्योधन के सिवाय कोई दूसरा युवराज नहीं, जिसकी बाहों में द्रौपदी जैसी विश्वसुंदरी शोभे। यह सुनते ही दुर्योधन पूरी तरह से तुम्हारे चक्कर में आ जाएगा।

उद्धव मेरी बात सुनकर पूरी तरह आश्चर्य में डूब गया। उससे रहा न गया। वह मेरी बात बीच में ही काटते हुए बोला- माना इससे दुर्योधन मेरे चक्कर में आ जाएगा। लेकिन इसका चेकितान को राज्य वापस लौटाने से क्या ताल्लुक?

मैंने हंसते हुए कहा- भोले उद्धव! उसके पश्चात् तुम्हें महाराजा धृतराष्ट्र को चेकितान, नागकूट व राक्षसराज की संधि के बारे में बताना होगा। उन्हें यह चेतावनी देनी होगी कि यदि ऐसे ही आसपास के छोटे-मोटे सभी राजाओं में संधि हो गई, तो एक दिन वे सब मिलकर हस्तिनापुर के लिए संकट खड़ा कर सकते हैं। ...उद्धव ने बड़े आश्चर्य से मेरी तरफ देखा। उसे समझते देर न लगी कि कृष्ण के खुराफाती भेजे से कोई भयंकर योजना निकल रही है।

इधर योजना सुनाते-सुनाते मैं भी थोड़ा जोश में आ गया था। फलस्वरूप अबकी मैंने थोड़ा वजन देकर कहा- उसके बाद तुम पितामह के पास मेरा संदेश लेकर जाना। उनसे कहना कि आपके होते-सोते दुर्योधन द्वारा चेकितान का राज्य हड़प लिया गया, द्वारकाधीश इससे बहुत नाराज हैं। वे चाहते हैं कि बिना किसी विलंब के चेकितान को उसका राज्य तुरंत वापस लौटा दिया जाए, वरना द्वारका अपने मित्र राज्यों चेकितान, नागकूट व राक्षस प्रदेश के साथ मिलकर हस्तिनापुर पर हमला करने को बाध्य हो जाएगी। ...मुझे उम्मीद है कि पितामह व्यक्तिगत तौर पर मुझे नाराज करना कभी नहीं चाहेंगे। वे धृतराष्ट्र पर दबाव डालेंगे। जब दोनों दुर्योधन से यह बात कहेंगे, तब द्रौपदी के सपनों में खोया हुआ दुर्योधन चेकितान को राज्य लौटाने हेतु तुरंत तैयार हो जाएगा। उस समय द्रौपदी के सपनों में खोया दुर्योधन बेचारा मेरा प्रस्ताव ठुकराने की स्थिति में ही कहां होगा? क्योंकि मेरा प्रस्ताव ठुकराने का अर्थ होगा, द्रौपदी के सपने चकनाचूर होना। अर्थात् दुर्योधन भी तुम्हें द्वारकाधीश को खुश करने हेतु तत्पर ही खड़ा मिलेगा।

उद्धव तो पूरी योजना सुनते ही हतप्रभ रह गया, सचमुच इस योजना के विफल होने की कोई संभावना नहीं थी। उत्साहित उद्धव का दूसरे दिन सुबह ही हस्तिनापुर जाना तय हुआ। इधर रातभर में मेरे चैतन्य ने एक और विचित्र योजना बना डाली। दरअसल यह योजना दुर्योधन की शक्ल याद कर उमड़े प्रेम का नतीजा था। अत: जाते-जाते मैंने उद्धव से कहा- सारा कार्य निपट जाने के बाद तुम लौटते वक्त दुर्योधन की पत्नी भानुमती से मिलना मत भूलना।

यह सुनते ही उद्धव बुरी तरह चौंक गया। यह कौन-सी नई बात आ गई? वह थोड़ा हड़बड़ाया भी। उसी हड़बड़ाहट में उसने पूछा- भला यह क्यों?

मैंने हंसते हुए कहा- क्योंकि तुम्हें उसको अच्छे से भड़काना है। उससे कहना कि दुर्योधन, द्रौपदी से विवाह करने की तैयारियां कर रहा है। यदि एकबार द्रौपदी जैसी विश्व-सुंदरी हस्तिनापुर आ गई तो तुम्हारा पटरानी से दासी बनना तय है।

यह सुनते ही उद्धव का सर ही चकरा गया। यह क्या बात हुई। व्यर्थ भाभी को भड़काने से क्या फायदा...?

वह खड़े-खड़े ही सर खुजाने लग गया। उसकी यह हालत देख मैं जोर से हंस दिया। और हंसते हुए ही मैंने कहा- इससे दुश्मन और कमजोर होगा। उसके घर में क्लेश, बाहर झगड़े व मन में द्रौपदी के झूठे सपने। वह पागल हो जाएगा। और कम-से-कम ऐसा पागल व्यक्ति नए हमले तो नहीं ही करेगा।

खैर! उद्धव पूरी तैयारी से हस्तिनापुर के लिए रवाना हो गया। उद्धव की एक खूबी थी, उसे एक कार्य एक ही बार समझाना पड़ता था। मुझे अब स्वयं पर गर्व हो रहा था। वाकई शायद अब कहीं जाकर इस विस्तार के प्रति मेरा कर्म पूर्ण हुआ था। क्योंकि चेकितान, राक्षसराज व नागकूट की संधि करवाने-मात्र से पूरे विस्तार में शांति की स्थापना नहीं की जा सकती थी। प्रमुख आवश्यकता दुर्योधन पर लगाम लगाने की थी। चलो यह छोड़ो, मजे की बात तो यह कि भले ही मैं दुर्योधन, धृतराष्ट्र व पितामह की मानसिकता से खेलकर चेकितान को राज्य वापस दिलवा रहा था; लेकिन कहने को तो द्वारकाधीश का निवेदन ही स्वीकारा जाना था। सो, सोचने वाली बात यह कि जब यह बात आर्यावर्त में फैलेगी तो मेरा स्वयं का कद कितना बढ़ जाएगा? ...द्वारकाधीश के कहने पर दुर्योधन ने चेकितान को जीता हुआ राज्य वापस लौटा दिया, यह बात ही द्वारकाधीश के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगी। वैसे भी मेरी राय में मनुष्य को अपना कद स्वयं ऊंचा उठाना पड़ता है। वैसे ही अपने कर्तव्यों का विस्तार भी स्वयं को ही बढ़ाना पड़ता है। मेरा ही उदाहरण लो, जहां साधारण मनुष्य अपने कर्तव्यों को ज्यादा-से-ज्यादा अपने परिवार तक सीमित रखता है; वहीं मैंने अपने कर्तव्यों की सीमा को चौतरफा फैलाकर पूरे आर्यावर्त को अपनी कर्मभूमि बना दिया था। वृन्दावन हो या मथुरा। नागकूट हो या पांचाल। द्वारका हो या हस्तिनापुर। यह सब अपनी कर्तव्य सीमा में खींचकर मैं लाया था, क्योंकि मनुष्यता का विकास व उसकी रक्षा मैं अपना ‘‘परम-कर्तव्य’’ मानता था। ...फिर चाहे वह मनुष्यता इस ग्रह की हो या किसी अन्य ग्रह की।

अब यह सब यहां-वहां की बातें मैं इसलिए कर रहा हूँ कि उद्धव हस्तिनापुर चला गया था, और मेरे पास यहां उसका इन्तजार करने के अलावा और कोई कार्य नहीं बचा था। यहां पर जब से कार्यों की कमान चेकितान ने सम्भाली थी, मुझे करीब-करीब निवृत कर दिया गया था। हालांकि जब मैंने यह खबर चेकितान को दी तो उसे विश्वास ही नहीं हुआ। उसके अनुसार दुर्योधन कभी राज्य वापस लौटाने के लिए राजी नहीं होगा। चेकितान अपनी जगह सही था। उसे पूरी योजना थोड़े ही बताई थी। यूं भी कृष्ण की ‘‘चकरी’’ समझ पाना इतना आसान थोड़े ही होता है? इधर मेरा सोचना था कि दुर्योधन मेरे चक्कर में आए या नहीं, कम-से-कम इतना तो तय था कि उस पर अब पितामह व धृतराष्ट्र द्वारा इतना दबाव अवश्य बढ़ जाएगा कि आज के बाद उसे अन्य किसी राज्य पर हमला करने की इजाजत कतई नहीं मिलेगी। होगा, अभी तो यहां मुझे अपना अधिकांश समय पितामह व प्रपितामह के साथ बिताने का पूरा मौका मिल रहा था। और सच कहूं तो मैं इसी से धन्य हो गया था। वहीं भद्रा से मुलाकात भी अब रोज की बात हो गई थी। कुल-मिलाकर काम हाथ में एक न था, पर दिनों को फिर भी पर लगे हुए थे।

...अब दिनों को पर लगने की वजहों पर चर्चा करूंगा तो आप कहेंगे, महाराज आप अपनी हरकतों से कभी बाज नहीं आने वाले। अब बाज आऊं या नहीं, हकीकत तो यही थी। जहां एक ओर पूरे नागकूट में परिवर्तन की लहर चल पड़ी थी, वहीं एक चीज यहां ऐसी थी जो बिल्कुल नहीं बदली थी; और वह थी किसी-न-किसी बहाने भद्रा का रोज मुझसे मिलने चले आना। वैसे एक बात माननी पड़ेगी कि वह मेरा पूरा ख्याल भी रखे हुए थी। जैसे ही उसे पता चला था कि मुझे माखन-दही बहुत पसंद है, नित्य प्रात:काल मेरे लिए माखन-दही निकालकर वही प्रकट हुआ करती थी। इतना ही नहीं, जब मैं पकवान बनाना सिखा रहा था, तब भी सबसे ज्यादा रुचि उसी ने दिखाई थी। और तब से रोज मेरे लिए तरह-तरह के पकवान व व्यंजन भी बनाकर वही लाया करती थी। निश्चित ही मुझे भी उसका मेरा इतना ख्याल रखना अच्छा ही लग रहा था। यूं भी इस समय इस अनजान प्रदेश में मुझे ऐसी किसी सेवा की आवश्यकता थी ही। एक तरीके से तो वह राजमहल का ही बोझ हल्का कर रही थी। भद्रा के होते-सोते राजमहल को अपनी ओर से मेरा कोई विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता नहीं रह गई थी।

वहीं यदि भद्रा से हटकर निर्माण-कार्य पर आऊं तो वर्षा ऋतु अब पूरी तरह थम चुकी थी। इससे निर्माण-कार्य में वैसे ही काफी तेजी आ गई थी। नया राजमहल भी करीब-करीब बनने को आ गया था। राजमहल के चारों ओर बस्ती भी तेजी से बस रही थी। सड़कें तो करीब-करीब बन चुकी थी। सचमुच देखते-ही-देखते नागकूट का नक्शा ही बदल गया था। और निश्चित ही इसका पूरा श्रेय चेकितान को जाता था, जिसके अनुभवी नेतृत्व में कार्यों ने जोरदार तेजी पकड़ ली थी। और जिसके फलस्वरूप निश्चित ही चारों ओर खुशी का माहौल था। ...लेकिन मेरी एक सूचना ने सबके रंग में भंग डालने का काम किया। दरअसल उद्धव के लौटते ही मुझे वापस द्वारका लौट जाना था; और जैसे ही यह बात पितामह व प्रपितामह से कही, दोनों अत्यंत दुखी हो गए। हालांकि वे यह समझते ही थे कि भले ही मैं उनका ही वंशज हूँ, परंतु यह मेरा स्थायी निवास कतई नहीं है। आज नहीं तो कल मुझे जाना तो है ही। पर

बावजूद इसके प्रपितामह मुझसे बिछड़ने की कल्पना-मात्र से कांप उठे थे। उनका स्वास्थ्य भी अचानक लड़खड़ाने लग गया था। यहां तक कि एक रात तो मुझे उनके साथ ही सोना पड़ गया था। उस रात प्रपितामह की तबीयत सचमुच काफी बिगड़ गई थी। ...हताशा ने तो उन्हें इस कदर घेर लिया था कि उस दिन बात-बात में उन्होंने मुझसे कहा भी कि- मुझे नहीं लगता कन्हैया मैं तुम्हें फिर देख पाऊंगा। यम मुझे अब किसी भी समय लेने आया ही समझो। ...और मैंने भी तपाक से उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा था कि- आप चिंता क्यों करते हैं? मैं जल्द ही आपसे मिलने वापस आऊंगा।

...हालांकि यह बात मैंने ऐसे ही कहने के लिए नहीं कह दी थी। द्रौपदी के स्वयंवर के समय मुझे वापस पांचाल आना ही था। अब पांचाल से नागकूट क्या, तीन रोज का तो मार्ग था। मुझे अच्छे से याद है उस दिन दादाजी के पांव सहलाते-सहलाते अचानक दादाजी की उदासी देख मैं गंभीर हो गया था। मुझे जाने क्या हुआ था कि उसी गंभीर मुखमुद्रा में मैंने उस दिन उन्हें अच्छाखासा दर्शन तक झाड़ दिया था। मैंने कहा था - मिलना या न मिल पाना यह तो भविष्य की बात है। आप व्यर्थ आज क्यों उसकी चिंता कर रहे हैं? वैसे भी आज नहीं तो कल, जन्म लेने वाले की मृत्यु तो निश्चित ही है। लेकिन आप तो "आत्मा" है। यह आत्मा नित्य व सनातन है। इसको शस्त्र नहीं काट सकते, वायु नहीं सुखा सकती, जल नहीं गला सकता। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नया शरीर ग्रहण करता है। अत: प्रपितामह! "जन्म-मृत्यु" या "मिलना-बिछड़ना" जैसे विषय कतई चिंता करने योग्य नहीं होते। इस जन्म से पूर्व भी हम साथ में रह चुके हैं, मृत्यु के बाद भी एकबार फिर हमें साथ में रहने का मौका मिल ही सकता है। ...मुझे खुशी इस बात की थी कि मेरा यह दर्शन अर्जुन की तरह बेकार नहीं गया था। यह सब सुनकर प्रपितामह को काफी अच्छा लगा था। उस समय ये सारी बातें मेरे मुंह से अनायास ही निकली थी, भगवद्गीता में तो मैंने यह बात सिर्फ दोहराई थी।

खैर! दिन निकलते जा रहे थे। इधर जैसे-जैसे नागकूटवासियों को मेरे वापस द्वारका जाने का पता चलता जा रहा था, सभी की उदासी बढ़ती जा रही थी। भद्रा का तो हाल ही बुरा हो गया था। वह तो यह खबर सुनते ही बावली हो गई थी। वैसे सबका दुखी होना जायज भी था। सचमुच इतने कम दिनों में मैं सबसे किस कदर घुल-मिल गया था, ...खासकर भद्रा से। हालांकि इन सब बातों को ज्यादा तवज्जो न देते हुए मेरा प्रमुख चिंतन उद्धव के इन्तजार में ही खोया हुआ था। पता नहीं उद्धव की बात पर किसने क्या प्रतिक्रिया की होगी? दुर्योधन, पितामह व महाराजा धृतराष्ट्र मेरे चक्कर में पांसे भी होंगे या नहीं? वैसे भी उद्धव का इन्तजार कुछ ज्यादा ही लंबा हो गया था। उसने लौटते-लौटते एक माह लगा दिया था।

कोई बात नहीं, देर से आया था, पर दुरुस्त आया था। क्योंकि उसके चेहरे की प्रसन्नता ही बता रही थी कि वह कामयाब होकर लौटा है। बस हमदोनों चुपचाप गुप्तता से बात करने अपने कक्ष में जा पहुंचे। ...वहीं सच कहूं तो उसकी विजयी मुस्कान देख मेरा अहंकार भी फनफना गया था। एक द्वारकाधीश के कहने पर दुर्योधन ने राज्य लौटा दिया... कृष्ण अब राजा ही नहीं, राजाओं का राजा हो गया है। कृष्ण की योजना और विफल हो जाए, हो ही नहीं सकता। अरे, कृष्ण कोई मामूली चकरीबाज थोड़े ही है। और ना ही वह साधारण शक्तियों का मालिक ही है। वह जो चाहे, वह तो होना ही है। लेकिन आखिर अहंकार एक ही तरीके से कब तक फनफनाता? अभी तो पूरी बात सुनना भी बाकी था। यह ख्याल आते ही जिज्ञासा ने चारों ओर से घेर लिया। मन सबकी प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक हो उठा। यानी अहंकार तो कायम रहा, बस उसने अपना स्वरूप बदल दिया।

...उधर उद्धव तो बताने को तैयार ही बैठा था; और उसने जो कुछ कहा वह सचमुच सीना चौड़ा करने वाला था। उसने बताया कि वह हस्तिनापुर में विदुरजी के यहां ठहरा था। मैंने उन्हें जब पांडवों की सूचना दी तो वे काफी निश्चिंत हो गए, खासकर भीम के राजा वक्रोदर बनने वाली बात उन्हें बड़ी रुचिकर लगी। उधर इस दरम्यान मैंने दुर्योधन से एक-दो बार मुलाकात करने की कोशिश भी की, परंतु उसे मेरे आने से कोई विशेष प्रसन्नता हुई हो ऐसा नहीं लगा। स्पष्ट कहूं तो उसने मुझे बिल्कुल भाव नहीं दिया। दूसरी तरफ मैं भी उससे खुलकर बात नहीं कर पा रहा था, क्योंकि वह हमेशा दु:शासन व मामा शकुनि से घिरा हुआ रहता था। आखिर तीन-चार दिनों के अथक प्रयास के बाद मैंने किसी तरह उसे एकान्त में पकड़ ही लिया। और जैसे ही मैंने उसे द्रौपदी के स्वयंवर की पूरी बात बताई, वह मारे खुशी के उछल पड़ा। ...खास बात तो यह कि मुझे द्रौपदी की सुंदरता के ज्यादा बखान नहीं करने पड़े; शायद इस बाबत उसने बहुत कुछ पहले ही सुन रखा था। मजा तो तब आया जब मैंने उससे यह कहा कि इस पूरे स्वयंवर की कमान तुम्हारे हाथ में है। और कृष्ण चाहता है कि यह स्वयंवर तुम ही जीतो। क्योंकि द्रौपदी जैसी सुंदरी के योग्य इस समय आर्यावर्त में तुम ही हो। यही नहीं, कृष्ण से इस बाबत जो भी बन पड़ेगा वह करने का आश्वासन देने हेतु ही

मुझे यहां भेजा है। ...और जानते हो कन्हैया, यह सब सुनते ही उसका तो रंग ही बदल गया। अचानक मैं उसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति दिखाई देने लगा। उसका पूरा व्यवहार ही बदल गया। तत्क्षण मुझसे अपने व्यवहार की क्षमा मांगते हुए कहने लगा - मैंने कृष्ण को अकारण ही गलत समझा। वह तो मेरे छोटे भाई जैसा है। हालांकि बात यहीं नहीं थमी। वह मुझे जबरदस्ती अपने साथ राजमहल ले गया। वहां मुझे अपने विशेष अतिथि-कक्ष में ठहरवाया। और-तो-और, उसने कई दास-दासियां मेरी सेवा के लिए छोड़ दी। मैं भी उनसे नियमित दिन में दो बार मालिश करवाने लगा।

यहां तक तो ठीक पर इतना कहते-कहते वह शरमा गया। लो! कृष्ण जैसे बेशरम का दोस्त इतना शर्मीला, ...नहीं चल सकता। मैंने तुरंत उसका उत्साह बढ़ाते हुए कहा- चलो अच्छा है। तुम्हें महाराज बनने से पहले ही महाराजाओं के शौक तो लग गए।

खैर! यह तो मजाक की बात थी। असली बात तो यह कि दुर्योधन भी द्रौपदी की सुंदरता के बारे में जानता है। तभी दूसरा विचार आया, यूं भी उसे दूसरों की बहू-बेटियों की खबर रखने के अलावा काम ही क्या है? लो, फिर मजाक पर उतर आया। चलो नहीं करते मजाक। अब संजीदगी से सोचूं तो गौर करने लायक बात यह भी कि द्रौपदी की सुंदरता के चर्चे पहले ही आम हो चुके हैं। यानी स्वयंवर में जबरदस्त उपस्थिति तय हो गई। खैर छोड़ो और यह बात भी रहने दो, अभी तो मुद्दे की बात यह कि जैसे-जैसे उद्धव बताता जा रहा था, मेरी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। इधर मुझे इतना उत्सुक देख उद्धव ने तुरंत बात आगे बढ़ाते हुए कहा- सबसे मजेदार बात तो यह कन्हैया कि जब से दुर्योधन को कहा है कि द्रौपदी-स्वयंवर में धनुर्विद्या की प्रतियोगिता रखी गई है, तभी से वह दिन-रात धनुर्विद्या के अभ्यास में जुट गया है।

...मुझे यह सुनते ही हंसी आ गई। सचमुच गधों की कोई कमी नहीं जमाने में। वैसे दुर्योधन को लड्डू ही ऐसा दिखाया था कि उसे तो इन सब हरकतों पर उतर ही आना था। बस माजरा इतना रसप्रद होते देख अब मैं बाकियों की प्रतिक्रिया जानने को भी उत्सुक हो उठा। हालांकि इसमें मेरी गलती नहीं थी, उद्धव बात ही बड़े रोचक तरीके से सुना रहा था। आगे उसने शकुनि की बारी निकालते हुए कहा- कि वह बार-बार दुर्योधन को सावधान कर रहा था। उसका कहना था कि कन्हैया तुम्हारा हित चाह ही नहीं सकता। जरूर इसमें कोई राजनीति है।

...मैं मन-ही-मन सोचने लगा, यह शकुनि सचमुच बड़ा शातिर है। यह तो मामले में एकदम नया मोड़ आ गया। स्वाभाविक तौर पर मेरी उत्सुकता और बढ़ी। मैंने तत्क्षण पूछा- यह तो ठीक पर यह बताओ कि शकुनि के कहने का दुर्योधन पर असर क्या हुआ?

उद्धव ने बताया- कुछ नहीं। दुर्योधन उल्टा शकुनि पर ही क्रोधित हुआ। उसने शकुनि को लताड़ते हुए कहा भी कि दिन-भर राजनीति कर-करके तुम्हारा दिमाग भी अब एक ही दिशा में सोचने लग गया है।

यह सुन मैं अपनी हंसी नहीं रोक पाया। और मैंने हंसते-हंसते ही उद्धव से कहा- द्रौपदी का लड्डू और विश्व सुंदरी का ख्वाब कुछ समझ में थोड़े ही आने देता है?

यह सुनकर उद्धव भी हंस पड़ा। जब हंसी का दौर थमा तो उसने आगे बताना प्रारंभ किया- उधर धृतराष्ट्र और पितामह तो चेकितान को राज्य वापस लौटाने वाली बात सुनते ही घबरा गए थे। पितामह ने तो धृतराष्ट्र से स्पष्ट कह दिया कि यूं ही पिछली बार द्वारकाधीश हम लोगों से काफी नाराज होकर गए हैं। अबकी यदि हमने उनकी बात न सुनकर चेकितान को उसका राज्य वापस नहीं सौंपा, तो हम सभी कृष्ण की निगाहों से हमेशा के लिए उतर जाएंगे। भले ही वह हस्तिनापुर पर हमला नहीं करेगा, हमारा ही बच्चा है। मानता हूँ यह बात उसने क्रोधवश ही कही होगी, फिर भी उसकी बात का सम्मान तो हमें करना ही होगा। और फिर उसकी मांग भी न्यायोचित है। उन्होंने धृतराष्ट्र से यह भी स्पष्ट कह दिया कि ऐसा करने के लिए दुर्योधन को राजी करना तुम्हारी जिम्मेदारी है। यूं भी उसे सर पर तुमने ही चढ़ा रखा है।

अब तो मेरी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी। उत्सुकता के साथ-साथ अहंकार ने भी एकबार फिर अपना रंग दिखाना शुरू कर दिया था। निश्चित ही यह लगातार पासे सीधे पड़ने का प्रताप था। अत: अबकी मैंने कुछ ज्यादा ही उत्साह से पूछा- आगे क्या हुआ?

अबकी उद्धव बड़ा इतराते हुए बोला- वही जो मंजूरे-कृष्ण था। तीन-चार दिन तो महाराज धृतराष्ट्र परेशान रहे। आखिर उन्होंने हिम्मत कर दुर्योधन को बुलवाया, और उससे स्पष्ट कहा कि द्वारकाधीश की इच्छा है कि चेकितान को उसका राज्य लौटा दिया जाए। और यह सुनते ही महाराज के परम आश्चर्य के बीच दुर्योधन ने बड़ी विनम्रतापूर्वक कहा कि द्वारकाधीश की इच्छा का सम्मान करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। शकुनि की तो यह सुनते ही हवा उड़ गई। उधर पितामह और महाराज धृतराष्ट्र को भी दुर्योधन का इतनी आसानी से मान जाना समझ

में ही नहीं आ रहा था। दुर्योधन के इस बदले स्वरूप ने मेरे समेत सबको अचम्भित कर दिया था।

होगा! जिसकी जो प्रतिक्रिया हो ठीक, पर यह सब सुन द्वारकाधीश बहुत ही खुश हुआ। सबकुछ जैसा सोचा था, वैसा ही हुआ था। होना ही था। कृष्ण चाहे और न हो, ऐसा कभी हुआ है? ...ऐसे ही मुझे ''जय श्रीकृष्ण'' थोड़े ही कहते हैं? एक बात सच-सच कहूं तो न मालूम क्यों मुझे दुर्योधन को परेशान देखने में बहुत मजा आता था। हालांकि इसकी कोई माकूल वजह मेरे पास नहीं थी, शायद आप इसे मेरा बचपना भी कह सकते हैं; पर चाहे जो हो, मुझे उसके मानस से खेलना बहुत अच्छा लगता था। ...हो सकता है शायद इसलिए कि वह बात-बात में आपे से बाहर हो जाता था। सो, यहां जैसे ही प्रमुख उत्सुकताएं शांत हुई नहीं कि उसका स्थान नटखट जिज्ञासा ने ग्रहण कर लिया। मैंने उसी जिज्ञासा-वश उद्धव से पूछा- वो भानुमती से मिलकर आने का कहा था, उसका क्या हुआ...?

यह सुनते ही उद्धव की हंसी छूट गई। और उसने हंसते हुए ही कहा- चिंता मत करो कान्हा! मैं आते-आते दुर्योधन की पत्नी भानुमती को द्रौपदी के बाबत अच्छे से भड़का आया हूँ। ...और फिर हंसते हुए ही आगे बोला- इसके बाद तो भानुमती ने पूरा हस्तिनापुर सिर पर उठा लिया था। उसने दुर्योधन का जीना तो इस कदर मुश्किल कर दिया था कि वह बेचारा तो हंसना ही भूल गया था। दो-चार बार तो भानुमती ने दुर्योधन की हम सबके सामने किर-किरी कर दी थी। मुझे सबसे ज्यादा आनंद यही सब दृश्य देखने में आ रहा था। ...यह सब सुनकर मुझे भी बड़ा मजा आया। मेरी आंखों के सामने तो सारा दृश्य ही घूमने लग गया। इधर कुछ देर बाद उद्धव मेरी पीठ थपथपाता हुआ बोला- वाह कृष्ण! सचमुच यहां बैठे-बैठे तुमने शब्दों व भावों का वह जाल बुना कि सभी उसमें पांस गए। तुम वाकई बहुत बड़े ''कलाकार'' हो।

मैंने कहा- शब्द और भाव ही तो मेरे प्रमुख हथियार हैं। हिंसा नहिंवत और काम सचोट।

...अब जब हस्तिनापुर बाबात सारी जिज्ञासाएं शांत हो चुकी तो मन ने एक अनोखी अंगड़ाई ली, वह यह खबर चेकितान को सुनाने के लिए मचल उठा। बस मैं और उद्धव चेकितान को खोजने निकल पड़े। वह अपने राजमहल बनाने की तैयारियों में लगा हुआ था। बस मैंने उसे वहीं यह खुशखबरी दे दी। जैसी कि उम्मीद थी चेकितान तो यह खबर सुनते ही पागल हो गया। उसको तो विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतनी आसानी से दुर्योधन राज्य लौटा भी सकता है। वह तो वहां सबके सामने ही मेरे चरणों में गिर पड़ा। अब उसकी खुशी देखने-सुनने को ही तो मैं मचल रहा था। बस मैंने तत्क्षण बढ़कर उसे गले से लगा लिया व उसको राज्य वापस मिलने की बधाई भी दी। सचमुच इस समय खुश-खुश चेकितान को देखना बहुत अच्छा लग रहा था। साथ ही उसको न्याय दिलवा पाने का आत्मसंतोष भी हो रहा था। और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह कि यह ''आत्मसंतोष'' अब तक किए फिजूल के हजार अहंकारों पर भारी पड़ रहा था।

वैसे अब मेरे यहां के सारे कार्य समाप्त हो चुके थे। अब मैं जल्द-से-जल्द द्वारका लौट जाना चाहता था। क्योंकि यात्रा पहले ही काफी लंबी हो गई थी, और ऊपर से अभी तो चेकितान का फिर से राज्याभिषेक करवाने भी जाना था। सो, मैंने हाथोंहाथ दो गुप्तचरों को भेज इस बात की सूचना भी दुर्योधन को भिजवा दी। वहीं उद्धव को जाने की अन्य तैयारियां करने को कह दिया व लगे हाथों दारुक को भी उसके साथ लगा दिया। चेकितान को भी निकलने की तैयारियों का इशारा कर ही दिया। ...और मैं हिम्मत कर किसी तरह अपने लौटने की सूचना देने प्रपितामह के कक्ष में पहुंचा। और आश्चर्यजनक रूप से वहां पहले से काफी भीड़-भड़क्का जमा हुआ था। सभी किसी गहन चर्चा में डूबे हुए जान पड़ रहे थे। पितामह, मजोधर, महामंत्रीजी, भद्रा समेत एक अनजान पुरुष वहां विशेष रूप से विराजमान थे। मैंने सभी को प्रणाम किया। प्रपितामह ने बड़े प्यार से मुझे अपनी बगल में ही बिठाया। फिर मुझे उस अनजान व्यक्ति से मिलवाते हुए बोले- यह तुम्हारे फूफाजी व भद्रा के पिता ''गजोधर'' हैं। यह तुमसे कुछ निवेदन करने यहां पधारे हैं।

मैंने तुरंत फूफाजी को प्रणाम करते हुए कहा- आपका निवेदन मेरे लिए आज्ञा ही है।

आश्चर्य! ...फिर भी गजोधर कुछ कह नहीं पाए। शायद वे कुछ संकोच महसूस कर रहे थे। आखिर उनके बदले निवेदन प्रपितामह को ही करना पड़ा। वे बोले- दरअसल यह चाहते हैं कि तुम्हारा व भद्रा का विवाह हो जाए। भद्रा तुम्हारे प्रेम में इस कदर डूब चुकी है कि वह अब तुम्हारे बगैर जीने का सोच भी नहीं सकती। ...फिर एक लंबी सांस लेते हुए बोले- हम सब भी यही चाहते हैं। इससे एक तो नागकूट का सम्मान बढ़ेगा व दूसरा, जैसे ही सबको मालूम होगा कि हमारी कन्या द्वारकाधीश को ब्याही गई है तो कोई हमारी तरफ आंख उठाकर देखने की जुर्रत नहीं करेगा। और इससे तुम्हारा ''नागकूट'' को दिया सुरक्षा का वचन भी हमेशा के लिए सिद्ध हो जाएगा।

मुझे तो प्रपितामह के एक-एक शब्द ने बुरी तरह चौंका दिया था। मेरे लिए तो यह बिल्कुल अप्रत्याशित था। यह तो बात कहां-से-कहां पहुंच गई थी। शायद धीरे-धीरे कन्याओं का मुझपर मर-मिटना मेरे व्यक्तित्व का एक

अभिन्न अंग होता जा रहा था। वैसे प्रपितामह की बात व भावना दोनों उच्च थे। पर यह विवाह वाली बात मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आ रही थी। फिर भी बुजुर्गों का मान रखते हुए मैंने बात बड़ी विनम्रतापूर्वक ही रखी। मैंने कहा- आप सभी जानते हैं कि मैं शादीशुदा हूँ। दूसरा, रिश्ते में भद्रा मेरी बहन हुई। फिर मैं यह विवाह कैसे कर सकता हूँ?

मेरी बात सुन अबकी पितामह प्रस्ताव के समर्थन में आ खड़े हुए - इसमें कोई बाधा नहीं। तुम हमारे ही वंशज हो। और नाग-जाति में लड़की का अपने मामा के पुत्र से विवाह अत्यंत शुभ माना जाता है।

उधर पूरी बातचीत के दौरान भद्रा की निगाहें मुझपर ही लगी हुई थी। वह बड़ी आशाभरी निगाह से टकटकी लगाये लगातार मुझे ही देख रही थी। हालांकि आज उसमें वह पुराना जोश और उमंग नहीं था। शायद उसके जीवन का फैसला जो होना था। इधर जैसे ही मैंने उसकी आंखों में झांका, मुझे अचानक उसके साथ गुजारा पूरा समय याद आ गया। सचमुच इस पूरे नागकूट-प्रवास के दरम्यान उसने मेरा कितना ख्याल रखा था। सुंदरता, भोलेपन व समझदारी का भद्रा में कितना अद्‌भुत मिश्रण था? उसकी आंखों और उसके हाव-भाव से यह भी स्पष्ट था कि वह मेरा इन्कार झेलने की स्थिति में बिल्कुल नहीं है। यूं भी पितामह की बात सुनने के बाद मेरे पास भी कहने को कुछ नहीं था। यह भी साफ दिखाई दे रहा था कि मेरे ना कहने पर बेचारी भद्रा का दिल ही टूट जाएगा। फिर शायद वह जीवन भर कभी हंस न पाएगी, ऊपर से प्रपितामह की अवज्ञा होगी सो अलग। वहीं दूसरी ओर, और कुछ नहीं तो कम-से-कम भद्रा से विवाह करने पर नागकूट की सुरक्षा की समस्या तो हमेशा के लिए सुलझ ही रही थी।

...कुल-मिलाकर सर्वहित की दृष्टि से तो यह निर्णय श्रेष्ठ ही जान पड़ रहा था। साथ ही इससे मैं भद्रा के भोले प्यार की तौहीन करने से भी बच रहा था। अभी मैं यह सब सोच ही रहा था कि तभी मेरे चिंतन में एक और विचार आया। मुझे भी तो यह विवाह कर द्रौपदी का अहंकार तोड़ने का एक खूबसूरत मौका मिल रहा है। एक तरफ तो शादीशुदा हूँ, यह कहकर उससे विवाह के लिए टालमटोल कर रहा हूँ, दूसरी तरफ एक नागकन्या से विवाह कर रहा हूँ। ...यानी विश्वसुंदरी से विवाह की बात पर टालमटोल और नागकन्या का तत्क्षण स्वीकार। निश्चित ही इससे द्रौपदी का अहंकार चकनाचूर हो जाएगा। वह सोचने पर मजबूर हो जाएगी कि जीवन में सुंदरता व प्रतिशोध के अलावा भी बहुत कुछ हो सकता है। और उसका अहंकार टूटना आर्यावर्त की शांति के लिए निश्चित ही वरदानस्वरूप सिद्ध होगा। अर्थात्‌ वहां भी सर्वहित का एक मौका बन ही रहा है। यूं भी मैं अपने जीवन का ‘‘कर्ता’’ तो हूँ नहीं। मेरा कर्ता तो समय व परिस्थिति है। मेरा कर्ता हमेशा से सर्वहित के साथ है। इस एक विवाह में हजारों का हित समाया हुआ है।भद्रा खुश। नागकूट सुरक्षित। प्रपितामह को संतोष। और द्रौपदी के अहंकार पर एक करारी चोट। और जब एक निर्णय से इतने फायदे हों, तो मेरी कोई अलग से जिद या इच्छा का तो सवाल ही नहीं उठता था। ऐसे में विवाह से इन्कार की गुंजाइश ही कहां बची थी? बस मैंने तत्क्षण विवाह के लिए ‘‘हां’’ कह दी। यह सुनते ही भद्रा तो मारे खुशी के पागल हो गई। लाज-शरम छोड़ वहीं सबके सामने मेरे गले से लिपट गई। और लिपटते ही उसकी आंखों से आंसू बह निकले। सच कहता हूँ, उसके लिपटने में भी गजब की मासूमियत थी। मुझे उसका यह बिंदास भोलापन बहुत भा गया। मैं प्रेम की एक और ऊंचाई छूने को तैयार हो गया। मैंने उसे स्वीकारने में एक क्षण नहीं लगाया।

और इसके साथ ही सात दिनों बाद नाग-पद्धति से हमारा विवाह हुआ। पूरा नागकूट खुशी में डूब गया था। विवाह समारोह भी बड़े धूमधाम से रखा गया था। सभी नागकूटवासियों ने इसमें बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। उत्सव में करीब दो हजार लोग सम्मिलित हुए थे। एक ही उत्सव में इतने लोगों का शामिल होना भी अपनेआप में शायद एक इतिहास ही होगा। सभी खुश थे। पांडव भी अत्यंत प्रसन्न नजर आ रहे थे। पितामह व प्रपितामह के तो पांव ही जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। नागकूटवासी भी अपनी बेटी के द्वारकाधीश से ब्याहने पर स्वयं को गौरवान्वित महसूस कर रहे थे। सचमुच नागकूट वासियों के लिए यह एक ऐतिहासिक दिन था। जिस प्रदेश को आज कोई नहीं जानता था, उसे कल एक मेरे कारण पूरा आर्यावर्त जान जाएगा।

...चलो, विवाह समारोह तो निपट गया, पर इधर विवाह संपन्न होते ही मैं अपनी एक निराली ही सोच में खो गया। क्या द्रौपदी का विशाल पहाड़-सा अहंकार यह बर्दाश्त कर पाएगा कि कोई उससे ना-नुकर करने वाला अन्य किसी से विवाह कर ले, वह भी एक नागकन्या से। मैं सोचने लगा, कहीं ‘भद्रा’ विश्वसुंदरी के अहंकार को आवश्यक चोट पहुंचाने की निमित्त-मात्र तो नहीं? शायद कुछ ऐसा ही है। होगा, अभी तो यदि भद्रा की बात करूं तो उसका तो इस विवाह से सिर्फ पगलाना ही बाकी रह गया था। विवाह संपन्न होते ही वह खुशी के चरम-शिखर पर विराजमान हो गई थी। और मैं उसकी खुशी से ही खुश-खुश हुआ जा रहा था; कम-से-कम इस बहाने मैं एकबार फिर किसी को दिलो-जान से खुशी देने का निमित्त तो बना था।

यह सब तो ठीक पर उत्साह सिर्फ भद्रा या नागकूट-वासियों तक ही सीमित नहीं था। उद्धव भी अत्यंत उत्साहित हो उठा था। हमारी प्रथम-रात्रि की तैयारियों का जिम्मा उसने ही अपने सर उठा रखा था। साथ ही उसे

इस बहाने परिहास का मौका भी मिल गया था - ‘‘आए थे विश्वसुंदरी से विवाह के सपने लेकर, जा रहे हैं नाग-सुंदरी से विवाह कर।’’ हालांकि मेरा मन इस समय उसके परिहासों को हवा देने का बिल्कुल नहीं कर रहा था। पर उद्धव-महाराज को इससे क्या फर्क पड़ रहा था। प्रथम-रात्रि की तैयारियां करवाते-करवाते उन्होंने दूसरा व्यंग-बाण भी छोड़ दिया - ‘‘कहीं यह विश्वसुंदरी से विवाह-पूर्व का अभ्यास-विवाह तो नहीं? ...लेकिन कन्हैया तुम जैसे मजे हुए खिलाड़ी को अभ्यास की क्या आवश्यकता?’’ छोड़ो; जब सबकोई खुश है तो उद्धव को भी खुश रहने दो; यह सोच मैंने आज उससे कोई टोका-टाकी नहीं की। वहीं अब तक भद्रा भी कक्ष में आ चुकी थी। कहने की जरूरत नहीं कि उसके आते ही उद्धव महाराज चुपचाप चंपत हो गए थे। इधर भद्रा की बात करूं तो भद्रा स्वभाव से एकदम सरल व भोली लड़की थी। राजकीय अहंकार तो उसमें था ही नहीं। उसकी सरलता मुझे रह-रहकर वृन्दावन की गोपियों की याद दिला रही थी। सच कहूं तो मेरे मन तो सबसे हसीन उसका भोलपन ही था। सरलता, सहजता, भोलापन और समर्पण, यही तो स्त्रियों के वे आत्मिक गुण होते हैं, जो मेरे दिल को छू जाते थे।

खैर! अन्य रात्रि की तरह यह रात्रि भी गुजर गई। अब यहां सबकुछ अच्छे से निपट चुका था। उधर गुप्तचर दुर्योधन की खबर लेकर भी आ ही गया था। दुर्योधन आज से चौथे दिन चेकितान की राजधानी पहुंचने वाला था। सो, वह निपटाकर मेरा मन अब जल्द-से-जल्द द्वारका जाने को कर रहा था। बस किसी तरह प्रपितामह से इजाजत भी ले ली व यह पूरे चार रोज उनके, पितामह के व सभी नागकूट-वासियों के साथ बड़े दिल से बिताए। प्रपितामह व पितामह की काफी सेवा भी की। ये चार दिन तो प्रेम की गंगा में बहते-बहते कहां निकल गए, पूछो ही मत। और बिदाई तो ऐसी भावभीनी व श्रद्धापूर्वक दी गई कि मैं स्वयं धन्य हो गया। भावनाओं का तो ऐसा तूफान उठा था कि जैसे ही हमारे रथ चलने को हुए, आंसुओं का सैलाब उमड़ पड़ा। क्या बड़े, क्या छोटे, क्या स्त्री, क्या पुरुष; सभी रो दिए। लोगों का इस कदर बरसता प्यार देखकर मेरी स्वयं की आंखें भीग गई। ऐसी ही बिदाई वृन्दावनवासियों ने भी दी थी जब मथुरा जाने निकला था। ...तो क्या यहां भी दुबारा नहीं आ पाऊंगा? अब आ पाऊं, चाहे न आ पाऊं, पर कम-से-कम इतने लोगों का जीवन-स्तर सुधारने का संतोष तो अपने साथ लेकर जा ही रहा हूँ। मेरी असली पूंजी ही मेरा आत्मसंतोष व लोगों के हृदय में मेरे प्रति उमड़ा प्यार है। यही तो मेरी व्यक्तिगत पूंजी है जिसे कोई समय या कोई परिस्थिति कभी नहीं छीन सकती। अरे, यह तो मेरी वह पूंजी है जिसे मौत भी मुझसे नहीं छीन सकती।

खैर! अब हमारा काफिला चेकितान के साथ उसके राज्य में उसका राज्याभिषेक करवाने निकल पड़ा था। जाहिरी तौर पर मैं चेकितान का राज्याभिषेक करवाए बगैर द्वारका जाना नहीं चाहता था। कल उठकर दुर्योधन का विचार बदल जाए तो क्या? हालांकि शुक्र था कि ऐसा कुछ हुआ नहीं। चेकितान का राज्याभिषेक निर्विघ्न निपट गया। दुर्योधन ने इसमें पूरा सहयोग किया। सचमुच विश्वसुंदरी के सपनों ने एक पशु को मनुष्य बना दिया था। वहीं जैसा कि अपेक्षित था, चेकितान के राज्याभिषेक में वहां की प्रजा ने भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। यही नहीं, उन्होंने मेरी जयकार बोलाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। साथ ही, चेकितान और दुर्योधन की ओर से भी मेरा विशेष रूप से सम्मान किया गया। और सम्मान अहंकार का पोषक होता ही है। मुझे भी अपनी कर्मठता का अहंकार पकड़ लिया। और यह अहंकार दुर्योधन को बार-बार अपने आसपास दुम हिलाता देख और फनफना गया था। सचमुच अपने भव्य कर्मों के कारण कुदरत से बड़ा नहीं तो उसकी बराबरी का तो हो ही गया था। क्योंकि कुदरत ने भले ही जीवनभर मौत के जाल बिछाए थे, परंतु मैं अपने विराट कर्मों से उन्हें काटकर विजय के झंडे गाड़ता चला जा रहा था। अतः कुल-मिलाकर मैं शान से कह ही सकता हूँ कि मेरे कर्म कुदरत की इच्छा पर भारी पड़ रहे थे।

बस इसी अहंकार के साथ हम द्वारका के लिए रवाना हो गए। करीब-करीब पूरे एक वर्ष बाद द्वारका जा रहा था। सात माह तो नागकूट में ही रुका था। उस पर कमाल यह कि नागकूट में आया था पुत्र बनकर, जा रहा था जमाई बनकर।

सत्राजित का यह कैसा प्रतिशोध

हमारी यात्रा निर्विघ्न जारी थी। हमारा काफिला दनदनाते हुए द्वारका की ओर बढ़ा जा रहा था। एकबार द्वारका जाने क्या निकला मैं द्वारकामय हो गया। और द्वारकामय क्या हुआ कि अचानक मुझे रुक्मिणी की चिंता सताने लगी। मुझे द्वारका छोड़े करीब-करीब एक वर्ष बीत चुका था। उस बेचारी पर यह एक वर्ष कितना भारी पड़ा होगा? हस्तिनापुर, पांचाल या नागकूट की यात्रा के समय तो उसका ख्याल नहीं आया था, परंतु आज रुक्मिणी के दु:ख ने मुझे पूरी तरह विचलित कर दिया था। स्वाभाविक रूप से जब बड़े कर्मों में डूबा हुआ था, तब इस छोटे कर्म की ओर ध्यान ही नहीं गया था। वैसे तब दु:ख की कोई बात भी नहीं थी। क्योंकि उस समय इस चिंता को अवकाश ही कहां था? उस समय तो चुनाव एकदम स्पष्ट था। परंतु आज जब करने को कोई महान कर्म नहीं रह गया है, तब रुक्मिणी के प्रति अपना कर्तव्य बड़ा याद आ रहा था। प्रद्युम्न का क्या हुआ होगा? द्वारका का क्या हाल होगा? रुक्मिणी सम्भली भी होगी या नहीं। सचमुच जब उसे मेरी आवश्यकता थी, मैं उसके साथ खड़ा नहीं हो पाया था। ...पर अब इसमें मैं कर भी क्या सकता था? यही तो जीवन की वे जटिलताएं हैं जो जीवन को और रोमांचकारी बना देती है। यहां एक साथ कई कार्य करने जैसे जान पड़ते हैं, अक्सर कई कर्म एक साथ पुकारते भी हैं; लेकिन एकबार में कार्य तो एक ही किया जा सकता है। और मैं जीवन की इस जटिलता को ना सिर्फ समझता व स्वीकारता था, बल्कि उसके रोमांच का आनंद भी लेता था।

...बात तो तुम्हारी बिल्कुल सही, पर रुक्मिणी में इतनी समझ कहां? रुक्मिणी तो रुक्मिणी, द्वारकावासी मेरे बारे में क्या सोचेंगे? पुत्र के अपहरण की खबर सुनकर भी वापस नहीं आया। कितना निर्मोही है यह कृष्ण। और एक वर्ष बाद आया भी तो एक और विवाह करके। छोड़ो, मनुष्य की छोटी सोच इससे ज्यादा कुछ सोच भी नहीं सकती। सो उन्हें सोचने दो। अब कौन-क्या सोचता है, उसके आपके बारे में क्या विचार हैं, भला इन सब बातों से हमारे जीवन का क्या लेना-देना? मेरा तो स्पष्ट मानना है कि दूसरे की सोच दूसरे की समस्या है, हमारा कर्म तो हमारा स्वभाव ही है। अत: मैं तो कतई इन तुच्छ बातों की परवाह करने वालों में से नहीं था, और ना ही ऐसी बातों की सफाई देने में ही मेरा विश्वास था। मैं तो सिर्फ अपनी आत्मा को जवाबदेह था और उसी की आवाज सुनता था। वह जो करने योग्य माने, करता था। अर्थात् मेरे कर्म व उसके पीछे के कारण पर सिर्फ मेरे आत्मा का अधिकार था। ना कोई बाह्य शक्ति या कारण मुझे कर्म करने को उकसा सकती थी, ना ही उनमें से कोई शक्ति मुझे कर्म करने से रोक सकती थी। ना तो मैं अपने कर्मों के पीछे के कारण बताने को बाध्य था, ना ही किसी की प्रतिक्रियाएं मुझे विचलित कर पाती थी। मैं सिर्फ अपने साथ जीता था। दूसरे मनुष्य व परिस्थितियां तो आते-जाते निमित्त हैं, मैंने कभी उन्हें अपना-पराया या प्रिय-अप्रिय नहीं माना।

छोड़ो! दर्शन तो बहुत झाड़ लिया। कुछ यात्रा की बात की जाए। अब यात्रा में तो सिवाय भद्रा के और क्या नई बात हो सकती थी। और खुश-खुश भद्रा मेरी बगल में ही बैठी हुई थी। ...हालांकि मेरे मन में चल रहे द्वारका के वर्तमान चिंतनों से वह पूरी तरह अनजान थी। वैसे भी वह रुक्मणी या प्रद्युम्न के बारे में जानती ही क्या थी? नजारा यह कि विवाह के बाद की पहली यात्रा कर रहे थे, लेकिन दोनों अपनी-अपनी दुनिया में खोये हुए थे। मैं जहां द्वारका की चिंताओं में उलझा हुआ था, वहीं वह द्वारका के सपनों में खोयी हुई थी। और क्योंकि मैं अपनी चिंताओं में उसकी खुशियों को हिरण करना नहीं चाहता था, अत: उसके साथ मेरा प्रेम का अभिनय भी चालू ही था। वैसे तो उद्धव अपनी ओर से उसका पूरा ख्याल रखे ही हुए था। ज्यादातर बातचीत भी उन दोनों के बीच ही हो रही थी। और सच कहूं तो इसीलिए मैंने रथ की कमान दारुक को सौंपकर उद्धव को भी उसकी बगल में आगे ही बिठवा लिया था। फिर भी भद्रा के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य तो बनता ही था। ...माना मन में द्वारका की चिंता पकड़ी हुई थी, पर उसके चलते भद्रा के अरमानों का गला तो नहीं घोटा जा सकता था। यह सोचकर जैसे ही उस पर ध्यान लगाऊं, मुसीबत यह कि उसका भोलापन गोपियों की याद दिला देता। और मैं गोपियों के खयालों में खो जाता। इसके चलते वह बेचारी एकबार फिर मेरे प्रेमपूर्ण ध्यान से वंचित रह जाती। वहीं रात्रि-विश्राम के समय मैं भला और मेरी वंशी भली। बस सबकुछ भूलाकर कुछ देर के लिए उसकी धुन में अवश्य खो जाया करता था। हालांकि सच कहूं तो वह भी पूरी तरह से रुक्मिणी की चिंता से मुक्ति दिलवाने में असमर्थ साबित हो रही थी।

कोई बात नहीं। अभी तो जब इतनी बात चली है तो एक बात और बता दूं कि मेरे कर्म व मेरा सोचना सबकुछ दिव्य था। अब तक के जीवन से मैं इतना तो सीख ही चुका था कि साधारण मनुष्यों के लिए मेरे कर्मों को

समझ पाना असंभव है। क्योंकि अक्सर मेरे कर्म पूरी प्रकृति के हित को ध्यान में रखकर किए जाते थे, जबकि सामान्य मनुष्य अपने स्वार्थ, अपने परिवार का हित या समाज के बंधनों को ध्यान में रखकर कर्म करता है। जैसे उनके कर्म और उनकी चिंताएं मेरी समझ के बाहर थी, स्वाभाविक तौर पर वैसे ही मेरे कर्म और मेरी चिंताएं उनकी समझ के बाहर रहनी ही थी। होगा, रहने दो। अभी तो यहां सात दिनों की लगातार यात्रा के बाद हम शक्तिमान-पर्वत-शृंखला के निकट पहुंच चुके थे। यह पर्वत-शृंखला गुर्जर प्रदेश में पड़ती थी। यहां से द्वारका बमुश्किल तीन दिनों का सफर था। कहने की जरूरत नहीं कि रुक्मिणी से मिलने की जल्दी के चलते मैं यात्रा में अत्यंत तेजी बनाये हुए था। जैसे-जैसे हम द्वारका के निकट आते जा रहे थे, रुक्मिणी की याद मेरे मानस पर तेज प्रहार करती चली जा रही थी। आखिर मेरे सपनों की रानी थी वह। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद उसे पाया था। ''द्वारका'' उसके ही प्यार के प्रोत्साहन का परिणाम था। हम दोनों कितने खुश थे द्वारका में।देखते-ही-देखते जीवन की कितनी ऊंचाइयां छू ली थी हमने। शायद हमारी यह खुशी कुदरत को रास नहीं आई। ...शायद वह हमारी इतनी खुशियां देखकर जल उठी होगी। तभी तो एक के बाद एक न टलने वाली यात्राओं की व्यवस्था जमा दी थी उसने।

...पर यह ठीक नहीं कहा जा सकता। मैंने तो कभी उसके चांद-सितारों को नहीं छेड़ा। कभी उसकी चांदनी रातों को अमावस में बदलने का प्रयास नहीं किया। तो फिर उसने मेरे और रुक्मिणी के प्रेमपूर्ण जीवन में विष क्यों घोला? अचानक मुझे कुदरत पर बहुत क्रोध चढ़ा। मेरा अहंकार कुछ ज्यादा ही स्वार्थी हो चला। वैसे तो स्वार्थ का ही दूसरा नाम अहंकार है। लेकिन कृष्ण और स्वार्थी...! नहीं, यह कदापि उचित नहीं। यदि मैं ही स्वार्थी हो गया, तो सम्पूर्ण मनुष्यता का क्या होगा? मैंने तत्क्षण स्वयं को सम्भाला। अपने ''द्रष्टा'' को मजबूत किया। द्रष्टा मजबूत क्या हुआ, चिंतन की दिशा ही बदल गई।

...कुदरत को क्या पड़ी है किसी के जीवन में विष घोलने की। उसने कहां विष घोला? उसने तो तुम्हारे सामने एक चुनाव रखा। एक तरफ आर्यावर्त की चिंताओं से बेखबर होकर रुक्मिणी के साथ द्वारका में प्रेमपूर्ण जीवन बिताने का मौका, तो दूसरी ओर अपने जाती जीवन के तुच्छ सुखों को त्याग आर्यावर्त में शांति व अहिंसा की स्थापना करने का एक शुभ अवसर। तुमने स्वयं ही आर्यावर्त की शांति को चुना। तुमने ही ''सर्व हिताय-सर्व सुखाय'' चुना। कुदरत कब कहां किसके जीवन में कभी बाधा बनती है? वह तो हमेशा जीवन बढ़ाने के लिए सहायक ही होती है। उसकी ओर से तो किसी मनुष्य को रत्तीभर कोई बन्धन नहीं। चुनाव तुमने किया था, फिर जबरदस्ती उसको क्यों कोस रहे हो?

बात तो सही है। मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है। तमाम बंधनों से मुक्त है। मैं भी तो स्वतंत्र था। चाहता तो नहीं जाता हस्तिनापुर, पांचाल या नागकूट। बैठा रहता सामान्य मनुष्यों की तरह साधारण खुशियां लूटने द्वारका में। पड़ा रहता अपनी रुक्मिणी के पास। लेकिन मेरी दृष्टि में मनुष्यजीवन यदि आनंद का एक अवसर है, तो साथ-ही-साथ वह ''महान-कर्म'' करने का एक सुअवसर भी है। और कभी-कभी महान कर्मों के लिए जाती सुखों को त्यागना भी पड़ता है। मैंने वही किया। फिर क्यों मैं व्यर्थ रुक्मिणी की चिंता करूं? ऐसा क्यों न सोचूं कि जाने-अनजाने उसकी यह कुर्बानी आर्यावर्त के कितने काम आ गई। पांडवों को सलामत रख पाया। द्रुपद व द्रोण का युद्ध भी हाल-फिलहाल के लिए तो टल ही गया। वहीं नागकूट-वासियों को भी इस कारण स्वर्ग-सा सुख नसीब हुआ। साथ-ही-साथ दुर्योधन के नापाक इरादों पर लगाम भी कस गई। बस यह सब सोचते-सोचते मैं ना सिर्फ सामान्य हो गया, बल्कि द्वारका, रुक्मिणी व प्रद्युम्न की चिंताओं से सर्वथा मुक्त भी हो गया। और इसके साथ ही मैं एकबार फिर अपने द्रष्टा में मजबूती से स्थित हो गया।

...लेकिन वह भी कब तक? अचानक एक नए ही तरीकों के विचार का तूफान मन में खड़ा हो गया। अब मेरे सामान्य होने से कोई रुक्मिणी सामान्य थोड़े ही होने वाली थी। वह भी आखिर है तो साधारण मनुष्य ही। तो क्या, वह भी तो दिव्य सोचने को स्वतंत्र ही है। ...क्यों नहीं दिव्य सोच वह भी मेरी तरह चिंतामुक्त हो जाती है? वैसे रुक्मिणी यूं तो काफी समझदार व शक्तिशाली थी। लेकिन इस समय वह भी क्या करे, इस समय का उसका दु:ख ही सर्वथा भिन्न था। एक मां की ममता दांव पर लगी हुई थी। एक मां कितनी ही मजबूत व समझदार क्यों न हो, अपनी औलाद का दु:ख सहन नहीं कर सकती। माना वह साधारण मनुष्यों से हजार गुना बेहतर है, परंतु 'कृष्ण' थोड़े ही है। हालांकि यही एक दु:ख तो था नहीं उसे। असली सदमा तो उसको द्रौपदी का लगा हुआ था। ...तो यह भी हुआ तो अहंकार का स्वरूप ही। अब अहंकार तो वह करे या मैं करूं, भुगतना तो पड़ता ही है। यह तो हद ही हो गई। इतनी शानदार यात्रा, मित्रों का साथ व प्यारी भद्रा का भोलापन। फिर यह किन चिंताओं में बार-बार स्वयं को उलझाकर यात्रा का मजा किरकिरा रहा हूँ? अचानक मैं जागा। कृष्ण! यह क्या हो रहा है? क्यों चिंता और निराशा से घिर गए हो? क्या द्वारका में रुक्मिणी का दु:ख व प्रद्युम्न का अपहरण ही है? क्या इतनी विशाल नगरी में और कुछ नहीं। क्या

वह तुम्हारी स्वप्न-नगरी नहीं? पूरे एक वर्ष बाद अपनी बनाई नगरी में जा रहे हो, क्या वहां की भव्यता का आनंद नहीं लोगे? तो उस बाबत क्यों नहीं सोचते? वहां तो सबकुछ है। ...बस मैं द्वारका के हसीन सपनों में खो गया। इतने दिनों बाद मित्रों से मिलना, अपनी स्वप्न-नगरी देखना, बाजारों में घूमना, समुद्र किनारे टहलना जैसे न जाने कितने ख्वाब मन में संजोने लग गया। पूरे एक वर्ष के कड़े व मेहनती जीवन के बाद द्वारका में आरामप्रिय जीवन नसीब होने वाला था। और हां, पूरे एक वर्ष बाद मेरे प्यारे भैया से भी तो मुलाकात होनी थी। पैदा होने के बाद पहली दफा हम दोनों इस तरह बिछड़े थे। सचमुच द्वारका पहुंचकर कितना मजा आएगा? ...देखा आपने, सोच की दिशा बदलते ही कैसे सबकुछ बदल जाता है? और कुछ नहीं तो कम-से-कम इसी बहाने यात्रा तो मस्ती से गुजरनी शुरू हो ही गई थी।

खैर! चिंतनों व विचारों के सहारे ही सही, पर सफर कट चुका था। हमारा काफिला द्वारका में दस्तक दे चुका था। और दस्तक देते ही एकबार फिर मुझे अपनी प्यारी के गम ने घेर लिया। यात्रा तक बात बराबर थी, पर द्वारका में तो यही मेरा प्रथम कर्तव्य बनता था। अब मेरे हाथ में रुक्मिणी का दु:ख दूर करने के अलावा कोई कार्य न था। मुझे यकीन था कि अपने कृष्ण का प्यार पाते ही उसका दु:ख कहां विलीन हो जाएगा, उसे पता भी नहीं चलेगा। इधर भद्रा पहली बार इतनी भव्य नगरी देख रही थी। वो भी द्वारका जैसी अद्‌भुत। बेचारी सब भुलाकर नगरी की भव्यता में ही खो गई थी। इस समय उसमें बच्चों-सी कुतूहल थी। यह देख उत्साहवश द्वारका प्रवेश के साथ ही रथ की कमान मैंने अपने हाथों में ले ली व उसे बगल में बिठा लिया। ...हालांकि आश्चर्यजनक रूप से द्वारका में हलचल काफी कम थी। यूं भी दोपहर का समय था, जबकि संध्या होते-होते ही द्वारका की रौनक बढ़ती थी। ...फिर भी मार्ग पर जो कोई मुझे देखता खुशी से झूम उठता। हाथ हिला-हिलाकर मेरा अभिवादन करता। अपने द्वारकाधीश के एक वर्ष बाद लौटकर आने का उत्साह उनके चेहरों से स्पष्ट झलक रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि मेरे आने की खबर आग की तरह पूरी द्वारका में फैल गई। लोगों में भद्रा को लेकर भी बड़ी उत्सुकता थी। सबसे खुशी की बात तो यह कि सात्यकि मुझे रास्ते में ही मिल गया। मैंने उसे अपने साथ ही रथ में बिठा लिया। जब मैंने उसकी मुलाकात भद्रा से करवाई तो वह चौंक गया। उसे ऐसे किसी विवाह की उम्मीद बिल्कुल नहीं थी। ...शायद वह भी विश्वसुंदरी की ही उम्मीद लगाये बैठा था।

होगा, अभी तो जब सात्यकि रास्ते में मिल ही गया था तो मुझे इस बात का भी फायदा उठाना ही था। मैं उससे जल्द-से-जल्द रुक्मिणी, प्रद्युम्न व द्वारका के सामान्य हालचाल पूछना व समझना चाहता था। वह भी शायद ऐसी ही किसी जिज्ञासा का इन्तजार कर रहा था। पर उसने कहा सिर्फ इतना ही कि कहीं कुछ ठीक नहीं है। लो, यह तो सात्यकि ने मेरी उत्सुकता शांत करने की बजाए और बढ़ा दी, और ऊपर से हद तो यह कि वह इससे ज्यादा कुछ कहने को तैयार ही नहीं था। बहुत टटोलने पर उसने सिर्फ इतना बताया कि प्रद्युम्न का अब तक कहीं कुछ अता-पता नहीं चल पाया है। अब यह तो अपेक्षित ही था। पर बाकी कुछ क्यों नहीं कह रहा है। चलो कोई बात नहीं, नहीं बताता न सही। पर पहले कम-से-कम भद्रा को राजमहल में ठीक से ठहरवा तो दूं। उसे नानाजी व माता-पिता के आशीर्वाद दिलवा दूं। सुभद्रा से उसकी मुलाकात करवा दूं। फिर संध्या को रुक्मिणी के पास चला जाऊंगा और उसी से द्वारका के बाकी हाल-चाल भी जान लूंगा।

...अब मनुष्य सोचता तो सबकुछ अच्छा ही है। परंतु कुदरत को क्या मंजूर है, यह बात बेचारा नहीं जानता है। भद्रा को तो सबके आशीर्वाद मिल गए। सुभद्रा से उसकी दोस्ती भी हो गई। नई भाभी के रूप में सहेली पाकर सुभद्रा खुश भी बहुत हुई। मैं भी भद्रा की तरफ से निश्चिंत हुआ। उधर इन सब कार्यों से सलटते ही एकबार फिर मेरा चिंतन सात्यकि की बातों में उलझ गया। मुझे वैसे ही उसकी बात कुछ रहस्यमय मालूम पड़ रही थी। मैंने सोचा, क्यों न नानाजी से ही द्वारका के हालचाल पूछ लूं। इस छोटे से कार्य हेतु रुक्मिणी के साथ का हसीन समय क्यों बिगाड़ना? सो, सात्यकि को ले मैं नानाजी के कक्ष में चला गया। पर यह क्या? मैंने द्वारका का हाल-चाल क्या पूछा, नानाजी एक गहरी उदासी में डूब गए। मुझे चिंता पकड़ ली। उधर सात्यकि कुछ बोलता नहीं है, इधर पूछते ही नानाजी चिंता की गहरी खाई में डूब गए। जरूर समस्या जटिल व गहरी होनी चाहिए। लेकिन ऐसा क्या हो सकता है? अब प्रद्युम्न नहीं मिला तो न सही। यह कोई इतनी बड़ी बात थोड़े ही हो गई जिसका इस कदर मातम मनाया जाए? तभी दूसरा विचार आया, नानाजी जैसे मजे हुए राजनीतिज्ञ को प्रद्युम्न का न मिल पाना इतना नहीं हिला सकता। बात कुछ और व गहरी होनी चाहिए। बस मैंने प्यार से नानाजी को टटोलना चालू किया। सवालों की झड़ी लगा दी। आखिर मेरी मेहनत रंग लाई। नानाजी कुछ बोलने को तैयार दिखाई दिए।

मैं भी पूरी तरह से तैयार हो गया। जान तो लूं कि उदासी का कोई कारण है भी या ये लोग भलते ही चिंता पाल रहे हैं। ...पर नानाजी ने द्वारका का जो दृश्य बताया वह वाकई बड़ा खतरनाक था। द्वारका की परिस्थिति

नियंत्रण से बाहर हो चुकी थी। मैं एक वर्ष के लिए द्वारका से बाहर क्या रहा, सबकुछ तहस-नहस हो चुका था। मैंने ऐसी किसी परिस्थिति की तो कभी कल्पना ही नहीं की थी। नानाजी ने जो कुछ बताया उसका सार यह था कि राजकर्मचारियों पर राजमहल की पकड़ ढीली हो चुकी है। वे दिन भर नशे में चूर रहने लगे हैं। इतना ही नहीं, द्वारका में ठेर-ठेर नर्तकालय खुल गए हैं। बाहर से आई कई वेश्याएं द्वारका में अपना स्थायी वास भी कर चुकी हैं। अधिकांश राजकीय कर्मचारी उनकी अदाओं के गुलाम हुए पड़े हैं।

...यह सब सुनते ही मेरी तो बुद्धि ने ही काम करना बंद कर दिया। आखिर यह सब कैसे हो गया? राजकर्मचारियों को तो छुट्टी के दिन के सिवा मदिरापान करना वर्जित था। साथ ही मथुरा के यादवों को छोड़कर द्वारका में अन्य किसी के भी प्रवेश पर प्रतिबंध था। ऐसे में ये वेश्याएं कैसे प्रवेश पा गईं? मेरी तो इन्द्रियों ने ही जवाब दे दिया। यह तो हर जवाब सौ नए सवाल पैदा कर रहा था। और मुसीबत यह कि तब भी मुझे अपने किसी सवाल का संतोषकारक उत्तर नहीं मिल पा रहा था। इतनी मजबूत प्रशासनिक नींव रखने के बाद भी एक ही वर्ष में द्वारका का यह हाल कैसे हो गया? भैया व सात्यकि जैसों का जोश व नानाजी का अनुभव कहां गया? आखिर मुझसे न रहा गया। मैंने नानाजी से सीधा सवाल किया- इतना सबकुछ हो गया, और आप लोग कुछ नहीं कर पाए...?

नानाजी बड़े दुखी होते हुए बोले- करने को तो मैं सबकुछ कर सकता था, पर बलराम...

...इतना कहकर वे फिर चुप हो गए। अब यह क्या बात हुई? मैं जिज्ञासा शांत करने हेतु सवाल पूछ रहा हूँ, और ये उल्टा उसे और भड़काने पर तुले हुए हैं। आखिर मेरी किसी बात का समाधान क्यों नहीं हो रहा? मैं बुरी तरह झल्ला उठा। इधर मुझे इस कदर झल्लाया देख अबकी सात्यकि ने हिम्मत कर पूरी बात खुलकर बताई। उसने कहा- सच कहूं कृष्ण तो इस समय द्वारका की हालत मथुरा जैसी हो चुकी है। पूरी नगरी मदिरा व नृत्य में डूबी हुई है। लोगों ने काम-काज पर भी ध्यान देना कम कर दिया है। राजकोष में कोई कर जमा करवाने को राजी नहीं है। उल्टा उस धन का उपयोग वेश्याओं व मदिरा पर किया जा रहा है। सभी प्रमुख पदों पर बाहरी व्यक्तियों को बिठा दिया गया है। फलस्वरूप राजकर्मचारी पूरी तरह नियंत्रण से बाहर हो चुके हैं। फिर एक लंबी सांस लेते हुए बोला- और इन सबकी जड़ में बलराम हैं। वे स्वयं एक नर्तकी के प्रेम में पागल हो चुके हैं। दिन भर मदिरा में डूबे रहते हैं। बाहरी कर्मचारियों की नियुक्ति भी उन्हीं के इशारे पर हुई है। जगह-जगह वेश्यालय व मदिरालय खोलने की छूट भी उन्होंने ही दी है।

यह सब सुनते ही मेरा तो माथा ही ठनक गया। भैया नृत्य व मदिरा के शौकीन तो थे ही। लेकिन यह शौक इस कदर बढ़ जाएगा कि किसी नर्तकी के प्रेम में डूब जाएंगे, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। ...चलो यहां तक भी ठीक है, पर अपने उस शौक की पूर्ति के लिए पूरी द्वारका को दांव पर लगाने वाली बात समझ में आने वाली नहीं थी। भैया इस कदर बेहोश हो जाएं मानने में नहीं आता था। हालांकि यह तो मैं पहले से जानता था कि नृत्य व मदिरा यादवों की कमजोरी है। मैंने यह सब जानते-बूझते ही नृत्य व मदिरा पर तगड़े नियंत्रण लादे थे। मैं जानता था कि एकबार यादवों को इनका चस्का लग जाए, तो फिर उन्हें और कुछ सूझने वाला नहीं। और इसीलिए नौबत यहां तक न पहुंचे, इसका इन्तजाम मैं पहले ही कर चुका था। फिर यह सब कैसे हो गया...? ...हालांकि साधारण से चिंतन के बाद मुझे यह समझते देर न लगी कि इस समय भैया के क्रोध व पागलपन के सामने सब लाचार हैं। और वैसे भी सच बात तो यह है कि भैया को मोड़ पाना मेरे अलावा किसी के वश का नहीं। वहीं यह बात भी स्पष्ट थी कि इन सारी समस्याओं की जड़ में नृत्य व मदिरा ही है। लेकिन जब तक भैया को इनसे नहीं छुड़ाया जाता, द्वारकावासियों से बलपूर्वक यह सब छुड़वाना बेइमानी होगी। यानी ले-देकर सबसे पहले भिड़ना भैया से ही होगा।

...देखा आपने! अभी मुझे द्वारका आए चन्द घंटे ही हुए थे कि एक महान कर्म मेरा इन्तजार करता हुआ मिला। हालांकि इससे मुझे क्या फर्क पड़ता था? मैं कर्म से कब भागने वाला था? यूं तो जीवन में भैया से कई बार मेरा टकराव हो चुका था। मुझे यह भी पक्का अनुभव था कि भैया को क्रोध से नहीं, प्रेम से ही वश में किया जा सकता है। वैसे भी हम दोनों का प्रेम कोई साधारण प्रेम तो था नहीं। ऐसे में भैया को मोड़ने में मुझे कोई खास मुश्किल होती नजर नहीं आ रही थी। हां, मंत्र जरूर कुछ विशेष पढ़ने होंगे, तो अब वह तो पढ़ लिए जाएंगे।

अब मेरा कर्म और कर्तव्य दोनों भैया थे। मैं अपनी स्वप्न-नगरी को इस कदर गर्त में गिरा नहीं देख सकता था। मैंने तत्क्षण सात्यकि से भैया का अता-पता जानना चाहा। उसने जो कुछ बताया वह बिल्कुल अप्रत्याशित था। उसके बताए अनुसार भैया की दीवानगी इस कदर बढ़ गई है कि वे अब कई-कई दिनों तक उस नर्तकी के यहां ही पड़े रहते हैं। उन्होंने उसके लिए एक विशाल घर भी बनवा दिया है। बस दिन-रात वहीं मदिरा में धुत्त पड़े रहना उनका नित्यकर्म हो गया है।

मैंने आश्चर्य से पूछा- और भाभी...?

सात्यकि ने कहा- बलराम के सामने उनकी क्या बिसात? बस दिन भर दीवारों से सर फोड़-फोड़कर रोया करती हैं।

यह सब सुनते ही मेरे पांव तले की जमीन खिसक गई। रुक्मिणी-तो-रुक्मिणी, रेवती का रोना तो उससे भी बढ़कर है। बस मैं रथ लेकर सीधा रेवती भाभी से मिलने चल पड़ा। भैया से मुलाकात करने से पूर्व एकबार भाभी से मिलना जरूरी जान पड़ रहा था। हालांकि इन्हीं सब उलझनों में संध्या भी हो चुकी थी। पर कर्तव्य द्वारका की हो रही संध्या से उसे उबारने को ललकार रहा था। निश्चित ही द्वारका मेरे लौट आने के उपलक्ष्य में एक नई सुबह का इंतजार कर रही थी।

...मेरा जीवन सचमुच कठिनतम संघर्षों का एक सिलसिला था। पूरे एक वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद द्वारका आया था; सोचा था पहुंचते ही सबसे पहले रुक्मिणी के दु:ख दूर करूंगा। आवश्यक विश्राम करूंगा। लेकिन विश्राम करना तो दूर, यहां तो रुक्मिणी के दु:ख कम कर पाने का भी मौका नहीं मिल रहा था। ऊपर से कुदरत ऐसी चालें चल रही थी कि उस बेचारी को मेरे से नित नई वेदनाएं झेलनी पड़ रही थी। पहले ही पुत्र-जन्म के वक्त द्वारका नहीं रुक पाने का दु:ख उसे दे चुका था। ऊपर से पुत्र का अपहरण हो गया था। इस पर भी उसकी खोज-खबर लेने पूरे एक वर्ष तक द्वारका नहीं आ पाया था। यह कम था तो एक वर्ष बाद आया भी दूसरा विवाह करके था। और अब द्वारका आने के बाद उससे मिलने तक नहीं जा पा रहा हूँ। जबकि आप सभी जानते हैं कि उसका हर दु:ख मेरे हृदय को हजार घावों की चुभन देता था। कौन है जो अपने दिल में इतने जख्म पालकर भी हंसते हुए कर्तव्य कर्म पूरी ईमानदारी से लगातार निभाये चले जाता है? शायद इसीलिए मैं आम मनुष्यों से भिन्न हूँ, ऊपर हूँ, अरे... इसीलिए तो मैं "कृष्ण" हूँ। जो दिल में रुक्मिणी नामक तूफान लिए हुए ही द्वारका की समस्याओं से उलझने निकल पड़ा था।

वैसे इन सब बातों में क्या रखा था। सच तो यह है कि मेरे दिल में उठ रहे तूफान व रुक्मिणी का दर्द हमारी जाती समस्या थी। लेकिन द्वारका की समस्या परमार्थ की बात थी। तीस हजार यादवों की जिंदगी का सवाल था। मेरे कर्मों का चुनाव हमेशा स्पष्ट रहता था। व्यक्ति के मुकाबले परिवार, परिवार के मुकाबले नगर, नगर के मुकाबले राज्य व राज्य के मुकाबले संपूर्ण आर्यावर्त तथा आर्यावर्त के मुकाबले प्रकृति हमेशा मेरा चुनाव रही है। जबकि आज का चुनाव तो रुक्मिणी व द्वारका के बीच था। एक व्यक्ति व राज्य के बीच था। यह कोई कठिन चुनाव तो था नहीं, राज्य को जीतना ही था।

खैर! अभी तो इन्हीं सब चिंतनों के चलते कब भैया के महल पहुंच गया, कुछ पता न चला। हालांकि इतनी व्यग्रता के बावजूद मैं हावभाव बिल्कुल सामान्य बनाये हुए था। यहां तक कि मैंने अनजान बनते हुए दासियों से भैया व भाभी को बुलाने को कहा। अब भैया तो थे ही नहीं, सो स्वाभाविक रूप से मेरे आने की खबर सुनते ही भाभी दौड़ी चली आई। मैंने तो उन्हें झुककर ऐसे प्रणाम किया मानो कुछ हुआ ही न हो... या मुझे कुछ पता ही न हो। लेकिन भाभी स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाई। मुझे देखते ही फूट-फूट कर रो पड़ी। मैं उनका दर्द समझ रहा था। ...तभी तो आया था। मैंने तुरंत उन्हें गले से लगाया व सिर पर हाथ फेरने लगा। कुछ देर बाद जैसे ही वह सामान्य हुई, अपना पूरा उबाल एक ही बार में निकाल दिया - भाई साहब आप क्या गए, मेरी सारी खुशियां जाती रही। मैं ही क्या, रुक्मिणी भी दु:खों के भंवर में पांसती चली गई। मैं और रुक्मिणी ही क्यों, आपके जाते ही पूरी द्वारका का सुख-चैन लुट गया।

मैंने हंसते हुए कहा- कोई बात नहीं।चिंता क्यों करती हैं। अब मैं आ गया हूँ, सब ठीक हो जाएगा। ...यह कहते हुए मैं उन्हें बैठक-कक्ष में ले गया व उन्हें अपने सामने ही बिठा दिया। कक्ष भी दासियों से मुक्त कर दिया ताकि बातचीत की गुप्तता बनी रहे।

इधर कुछ देर तो भाभी खामोश रही, परंतु फिर बड़ा उदास होकर बोली- क्या खाक ठीक हो जाएगा? अब बहुत देर हो चुकी है।

मैंने फिर हंसते हुए कहा- जीवन में उदास रहना या हारना कमजोरों की निशानी है। जबकि मेरी प्यारी भाभी तुम तो बहादुर हो। तुम्हें ऐसी बातें कतई शोभा नहीं देती। चिंता मत करो, मैं भैया व द्वारका के बारे में सबकुछ जान चुका हूँ।

भाभी थोड़ा झेंपते हुए बोली- सबकुछ?

मैंने कहा- हां, सबकुछ। यहां तक कि भैया और उस नर्तकी के प्रेम के बारे में भी जान चुका हूँ।

यह सुनते ही भाभी काफी हद तक सामान्य हो गई। मैं सबकुछ जान चुका था, यही उनके लिए पर्याप्त था। क्योंकि बलराम जैसे तूफान से टकराने की या उसे मोड़ने की अपेक्षा वे मेरे अलावा किसी से नहीं कर सकती थी। दूसरी तरफ जहां तक मेरा सवाल है, मुझे अपने आप पर इतना विश्वास तो था ही कि आवश्यकता पड़ने पर बलराम

क्या, मैं कुदरत का मुख मोड़ने की भी क्षमता रखता हूँ। यह मेरा कोरा आत्मविश्वास-मात्र नहीं था, बल्कि मैं कुछ भी कर सकता हूँ... यह विश्वास ही मेरी वास्तविक क्षमता थी। वैसे एक राज की बात बताऊं, विश्वास और क्षमता दो अलग-अलग बातें नहीं हैं, बल्कि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भीतर विश्वास हो तो बाहर क्षमता पैदा हो ही जाती है।

...खैर, अभी तो वैसे ही बात आगे बढ़ाने के लिहाज से मैंने भाभी से पूछा- रात हो चली, भैया अब तक नहीं आए।

यह सुनते ही वे एकदम उदास हो गई। उदास तो उन्हें होना ही था। मैंने प्रश्न ही गलत पूछ लिया था। मुझे अपने प्रश्न पर बड़ा क्रोध भी आया। शायद भूख, नींद व थकान की वजह से ऐसी चूक हो गई थी। अब प्रश्न लाख गलत सही पर भाभी को तो उत्तर देना ही था, सो उन्होंने दिया- वे आजकल कई-कई दिनों तक घर नहीं आते। ...इतना कहते-कहते वह फिर रोने लग गई।

मुझसे चूक तो हो ही गई थी। लेकिन अब क्या...? मैंने तुरंत बात का रुख बदलते हुए पूछा- बात यहां तक पहुंच गई, और आपने उन्हें रोका तक नहीं।

भाभी बोली- भाई साहब! आप क्या सोचते हैं, मैंने उन्हें रोकने का कम प्रयत्न किया होगा? जबसे वे उस कुल्टा नर्तकी के चक्कर में पड़े हैं, तब से रोज मेरा और उनका झगड़ा चलता रहता था। मैंने उन्हें वहां जाने से रोकने के हजार उपाय किए, लाख झगड़े किए, किंतु सब विफल। अब तो कई बार वे पन्द्रह-पन्द्रह दिनों तक घर नहीं आते।

मैं समझ गया, भाभी ने गलत व्यक्ति के सामने गलत मंत्र पढ़ लिए। यही तो मनुष्य की समस्या है, वह अपनी ही बीमारी का इलाज नहीं जानता। जबकि कायदे से मनुष्य को कम-से-कम अपनी बीमारियों के बाबत तो पता होना ही चाहिए। हमारी समस्याओं का समाधान हमसे बेहतर दूसरा कौन खोज सकता है? लेकिन उसके लिए होश की आवश्यकता होती है। और बेहोशी में जीने वाले मनुष्यों से होश की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? भाभी ने भी यही गलती दोहराई थी; होश का उपयोग ही नहीं किया था। परिणाम यह कि इतने वर्षों बाद भी भैया से काम कैसे निकलवाना, वे नहीं समझ पाई थीं। कोई बात नहीं, अब मैं आ गया हूँ तो समझाये देता हूँ। बस मैंने भाभी से सीधे-सीधे कहा- भैया को मोड़ने का तरीका ही आपने गलत चुना। आप यह क्यों भूल गई कि क्रोध में तो भैया हम सबके भी बाप हैं। उन्हें क्रोध से नहीं, प्रेम से मोड़ने की कोशिश की जानी चाहिए थी। आपने भैया को क्रोध व झगड़े से मोड़ने की कोशिश की, इसीलिए आप नाकाम रहीं। दूसरी ओर नानाजी व पिताजी ने भैया की उपेक्षा कर उन्हें सही राह पर लाना चाहा, वे भी असफल रहे। मित्रों ने उनसे दूरी बढ़ाकर उन्हें जगाने की कोशिश की, सफलता उन्हें भी हासिल नहीं हुई। लेकिन अब मेरा जादू देखना। मैं कैसे उस शेर को आपकी पालतू बकरी बना देता हूँ।

...यह सुनते ही भाभी की बांछें खिल गई, तत्क्षण उनके चेहरे पर विश्वास की एक झलक उभर आई। मेरे लिए भी भाभी का बढ़ता विश्वास बड़े काम का था। आखिर मुझे काम तो उन्हीं से लेना था। और फिर मनुष्य का अपना विश्वास ही तो परिणाम लाता है। यह सब तो ठीक, पर अभी भाभी को बहुत कुछ समझाकर पूरी तरह तैयार करना था। सो, मैंने अबकी भाभी को बड़ी ही सहजता से समझाते हुए कहा- भाभी! मेरी बात ध्यान से सुनो। भैया को नर्तकी व मदिरा के जाल से छुड़ाना आपके या मेरे ही नहीं, पूरे द्वारका के जीवन के लिए आवश्यक है। लेकिन भैया को वापस लाने के जो मंत्र हैं, वे थोड़े भिन्न हैं। पहली बात तो यह समझ लो कि भैया नर्तकी के प्रेम में नहीं पड़े हैं, बल्कि यह उनकी वासना है। और उनके वासना में इस हद तक गिरने की दो वजह है। एक तो लगातार घर में क्लेश होना व दूसरा उनका अत्यधिक मदिरापान करना। यह बात पक्की जान लो भाभी कि भैया के उस नर्तकी के द्वार पर इस कदर गिर जाने की सबसे प्रमुख वजह तुम्हारा उनसे लगातार झगड़ना है। यह अच्छे से समझ लो कि वे वहां उसके पास सिर्फ तुमसे बचने के लिए जाते हैं, महत्वपूर्ण आज भी आप ही हैं। ...वहीं दूसरी बात यह भी समझ लें कि वासना से मनुष्य को मोड़ना आसान है, प्रेम से मोड़ पाना अत्यंत कठिन होता है। और जहां तक प्रेम का सवाल है, वह भैया मेरे व आपके अलावा किसी से कर ही नहीं सकते। अरे मेरी पगली भाभी, वे हम दोनों को इतना प्यार करते हैं कि अब उनके पास किसी अन्य को देने के लिए प्रेम बचा ही कहां है? यहां तक कि विश्वसुंदरी भी उनके द्वार पर आएगी तो वो भी ज्यादा-से-ज्यादा भैया की वासना ही जगा पाएगी, प्रेम की चाह में तो उसे भी खाली हाथ ही लौटना पड़ेगा। अत: यदि आप भैया को वापस लाना चाहती हैं तो मेरे पास उसका एक उपाय है। लेकिन पहले मुझे कुछ खाना दे दो, बड़ी भूख लगी है।

यह सुनते ही भाभी शरमा गई - धत्त तेरे की। माफ करना भाई साहब! मैं अपनी समस्याओं में इतना खो गई कि आपको भोजन क्या, पानी तक का पूछना भूल गई। ...यह कहते-कहते ही भाभी झट से भोजन की व्यवस्था करने चली गई। मैं वहीं बैठक में ही आंखें बंद कर लेट गया। सोने के लिए वक्त तो था नहीं, परंतु इस बहाने जो थोड़ी-बहुत थकान कम हो जाए। अभी सुस्ताना शुरू ही किया था कि भाभी चार दासियों के साथ भोजन के दो भरे

हुए थाल लेकर पधारी। मेरी पसंद का पूरा ख्याल रखा गया था। पकवान व व्यंजन भी मेरी ही पसंद के थे। थाल में एक-से-एक स्वादिष्ट चटनियां भी थी। अन्य परिस्थिति होती, यानी कि भोजन के बाद डटकर सोना होता तो शायद दोनों थाल चट कर जाता। लेकिन आज की रात सोना कब नसीब होगा, कुछ पता नहीं था। होगा भी या नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता था। अत: समय की मांग को देखते हुए मैंने स्वयं पर नियंत्रण रखना ही उचित समझा। भाभी का मन तो भोजन करने का बिल्कुल नहीं हो रहा था, परंतु मैंने उन्हें जबरदस्ती खिलाया। क्योंकि भूखी बकरी भैया जैसे सांढ़ से कैसे उलझ पाती?

खैर! भोजन के पश्चात् हम वापस प्रमुख चर्चा पर आ गए। बात मैंने ही शुरू की। मैंने कहा- भाभी! अब तक आप इतना तो समझ ही चुकी होगी कि आप व्यर्थ भैया से झगड़ती रही, और उधर इन झगड़ों से बचने के लिए भैया उस नर्तकी के निकट होते चले गए। क्योंकि मेरी दृष्टि में शांति मनुष्य की प्रथम और अंतिम खोज है।

...पता नहीं जाने क्या हुआ पर अबकी बात दोहराते ही भाभी थोड़ा क्रोधित हो गई - तो क्या, वे उस नर्तकी के यहां जाते रहें और मैं उनसे प्रेमालाप करती रहूं?

यह सुनते ही मैंने बड़ी दृढ़ता से कहा- बिल्कुल! यदि आप भैया को वापस लाना चाहती हैं तो भैया ही नहीं, आपको उस नर्तकी से भी प्रेमपूर्ण व्यवहार का नाटक करना होगा।

रेवती बोली- यह मुझसे नहीं होगा।

मैंने कहा- यह तो आपको करना ही होगा। क्योंकि यह मेरी योजना का प्रमुख अंग है।

...मरता क्या न करता। अंत में भाभी दोनों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करने के लिए राजी हो गई, ...लेकिन मजबूरी में। बार-बार बड़बड़ा रही थी... "क्या दिन आ गए - अब तो उस चुड़ैल से भी प्रेमपूर्ण बातें करनी होगी। ...सच कहूं तो मनुष्य की अधिकांश समस्याओं की जड़ उसका अपना अहंकार ही है। मनुष्य की मूर्खता की हद तो यह है कि समस्या का हल सामने पड़ा हो तो भी वह अहंकार पर चोट लगने के भय से समस्याओं में उलझे रहना ज्यादा पसंद करता है। जबकि समस्या सत्य है, और अहंकार माया है। फिर भी माया के तिरस्कार का कष्ट सहन कर पाने की अयोग्यता के कारण जीवनभर वास्तविक दु:ख झेलता रहता है। छोड़ो, अभी तो जब भाभी राजी हो ही गई तो आगे की बात की जाए। अत: अबकी बात पक्की करने के उद्देश्य से मैंने भाभी से कहा- देखो कुछ देर बाद हम उस नर्तकी के मकान पर जाएंगे। निश्चित ही भैया वहीं पर होंगे। हो सकता है वे दोनों बेढ़ंगी अवस्था में भी हों। परंतु आपको फिर भी दोनों से प्रेमपूर्ण व्यवहार ही करना है। आपके ही नहीं, पूरी द्वारका के जीवन-मरण का फैसला आपके इस नाटक पर ही निर्भर है।

यूं तो अब भाभी पूरी तरह तैयार जान पड़ रही थी। वैसे भी वह मेरे चक्करों से अच्छे से वाकिफ थी। सो, और कुछ नहीं तो इन सब बातों पर तो वह मुझपर भरोसा कर ही सकती थी। वह जाने को भी पूरी तरह तैयार नजर आ रही थी। यही नहीं, शायद उतावली भी हो रही थी। लेकिन मैं कुछ और समय बीत जाने के बाद ही जाना चाहता था। ताकि भैया और उस नर्तकी की महफिल अपने पूरे रंग में आ जाए। अरे भाई! जम चुके रंग में ही तो भंग डालने का मजा आएगा। बस समय काटने के लिए मैं भाभी से कुछ देर यहां-वहां की बातें करता रहा। बात-बात में भाभी ने रुक्मिणी का जो हाल बताया, वह अत्यंत चिंता में डालने वाला था। उनके अनुसार मुझे पहले उससे एकबार मिलने अवश्य जाना चाहिए। लेकिन मेरे लिए यह संभव नहीं था। मेरा चिंतन इस समय पूरी तरह से भैया व द्वारका में डूबा हुआ था। ऐसे में रुक्मिणी से आधा-अधूरा मिलकर क्या करूंगा? मुझे आधा-अधूरा बोलना, मिलना या कार्य करना कतई पसंद नहीं था। एकबार भैया को सही राह पर ला दूं, फिर मैं अपनी रुक्मिणी से दिल खोलकर पूर्णता से न मिलूं?

इधर बातें करते व यही सब सोचते-सुचाते जाने का समय हो चुका था। मैंने रेवती भाभी को अपने साथ ही रथ में आगे बिठाया व चल पड़ा उस मकान की ओर जहां भैया उस नर्तकी के साथ रह रहे थे। वैसे तो मैंने अपना पूरा जीवन ही संघर्ष में बिताया था, परंतु यह कुछ अजीब ही तरह का संघर्ष करने जा रहा था। इधर साफ दिख रहा था कि द्वारका पूरी तरह बदल चुकी है। बाजारों में पहले जैसी रौनक नहीं थी। सड़कों पर अधिकांश लोग मदिरा के नशे में धुत्त नजर आ रहे थे। बाजारों के बजाय वेश्यालयों के बाहर ज्यादा चहल-पहल थी। यह सब देख मेरे मन पर क्या गुजर रही थी, यह समझना कोई मुश्किल काम नहीं। मदिरा और नृत्य के शौक ने पहले ही अधिकांश यादव-बाहुल्य राज्यों का सत्यानाश कर रखा था। मैंने द्वारका को इन दोनों बीमारियों से बचाये रखने का पूरा-पूरा प्रयास किया था। लेकिन बावजूद इसके, आज की द्वारका व कल की मथुरा में इस समय कोई फर्क नहीं रह गया था। मेरे सपनों की नगरी के इस पतन को देखकर मुझे वास्तव में बड़ी पीड़ा हो रही थी। यदि यादवों ने समय रहते स्वयं को मदिरा से नहीं बचाया तो निश्चित ही एक दिन यही मदिरा उनके विनाश का कारण बनना तय था। हालांकि अभी सबसे

महत्वपूर्ण प्रश्न भैया का था। वे ही इन सारी फसादों की जड़ थे। एकबारभैया से निपट लूं फिर द्वारका को भी सीधी राह पर ले आऊंगा।

खैर! अभी तो हमारा रथ भैया के नए भवन की ओर दौड़ा जा रहा था। रास्ते में मैंने भाभी से समझना चाहा कि आखिर भैया उस नर्तकी के जाल में पांसे कैसे? ...और उन्होंने जो कुछ बताया, वह मेरे सोचने की क्षमता से भी कई गुना खतरनाक था। एकबारको तो मेरे जैसों की बुद्धि चकरा गई। भाभी ने जो कुछ बताया उसका सार यह था कि- आपके जाने के कुछ दिनों बाद ही सत्राजित वापस आ गया था। और आश्चर्यजनक रूप से उसके आने के कुछ दिनों में ही अचानक सत्राजित व आपके भैया की निकटता बढ़ने लगी थी। दोनों देर रात तक मदिरा पीते रहते थे। फिर तो धीरे-धीरे यह उनका नित्यकर्म हो गया था। कुछ समय बाद सत्राजित ने अपने राज्य से कुछ नर्तकियां बुलवाई। उसमें ''तेजी'' नाम की राज-नर्तकी भी शामिल थी। वह अति सुंदर व चंचल थी। धीरे-धीरे बलराम उसके नृत्य व गायन के गुलाम होते चले गए। ...फिर कुछ ही दिनों में दोनों की प्रेम-चर्चाएं द्वारका में फैल गई। खबर उड़ते-उड़ते मुझ तक भी पहुंची। स्वाभाविक रूप से इससे हमारे झगड़े बढ़ने लगे। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे उन्होंने घर आना-जाना ही कम कर दिया। फिर तो वे दोनों साथ में ही रहने लगे। हालांकि अब तक तो यह गाज सिर्फ मुझपर गिरी थी, लेकिन तेजी के जरिये धीरे-धीरे वे सत्राजित के पूरे नियंत्रण में आ गए। इसी बात का फायदा उठाकर सत्राजित ने सभी प्रमुख राजकर्मचारियों को बदलने के लिए उनको राजी कर लिया। तत्पश्चात् मदिरालय व वेश्यालयों को खुली छूट दे दी गई। और जो हाल पहले सिर्फ उनका था, वह आगे चलकर पूरी द्वारका का हो गया। यानी पहले जो गाज मुझपर गिरी थी, वह विकराल स्वरूप धारण कर पूरी द्वारका पर टूट पड़ी।

मैं समझ गया कि 'द्वारका' सत्राजित के षडयंत्र का शिकार हुई है। मैं यह भी समझ गया कि सत्राजित के कारण ही नानाजी व पिताजी यह तमाशा खामोशी से देखने को मजबूर हैं। पता नहीं, यह पुराने यादव सत्राजित के प्रभाव से बाहर क्यों नहीं आ पा रहे थे? दूसरी तरफ जहां तक आम यादवों का सवाल है, तो उन्हें तो छूट से मदिरा पीने को मिल रही थी, उनको तो सत्राजित के जाल में पांसना ही था। चलो यह भी मान लिया, पर यह भैया की बुद्धि को क्या हो गया? वे कैसे सत्राजित के जाल में पांस गए? शायद वे सत्राजित के नहीं, सुंदरता के जाल में पांसे थे। अब सत्राजित 'स्यमंतक-मणि' को आसानी से नहीं भुला पाएगा, यह तो मैं जानता ही था। वह कुछ-न-कुछ गुल अवश्य खिलाएगा यह भी मैं जानता था। परंतु इतनी जल्दी वह इतना बड़ा जाल बिछाने में सफल हो जाएगा, यह मेरी कल्पना में बिल्कुल न था। लेकिन जब सिक्का अपना ही खोटा हो जाए तो दुश्मन के जाल बिछाने पर क्या आश्चर्य करना? हालांकि इसका एक अर्थ यह भी स्पष्ट था कि प्रद्युम्न के अपहरण में सत्राजित का कोई हाथ नहीं था। क्योंकि तब तो वह सीधा सौदा कर सकता था। उसे इतना बड़ा षडयंत्र रचने की आवश्यकता ही कहां थी?

चलो छोड़ो। अभी तो यह स्पष्ट हो ही गया था कि सारा उपद्रव सत्राजित ने मणि वापस प्राप्त करने हेतु ही किया है। तो क्या...? मणि उसे वापस कभी नहीं मिलने वाली, मणि कोई उसके बाप की थोड़े ही है? सोचते तो सोच गया, लेकिन फिर ध्यान आया कि मणि है तो उसी के बाप की। ...तत्क्षण दूसरा विचार आया, फिर भी उस पर पहला हक तो मनुष्यता का ही बनता है। और मनुष्यता का मुझसे बड़ा पुजारी कौन हो सकता है? इस लिहाज से वह मणि मेरी ही हुई। यही सब सोचते-सोचते भैया का नया घर आ गया। यानी मैं अपनी नई ''कर्मभूमि'' पहुंच गया।

मैंने देखा, घर चारों ओर से प्रहरियों से घिरा हुआ था। आश्चर्य तो इस बात का कि घर बस्ती से दूर बनवाया गया था। भैया का रथ भी दूर से ही दृष्टिगोचर हो रहा था। कुल जमा दो मंजिले इस मकान में ऊपर जाने की सीढ़ियां बाहर से ही दी गई थी। यानी भैया ने अपना अड्डा ऊपर जमा रखा होगा, नीचे सेवकों को ठहरवाया गया होगा। भवन की बात करूं तो यह किसी दृष्टिकोण से छोटा नहीं कहा जा सकता था। आश्चर्य इस बात का कि भवन के बाहर मंडरा रहे अधिकांश सिपाही नए चेहरे मालूम पड़ रहे थे। मैं यह सब नजारा देखते हुए भाभी के साथ रथ से उतरा ही था कि तभी एक पुराने सैनिक की निगाह मुझपर पड़ी। ...तुरंत उसके मुंह से निकला- अरे! यह तो द्वारकाधीश व भाभी पधारे हैं। यह सुनते ही मैंने सभी को चुपचाप अपने स्थान पर खड़े रहने का आदेश दिया। बाकी सब तो अपने स्थान पर खड़े रह गए, परंतु एक प्रहरी मेरे आदेश की अवहेलना करते हुए दौड़कर भैया तक यह खबर पहुंचाने भागा। मैंने खड़े-खड़े ही चक्र से निशाना साध कर उसका सर धड़ से अलग कर दिया। यह दृश्य देखते ही सभी कर्मचारियों में घबराहट फैल गई। चलो अच्छा हुआ। एक तरीके से यह आवश्यक भी था। इससे सभी नए राजकर्मचारियों तक यह संदेश अवश्य पहुंच जाएगा कि अब द्वारकाधीश पधार चुके हैं। या तो उनके आदेश का पालन करो, नहीं तो मौत की गोद में समाने हेतु तैयार रहो।

चलो यह तो ठीक, पर इधर मकान के चारों ओर जिस प्रकार का पहरा था, और साथ ही पहरे पर भी जिस तरह नए प्रहरी बिछा दिए गए थे... उससे यह स्पष्ट था कि भैया सत्राजित की मीठी जेल में कैद हो गए हैं। तो उस

कैद से छुड़वाने ही तो हम यहां आए हैं। बस मैं और भाभी दनदनाते हुए ऊपर चले गए। अब किसी के हमें रोकने-टोकने या होशियारी करने का तो सवाल ही नहीं उठता था। अपने एक साथी कर्मचारी का कटा हुआ सिर पहले ही सबके लिए एक सबक बन चुका था। ऊपर पहुंचते ही मैंने धीरे से प्रमुख कक्ष का दरवाजा खोला। दरवाजा सीधा एक विशाल-कक्ष में खुल रहा था। कक्ष की सजावट भी काफी अच्छी जान पड़ रही थी। बीच में खुला स्थान छोड़ा हुआ था। बैठक सिर्फ हमारे दरवाजे के सामने की तरफ ही थी, वह भी चार-छः व्यक्तियों के बैठने की। यह सब तो ठीक पर उसी बैठक पर भैया नशे में चूर उस नर्तकी की गोद में लेटे हुए थे। जाहिरी तौर पर दोनों के वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। आश्चर्य यह कि भैया इस हालत में भी मय के गिलास-पर-गिलास उड़ेलते चले जा रहे थे। कारण साफ था, नर्तकी अपने हाथों से चषक के गिलास भर-भर कर बड़े प्यार से उन्हें पिला रही थी।

अब मेरा तो ठीक, ऐसा कुछ अपेक्षित ही था, लेकिन उधर भाभी यह दृश्य नहीं देख पाई। वे व्यर्थ ही क्रोध में लाल-पीली हो गई। और इससे पहले कि पूरा बना-बनाया खेल बिगड़ जाए, मैंने उन्हें अपनी शर्त याद दिलाते हुए बाहर खींच लिया। किसी तरह हजार मिन्नतें कर उन्हें प्रेमपूर्ण व्यवहार करने हेतु राजी किया। भाभी के राजी होते ही मैंने उन्हें अच्छे से समझाकर पहले अकेले अंदर भेजा। मैं बाहर ही खड़ा रहा। रेवती क्षणभर में ही दोनों के काफी निकट जा पहुंची। आगे का सारा दारोमदार भाभी के संतुलित व्यवहार पर ही निर्भर था। भाभी भी भाभी थी। धीमे कदमों से वे दोनों के सामने ही यमराज की तरह खड़ी हो गई। वहां इतना कुछ हो जाने के बाद अब कहीं जाकर इस प्रेमी-युगल की निगाह भाभी पर पड़ी थी। कहने की जरूरत नहीं कि उन्हें अपने सामने खड़ा देख दोनों के होश उड़ गए। नर्तकी तो वस्त्र ठीक करते हुए तुरंत हड़बड़ाहट में खड़ी हो गई। भैया की हालत तो उससे भी कहीं ज्यादा दयनीय हो चुकी थी। मैंने पहली दफा उन्हें इस तरह सकपकाते देखा था। निश्चित ही दोनों के लिए भाभी का इस कदर आ धमकना बिल्कुल अप्रत्याशित था। ...हालांकि भैया भी भैया थे। "गिरे तो भी टंगड़ी ऊंची" वाली कहावत चरितार्थ करने पर तुले हुए थे। किसी तरह सम्भलने का प्रयास करते हुए अकड़ से खड़े हो गए। वैसे उनकी यह अकड़ नकली ही थी। फिर भी ताव तो देखो। उसी नकली अकड़ से रेवती की ओर देखकर घूरते हुए पूछा- तुम यहां कैसे...? क्यों आई हो?

यह तो प्रत्याशित ही था। और इस परिस्थिति से निपटने के लिए ही तो रेवती को अभिनय करना सिखाया था। उसने निराश भी नहीं किया। वह बड़े मुस्कुराते हुए भैया के चरणों में बैठ गई। फिर बड़े प्रेम से बोली- नाथ! मैं कहां जाऊंगी? जहां-जहां स्वामी वहां-वहां मैं। भैया को रेवती से ऐसे व्यवहार की कतई उम्मीद नहीं थी। वे बुरी तरह झेंप गए। रेवती उनके कदमों पर पड़ी थी व अस्त-व्यस्त कपड़ों में तेजी उनके सर पर खड़ी थी। भैया को तो कुछ भी सूझना ही बंद हो गया था। यदि रेवती झगड़ा करती, तो उसे डांटा जा सकता था। तत्काल यहां से भागने का आदेश दिया जा सकता था। लेकिन भाभी के प्रेमपूर्ण व्यवहार का सामना कैसे करना, यह वे बेचारे जानते ही नहीं थे। भैया को इस कदर हतप्रभ देखकर तेजी अपने कक्ष में भागने को हुई। यह देखकर भाभी ने झट से बढ़कर उसको पकड़ा। फिर बड़े प्यार से उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए बोली- अरे! आप कहां जा रही हैं? ...खास आपसे मिलने तो मेरे देवरजी पधारे हुए हैं।

यह सुनते ही पहले से सकपकाये हुए बलराम भैया का तो पूरा नशा ही उतर गया। वह घबराकर बोले- देवरजी! ...मतलब कौन?

अबकी रेवती पूरा इठलाकर बोली- लो! तेजी के प्रेम में अपने भाई को भी भूल गए। एक ही तो देवरजी हैं मेरे, कृष्ण!

मेरा नाम सुनते ही भैया का तो जीवन-भर का नशा उतर गया। वे बुरी तरह घबरा गए। उसी घबराहट में उन्होंने पूछा- क...क...कहां है वो?

...मैं ऐसे ही किसी मौके की तलाश में तो बाहर द्वार पर खड़ा था। इन हालातों में कृष्ण का आगमन भी तो धमाकेदार चाहिए था। मैं तत्परता से उत्तर देते हुए कक्ष में घुस आया - मैं यहां हूँ भैया। और यह कहते-कहते ही उनके चरण-स्पर्श करने लगा। वे पूरी तरह ठिठक कर दूर हो गए।

मैंने भी इठलाते हुए कहा- यह क्या भैया! इस समय मुझे ही नहीं, पूरी द्वारका को आपके आशीर्वाद की सख्त जरूरत है। ...और आप हैं कि कतरा रहे हैं।

उधर रेवती भी रंग में आ गई थी। वह भी मेरे साथ ही झुकते हुए मुस्कुराकर बोली- ...और मुझे भी।

अजीब दृश्य हो गया था। घबराये हुए भैया की बगल में एक तरफ रेवती खड़ी थी और दूसरी तरफ सकपकायी हुई तेजी। यह कम था तो उनके ठीक सामने यम बनकर मुस्कुराता हुआ मैं खड़ा था। भैया अजीब-अजीब निगाहों से बारी-बारी से तीनों को देख रहे थे। कक्ष में पूरी तरह सन्नाटा छाया हुआ था। खामोशी रेवती ने ही तोड़ी।

बलराम का हाथ अपने हाथ में लेते हुए बोली- देखो न भैया, आजकल ये रात-रात भर घर पर ही नहीं आते।

यह सुनते ही मैंने नाटक को आगे बढ़ाया। मुस्कुराना बंद कर अपने चेहरे पर थोड़ा क्रोध लाया, और फिर भाभी को डांटते हुए बोला- एक तो आप भैया का बिल्कुल ध्यान नहीं रखतीं। बेचारे कितने थके-थके नजर आ रहे हैं। आपने एक राज्य को चलाना क्या मजाक समझ रखा है? भैया को दिन-भर कितनी सभाएं, कितनी मंत्रणाएं करनी पड़ती हैं। कितने ही कर्मचारियों को निलंबित करना पड़ता है व कितने ही नए कर्मचारियों की नियुक्तियां भी करनी होती है। रात-बेरात कई अप्रत्याशित समस्याएं आ जाती हैं। नानाजी अब बूढ़े हो चुके हैं। पिताजी वैसे ही राज-पाट में रस नहीं लेते। ले-देकर सारा भार भैया के कंधों पर आ जाता है। और बावजूद इसके आप उनका ख्याल रखने में विफल हो गई हैं।

भैया मेरा एक-एक शब्द ध्यान से सुन रहे थे। निश्चित ही हर शब्द उन पर पचासों घड़े पानी उड़ेल रहा था। उनका नशा तो पहले ही उतर चुका था, अब तो बेचारे अपने अस्तित्व के लिए जूझ रहे थे। उनकी नजरें तो जमीन पर जो गड़ी थी, उठने का नाम ही नहीं ले रही थी। लेकिन आज मेरे व्यंगों के बाण उन्हें कहां बख्शने वाले थे। मैंने भाभी को आगे डांटना शुरू किया- क्या आप देखती नहीं कि भैया को आराम की कितनी सख्त आवश्यकता है। एक तो आप भैया का ध्यान नहीं रखती, ऊपर से उनकी शिकायत करती फिरती हैं?

...यह सब सुनकर भैया बुरी तरह सकपकाए, फिर कुछ सम्भलने की कोशिश करते हुए मुझसे कहने लगे - नहीं ऐसा कुछ नहीं है। तू धीरज रख।

मैंने भैया की बात अनसुनी कर सीधे उन्हीं से मुखातिब होते हुए कहा- ऐसा कैसे नहीं है? यह सत्य मैं अपनी आंखों से देख रहा हूँ कि भाभी आपका ध्यान रखने में पूरी तरह नाकाम रही हैं। तत्पश्चात् मैंने पूरी नाटकीयतापूर्वक भाभी से कहा- आज से आप यहीं भैया के नए मकान में रहेंगी व उनका पूरा ध्यान रखेंगी। आप ही क्यों आज से मैं भी यहीं रहूंगा। भैया की सेवा करूंगा। भला भातृ-सेवा से बड़ा कर्तव्य क्या...?

यह सुनते ही रेवती बोली- यह भी ठीक है। आज से मैं उनकी दासी व आप उनके दास।

यह सब सुनकर भैया बुरी तरह हड़बड़ाये। और फिर हकलाते हुए बोले- कृष्ण, दासी, दास यह सब क्या लगा रखा है। बात कहां-से-कहां जा रही है। जैसा आप लोग सोच रहे हैं, वैसा कुछ नहीं है। सौ बातों की एक बात यह है कि मैं खुद ही आज से राजमहल रहने जा रहा हूँ।

भैया को घर वापस लौटता देखकर रेवती के चेहरे पर चमक आ गई। लेकिन अभी बात पूरी तरह बनी नहीं थी।रेवती के चेहरे पर आई यह चमक विजय पूर्व की अनावश्यक उत्तेजना से ज्यादा कुछ नहीं था। संपूर्ण विजय पाने के लिए अभी भैया पर कई चोटें और करना आवश्यक था। अत: मैंने बात का रुख वापस मोड़ते हुए अबकी पूरी गंभीरता से कहा- जैसी आपकी मर्जी! चलो हम सभी राजमहल चलते हैं। ...फिर मैंने भाभी की ओर मुड़ते हुए कहा- आप अपने साथ तेजी को ले चलिए, मैं भैया को लेकर आपके महल पहुंचता हूँ।

उधर तेजी को साथ में ले चलने की बात भैया के गले बिल्कुल नहीं उतरी। वे तुरंत झुंझलाते हुए बोले- लेकिन उसके चलने की क्या आवश्यकता है?

मैंने कहा- आपके विश्राम के लिए उसका भाभी के साथ रहना परम आवश्यक है। आप पूरी बात समझ नहीं रहे।

भैया बड़बड़ाए- समझ तो आप लोग नहीं रहे।

...लेकिन इस समय उनकी बड़बड़ाहट कौन सुनने वाला था। मैंने तुरंत भैया को अपने साथ रथ में बिठाया। व भाभी को भैया के रथ में तेजी को ले आने का इशारा किया। इशारा पाते ही भाभी ने भी झट से तेजी को अपने साथ ले लिया। और इसके पहले कि कोई कुछ समझे, हमारे रथ दौड़ पड़े थे। पूरे रास्ते भैया चुप ही रहे। क्या बोलते...? बेचारे की चुप्पी समझी जा सकती थी। उनकी दशा सचमुच दयनीय हो चुकी थी। लेकिन यह समय उन पर दया खाने का बिल्कुल नहीं था। वहीं मध्यरात्रि बीते भी काफी समय हो चुका था। लेकिन आज यह चढ़ती रात्रि कर्म में बाधा कहां थी? कर्म से ध्यान आया। भैया भले ही बातचीत करना चाहे, मुझे तो उनके मानस पर कुछ और प्रहार करने ही रहे। बस मैंने उसका प्रारंभ करते हुए कहा- भैया! आपके मार्गदर्शन में वेश्यालयों व मदिरालयों की रौनक काफी बढ़ गई है। ऐसा लग रहा है मानो पूरे बाजार की रौनक सिमट कर यहीं एकत्रित हो गई है।

अब भैया इसका क्या उत्तर देते? खाली हूँ...हूँ कहकर चुप हो गए। लेकिन मेरा मन इतने-मात्र से कहां भरने वाला था? मुझे तो उन्हें पूरा-का-पूरा ठीक करना था। बस मैंने बात आगे बढ़ाते हुए कहा- सच कहूं तो अब कहीं जाकर द्वारका यादव-राज जैसा लग रहा है। यादव-राज हो और जगह-जगह वेश्यालय व मदिरालय न हो, जंचता नहीं।

भैया टोंट समझ तो रहे थे, परंतु वे जवाब देना टाल रहे थे। यूं भी इसका क्या जवाब हो सकता था? इधर ऐसी ही बातों के बीच अब महल भी आ चुका था। और उधर अभी हम उतरें उससे पूर्व रेवती भाभी का रथ भी आ पहुंचा था। मैंने उन्हें ही पहले उतरने दिया। रेवती अब पूरे रंग में आ चुकी थी। उन्होंने रथ से उतरते ही बड़ी अदा से भैया व तेजी को हाथ हिलाते हुए पधारने को कहा। रेवती का ऐसा हसीन इशारा पाकर वे दोनों तो उतरे-ही-उतरे मैं भी रथ से उतर आया। बस हमारा महल प्रवेश हो गया। भैया सिर झुकाये ही चल रहे थे। बेचारे मारे शरम के मुझसे या भाभी से नजरें तक नहीं मिला रहे थे। लेकिन मैं बाज आने वालों में से कहां था? मैंने फिर भाभी से कहा- देखो भैया का कक्ष अच्छी तरह ठीक कर दो। उस पर इत्तर वगैरह छिड़क दो। भैया काफी थके हुए नजर आ रहे हैं; उनको व तेजी को आराम करने दो।

यह सुनते ही भैया पूरी तरह टूट गए। किसी तरह क्रोध जताते हुए बोले- मेरे कक्ष में तेजी की क्या आवश्यकता है? मैं ऐसे ही ठीक हूँ।

यह सुनते ही भाभी इठला कर बोली- आपकी थकान मिटाने में मैं अकेली कहां सक्षम हूँ? आखिर आप आर्यावर्त के व्यस्ततम राजाओं में से एक हैं।

भैया ने इसका उत्तर तो कुछ नहीं दिया, सिर्फ गुस्से में चुपचाप अपने कक्ष में घुस गए। ...वो भी अकेले, और धड़ाम से दरवाजा भीतर से बंद कर दिया। न घुसे बांस न बजे बांसुरी। यह सब देख तेजी की तो सिट्टी-पिट्टी ही गुम हो गई। वह बुरी तरह झेंप गई। उसकी सारी अदाएं हवा हो चुकी थी। जिसकी शह पर वह इतराती फिर रही थी, वह तो भाग खड़ा हुआ था। आज के लिए इतना ही काफी था। बस हमने उसे पूरे सम्मान के साथ दूसरे कक्ष में ठहरवा दिया। अब कहीं जाकर मेरे चेहरे पर विजयी मुस्कान उभरी। और उसके साथ ही अहंकार पकड़ लिया।क्यों न पकड़े, आखिर मैं और विजय हमेशा साथ-साथ जो चलते थे। तभी तो मैं बार-बार कहता हूँ कि एकबार जिसने मुझपर भरोसा किया, उसका उद्धार हुआ ही समझो। मैं और हार जाऊं या मेरी योजना असफल हो जाए, ...हो ही नहीं सकता।

खैर! यह अहंकार वगैरह तो चलता रहेगा। अभी तो यहां प्रभात भी होने को आ गया था। रात को एक क्षण नहीं सो पाया था। थकान व निद्रा अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुके थे। परंतु मेरा कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ था। जो कार्य एकबार प्रारंभ किया हो, उसे समाप्त करना ही उचित होता है। उसमें ढिलाई बरतने से कार्य के फिर जटिल होने की संभावना बढ़ जाती है। अब तक तो सिर्फ भैया पर कुछ नियंत्रण पाया था। उन पर भी अभी पूरा नियंत्रण पाना बाकी था। आगे सत्राजित के पूरे षडयंत्र का भी पर्दाफाश करना था। वेश्यालयों व मदिरालयों पर फिर लगाम कसनी थी। कार्य अच्छाखासा बाकी था और शरीर साथ नहीं दे रहा था। लेकिन मनुष्य-जन्म का मूल्य ही कर्म करने में है। इसलिए कर्म प्रारंभ करने के बाद उसे हरहाल में पूर्ण करना मैं अपना "परम कर्तव्य" समझता था। ...जब शरीर इस बुरी तरह थक जाए कि कर्म करने के लायक ही न बचे, तो उसे मन की शक्ति से चलाओ। जब मन भी थकान महसूस करने लगे, तो उसे अहंकार की ताकत से दौडाओ। जब अहंकार भी थक जाए, तो उसे आत्म-बल से खींचो। और आत्म-बल के तो थकने या हारने का सवाल ही नहीं उठता। और फिर हम यह क्यों भूल जाते हैं कि कर्तव्य-कर्म तो अपनेआप में परम आनंद है। अर्थात् कर्तव्य-कर्म कोई बोझ तो होता नहीं, वह तो उल्टा उत्सव का एक अच्छाखासा अवसर प्रदान करता है। यही कारण है कि मुझे किसी कर्म में कभी कोई भेद मालूम नहीं हुआ। मुझे जरासंध से युद्ध करने में भी उतना ही आनंद था, जितना गोपियों के साथ रास रचाने में। रुक्मिणी का हरण करके भागना हो या जरासंध के भय से मथुरा छोड़कर भागना हो, मेरे लिए दोनों कर्म एक ही बात थी। मेरे लिए तो दोनों समय की मांग पर किए गए कर्म थे। और यही एक वजह है कि मैंने जीवन में कभी दु:ख या कष्ट महसूस ही नहीं किया। और क्योंकि कभी थका नहीं, इसीलिए कभी हारा भी नहीं। आज भी अपना शरीर मैं अपने आत्मबल से ही चला रहा था। और आत्मबल कोई छोटी-मोटी ऊर्जा तो होती नहीं? पूरी प्रकृति की शक्ति उसमें समायी हुई रहती है। शरीर आत्मबल को क्या सौंपा, स्वयं को एकबार फिर पूरी तरह तरोताजा महसूस करने लगा।

खैर! उधर अब तक प्रभात भी हो चुका था। अब अगला कर्म मुझे पुकार ही रहा था। बस रेवती भाभी को वहीं छोड़ मैं निकल पड़ा। मैंने अपना रथ सीधे राजमहल की ओर मोड़ा। तुरंत उद्धव व सात्यकि को उठाया। उनको दारुक, भद्रक समेत पूरी मित्र-मंडली को शीघ्रातिशीघ्र बुला लाने को कहा। कुछ ही देर में हमारी मित्र-मंडली राजमहल के सभाकक्ष में हाजिर हो गई। निश्चित ही इतनी सुबह-सुबह नींद में से उठाकर बुलाने की वजह से सबमें घबराहट फैल गई थी। तो बात भी कोई राहत की तो थी नहीं। बस मैंने फटाफट सबको एक छोटा-सा संबोधन दिया, जिसमें मैंने उन्हें द्वारका की वर्तमान परिस्थिति के बारे में संक्षेप में बताते हुए कहा- दरअसल सत्राजित एक षडयंत्र के तहत द्वारका को अपने शिकंजे में लेना चाहता है। हमारी बदकिस्मती यह है कि उसने अपने इस बदइरादे में भैया

को अपना मोहरा बनाया हुआ है। वैसे भैया तो करीब-करीब वापस मेरे प्रभाव में आ चुके हैं, लेकिन सत्राजित ने जिन नए राजकर्मचारियों को नियुक्त करवाया है उन्हें तुरंत निलंबित करना आवश्यक है। और क्योंकि इससे हमारे पुराने विश्वासी कर्मचारियों में असुरक्षा की भावना पैदा हो गई है; इसी कारण द्वारका पर हमारी प्रशासनिक पकड़ काफी कमजोर हो चुकी है। अत: सबसे पहले हमें भैया द्वारा नियुक्त सभी कर्मचारियों की बर्खास्तगी के पत्र तैयार करने होंगे। साथ ही उनके द्वारा अकारण निलंबित सभी कर्मचारियों को वापस कार्य पर आने की अधिसूचना भी जारी करनी होगी। ...हालांकि मैं जानता हूँ कि इन सभी अधिसूचनाओं का अर्थ तभी है जब इन्हें भैया स्वयं जारी करें। क्योंकि सारे निलंबन व सारी नियुक्तियां उन्हीं के आदेश से हुई है। ऐसे में यदि यह अधिसूचना किसी और ने जारी की तो सत्राजित हम दोनों भाइयों में मतभेद खड़े करने की कोशिश कर सकता है। वह भैया को भड़का सकता है कि देखा! तुमने जिन्हें नियुक्त किया, कृष्ण ने आते ही उन्हें निलंबित कर दिया। और यही मैं नहीं चाहता हूँ। अत: हमें हर हाल में यह कार्य भैया की सहमति से ही निपटाना है। ...और जहां तक भैया का सवाल है, उन्हें मैं राजी कर लूंगा। तुम लोग तो जल्दी-से-जल्दी भैया द्वारा नियुक्त व बर्खास्त कर्मचारियों की सूची बनाना प्रारंभ कर दो।

उधर मित्रमंडली को मामले की गंभीरता समझने में क्या देर लगनी थी? सभी फटाफट अपने-अपने कार्यों में भिड़ गए। कमाल यह कि दोपहर होते-होते तो सूची तैयार भी हो गई। अब पत्रों पर भैया की अनुमति आवश्यक थी। बस मैं पत्रों को ले सीधे भैया के महल जाने निकल पड़ा। ...वहां महल पहुंचते ही अजीब नजारा देखा। रेवती भाभी बाहर बगीचे में ही चक्कर लगा रही थी। बेचैनी उनके पूरे अस्तित्व पर छायी हुई थी। मैं भी यहां का ताजा हाल जानने को उत्सुक था ही। क्योंकि भैया अब कैसा व्यवहार करते हैं, उसी पर आगे की सारी रणनीति निर्भर थी। पूछने पर भाभी ने बताया कि न तो भैया और ना ही तेजी अब तक अपने कक्ष से बाहर निकली है। यह सुनकर मैं बड़ा खुश हुआ। चलो यहां की स्थिति तो पूरी तरह नियंत्रण में है। मैंने भाभी से हंसते हुए कहा भी कि यही तो मैं चाहता था। इसका अर्थ स्पष्ट हुआ कि दोनों अपने कर्मों पर इतने शर्मिंदा हैं कि बाहर आकर किसी का भी सामना करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं।

भाभी ने पूछा- तो अब क्या होगा?

मैंने कहा- अब वही होगा जो "मंजूरे-कृष्ण" होगा। शरम इतनी बढ़ा दी जाएगी कि अपने को इच्छित परिणाम प्राप्त हो जाए। फिर मैंने रेवती को आगे की रणनीति समझाई व तत्पश्चात् हम चुपचाप भैया के कक्ष के बाहर खड़े हो गए। रेवती ने भैया का दरवाजा खटखटाया।जैसा कि अपेक्षित था, भीतर से कोई उत्तर नहीं आया। मुझे तो पक्का यकीन था कि भैया जाग ही रहे हैं। मैंने रेवती के कान में धीरे से भैया को कुछ कहने को समझाया। भाभी ने फिर दरवाजा खटखटाते हुए कहा- स्वामी उठिए! इतनी देर तक सोना अच्छे राजाओं का लक्षण नहीं। सियासत का यह नियम है कि उस पर मजबूत पकड़ बनाये रखने के लिए लगातार जागते रहना आवश्यक है। और फिर अब तो भोजन का भी वक्त हो चुका है। मैंने अपने हाथों से आपकी पसंद का भोजन बनाया है।

...मेरे मंत्र कोई शास्त्रों के कोरे मंत्र तो थे नहीं, वे तो ताजा-ताजा मेरी आत्मा से स्फुरित होते थे। और यही कारण था कि वे हमेशा इच्छित परिणाम लेकर ही आते थे। मंत्र है क्या..., आखिर कोरे शब्द ही तो हैं? लेकिन उन शब्दों का प्रभाव तभी पड़ता है जब वे स्वयं की आत्मा से निकले हों। भला दूसरों की आत्मा से निकले शब्द हमारे किस काम आ सकते हैं? ध्यान रहे, सामान्यत: हम शब्दों का प्रयोग ही दो सूरतों में करते हैं, एक या तो अपने भाव प्रकट करने के लिए, या फिर दूसरों को प्रभावित करने के लिए। मुझे आज तक यह बात कभी समझ में नहीं आई कि चाहे हम अच्छी वर्षा चाहते हों या दूसरों का प्रभाव कम करना चाहते हो, भला उसमें शास्त्र के या दूसरों के कहे मंत्र क्या काम आ सकते हैं...? और-तो-और, कई लोग तो वैवाहिक जीवन सफल बनाने हेतु भी मंत्र के भरोसे रहते हैं। जरा सोचिए, विवाह हमें सफल बनाना है तो हमें स्वयं अपने ही निर्मित मंत्रों को ठीक समय पर पढ़ना होगा। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि यदि विवाह सफल बनाना है तो "प्रेम व विश्वास" उसका एकमात्र मंत्र है, ठीक वैसे ही जीवन सफल बनाने का एक ही मंत्र है "नि:स्वार्थ-भाव से लगातार श्रेष्ठ कर्म करते चले जाना।" जरा इस बात को ताजा उदाहरण से समझें। अभी भैया को अपने कक्ष से बाहर निकालने हेतु कोई पंडित आकर मंत्र ही नहीं पूरे शास्त्र भी पढ़ डाले, तो भी क्या वह भैया को कमरे से बाहर निकाल पाएगा? असंभव! लेकिन मैं जानता हूँ कि भैया सबकुछ बर्दाश्त कर सकते हैं परंतु भूख कभी बर्दाश्त नहीं कर सकते। मैंने भोजन का मंत्र पढ़ा, वो भी उनके मनपसंद भोजन का, उन्हें तो कक्ष के बाहर आना ही था। दरअसल "मंत्र" शब्दों का वह मायाजाल है जिसका उपयोग मनुष्य इच्छित परिणाम लाने के लिए करता है। इसलिए मंत्र हमेशा ताजे और क्षणिक होते हैं।मंत्र पुराने या बासी कभी नहीं हो सकते। मैं तो हमेशा से ठीक समय पर ठीक मंत्र पढ़ने का आदी था। मैं जानता था कि नृत्य व मदिरा की ही तरह भूख भैया की तीसरी कमजोरी है। सत्राजित ने भी नृत्य व मदिरा का मंत्र पढ़कर ही तो भैया को गुमराह किया था। और

इधर, इधर इस समय मैंने भैया के भोजन की कमजोरी का इस्तेमाल किया था।

खैर! मेरे पढ़े मंत्र के नाकाम जाने का सवाल ही नहीं उठता था। भैया ने तुरंत दरवाजा खोला। दरवाजा खोलते ही उन्होंने भाभी के साथ मुझे खड़ा पाया। मुझे देखते ही उनकी भूख हवा हो गई। उनके हाव-भाव से स्पष्ट था कि वे दरवाजा खोलकर ही पछता रहे थे। लेकिन अब क्या हो सकता था। मुट्ठी तो खुल ही चुकी थी। मैं जानता ही था कि यदि उन्हें मेरी उपस्थिति की जरा-सी भी भनक पड़ जाती तो वे एक क्या, सात दिनों तक भूखा रहना पसंद करते पर दरवाजा कभी न खोलते। भाभी को वश में करने के दोनों मंत्र उनके पास थे। वे भाभी को प्रेम और क्रोध दोनों से वश में कर सकते थे। परंतु मेरे व्यंगों और कटाक्षों का कोई जवाब उनके पास नहीं था। यही तो मेरे व्यक्तित्व की विशेषता थी। मेरे पास सभी के मंत्र होते थे, लेकिन मेरा एक भी मंत्र किसी के भी पास नहीं होता था। सीधे-सीधे कहा जाए तो मैं एक ला-इलाज बीमारी था। दूसरों से मैं जब जो चाहूं उचित मंत्र पढ़कर वैसा करवाने की क्षमता रखता था, लेकिन मुझसे कोई कुछ नहीं करवा सकता था। यही तो सफल मनुष्य के होने का ढंग है। और इतिहास में मुझसे ज्यादा सफल तो खोजना ही मुश्किल।

खैर होगा! अभी तो मैं यह स्पष्ट कर दूं कि भैया बुरी तरह झेंपे हुए थे। वे अपने कक्ष के दरवाजे पर हाथ टिकाए व मुंडी नीचे किए हमारे सामने खड़े थे। खड़े रहने दो, अब मैं यहां कोई भैया की झेंप मिटाने तो आया नहीं था। मुझे तो अभी उनको बहुत से झटके और देने थे। इस कार्यक्रम की शुरुआत मैंने व भाभी ने उनके चरण छूते हुए की। निश्चित ही इस समय हमारे इस व्यवहार ने उन्हें बड़ा कष्ट पहुंचाया। कोई बात नहीं, अब सुख पहुंचा देते हैं। तुरंत मैंने भाभी से हम दोनों के लिए भोजन ले आने को कहा।भूख वाकई मुझे भी बड़ी जोर से लग रही थी। वैसे भी भूख, नींद व सुस्ती से बढ़कर चेपी रोग और कोई नहीं। अत: सर्वप्रथम हमने डटकर भोजन किया। यहां तक कि भैया के चालू भोजन में मैंने व्यंग रूपी एक भी बाधा नहीं पहुंचाई। उधर भोजन करते ही सब उल्टा हो गया। भैया कुछ सामान्य हुए व मुझे सुस्ती चढ़ने लगी। सुस्ती स्वाभाविक भी थी, एक तो इतनी लंबी यात्रा कर द्वारका पहुंचा था, ऊपर से आने के बाद पिछले डेढ़ दिन से एक क्षण नहीं सोया था। लेकिन अभी समय की मांग कर्म की थी। अभी तो तेजी व सत्राजित द्वारा नियुक्त राजकर्मचारियों को तत्काल प्रभाव से बर्खास्त करना जरूरी था। और मैं कभी समय के खिलाफ नहीं जाता। मैंने तो हमेशा से अपना सबकुछ "समय" को समर्पित किया हुआ था। यह मन, हृदय, अहंकार तो सब मरवाने के रास्ते ले जाने वाले हैं, सिर्फ समय की पुकार सुनकर ही मनुष्य सफल व आनंदित जीवन व्यतीत कर सकता है। अत: मैं एक अच्छे जानकार की तरह तुरंत सुस्ती भगाकर कर्म में लग गया। इस समय कक्ष में मैं, भाभी और भैया अकेले बैठे हुए थे। भोजन कर भैया इस हालत में तो आ ही चुके थे कि उनसे बातचीत की जा सके। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि बातचीत कहां से शुरू की जाए। पहले तेजी का पत्ता कटवाया जाए या राजकर्मचारियों का?

हालांकि पहले भैया का "तेजी" से मोह-भंग करवाना ही उचित जान पड़ रहा था। क्योंकि तभी उन्हें वास्तविक परिस्थिति समझ में आ सकती थी। यूं भी यदि इस सारी समस्या की जड़ सत्राजित था, तो यह नहीं भूलना चाहिए कि तेजी ही उसका प्रमुख हथियार थी। ...ठीक है, तो तेजी से ही शुरू करते हैं। पर भैया से सीधी बात की जा सके, ऐसा अब भी नहीं लग रहा था। यानी बात तो अब भी उनसे घुमाकर ही करनी पड़े, ऐसी थी। और उसके लिए व्यंग-बाणों से बेहतर हथियार क्या हो सकता था? यूं भी हथियार वही चलाना चाहिए जिसमें आपको महारत हासिल हो व दुश्मन कमजोर हो। बस यही सब सोचकर मैंने भैया पर पहला वार करते हुए कहा- कमाल है! तेजी भाभी भी अब तक नहीं उठी हैं।

"भाभी" शब्द सुनते ही एकबार को तो भैया बुरी तरह चौंक उठे। हालांकि तत्क्षण थोड़ा सम्भलते हुए बोले- तो फिर उसे उठाया क्यों नहीं?

मैंने कहा- भाभी मां तुल्य होती है। मैं उन्हें उठाने की जुर्रत कैसे कर सकता हूँ?

पहले भाभी, फिर मां जैसे शब्दों का तेजी के लिए उपयोग किए जाने से भैया बुरी तरह विचलित हो गए। वे करीब-करीब हकलाते हुए बोले- यह भाभी...मां...भाभी क्या लगा रखा है? वह कोई तुम्हारी भाभी या मां नहीं है।

मैंने कहा- नहीं है तो हो जाएगी। मैंने और रेवती ने आपका व तेजी का विवाह करवाना तय कर लिया है।

मेरी यह बात सुनते ही रेवती भी तुरंत बोल पड़ी- मैं तो सोच रही हूँ कि यह शुभ कार्य आज ही क्यों न निपटा दिया जाए?

...भैया तो यह सब सुन पूरी तरह हड़बड़ा गए। इधर काम बनता देख मैंने तुरंत रेवती से कहा- खड़े-खड़े आप हमारा मुंह क्या देख रही हैं? जाइये जल्दी से तेजी भाभी को उठाइए। फटाफट विवाह हो तो रात को राजमहल में कोई महोत्सव रखा जा सके।

उधर यह सुनते ही रेवती तेजी को उठाने भागी व इधर यह सब सुनते ही भैया सर पर हाथ रखकर पास ही एक बैठक पर बैठ गए। और फिर लगे ऐसे सिर खुजाने मानो मैं दीवाना हो गया होऊं। सच कहूं तो भैया जैसे-जैसे टूटते जा रहे थे, उन पर व्यंग बाण छोड़ने का मजा उतना ही बढ़ता जा रहा था। उधर यह भी तय था कि मेरी हरकतों से भैया भीतर-ही-भीतर काफी खिजिया भी गए हैं, तो उससे क्या...? मुझे तो कुछ कहने से रहे। ...व्यर्थ दो-चार और कटाक्षों को निमंत्रण क्यों देना? पर चलो वे नहीं बोलते तो मैं ही अपने सुंदर मुख से कोई अच्छी वाणी उगल देता हूँ। बस मैंने तत्क्षण भैया से बड़े ही नाटकीय अंदाज में कहा- आप बिल्कुल चिंता मत करें। मैंने सबकुछ सोच लिया है। नृत्य व मदिरा तो बड़े-बड़े राजाओं के शौक होते हैं। लेकिन क्या कभी किसी राजा ने नर्तकी से विवाह किया है? क्या कोई ऐसा प्रेमी राजा पैदा हुआ है? देखना आपके तेजी से विवाह होते ही आपकी प्रेम-कहानियों की चर्चा पूरे आर्यावर्त में फैल जाएगी। आपका बड़ा नाम होगा। एक राजा ने नर्तकी से विवाह किया; क्या सहृदय राजा है! चारों ओर आपके ही चर्चे होंगे।

मेरी बात सुनकर भैया पूरी तरह ढीले पड़ गए। वे बड़ी धीमी आवाज में बोले- कैसी बात कर रहा है कन्हैया, इससे नाम होगा कि बदनामी?

मैंने अबकी बड़े ही व्यंगात्मक अंदाज में कहा- यह तो अपने-अपने विवेक पर निर्भर करता है।

मेरी बात सुनते ही उन्होंने वक्र दृष्टि से मेरी ओर देखा, मानो कह रहे हों, मुझे मूर्ख समझ रखा है...? पर बोले कुछ नहीं। इतने में भाभी भी लौट आईं। वे खाली हाथ ही आई थीं। हालांकि उन्होंने भी आते ही मौका जान एक खूबसूरत व्यंग अवश्य कस डाला। वे भैया की ओर देख बड़ी विनम्रता से बोलीं- द्वारका की नई रानी को मैं तो नहीं उठा पा रही क्या आप जाकर उन्हें उठाने का कष्ट करेंगे। वैसे भी रानियां राजा की आवाज के बगैर उठती कहां है?

मेरे तक तो ठीक था, पर रेवती का व्यंग भैया बर्दाश्त नहीं कर पाए। स्वाभाविक तौर पर मौके की ताड़ में बैठे भैया तुरंत आपे से बाहर हो गए, और क्रोधित होते हुए बोले- वह कोई रानी-वानी नहीं है। मैं उसको उठाने नहीं जाता, तुम लोग उसे उठाओ और यहां से रवाना करो।

मैं भीतर-ही-भीतर बहुत प्रसन्न हुआ। चलो एक भयानक प्रेम-प्रकरण तो समाप्त हुआ। उधर भैया के मुख से यह सुनकर भाभी के तो पूरे अस्तित्व पर प्रसन्नता छा गई। अब मैंने, भैया व तेजी पर ज्यादा प्रहार करना उचित नहीं समझा। अत: राजकर्मचारियों की बारी निकाल दी। मैंने भैया से बड़ी गंभीरतापूर्वक कहा- अरे! जिस खास चर्चा के लिए मैं यहां उपस्थित हुआ था, वह तो करना ही भूल गया। प्रमुख पदों पर बाहर के राज्यों के कर्मचारी क्यों नियुक्त किए गए, यह बात मेरी समझ में नहीं आई।

भैया अबकी तपाक से बोले- अच्छा! ...तो आप नए कर्मचारियों की नियुक्ति समझने आए थे, और वो भी मेरे और तेजी के विवाह का खयाल लेकर...?

लगता है बात तेजी से टलते ही भैया के सभी ज्ञान-चक्षु खुल गए थे। पहली बार उन्होंने पलटवार किया था। वैसे तो भैया व्यंग के अच्छे खिलाड़ी नहीं थे, पर शायद परिस्थिति-वश यह व्यंग उनके मुख से निकल गया था। फिर भी बात तो सम्भालनी ही थी। भैया को हावी तो होने नहीं देना था। साथ ही उनपर बदइरादे भी जाहिर नहीं होने देने थे। बात की गंभीरता को भी बनाये रखनी थी। अत: मैंने उत्तर पूरी संजीदगी से ही दिया। मैंने कहा- भैया आप गलत समझ रहे हैं। दरअसल तेजी से आपका विवाह करवाने का विचार अपने हित की बात थी। जबकि राजकर्मचारियों का मामला द्वारका के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है।

वैसे भी एक पलटवार कर भैया कुछ सामान्य तो हो ही चुके थे। यूं भी लगातार मार खाने वाला पलटकर एक वार भी कर लेता है, तो कुछ-न-कुछ संतोष तो उसे हो ही जाता है। बस संतोष का असर उनके व्यवहार पर भी पड़ा। अबकी उन्होंने भी बड़ी संजीदगी से मुझे नए कर्मचारियों की नियुक्ति के बाबत समझाते हुए कहा- दरअसल द्वारका में सभी आपस में रिश्तेदार हैं। इसलिए प्रमुख अधिकारियों को अपने नीचे के कर्मचारियों को अनुशासन में रखने में बड़ी तकलीफ होती है। यही सोचकर प्रशासन को चुस्त रखने के उद्देश्य से सभी प्रमुख अधिकारी दूसरे राज्यों से बुलवा लिए गए थे।

मैंने आश्चर्य से पूछा- ऐसा आपसे किसने कहा...?

भोले भैया बोले- सत्राजित ने, बड़ा अनुभव है उनको।

सचमुच भैया बड़े भोले थे। यह उनका भोलापन ही तो था, जो मुझे रह-रहकर बहुत भा जाता था। पर अभी समय भैया पर प्रेम बरसाने का नहीं था। अभी तो समय षडयंत्र का पर्दाफाश करने का था। सो, मैंने उन्हें सत्राजित के षडयंत्र के बारे में विस्तार से बताया। कर्मचारियों की नियुक्ति के पीछे की उसकी मंशा को उजागर किया। और जब उन्हें यह बताया कि सत्राजित ने अपने इसी मकसद को हासिल करने के लिए तेजी के जरिये आपकी

कमजोरी का इस्तेमाल किया, तो यह सुनते ही उनका पारा आपे से बाहर हो गया। भैया क्रोध में उबल पड़े - उस तेजी की बच्ची का तो मुंडन करा कर, गधे पर बिठाकर पूरे जुलूस के साथ द्वारका से नहीं निकाला तो मेरा नाम भी ''बलराम'' नहीं।

यही तो मनुष्य की मुश्किल है। वह 'जरा-से में' एक अति से दूसरी अति पर जा पहुंचता है। मैंने भैया के आवेश को शांत किया। उन्हें समझाया कि ऐसा करने से हमारी ही बदनामी होगी। फिर ऐसा क्यों नहीं सोचते कि जितनी गलती पांसाने वाले की होती है, उतनी ही गलती पांसने वाले की भी होती है। मेरी राय में उसे द्वारका से निकालना पर्याप्त है। मेरे भोले भैया ने मेरी यह बात स्वीकार ली। फिर क्या था, बस वातावरण बना जान मैंने एक-एक कर उनको सभी बातों के लिए राजी कर लिया। तत्पश्चात् वे नए कर्मचारियों के निलंबन व पुराने निष्कासित कर्मचारियों की फिर से नियुक्ति के लिए भी राजी हो गए। बस एक बात का दु:ख था, यह सब करते-करते भैया बड़े उदास हो उठे थे। पछतावे के भाव उनके चेहरे पर स्पष्ट रूप से उभर आए थे। वे आत्मग्लानि नामक रोग का शिकार हो चुके थे। बेचारे बड़े मायूस होते हुए बोले भी कि कन्हैया! यदि तुम ठीक समय पर आकर सत्राजित के षडयंत्र का पर्दाफाश न करते, तो शायद सत्राजित पूरी द्वारका ही निगल जाता। यह तो अच्छा हुआ जो तुम समय से आ गए।

...बस यह गलत हो गया था। निश्चित ही यह आत्मगलानि व मायूसी का भाव ज्यादा देर टिकना अच्छी बात नहीं थी। अत: मैंने बात को हवा में उड़ाते हुए कहा- मैं ठीक समय पर कैसे न आता? ठीक समय पर उपस्थित होना मेरी फितरत में है।

बस यह सब बातचीत चल ही रही थी कि अचानक क्या हुआ जो भैया क्रोधित हो उठे। और उसी क्रोध में मुझ से कहने लगे - दुष्ट सत्राजित को तो अब मैं द्वारका में कभी घुसने ही नहीं दूंगा।

...अब यह एक नई मुसीबत आन खड़ी हुई। वैसे क्रोधित हो जाना भैया के पूरी तरह सामान्य हो जाने का लक्षण था। फिर भी जो हो गया सो हो गया, उसमें पछताना क्या? अच्छा है कि समय रहते समझ गए, अब गलती दोबारा न हो ...यही पर्याप्त है। अत: मैंने फिर भैया को समझाया- हम ऐसा नहीं कर सकते। आज भी यादवों में सत्राजित का प्रभाव बेजोड़ है। हम उससे सीधी शत्रुता कभी मोल नहीं ले सकते। इससे तो द्वारका अपनेआप बिखर जाएगी।

अब पता नहीं भैया कितना समझे, पर खामोश अवश्य हो गए। पता नहीं क्यों मनुष्य मध्य में स्थिर रहना जानता ही नहीं है। एक अति से दूसरी अति में झूलता ही रहता है। कल तक यही सत्राजित भैया के लिए भगवान था, आज शैतान हो गया। लेकिन वास्तव में सत्राजित एक प्रभावशाली व महत्त्वाकांक्षी यादव है, वह उससे ज्यादा न कल था, न आज।

खैर! अब संध्या हो चुकी थी। मैं भैया को लेकर सीधा राजमहल पहुंचा। मित्रमंडली कर्मचारियों की छंटनी व नियुक्ति के कार्य में लगी ही हुई थी। दु:खद बात यह कि बेचारे भैया मारे शर्म के किसी से नजरें नहीं मिला पा रहे थे। कोई बात नहीं, इतनी भयानक गलती की कुछ सजा तो भुगतनी ही होती है। मैंने अपना ध्यान दुखी भैया के बजाय काम पर ही लगाया। रात भर में निष्कासित व पदोन्नत दोनों कर्मचारियों को सूचना भिजवा दी गई। जहां निष्कासित कर्मचारियों का पूरा पानी उतर गया, वहीं पदोन्नत कर्मचारियों में खुशी की लहर दौड़ गई। आप मानेंगे नहीं कि दूसरे दिन की दोपहर होते-होते तो हमने सत्राजित द्वारा नियुक्त सभी कर्मचारियों तथा तेजी को द्वारका से निकाल बाहर भी कर दिया था।

इसके साथ ही सत्राजित का षडयंत्र विफल हो चुका था। हालांकि भले ही द्वारका को सत्राजित से बचा लिया गया था, परंतु अभी द्वारका को अपने ही यादवों से बचाना बाकी था। सभी नए खुले मदिरालयों व वेश्यालयों को बंद करवाना था। सच कहूं तो सत्राजित को व्यर्थ क्यों कोसना, मदिरा व नृत्य के शौक के चलते यादवों को विनाश के लिए किसी बाहरी शत्रु की कोई आवश्यकता थी ही नहीं। छोड़ो, अभी तो मदिरालय व वेश्यालय बंद करवाने का शुभ कार्य भी हमने भैया के नेतृत्व में ही निपटाया। क्योंकि भैया के प्रोत्साहन से ही ये खुले थे, अत: भैया के बंद करवाने से ही बिगड़ैल यादवों को स्पष्ट संदेश मिल सकता था कि अब यह सब द्वारका में नहीं चलने वाला। मुझे खुशी थी कि एकबार फिर द्वारका में सिर्फ राजकीय-वेश्यालय व मदिरालय बच गए थे। जीवन के एक और कर्म की परीक्षा में सफल हुआ था। सचमुच, कर्म यदि डूबकर व कर्तव्य भाव से किया जाए तो सफलता उस कर्म का भाग्य हो जाती है।

द्वारका का व्यवसाय फैलाना

द्वारका आए आज दो रोज हो गए थे। आज तीसरी रात थी। उस पर भी मध्यरात्रि होने को थी। शरीर मारे थकान के चलना बंद कर दिया था। नींद ने आंखों को पूरी तरह से घेर लिया था। परंतु मेरे भाग्य में अब भी सोना कहां था? एक कर्म से निकला नहीं कि दूसरा कर्म मुंह फाड़े खड़ा ही था। अपनी प्राण-प्यारी रुक्मिणी से मुलाकात करनी थी। उसे सम्भालना था। बेचारी एक वर्ष से कष्ट भोग रही है। उस पर भी पूरे एक वर्ष बाद आना व आने के भी तीसरे रोज उससे मुलाकात करने जाना। जाहिर तौर पर अब तक तो उसकी नाराजगी इस कदर बढ़ चुकी होगी कि उसे मनाना भी अब किसी 'महायुद्ध' से कम नहीं होगा।

कोई बात नहीं, कर्म व संघर्ष तो मेरे जीवन के अभिन्न अंग हैं। मैंने रथ सीधा अपने महल की ओर मोड़ दिया। महल पहुंचते ही मैं सीधे रुक्मिणी के कक्ष की ओर बढ़ा। आज वाकई मेरे कर्म करने की क्षमता की परीक्षा आन खड़ी हुई थी। एक तो थकान अपनी चरम सीमा पर थी, और ऊपर से रुक्मिणी को सामान्य करने का कठिनतम कार्य मुंह फाड़े खड़ा था। वहीं वहां आज कोई साधारण रूठने-मनाने वाला खेल खेलके बात बनती दिख नहीं रही थी। आज तो पहले उसे सामान्य करना था, फिर उसके दर्द में सहभागी बनना था; और उसके बाद उसे एकबार फिर हंसती-खेलती रुक्मिणी बनाना था। रुक्मिणी मेरी जान ही नहीं, मेरा जीवन भी थी। मेरे लिए हंसती रुक्मिणी से बढ़कर कुछ नहीं था। सो, बस मैंने तो यह संकल्प लेकर ही कक्ष में प्रवेश किया कि उसे शांत किए बगैर मेरे लिए क्षण-भर का आराम हराम है।

...लेकिन यह क्या! मेरे अपने ही महल में मेरे साथ गैरों जैसा व्यवहार हो रहा था। रुक्मिणी की सेविकाओं द्वारा मुझे रुक्मिणी के कक्ष में जाने से ही रोक दिया गया। कहा गया कि महारानीजी आराम फरमा रही हैं। वैसे सेविकाओं ने अपने इस कृत्य के लिए क्षमा भी मांगी। कहा भी कि हम लाचार हैं, हमें क्षमा करें। हम तो सिर्फ महारानी का हुक्म बजा रहे हैं। इससे भला मैं क्यों नाराज होने लगा? उल्टा मैं तो उनकी कर्तव्य-निष्ठा से प्रभावित हुआ। हालांकि मैं यह सत्य अच्छी तरह से जानता था कि रुक्मिणी जाग ही रही है। उसके सोने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। चलो अच्छा ही हुआ, सेविकाओं को इतना कड़क आदेश देकर रुक्मिणी का क्रोध कुछ तो कम अवश्य हुआ होगा। क्योंकि क्रोध का एक ही नियम है, निकालो तो ही कम होता है।

खैर! सेविकाओं से निवेदन कर मैं किसी तरह रुक्मिणी के कक्ष में प्रवेश पा गया। वह उल्टा मुंह किए लेटी हुई थी। मैं यह तो जानता ही था कि वह सोने का मात्र अभिनय कर रही है। मेरे द्वारका आने की खबर पाकर वह बेचारी पिछले तीन दिनों से मेरी राह ताकती रही होगी। इन तीन दिनों में वह शायद ही एक क्षण भी सो पाई होगी। निश्चित ही आज मेरे प्रेम करने के कला की सबसे कठिनतम परीक्षा थी। पर मैं ऐसा क्यों सोचूं? मैं ठहरा सकारात्मक विचारों वाला व्यक्ति, ऐसा क्यों न सोचूं कि आज मुझे नाराज रुक्मिणी को पटाकर अपनी क्षमता सिद्ध करने का मौका मिल रहा था। अब वैसे तो मेरे व रुक्मिणी के बीच रूठने-मनाने के खेल चलते ही रहते थे; यह भी सत्य है कि वह रूठने में जितनी माहिर थी, उससे कहीं ज्यादा मैं मनाने में माहिर था। हालांकि मैं यह भी नहीं भूल सकता कि इस कला में माहिर मुझे राधा ने ही बनाया था। रुक्मिणी तो किसी वाजिब "बात" पर रूठा करती थी, लेकिन राधा तो बिना "बात" के ही रूठ जाया करती थी।

लेकिन मुसीबत यह कि आज का यह खेल रूठने-मनाने की हद से आगे का था। आज रुक्मिणी के पास नाराज होने की एक नहीं हजार जायज वजह मौजूद थी। पुत्र-हरण का गहरा दुःख तो वह झेल ही रही थी, ऊपर से पूरे एक वर्ष के बाद मैं उससे मिलने आ रहा था; और वह भी एक और विवाह कर। आज का यह मामला पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम की अग्निपरीक्षा का था। पहले रुक्मिणी की नाराजगी दूर करनी थी, फिर उसका दुःख दूर करना था। तत्पश्चात् उसे दार्शनिक ज्ञान देकर शांत करना था। उसके बाद उसकी सेवा कर उसकी थकान मिटानी थी। फिर उसे प्रेम देकर उसमें विश्वास जगाना था। आज रुक्मिणी का कष्ट दूर करना एक प्रेमी या पति के वश की बात नहीं थी। आज उसे पिता, पुत्र, भाई, गुरु व सखा सभी की आवश्यकता थी। और एक सच्चा प्रेमी वही है, जो समय पड़ने पर ये सारी भूमिका अच्छी तरह से निभा पाए। ...और मुझे अपने सच्चे प्रेमी होने में कोई शंका नहीं थी। बस इसी विश्वास के साथ मैं उसके निकट जाकर बैठ गया। लेकिन इससे रुक्मिणी को कोई फर्क नहीं पड़ा, उसका सोने का अभिनय जारी रहा। मामूली से इन्तजार के बाद मैंने हिम्मत कर उसके सिर पर हाथ फेरना शुरू कर दिया। कुछ देर तो उसने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी, फिर अचानक उसने मेरा हाथ ही झटक दिया। मैंने इससे भी संतोष माना, सोचा...चलो एक

व्यवहार तो चालू हुआ। मैं तो बेशरमों का सरदार था। मैंने फिर उसके सिर पर हाथ फेरना प्रारंभ कर दिया। लेकिन यह क्या, अबकी उसने तपाक से मेरा हाथ झटक दिया। तो मुझे क्या अड़चन थी, मैंने फिर हाथ फेरना शुरू कर दिया। उसने फिर झटक दिया। कुछ देर तक हमारा यही खेल चलता रहा। पर मुझ बेशरम से वह कब तक उलझती; अंत में थककर उसने हाथ झटकना बंद कर दिया। फलस्वरूप मेरा रुक्मिणी के सिर पर हाथ फेरना बिना किसी व्यवधान के चालू हो गया। इसके साथ ही मेरे सच्चे प्रेम की पहली जीत हो चुकी थी।

हालांकि अपनी ओर से वह अब भी वैसी ही पड़ी हुई थी। दु:ख की बात यह कि वह वस्त्र भी बड़े ही साधारण पहने हुए थी। मैंने रात्रि के समय कभी भी उसे साधारण वस्त्रों में नहीं देखा था। शायद यह भी उसकी नाराजगी व्यक्त करने का एक अपना ही ढंग था। कोई बात नहीं, कुछ देर पश्चात् मैं नीचे की ओर खिसक गया। अब मैंने उसके पांव सहलाना प्रारंभ किया। काफी देर तक पांव सहलाता रहा, लेकिन उसने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। मैं यह सोचकर खुश हुआ कि चलो प्रक्रिया कुछ आगे तो बढ़ी। वैसे सामने सत्य यह भी था कि भले ही मैं सफलता पा रहा था, पर उसकी गति अत्यंत धीमी थी। तो मुझे भी क्या जल्दी थी? कर्मवीर को कर्म से क्या डरना...? लेकिन अब बहुत हो चुका था। मैं भी तीन रात्रि से नहीं सोया था। वैसे भी उसकी नाराजगी कुछ अंश तक तो कम हो ही गई थी। यह भी तय था कि इसके आगे की कामयाबी बगैर बातचीत किए हासिल होने वाली नहीं। और बातचीत करने हेतु ब्रह्मास्त्र चलाना जरूरी था। सो मैंने ब्रह्मास्त्र चला दिया। मैंने उसके पांव दबाना प्रारंभ कर दिया। वह तुरंत चौंककर उठ बैठी, और बोली- यह आप क्या कर रहे हैं स्वामी...?

मैं जानता ही था कि मेरा 'ब्रह्मास्त्र' कभी विफल नहीं हो सकता। और उसका परिणाम मेरे सामने था, उल्टामुंह कर लेटी रुक्मिणी मेरे सामने बैठी हुई थी। पूरे एक वर्ष बाद अपने प्राणप्यारी की शक्ल देखने को मिल रही थी। पर यह क्या...? उसकी आंखें सूजी हुई थी। उसका शरीर काफी कमजोर पड़ चुका था। उसके हाव-भाव, उसका चेहरा, उसकी आंखें, उसका शरीर, उसके वस्त्र सब उसपर पड़ने वाले कष्टों की कहानी चिल्ला-चिल्ला कर बयान कर रहे थे। उसका यह हाल देखकर मेरा तो दिल ही बैठ गया। मेरी प्राणप्यारी रुक्मिणी की हालत इतनी दयनीय हो चुकी है। क्या यही दिन दिखाने के लिए मैंने कुंडिनपुर की राजकुमारी का हरण किया था? बस देखते-ही-देखते उदासी ने मुझे बुरी तरह घेर लिया... हालांकि तत्क्षण मैंने स्वयं को सम्भाल भी लिया। भला इसमें मैं कर ही क्या सकता था? मैं तो प्रकृति का एक अनुशासित सिपाही था। मेरा वश चलता, तब तो मैं जानवर तक के सारे कष्ट दूर कर देता। फिर यह तो मेरी अपनी रुक्मिणी थी। मुझे अपनी जान से ज्यादा अजीज थी। मेरे हृदय में तो इतना प्रेम भरा हुआ था कि मैं तो चाहता था कि हर दुखी को प्यार दूं। अपने इन दो हाथों से स्वर्ग ही भूमि पर उतार दूं। लेकिन एक अदना इन्सान कर ही क्या सकता है? एक इन्सान जितना कर सकता है, उससे कहीं ज्यादा तो मैं कर ही रहा था। लेकिन हर अहंकार के कर्मों की अपनी ही एक दुनिया है। अहंकार करोगे तो उसका दु:खदायी फल तो भोगना ही पड़ेगा।

खैर! वापस रुक्मिणी पर लौट आऊं तो मैं उसकी आंखों में ज्यादा देर नहीं झांक पाया। वह पूरी तरह पत्थर हो चुकी थी। हालांकि इस पूरी कशमकश के दरम्यान उसने मुझे एक नजर देखा अवश्य, पर उसके देखने में भी देखने जैसा कुछ नहीं था। सच कहूं तो उसकी हालत देखकर मैं भी स्वयं में काफी कमजोरी महसूस करने लगा था। फिर भी मैंने हिम्मत कर उसे अपने गले से लगाया। गले लगते ही वह फूट-फूटकर रो पड़ी। ...और लिपटी तो ऐसी कि मानो पिछले एक वर्ष से वह इसी एक क्षण का इन्तजार कर रही हो। ऐसे में निश्चित ही उसका रोना था, जो रुकने का नाम ही नहीं ले रहा था। मैं भी यही चाहता था कि वह जी भरकर रो ले। यह तय था कि वह जितना ज्यादा रो लेगी, उतनी ही जल्दी शांत भी हो जाएगी। अत: मैंने उसके रोने में कोई बाधा नहीं पहुंचायी।

और कुछ देर बाद जैसे ही उसका रोना कुछ कम हुआ, मैंने तुरंत उसका सिर अपनी गोद में रख लिया। लगा उसके सिर पर हाथ फेरने। लेकिन यह क्या, ...वह फिर जोर-जोर से रोने लगी। कोई बात नहीं। रोना उसके लिए अच्छा ही था। क्योंकि रोने से ही एक वर्ष से दबे दु:ख व नाराजगी आंसुओं के रास्ते बह सकते थे। लेकिन आखिर वह भी कब तक...? धीरे-धीरे उसका रोना कमजोर पड़ने लगा। मैं झट से उठकर उसके लिए पानी ले आया। हालांकि रोना कमजोर पड़ा था, कोई नाराजगी दूर थोड़े ही हो गई थी। उसने पानी पीने से साफ इन्कार कर दिया। स्वाभाविक भी था, उसे तो आज नाराजगी जाहिर करने के हर मौके भुनाने ही थे। हर बात पर अपना क्रोध तो प्रकट करते ही रहना था। मेरा क्या था, मैं भी ऐसी परिस्थिति के लिए तैयार होकर ही आया था। मैंने फिर एक छोटा-मोटा ब्रह्मास्त्र चला दिया। बस मैंने अपना पानी का गिलास खिसकाते हुए कहा- ठीक है! यदि तुम पानी नहीं पीती तो मैं भी प्यासा ही सो जाऊंगा।

यह सुनते ही उसने मेरे हाथ से क्रोध में ही पानी का गिलास छीना व पूरा पानी पी गई। तत्पश्चात् मैंने भी

पानी पीकर अपनी प्यास बुझाई। इस तरह धीरे-धीरे मैं रुक्मिणी पर अपना नियंत्रण पाता जा रहा था। मैं जानता था कि उसने दो-तीन दिनों से कुछ भी नहीं खाया होगा। साथ ही यह भी जानता था कि उसे सीधे-सीधे भोजन का पूछूंगा तो वह इन्कार ही करेगी। साथ ही यह भी जानता था कि उसकी वर्तमान सेहत देखते हुए उसे इस समय भोजन कराना अत्यंत आवश्यक था। तमाम परिस्थितियों पर गौर करते हुए मैंने धीरे से कहा- द्वारका में इतनी अव्यवस्था फैली हुई थी कि तीन दिनों से न तो मैं सो पाया हूँ, ना ही एक दाना भोजन नसीब हुआ है। बड़ी जोर भूख लग रही है। ...पर कोई बात नहीं।

जैसा कि संभावित था, यह सुनते ही वह तुरंत भोजन की व्यवस्था करने चली गई। हालांकि मुझे बिल्कुल भूख नहीं थी। जबसे आया था, मारे परेशानी के खा-खा ही तो रहा था। कभी भैया के साथ, तो कभी राजमहल में। पर इस भोजन की तो बात ही निराली रहने वाली थी। जान के हाथ और जान के साथ की क्या जोड़? इधर कुछ ही देर में रुक्मिणी चार दासियों के साथ मेरी पसंद का भोजन लेकर आ गई। पर मैं ऐसे थोड़े ही खाने वाला था। मेरा तो भोजन मंगवाने का उद्देश्य ही कुछ और था। अत: मैंने बड़े प्यार से रुक्मिणी को अपने पास बिठाते हुए कहा- ऐसे नहीं। तुमको भी मेरे साथ खाना होगा, नहीं तो मैं अन्न का एक दाना ग्रहण नहीं करूंगा। पूरे एक वर्ष बाद आया हूँ, क्या साथ में भोजन नहीं करोगी...?

बेचारी क्या करती। मेरे जाल में बुरी तरह पांस चुकी थी। मुझसे प्यार जो करती थी। और इधर मैं कलाकार उसके निर्दोष प्यार का फायदा उठाकर उसे ही पटाने में लगा हुआ था। इसी के तहत मैंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए अपने हाथों से उसे एक-एक कौर खिलाना प्रारंभ किया। उसने भी बिल्कुल ना-नूकुर नहीं की। उसका यह व्यवहार मुझे बहुत भा गया। निश्चित ही अब वह तेजी से सामान्य होती जा रही थी। उसकी नाराजगी भी काफी हद तक समाप्त हो चुकी थी। इस बात का सबूत यह कि अब तो उसने भी अपने हाथों से मुझे खिलाना प्रारंभ कर दिया था। ...यानी सफलता कदम-दर-कदम कृष्ण की ओर बढ़ी चली आ रही थी। हालांकि ...भोजन करने के पश्चात् वह एकबार फिर बिस्तर पर लेट गई। मैं उसके पास ही बैठ गया। फिर उसके सिर पर हाथ फेरना शुरू कर दिया। मैं कहना तो बहुत कुछ चाहता था, उससे काफी बातें करना भी चाहता था, लेकिन क्या करता...? आज शब्दों के इस महारथी को बात प्रारंभ करने के लिए शब्द ही नहीं सूझ रहे थे। फिर भी कुछ देर की चुप्पी के बाद मैंने बड़ी हिम्मत कर खामोशी तोड़ते हुए कहा- तुम जानती हो प्रिये, तुम मुझे अपने प्राणों से भी ज्यादा प्रिय हो। तुम्हारा एक आंसू मेरे पूरे जीवन पर भारी पड़ सकता है। यह तुम्हारे प्रेम का ही कमाल था जिसने एक ग्वाले को 'द्वारकाधीश' बना दिया। मैं जानता हूँ बदले में पिछले एक वर्ष से तुम्हें मुझसे सिवाय दु:ख व कष्ट के कुछ प्राप्त नहीं हुआ है। मैं तुम्हारा गुनाहगार हूँ। तुम जो सजा दो, वह तहेदिल से स्वीकारने को तैयार हूँ। ...यह कहते-कहते बड़ी अदापूर्वक वहीं सर झुकाये खड़ा हो गया।

शायद मेरी यह अदा उसे भा गई। मंद-मंद मुस्कुराई भी। ...मैंने तो गढ़ ही जीत लिया। हिम्मत कर तत्क्षण उसका हाथ पकड़ते हुए उसे बैठक में ले गया। मध्यरात्रि कब की बीत चुकी थी, लेकिन बातचीत का मौसम अब कहीं जाकर आया था। पर आया एकदम दुरुस्त था। बस मैंने उसे वहीं अपनी बगल में बिठा लिया। अब देर किस बात की? मारे उत्साह के मैंने भी गति पकड़ ली थी। तत्क्षण उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए उसे अपनी छाती से लगा लिया। उसका अब कहीं कोई विरोध न था। मैंने भी मौका जान उसे समझाने की सोची। और चूंकि इस समय वह कुछ कहने से रही, सो पहल मुझे ही करनी थी। और यह तय भी था कि जब तक उससे दिल खोलकर सुलह-सफाई नहीं हो जाती वह पूरी तरह सामान्य नहीं होने वाली। वहीं यह भी सत्य था कि उसे सामान्य किए बगैर मुझे चैन नहीं आने वाला था। साथ ही मैं यह भी जानता था कि उसका अपना एक उच्च मानसिक स्तर है, अत: बातचीत भी उसी स्तर पर करनी होगी। सिर्फ पटाने के लिए गोलमोल बातें करना रुक्मिणी जैसी समझदार स्त्री के आगे नहीं चलने वाला। अत: मैंने बड़ी संजीदगी से कहना प्रारंभ किया। मैंने कहा- रुक्मिणी। तुम मेरी प्राणप्यारी हो। मैं जानता हूँ कि हमें संतान अपेक्षित थी, फिर भी मैं हस्तिनापुर जाने के लिए निकल गया। उसके अपहरण की खबर आई, फिर भी वापस नहीं आया। निश्चित ही साधारण स्त्री के लिए यह सब दु:ख की बात हो सकती है, पर तुम जैसी समझदार व विदुषी के लिए कतई नहीं...

...इतना कहकर एकबार को मैं चुप हो गया। क्योंकि जो कुछ मैं समझाना चाहता था, उस हेतु भी उसे कुछ तैयारी का मौका देना आवश्यक था। अच्छा यह कि रुक्मिणी मेरी बात पूरी संजीदगी से सुन रही थी। उसने ना सिर्फ एक-एक शब्द ध्यान से सुना था, बल्कि मेरे हाव-भावों पर भी उसकी पैनी निगाह बनी ही हुई थी। अब जब वह सुनने-समझने को तैयार है, तो मामला पटने में क्या देर? वैसे भी ऐसे समझदार व गंभीर लोगों से ही मामला बातचीत कर सुलझाया जा सकता है। इधर उम्मीद क्या जागी, विश्वास भी पूरी तरह लौट आया। बात भी मैंने पूरे

विश्वासपूर्वक ही आगे बढ़ाई। मैंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा- लेकिन मेरी प्राण-प्यारी! मैं क्या करता? यदि मैं तुम्हारा गुनाहगार न बनता तो प्रकृति का गुनाहगार हो जाता। 'प्रद्युम्न' जितना तुम्हारा पुत्र था उतना ही मेरा भी। पता नहीं अब वह किस हाल में होगा? सत्य जानो प्रिये, मुझे पुत्र खोने का दु:ख तुमसे कम नहीं है।

...लो! पुत्र का नाम आते ही वह फिर से रो पड़ी। शायद यह उसके बचे-खुचे अंतिम आंसू थे, जो जल्द-से-जल्द निकलने की बेताबी दिखा रहे थे। यही कारण था कि उन्हें शांत होते ज्यादा वक्त नहीं लगा। और जैसे ही रुक्मिणी कुछ सम्भली, मैंने उसे गले लगाते हुए फिर समझाना प्रारंभ किया - विश्वास करो रुक्मिणी कि मैं ना सिर्फ अपने परिवार के प्रति अपने कर्तव्यों को जानता हूँ, बल्कि उसे पूरी निष्ठा से निभाना भी चाहता हूँ। परंतु तुम तो जानती हो कि जब प्रद्युम्न पैदा होनेवाला था, उसी समय युधिष्ठिर का राज्याभिषेक आ खड़ा हुआ था। और मेरा वहां जाना कितना जरूरी था, यह तुम जैसी राजनीति की जानकर को कहने की कोई जरूरत नहीं। उससे निपटा तो प्रपितामह जो जीवन की अंतिम सांस ले रहे थे, उनसे मिलने व उनके पूरे नागकूट को बचाने की जरूरत महसूस हुई। और यह सब निपटाकर किसी तरह द्वारका आया तो भैया के एक नर्तकी के प्रेम में पड़ने की खबर मिली। द्वारका पर कस रहे सत्राजित के षडयंत्र का पता चला। मैं तुम्हीं से पूछता हूँ कि क्या एक पुत्र के मोह में इतने लोगों की मुसीबतों को भूलना उचित होता? क्या हमारा परिवार ही हमारी संतान है? क्या यह पूरा विश्व हमारी संतान नहीं? क्या तुम अपने "कृष्ण" की सोच परिवार तक सीमित रखना चाहती हो? ...या फिर उसकी करुणा पूरे विश्व में फैली देखना चाहती हो?

तारीफ करनी होगी रुक्मिणी की जिसने मेरा एक-एक शब्द ध्यान से सुना था। सिर्फ सुनने के लिए नहीं सुन रही थी, बल्कि मेरी बात को समझने का प्रयत्न भी कर रही थी। कुछ देर आंखें बंद कर उसने मेरी बातों पर मनन भी किया। तत्पश्चात् एकदम शांत भाव से मेरी आंखों में झांकते हुए बोली- आपकी यह बात तो मैं काफी हद तक समझ गई। मैं तो भगवान से प्रार्थना करूंगी कि तुम्हें इतनी शक्ति दे कि तुम पूरे विश्व की रक्षा कर सको। लेकिन भद्रा से विवाह कर उसे मेरी सौत बनाकर लाना मेरी समझ में नहीं आया। भद्रा से विवाह कर किसको सुरक्षा प्रदान की आपने...?

मैंने कहा- मेरा विश्वास करो रुक्मिणी! यह विवाह भी मुझे परमार्थ के वश में होकर ही करना पड़ा। तुम उसे सौत की जगह अपनी छोटी बहन समझोगी, तो तुम्हारा यह दु:ख भी जाता रहेगा।

अब वह अच्छीखासी शांत हो चुकी थी। और मन की शांति पलभर में मनुष्य को क्या-से-क्या बना देती है। जब मैं आया था तब वह एक थकी हुई अधेड़ औरत नजर आ रही थी। मेरे प्यार और समझाइश का जादू क्या चला, इस समय वह फिर से एक सुंदर युवती हो गई थी। ...इधर मध्यरात्रि तो कब की बीत चुकी थी, अब तो सुबह भी होने को थी। दोनों थके हुए तो थे ही। कहने-सुनने को तो बहुत कुछ था, परंतु अब दोनों में से किसी का शरीर कुछ कहने-सुनने की स्थिति में नहीं था। दोनों शांति से सो गए। इसके साथ ही अंतिम युद्ध भी मैं जीत गया। अब जीतना मेरा स्वभाव था या इसका श्रेय अपनी अपार क्षमताओं को दूं। यह मेरी कला थी या विशेषता, कर्मठता थी या योग्यता, या फिर सबकुछ। चाहे जो हो, पर एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि धीरे-धीरे "जीत" मेरा भाग्य होती जा रही थी।

खैर होगा! अभी तो दूसरे दिन उठते-उठते संध्या हो गई थी। सुबह-दोपहर सब नींद में ही बीत चुके थे। दस-बारह दिनों की लगातार यात्रा, फिर तीन रात्रि का "द्वारका-जागरण"; सो उसमें इतनी नींद से भी क्या होना था? थकान अब भी बरकरार थी। यह सब तो ठीक पर इधर उठते ही क्या देखता हूँ...रुक्मिणी मेरे पांव दबा रही है। यह तो आश्चर्य घट गया, यानी उसकी नाराजगी पूरी तरह समाप्त हो गई। मैंने तुरंत उसे गले से लगा लिया। हम फिर एक "प्रेमी-पंछी" हो गए। लेकिन प्रेम जीवन की सारी जरूरतें तो पूरी नहीं कर सकता। स्वाभाविक तौर पर मुझे बड़ी जोर भूख लग रही थी। रुक्मिणी तत्क्षण मेरे लिए भोजन तैयार करने गई। मैं भी नित्यकर्म निपटाकर स्नान वगैरह करने चला गया। कहने की जरूरत नहीं कि रुक्मिणी के सामान्य होने-मात्र से मेरी खुशी सातवें आसमान को छू गई थी।

बस मैं सपनों और ख्यालों में खो गया। अब कोई बड़ा कर्म तो बाकी नहीं रह गया था। सो निश्चित ही अब मैं अपने सपनों की द्वारका में कुछ दिन चैन से काट ही सकूंगा। वैसे चाह तो पूरा जीवन चैन से काटने की है, पर कुदरत मुझे लगातार चैन से जीने का मौका कहां देने वाली थी। ऐसी फिजूल की उम्मीदों के सहारे तो जीना कबका बंद कर दिया था। मुझे तो जो मौके मिल जाए, उसी से संतोष मानना था। यूं तो मैं भी कम समझदार थोड़े ही था, अपने जीवन को देखते हुए मैंने वैसे भी अपना जीवन संघर्षों में खोज ही लिया था। यानी मैं यह मानकर ही जी रहा था कि 'संघर्षपूर्ण-कर्म' मेरा जीवन है, और जीवनभर उसी में आनंद खोजना है।

खैर! मजा तो यह कि इधर मैं इन्हीं सब ख्यालों में खोया रह गया और उधर रुक्मिणी दो दासियों के साथ भोजन लेकर प्रकट भी हो गई। लेकिन यह क्या! अब तो रुक्मिणी भी अप्रत्याशित करने में माहिर होती जा रही थी। सबूत के तौर पर इस समय उसके साथ भद्रा भी थी। मैं तो काम में ऐसा उलझा था कि भद्रा को भूल ही गया था। अभी मैं पूरी तरह से इस आश्चर्य से बाहर निकल पाऊं कि दूसरा आश्चर्य घट गया। वह बड़े प्यार से भद्रा के सिर पर हाथ फेरते हुए बोली - मैं उठते ही भद्रा को ले आई थी। भद्रा के रूप में मुझे छोटी बहन और एक अच्छी सहेली प्राप्त हुई है। मैंने तय किया है कि जब तक उसका अपना महल नहीं बन जाता, वह यहीं हमारे साथ रहेगी।

मुझे रुक्मिणी से एक ही दिन में इतने सकारात्मक व्यवहार की उम्मीद नहीं थी। मेरे लिए सुकून की बात यह कि सामने भद्रा भी बहुत खुश थी। स्पष्ट लग रहा था कि वह भी रुक्मिणी के रूप में बड़ी बहन पाकर धन्य हुई जा रही थी। अब तो द्वारकाधीश का चारों तरफ सबकुछ ठीक हो चुका था। सबूत के तौर पर आज एक नहीं दो-दो रानियों ने अपने हाथों से उन्हें भोजन कराया था। द्वारकाधीश के तो ठाट ही निराले हो गए थे। सचमुच मेरा जीवन एक अति से दूसरी अति पर जाने में पलभर नहीं लगाता था। कल मेरी प्राणप्यारी ने मेरे लिए अपने ही कक्ष में पहरा लगाया हुआ था, आज दो-दो रानियों के हाथों भोजन नसीब हो रहा था।

खैर! थकान अब भी पूरी तरह नहीं उतरी थी और रात्रि भी हो ही चुकी थी। सो, मैं जल्द ही सो गया। उठते ही खाना और खाते ही फिर सो जाना, यह भी अपने तरह का अनूठा ही अनुभव था। आप मानेंगे नहीं, दो दिन यही नित्यकर्म चलता रहा, और तब कहीं जाकर मेरी नींद पूरी हुई। नींद पूरी क्या हुई, मैं स्वयं को पूरी तरह से तरोताजा महसूस करने लगा। आज मैं समुद्र किनारे टहलने भी गया, और मैंने व्यायाम भी किया। यानी अब कहीं जाकर मैं अपनी वास्तविक दिनचर्या पर लौट पाया था।

अब दिनचर्या पर लौट आया तो सोचा लगे हाथों राजमहल के भी हाल-चाल जानता आऊं। वैसे तो सब ठीक कर ही चुका था, फिर भी एकबार सबकुछ अपनी आंखों से देख लूं तो संतोष हो जाए। बस इसी के चलते मैंने रुक्मिणी से भद्रा को लेकर राजमहल जाने की इजाजत मांगी। स्वाभाविक रूप से मैं भद्रा को अच्छे से माता-पिता के आशीर्वाद भी दिलवाना चाहता था, तथा उन्हें दादा-परदादा व नागकूट के हालचाल से भी अवगत कराना चाहता था। उन्हें भी तो मालूम होए कि उनका लाल नागकूट में क्या कमाल दिखाकर आया है। क्योंकि आया तबसे तो उनसे ठीक से मुलाकात भी नहीं हुई थी। बस भद्रा को मिलवाकर ही दौड़ पड़ा था। हां, भद्रा ने काफी कुछ अवश्य बता दिया होगा, फिर भी मेरे कहने की बात ही कुछ और होगी। उधर रुक्मिणी को भी मेरी मंशा समझते देर न लगी। बस इसके साथ ही मैं भद्रा को लेकर राजमहल जाने निकला ही था कि यह क्या, रुक्मिणी तो वाकई अपने पूरे रंग में आ चुकी थी। उसने हंसते हुए ही कहा- राजमहल जाना, यह तो राजा का कर्तव्य है। बस यह दासी इतनी अपेक्षा अवश्य रखती है कि आज का रात्रि भोजन आप मेरे साथ ही करेंगे। ...और हो सके तो रात्रि-विश्राम भी।

मैंने भी उसके गाल थपथपाते हुए कहा- यह भी कोई कहने की बात है, पगली! भद्रा तो शायद जल्द ही लौट आएगी व मैं भी संध्या तक तो लौट ही आऊंगा।

जब प्यारी रंग में है, तो उसका प्यारा तो वैसे ही रंगीन है। रुक्मिणी के सकारात्मक व्यवहार ने मुझे अद्भुत शक्ति से भर दिया था। सचमुच यदि आपका प्रेम आपको समझे व आपका साथ दे, तो मनुष्य अनंत शक्ति से भर जाता है। और यदि वही नासमझी पर उतर आए... तो जीवन नरक हो जाता है। बस इन्हीं विचारों के चलते राजमहल कब पहुंच गया, पता ही न चला। बस मैं सीधा भद्रा को लेकर माता-पिता के पास पहुंच गया। भद्रा उन्हें सारी बातें बता ही चुकी थी, वे अपने लाल से बड़े गौरवान्वित थे। दूसरी ओर वे भद्रा को बहू के रूप में पाकर भी बड़े खुश थे, आखिर वह हमारे ही परिवार की लड़की थी। खैर, मैं मां-पिताजी के आशीर्वाद लेकर व भद्रा को वापस रुक्मिणी-महल भेजकर सीधे दरबार में पहुंच गया। वहां सभी पहले से उपस्थित थे। भैया भी वहीं मौजूद थे। उनकी उपस्थिति मेरे लिए एक सुखद आश्चर्य था। ...साथ ही एक शुभ संकेत भी। होगा, अभी तो राजमहल में सबकुछ ठीक-ठाक ही था। वैसे भी जब भैया खुद डटे हुए हैं, तो बाकी किसी गड़बड़ का तो सवाल ही नहीं उठता था। ऐसे में कोई विशेष कार्य यहां बचा नहीं था। सोचा, जब आया ही हूँ तो कम-से-कम भद्रा का महल बनवाने की सूचना देता चलूं। नहीं तो सब कहेंगे, द्वारकाधीश आए जरूर पर काम कुछ नहीं किया।

...सच कहूं तो अब मेरा मन किसी कार्य में लग ही नहीं रहा था। शायद यह पूरे वर्ष भर की थकान का परिणाम था। आखिर मैं भी था तो मनुष्य ही। अन्यों की तरह मुझे भी शारीरिक व मानसिक विश्राम की आवश्यकता पड़ती ही है। और अन्य कर्तव्यों की तरह अपनी यह जरूरत पूरी करना भी मेरा कर्तव्य बनता ही था। बस दोपहर होते ही मैं अपने महल वापस लौट आया। इधर मुझे इतनी जल्दी लौट आया देखकर रुक्मिणी व भद्रा दोनों खुश हो गई। रानियों की खुशी मेरी खुशी। मैंने हाथोंहाथ समुद्र किनारे जाने व वहीं भोजन करने का कार्यक्रम भी बना लिया।

मेरे इस निर्णय ने दोनों को चहका दिया। दोनों तुरंत फुदकती हुई तैयारियां करने चली गईं।

...वाकई चहकती रुक्मिणी को देखकर मुझे कितनी खुशी हो रही थी, यह मैं ही समझ सकता हूँ। पहले वह मेरा आकर्षण थी, फिर प्रेरणा बनी और आज मेरी प्राणप्यारी थी। मैं उसे सिर्फ मस्ती से भरपूर देखना चाहता था। पर क्या करूं, सर्वहित का मारा मैं बेचारा उसपर योग्य ध्यान ही नहीं दे पाता था। लेकिन आज जब हाथ में कोई कार्य नहीं तो रुक्मिणी ही मेरी एकमात्र प्राथमिकता बनकर उभरी थी। यूं भी हमारे लिए आपस में प्रेम व आनंद के कुछ क्षण बिताने आवश्यक थे। वैसे रुक्मिणी को ना सिर्फ प्रेम की, बल्कि विश्राम की भी सख्त आवश्यकता थी। और वह भी ना सिर्फ शारीरिक, अपितु मानसिक भी। तथा इस समय उसकी यह जरूरत पूरी करना ही मेरा एकमात्र कर्तव्य था।

खैर! उधर संध्या को दोनों समय से तैयार होकर मेरे कक्ष में आ पहुंची थी। मजा तो यह कि द्वार खोलते ही रुक्मिणी ने फिर मुझे आश्चर्य में डाल दिया था। दोनों ने ही पीले रंग की रेशमी साड़ी पहन रखी थी। मैं तो यह नजारा देखते ही जहां बैठा था, वहीं उठ खड़ा हो गया। यही नहीं, द्वार पे निगाह गाड़ टकटकी लगाके दोनों को देखने लगा। मुझे रुक्मिणी पर पीले रंग की साड़ी बहुत पसंद थी; और सच कहूं तो उस पर वह फबती भी बहुत थी। चलो उसने मेरी पसंद का ध्यान रखा था यह तो अच्छीबात थी, ...पर भद्रा को भी मेरी पसंद का ध्यान रखकर तैयार किया था, यह निश्चित ही आश्चर्य में डालने वाली बात थी। मैं तो दोनों को निहारता ही रह गया। गोपियों के पीछे भागने वाले के सामने दो-दो सजी-धजी रानियां, बेचारे ग्वाले को तो अचम्भित होना ही था। ...इधर मुझे इस कदर विस्मित देख रुक्मिणी एक विजयी मुस्कान बिखेरते हुए बोली- क्या आप ही ऐसे कार्य कर सकते हैं जो सबको चक्कर में डाल दे। मैं आपकी पत्नी हूँ। आपके साथ रहते-रहते मैं भी ऐसे कार्य करना सीख गई हूँ, जहां से बार-बार आपको ही आश्चर्य में डाल सकूं। ...मुझे तो यूं ही मनुष्य का अप्रत्याशित व्यवहार अत्यधिक पसंद था। यदि मनुष्य जैसा सोचो वैसा ही करे तो उसका व्यक्तित्व क्या हुआ? सच पूछो तो "अप्रत्याशित-व्यवहार" ही मनुष्य की जागरुकता का सबूत है। कहने की जरूरत नहीं कि रुक्मिणी ने मुझे सुखद आश्चर्य में डालकर मेरा दिल जीत लिया था।

खैर! हम समुद्र किनारे जाने निकल चुके थे। रथ मैं ही हांक रहा था। मेरी दायीं ओर रुक्मिणी व बायीं ओर भद्रा बैठी हुई थी। सचमुच रुक्मिणी का प्रेम पाकर वह धन्य हो चुकी थी। साथ ही पूरे विश्वास से भी भर चुकी थी। ...इधर द्वारकावासी भी मुझे दोनों रानियों के साथ जाता हुआ देखने का यह अवसर पूरी तरह भुना रहे थे। कोई खुश था तो कोई आश्चर्यचकित। और कुछ-कुछ तो विस्मित निगाहों से हमें निहार रहे थे।

होगा, अभी तो हम समुद्र किनारे पहुंच गए थे। पहुंचते ही काफी देर तक तो हम टहलते रहे। भद्रा जिसने कभी नदी तक नहीं देखी थी, समुद्र उसे कितना पागल कर रहा था, कहने की जरूरत ही नहीं। मुझे भी पूरे एक वर्ष बाद समुद्र किनारे टहलने को मिला था, सो मेरी खुशी भी निराली थी। और रुक्मिणी मेरे साथ से खुश थी। यहां टहलने-टहलने में ही संध्या ढल गई। बस हमने एक नारियल के पेड़ों के झुंड के नीचे अपना डेरा जमा लिया, और लगे यहां-वहां की बातें करने। वैसे भद्रा कम ही बोल रही थी। इधर कुछ देर की गपशप के बाद मैं भी खामोश हो गया था। अब मैं चुपचाप समुद्र देखने में खो गया था। लेकिन रुक्मिणी पूरी तरह चहकी हुई थी। परिणामस्वरूप इस समय एक नहीं दो आवाजें मेरे कानों से टकरा रही थी, एक रुक्मिणी की व दूसरी समुद्र के लहरों की। बीच-बीच में भद्रा की हंसी की आवाज भी सुनाई दे जाती थी, खासकर तब जब रुक्मिणी व्यंगों व कटाक्षों द्वारा मेरी कोई तारीफ कर बैठती। वाकई मेरे सपनों की रानी आज बड़ी खुश थी। वैसे तो स्वभाव से वह शुरू से काफी चुलबुली व नटखट थी। बात सिर्फ रंग में आने की थी। और आज तो वह प्रथम बार द्वारका आने की खुशी से भी ज्यादा खुश नजर आ रही थी। क्या बताऊं, उसका यह स्वरूप मेरी जान ले रहा था।

खैर! इधर सेवक भोजन लेकर आ चुके थे। आज के भोजन की पूरी व्यवस्था रुक्मिणी ने स्वयं की थी। मेरी तमाम पसंदों का विशेष ख्याल रखा गया था। हम तीनों ने मिलकर बड़े प्रेम से भोजन किया। भोजन के पश्चात् रुक्मिणी ने "वंशी-वादन" की फरमाइश की। वैसे तो मेरा स्वयं का मन वंशी बजाने को मचल रहा था, लेकिन रुक्मिणी की फरमाइश ने मुझे भाव खाने पर मजबूर कर दिया। सो, काफी आनाकानी के बाद ही मैं वंशी बजाने को राजी हुआ। यह मैंने रुक्मिणी से ही सीखा था। जब भी मैं रूठी हुई रुक्मिणी को मनाने का प्रयास करता, वह कुछ ज्यादा ही भाव खाने लगती। मेरा इस तरह लाड़ने का यह पहला अनुभव था। मुझे आज यह पक्का एहसास हो चला था कि भाव खाने का भी अपना एक अलग ही मजा होता है।

हालांकि भाव खाना अपनी जगह था व आज की रुक्मिणी की खुशी व उससे बना माहौल अपनी जगह था। सो, सब मिलाकर वंशी की धुन में ऐसा तो खोया कि देर रात्रि तक वंशी बजाता रहा। मेरी छेड़ी धुन ने रुक्मिणी व भद्रा दोनों दीवानियों को और दीवाना बना दिया। एक राज की बात बताऊं तो मुझे तो स्त्रियों की मेरे प्रति दीवानगी

वैसे ही बहुत मजा देती थी। इसीलिए तो हमेशा पूरी तरह तैयार होकर घूमता था। इसी कारण तो हमेशा इत्तर वगैरह लगाकर खुशबूदार रहना मेरी आदत हो चुकी थी। मुस्कान मेरी शरारती थी ही। यह कम था तो वंशी व नृत्य में भी मैं पारंगत था। कुल-मिलाकर कहा जा सकता है कि स्त्रियों को दीवाना बनाने के सारे हथियारों से मैं लैस था। ऐसे में अपनी ही रानियों को दीवाना बनाने का तो कहना ही क्या? यानी हर लिहाज से आज का आनंद अद्भुत था। तन और मन दोनों को काफी विश्राम मिला था। बस इससे उत्साहित होकर मैंने वहीं बैठे-बैठे पांच-सात रोज के लिए प्रभास जाने का तय कर लिया। द्वारका व राजमहल की तमाम झंझटों से दूर, मित्रों व रानियों के साथ। जहां सिर्फ भोजन व नृत्य हो, व्यायाम व आराम हो। मेरा यह विचार सुनते ही दोनों दीवानी तो मारे खुशी के पागल हो गई। बस प्रभास की चर्चा करते-करते ही हम सभी खुशी-खुशी अपने महल लौट आए। रुक्मिणी व भद्रा ने काफी देर तक मेरे पांव दबाए। इतनी अद्भुत सेवा का आनंद लेते-लेते द्वारकाधीश कब सो गए, पता नहीं।

अब सुबह उठते ही सबसे पहला विचार भैया व मित्रों समेत सबको प्रभास जाने के विचार से अवगत कराने का आया। बस उसी उत्साह में फटाफट तैयार होकर सबको सूचना देने निकल पड़ा। स्वाभाविक तौर पर जिसे कहता वही खुशी से झूम उठता। यूं भी पिछला पूरा वर्ष सभी पर भारी गुजरा था। और यथायोग्य आनंद और आराम, कर्मों की परम आवश्यकता होती ही है। पिछले एक वर्ष से सभी या तो कर्मों में व्यस्त थे या पीड़ा भोग रहे थे। होगा, अभी तो आलम यह कि जब एकबार जाना तय हो गया तो इन्तजार कौन करता है? बस तीन रोज बाद ही निकलने का निश्चय भी कर लिया। भोजन की जिम्मेवारी रुक्मिणी ने अपने कंधों पर ले ली। भैया व सात्यकि अभी से अपनी मदिरा के जुगाड़ में लग गए। हम लोग कुल बारह जन जाने वाले थे, फिर भी बीस सेवक साथ ले जा रहे थे। इसी से चल रही शाही आराम की तैयारियों का अंदाजा लगाया जा सकता था। अब प्रभास में कोई मकान वगैरह तो थे नहीं। घना जंगल ही था। और इसे ध्यान में रखकर रहने के लिए तंबुओं की व्यवस्था भी कर ली गई थी।

आखिर चौथे दिन उत्साह के वातावरण में हमारी यात्रा प्रारंभ हो गई। नटखट सुभद्रा मेरी उमंग बढ़ाने हेतु अपनी दोनों भाभियों के साथ मेरे ही रथ पर सवार हो गई। यह भी ठीक, पर चूंकि रथ की कमान मेरे हाथ में थी, अत: वह आकर मेरी बगल में ही बैठ गई। और कहने की जरूरत नहीं कि इस चक्कर में दोनों रानियों को पीछे बैठना पड़ा। चलता है, जब मौका मिला है तो इतनी शरारत तो करेगी ही। होगा, अभी तो सबसे आगे हमारा ही रथ चल रहा था। वैसे सबसे ज्यादा मजाक-मस्ती व शैतानियां भी हमारे ही रथ पर चल रही थी। तीन स्त्रियों ने मिलकर कृष्ण की मजाक उड़ाने में कोई कसर नहीं रख छोड़ी थी। कोई बात नहीं; आज यही सही। सो उसको छोड़ प्रभास के बाबत बताऊं। प्रभास द्वारका का ही एक हिस्सा था। द्वारका के पीछे के रास्ते से उन जंगलों तक जाने का एक मार्ग था, बस हमारे रथ उसी मार्ग पर दौड़े चले जा रहे थे। वहां बस्ती वगैरह कुछ नहीं थी, इन जंगलों में सिर्फ जंगली जानवरों का वास था। होने दो, अभी तो मजाक-मस्ती व उत्साह के चलते संध्या तक हम प्रभास पहुंच भी गए। प्रभास का एक खुला विस्तार देख हमने अपना डेरा जमाया। सेवक अपने तंबू वगैरह गाड़ने में लग गए और बाकी सब यहां-वहां टहलना शुरू हो गए। सच कहूं तो मुझे सबसे ज्यादा खुशी भैया-भाभी को ले आने की थी। वाकई भैया व भाभी के लिए आनंद व शांति के ऐसे कुछ पल साथ में बिताने आवश्यक थे। वैसे तो कुल मिलाकर यह ''प्रभास-दौरा'' सब के लिए शुभ व आवश्यक था।

बस अब क्या था, रोज रात्रि उत्सव। किसी-न-किसी पेड़ों के झुंड के आसपास हम रात्रि-बैठक जमा लेते। स्थान सुबह में ही तय कर सेवकों को बता देता। सेवक दिनभर में वहां ना सिर्फ हमारे बैठने की बल्कि हमारे भोजन-पानी की भी व्यवस्था कर देते। चारों ओर मशालें भी जला दी जाती। भैया-सात्यकि अपनी मदिरा ले आते। और फिर गपशप व कटाक्षों का दौर चालू हो जाता, जो अधिकांश मेरे ही इर्द-गिर्द घूमता रहता। यदि मुझे बात अपने से टालनी हो तो मुझे वंशी बजानी पड़ती या नृत्य कर दिखाना पड़ता। कहा जा सकता है कि संध्या को मैं सबकी खिदमत में एक 'राजकीय-कलाकार' की हैसियत से उपस्थित हो जाता। दिन में मेरा नित्यकर्म सर्वथा भिन्न हो जाता। आप मानेंगे नहीं कि इन तमाम उधम-मस्तियों के साथ-साथ मैंने पांचों दिन व्यायाम किया। योग व प्राणायाम भी नियमित किया। ऊपर से दोनों वक्त टहलना तो नित्यकर्म का हिस्सा था ही। क्योंकि व्यायाम वह जादू है जो मनुष्य की थकान मिटाकर उसे स्फूर्ति से भर देता है। मैंने जीवन में हमेशा सबसे कीमती समय को ही माना था। इसलिए समय का सदुपयोग करना मेरी विशेषता थी। हम चांद-तारे तो हैं नहीं कि लाखों वर्ष का जीवन हो। हमारे पास तो बमुश्किल सौ-डेढ़ सौ वर्ष का जीवन होता है। उसमें भी समय की महत्ता न जानी तो जीवन व्यर्थ ही गया समझो। यही कारण था कि मैंने प्रभास-यात्रा के पांचों दिन का सदुपयोग नियमित व्यायाम कर किया था। दूसरी ओर रेवती भाभी, रुक्मिणी, भद्रा व सुभद्रा ने अपनी ही टुकड़ी बना ली थी। जब भी मौका मिलता चारों गप्पें मारने बैठ जाती। भैया और सात्यकि तो संध्या का ही इन्तजार करते रहते थे। दोनों ने मदिरा व भोजन का भरपूर आनंद

उठाया। कुल-मिलाकर राज-पाट, कर्म-कर्तव्यों से हटकर गुजारे इन पांच दिनों में सबने अपने-अपने हिसाब से खूब आनंद लिया। जमकर विश्राम किया। सच कहूं तो किसी का भी वापस जाने का मन नहीं कर रहा था। ...लेकिन जाना तो था ही। कमाल था! महलों की भव्यता नहीं थी, तंबुओं में रह रहे थे, सुख-सुविधा के नाम पर कुछ नहीं था; फिर भी आनंद अपनी चरम सीमा पर था। क्योंकि ''आनंद'' शरीर का नहीं, मन का विषय है। कहने की जरूरत नहीं कि इस यात्रा ने मेरे व रुक्मिणी के तथा भैया व भाभी के संबंध फिर से सामान्य करने में बड़ी सहायता की। यही नहीं, इस एक यात्रा से रुक्मिणी व भद्रा तथा भद्रा व सुभद्रा भी काफी निकट आ गई। यानी यात्रा चौतरफा फायदेमंद साबित हुई थी। मेरा कुछ हटकर करने का प्रयोग सफल रहा था।

खैर! अब तरोताजा होकर द्वारका लौट आए तो द्वारका की बात करूं। द्वारका से सत्राजित का खतरा पूरी तरह से टल चुका था। भैया भी अब राज-पाट में ध्यान देने लगे थे। फिर भी द्वारका के हालत सामान्य कतई नहीं कहे जा सकते थे। सत्राजित काफी-कुछ खानाखराबी कर ही चुका था। वहीं दूसरी ओर नजर दौड़ाऊं तो यादवों का मूलभूत स्वभाव वैसा-का-वैसा था। उनकी मानसिकता अब भी काम-चोरी की ही थी। संध्या होते ही वे नृत्य-मदिरा के रास्ते लग जाते थे। ये इतने तो हरामखोर थे कि बावजूद इसके कि मैं जो इस अद्‌भुत मनुष्यजीवन में समस्त प्रतिबंधों के खिलाफ था, मुझे इन यादवों के मदिरा व नृत्य के शौक पर रह-रहकर लगाम कसनी पड़ती थी। इसी से इनकी इस बुरी लत की गहराई का अंदाजा लगाया जा सकता है। कुल-मिलाकर कहने का तात्पर्य यह कि ऐसे में मैं भला अपने को कितनी देर द्वारका की समस्याओं से दूर रख सकता था? अब यहां की समस्या के मूल में लोगों की हरामखोरी व यादवों का नृत्य व मदिरा का शौक था। और उस हेतु मैं कड़े नियंत्रण लाद ही चुका था। पर असली सवाल यह कि कोई भी प्रतिबंध कब तक कारगर सिद्ध हो सकता है? आचार्य सांदीपनिजी ने ठीक ही कहा था कि कोई भी शारीरिक प्रतिबंध दो-कौड़ी का है। महत्वपूर्ण वह प्रज्ञा है जिससे मन परिवर्तित हो जाए। पर यहां द्वारका में यह मन-परिवर्तित करना संभव नहीं था। एक तो यह शौक उनका हड्डी-मांस-मज्जा बन गया था, दूसरा यहां के यादवों पर भैया का वर्चस्व मुझसे ज्यादा था, खासकर पुरुषों पर। शायद भैया का मदिरा व नृत्य प्रेम इसका प्रमुख कारण था। और चूंकि यादवों के इन दो प्रमुख शौकों पर शासकीय लगाम मैंने ही लगाई थी; तो ऐसे में मेरा अपनी ही द्वारका में कम लोकप्रिय होना भी स्वाभाविक ही था। वैसे एक बात थी, भैया के राजपाट पर ध्यान देने से नृत्य व मदिरा पर लगाम लगाने में प्रशासनिक सहायता अवश्य मिल रही थी। फलस्वरूप हाल-फिलहाल तो यह समस्या कुछ प्रयास के साथ ही अच्छी-खासी नियंत्रण में आ चुकी थी।

वैसे भी यह सिर्फ द्वारका या मथुरा का रोना तो था नहीं। सारे यादव-बहुल राज्यों की यही हालत थी। अब यहां इस विषय में जितना मैं कर सकता था; कर रहा था। सो, स्पष्ट कहूं तो यहां इस समय मेरी चिंता का प्रमुख कारण द्वारका का गिरता व्यवसाय था। मेरी एक वर्ष की अनुपस्थिति से सब किए-कराये पर पानी फिर गया था। व्यवसाय पूरी तरह ठप्प हो चुका था। हालांकि इसमें सत्राजित के व्यवसाय से निकल जाने ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। ...क्योंकि सत्राजित सबसे सफल यादव-व्यवसायी था। यही नहीं, सभी संभ्रांत यादवों पर उसका प्रभुत्व भी था, फलस्वरूप उसके हटते ही बाकी ने भी व्यवसाय में रस लेना कम कर दिया था। राज-कोष की स्थिति भी उतनी सुदृढ़ नहीं रह गई थी, जैसी कि मैं छोड़ कर गया था। क्योंकि ''राजकीय-कर'' का सीधा ताल्लुक फलते-फूलते व्यवसाय व आम-प्रजा की मेहनत से होता है। कहने का तात्पर्य इस समय द्वारका के पूरे प्रशासनिक खर्च का बोझ अकेली ''स्यमंतक-मणि'' उठा रही थी। अब एक उसके भरोसे इतनी बड़ी द्वारका कब तक चलायी जा सकती थी? ...बस इस समय यही चिंता मेरे समय काटने का अच्छाखासा बहाना बन चुकी थी।

...मेरा क्या था, मैं तो कर्मवीर था, बस काम में भिड़ गया। व्यवसाय की गाड़ी फिर पटरी पर लाने के लिए मैंने तत्क्षण द्वारका के सभी प्रमुख व्यवसायियों की एक सभा बुलवाई। जिसमें उन्हें व्यवसाय के नए-नए तरीके सुझाए। उनका उत्साह बढ़ाया। दूसरी ओर आम यादवों की भी कई सभायें की, उन्हें भी नियमित कार्य करने के लिए काफी प्रोत्साहन दिया। मैं किसी कीमत पर द्वारका की संपन्नता को आंच आने देना नहीं चाहता था। मथुरा का खाली राजकोष मैं देख ही चुका था, और उसके दुष्परिणाम से मैं अच्छी तरह वाकिफ भी था। लेकिन सवाल यह कि मेरी चिंता, समझ व क्षमता अपनी जगह थी, पर असली मुसीबत यह कि कार्य तो सबको मिलकर ही करना था। बस यहीं आकर मैं थोड़ा हताश हो जाता था। सच कहूं तो इन यादवों के निकम्मे स्वभाव व उनकी हरकतों को देखकर कई बार घबराहट पकड़ लेती थी कि कहीं मेरा यादवों को सफल बनाने का, या द्वारका में उन्हें हमेशा खुशहाल देखने का सपना चकनाचूर तो नहीं हो जाएगा? क्या मैंने इनके लिए इतनी मेहनत कर, या ''स्यमंतक-मणि'' चुराकर कोई गलती तो नहीं की है?

हालांकि इसका फैसला भविष्य को करना था। ऐसे में भविष्य की बातों को समय पर छोड़कर स्वयं को

चिंतामुक्त क्यों नहीं कर लिया जाए? और फिर कर्म मेरे हाथ में था जो मैं कर ही रहा था। फल उनके कर्मों से भविष्य को तय करना था। लो...भविष्य से याद आया, मैंने तो आज तक द्वारका का गुरुकुल ही नहीं देखा है। और किसी भी राज्य का भविष्य उसकी आने वाली पीढ़ी पर निर्भर करता है। यही वजह थी कि मैंने द्वारका में ''श्रेष्ठ-गुरुकुल'' की स्थापना का सपना देखा था। सोचा, चलो और कुछ नहीं तो गुरुकुल का चक्कर ही लगाता आऊं। लेकिन ये यादव मेरे तमाम प्रयासों पर पानी फेरने की कसम खाकर पैदा हुए जान पड़ते थे। चारों ओर पेड़ों से घिरा व व्यवस्थित कारीगरी से बनाया गया यह गुरुकुल बस्ती से थोड़ा दूर बनवाया गया था। बाहर से देखने पर ही इसके प्रेम में पड़ जाओ, ऐसा था यह। यहां कुल जमा छोटे-मोटे बारह आचार्य भी मनोनीत थे। शिष्यों को भी सिर्फ दिन के समय आना था व संध्या होते ही अपने-अपने घरों को लौट जाना था। ...यानी इस अनुशासन में रुकने की भी आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इन सबके बावजूद यहां विद्यार्थियों की संख्या ना के बराबर थी। इन यादव-पुत्रों को इतना अनुशासन भी रास नहीं आ रहा था। शायद बेटे बाप पर ही जा रहे थे। मैं जो यादवों की बुराइयों के कारण यूं ही द्वारका के भविष्य को लेकर चिंतित था, गुरुकुल के हालात ने तो मुझे चिंता की एक गहरी खाई में ही धकेल दिया। मेरा मन बुरी तरह विचलित हो उठा। मैंने तत्क्षण मंत्रिपरिषद की बैठक बुलाकर उसमें गुरुकुल को प्रोत्साहन देने पर जोर दिया। विद्यार्थियों को तरह-तरह के प्रलोभन देना तय किया। गुरुकुल में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाने की हर संभावना पर विस्तार से चर्चा की। पूरे आर्यावर्त में द्वारका ही एक ऐसा राज्य था, जहां आम-प्रजा के बच्चों को भी गुरुकुल नसीब हो रहा था। फिर भी किसी का शिक्षा में रस न लेना निश्चित ही हताश करने वाला था। मेरा यह नया, अनूठा व श्रेष्ठ प्रयोग भी ये लोग विफल करने पर तुले हुए थे। शायद इन यादवों को कुदरत की मार ही सुधार सकती थी। एक अकेला ''कृष्ण'' इनके लिए बहुत छोटा पड़ रहा था। तभी तो देखो, जो शिक्षा सिर्फ राजा-महाराजाओं के पुत्रों को उपलब्ध थी, वह शिक्षा जिस पर सिर्फ धनाढ्यों का एकाधिकार था; मैंने आगे बढ़कर साधारण बच्चों के लिए भी उपलब्ध करवा रखी थी। फिर भी इनका इसमें रस न लेना इनकी हरामखोर मानसिकता का सूचक नहीं तो और क्या था? कुल-मिलाकर यदि सिर्फ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो यहां द्वारका में सबकुछ सामान्य था। लेकिन दूर-दृष्टि घुमायें तो सबकुछ अंधकारमय ही नजर आता था। मेरा जीवन भी अजीब था। बड़े कर्म न सही, छोटे-मोटे कार्य तो लगे ही रहते थे। शायद 'कर्म' मेरा जीवन हो चुका था। द्वारका व यहां के यादवों की यही तो खूबी थी। यहां साधारण यादवों के पास भी ''द्वारकाधीश'' से बढ़कर आराम व विश्राम था। अब पता नहीं इसे प्रजा का सद्भाग्य कहा जाए या 'द्वारकाधीश' का दुर्भाग्य।

खैर! यह सब छोटा-मोटा तो चलता ही रहता है। और फिर मैं अपना कर्तव्य कर चुका था। आगे जिसका भविष्य, वो जाने। सो यदि द्वारका के भविष्य की चिंता को छोड़ दिया जाए, तो मानना पड़ेगा कि इस समय द्वारका में मैं अपने जीवन की ऊंचाइयां छू रहा था। कोई बड़ा राजकीय कार्य तो करना नहीं पड़ रहा था। सच कहूं तो कार्य के नाम पर बमुश्किल कभी-कभार आधे प्रहर के लिए राजभवन हो आया करता था। जहां तक कर्मों का सवाल है, उससे तो मुझे यूं ही प्यार था। मैं छोटे-मोटे कर्म भी पूजा मानकर ही किया करता था। ''कर्म'' के अलावा अलग से किसी पूजा-पाठ में तो मेरा विश्वास वैसे ही नहीं था। मेरे लिए सबसे खुशी की बात यह थी कि मैं स्वयं के लिए समय निकाल पा रहा था। दिनचर्या अच्छे से जमी हुई थी। आराम और आनंद के अलावा कोई विशेष काम था नहीं। ऐसे ही जीवन की तो मैंने द्वारका में कल्पना की थी। ...वाकई अब यहां नियमित रूप से दोनों वक्त समुद्र किनारे टहलना नसीब हो रहा था। पूरे एक वर्ष के दुराव के बाद समुद्र किनारा नसीब हुआ था। कभी रुक्मिणी या भद्रा साथ में होते थे, तो कभी उद्धव या सात्यकि मेरा साथ देने चले आते थे। कभी-कभी मैं अकेले ही टहलने निकल पड़ता था। एक बात और अच्छी थी, द्वारका लौटने के बाद व्यायाम काफी नियमित हो चुका था। क्योंकि अब मेरे पास समय-ही-समय था। और आप तो जानते ही हैं कि समय के सदुपयोग करने की कला मैं अच्छे से जानता था। जो आज अच्छा करने मिल रहा है, जरूरी नहीं वह कल भी मिले। और इसी सोच के तहत बाकी सब नियमित गतिविधियों के साथ-साथ दिन में एकबार छप्पन भोग भी चट कर ही जाया करता था। मेरा सिद्धांत था, डटकर खाना व जमकर व्यायाम करना। मदिरा जैसे व्यसनों से तो मैं स्वयं को काफी हद तक बचाये ही हुए था। उधर भैया का मुझसे उल्टा था; वे मदिरापान के साथ-साथ भोजन के भी अत्यधिक शौकीन थे, लेकिन व्यायाम कर शरीर को कष्ट देना उन्हें पसंद नहीं था। लेकिन बिना नियमित व्यायाम के एक हद से ऊपर उठकर जीवन का आनंद कभी नहीं लिया जा सकता है। यही कारण था कि भैया भले ही उम्र में मुझसे दो वर्ष ही बड़े थे, परंतु दिखने में मुझसे दस वर्ष बड़े दिखाई देने लग गए थे।

होगा! मैं अपनी बात करूं तो मैं इस समय चारों ओर से मस्ती लूटने में लगा हुआ था। कामकाज कुछ था नहीं, सो नित्यकर्म निपटाकर दोपहर-भोज के बाद अक्सर मैं व रुक्मिणी चौपर खेला करते थे। भद्रा को चौपर

खेलना नहीं आता था। पर हां, वह मुझे व रुक्मिणी को खेलता देख ही उसका आनंद ले लिया करती थी। सचमुच रुक्मिणी की चंचलता व भद्रा के भोलेपन के संगम ने मेरा जीवन रंगीन बना दिया था। भद्रा की बात करूं तो उसे मेरा-तेरा, अपना-पराया, जिद या पकड़, स्वार्थ या जलन कुछ नहीं छूता था। राजकीय अहम् तो उसे यूं भी नहीं था। वाकई ऐसी भोली-मूरत से विवाह कर मैं तो धन्य हो गया था। चलो, जब इतनी बात चली है तो एक बात और बता दूं। आप तो जानते ही हैं कि मुझे स्नान करना बहुत पसंद था। दिन में कम-से-कम दो बार तो मैं स्नान कर ही लिया करता था। और-तो-और, इन दिनों स्नान करके रुक्मिणी व भद्रा से पूरे शरीर पर चंदन लगवाना भी मैंने अपना नित्यकर्म बना लिया था। वैसे तो मुझे जलकुंड में नहाना, उसी में पड़े रहना भी काफी पसंद था। आप मानेंगे नहीं मैं अक्सर घंटों रुक्मिणी व भद्रा के साथ जलकुंड में पड़ा रहता था। ...यानी इन दिनों द्वारकाधीश पूरे ठाठ से जी रहे थे।

हालांकि आखिर यह सब भी कब तक...? मैं ठहरा पक्का ''कर्मवीर''। सो जब और कुछ नहीं सूझा तो मल्ल-युद्ध का अभ्यास प्रारंभ कर दिया। यही नहीं, अचानक मैं धनुष व गदा पर भी विशेष ध्यान देने लगा था। यूं भी इन दोनों विद्याओं में मैं पहले से काफी कमजोर था। कहा जा सकता है कि अभी समय था तो गदा व धनुष सीखकर एक मजा हुआ राजा बनने के प्रयास में लग गया था। इधर लगातार के प्रयास से धीरे-धीरे कर मैं दोनों विद्याओं में कुशलता हासिल भी करता जा रहा था। अब तो चलते रथ से तीर का निशाना साध लिया करता था। रुक्मिणी अक्सर अभ्यास के दौरान मेरे साथ ही रहती थी। वह हमेशा से ऐसी गतिविधियों में मेरा उत्साह बढ़ाया ही करती थी। वैसे भी रुक्मिणी हमेशा से चाहती थी कि मैं एक अच्छा धनुर्धारी बनूं। उसका पहले से मानना था कि एक सफल राजा का अच्छा धनुर्धारी होना आवश्यक है। अब ऐसे में आप तो जानते ही हैं कि यदि शौक के साथ रुक्मिणी का उत्साह भी जुड़ जाए तो कहना ही क्या? कुछ ही माह के प्रयास से मैं धनुर्विद्या में अच्छाखासा माहिर हो चुका था। सच कहूं तो मैं अपनी धनुर्विद्या का ज्यादा-से-ज्यादा सिक्का भी रुक्मिणी पर ही जमाया करता था। क्योंकि वही प्रेरणास्रोत भी थी व जानकार भी। साथ ही उसे प्रभावित करते रहने की एक आदत भी पड़ गई थी। अब तो रुक्मिणी के साथ रथ में बैठकर जंगलों में जाना रोज का हो गया था। रथ रुक्मिणी ही चलाती थी। जब कभी चलते हुए रथ से मैं किसी उड़ते हुए पक्षी का निशाना साध लेता, तो रुक्मिणी बड़ा प्रसन्न हो जाया करती थी। वह तुरंत तालियां बजाकर अपनी खुशी का इजहार करती। लेकिन यदि गलती से निशाना चूक जाता, तो वह बड़ी उदास हो जाती थी। कभी-कभी भद्रा भी हमारे साथ चली आती थी। ...हालांकि उसे तीरंदाजी में कोई रस न था, वह तो बस मेरे साथ से ही खुश थी। इधर मैं भी अपने इस नए नित्यकर्म से अत्यंत प्रसन्न था।

लेकिन मेरे जीवन में खुशी कौन कहां लंबी टिकने देता है। अबकी मेरी खुशियां मेरे मित्रों को ही रास नहीं आई। उद्धव व सात्यकि के एक परिहास ने मेरी इस खुशी पर ग्रहण लगा दिया। एक दिन ऐसे ही हम लोग समुद्र किनारे टहलने गए हुए थे। रुक्मिणी व भद्रा तो मेरे साथ थे ही थे, उस दिन जाने क्या हुआ कि उद्धव व सात्यकि भी हमारे साथ हो लिए थे। टहलते-टहलते जाने कहां से उस दिन सात्यकि ने द्रौपदी की सुंदरता की चर्चा छेड़ दी। फिर तो लगे हाथों सात्यकि ने बड़ा बढ़-चढ़कर द्रौपदी की सुंदरता का बखान भी कर डाला। अब चर्चा ही गलत छिड़ गई थी। मैं चुपचाप सुन रहा था। मुझे तो इन दुष्टों ने बीच में हां-हूँ करनेकी परिस्थिति में भी नहीं छोड़ा था।हां, पूरी चर्चा के दौरान रुक्मिणी के हाव-भाव पर अवश्य मेरी निगाह बनी हुई थी। स्पष्ट दिख रहा था कि वह मन-ही-मन द्रौपदी की सुंदरता के बखान से काफी जल रही थी। अब जलन तो स्वयं पर अविश्वास का सबूत है। यह अहंकार का विकृततम् स्वरूप है। इससे फायदा तो कुछ नहीं होता, मुफ्त में बड़ा कष्ट सहना पड़ता है। लेकिन यह रुक्मिणी की अपनी समस्या थी। मेरी समस्या तो इसके परिणाम से उत्पन्न होने वाली थी। अब समुद्र किनारे टहलना मेरे सबसे पसंदीदा शौकों में से एक था। लेकिन इस समय टहलना आनंद देना तो दूर, उल्टा परेशान किए हुए था। मेरी हालत वाकई अजीब हो गई थी। बातों का शौकीन मैं एकदम खामोश था। सक्रियता के नाम पर मेरे कान उद्धव व सात्यकि की बातों पर लगे हुए थे, आंखें रुक्मिणी पर ही टिकी हुई थी, और पांव बेचारे अपने चलने के कर्म में लगे हुए थे। यानी इस समय मेरे ही शरीर के अंगों में कोई आपसी तालमेल नहीं था। ...उधर जब सात्यकि इतना चहक रहा था तो उद्धव कहां पीछे रहने वालों में से था? सात्यकि ने तो छोटा बिच्छू छोड़ा था, उद्धव ने नागराज ही छोड़ दिया। बात-बात में वह दो कदम और आगे बढ़ गया। उसने कहा- जानते हैं भाभी! आर्यावर्त के सभी राजा द्रौपदी को पाने हेतु बेचैन हो उठे हैं। उसके स्वयंवर में धनुर्विद्या की एक कठिनतम परीक्षा रखी गई है। जब से यह खबर आर्यावर्त में फैली है, तभी से द्रौपदी को पाने मचल उठे राजे व युवराज जमकर धनुर्विद्या के अभ्यास में लगे हुए हैं। और भाभी; एक राज की बात बताऊं, स्वयंवर का पूरा आयोजन अपने कन्हैया की देख-रेख में ही तो हो रहा है।

बस हो गया मेरा उद्धार। यह सब सुनते ही रुक्मिणी का चेहरा पूरी तरह उतर गया। वह मारे जलन के काली पड़ गई। हालांकि उसने तुरंत स्वयं को सम्भाल लिया। सामान्य होने का अभिनय भी करने लगी, लेकिन वह

अभिनय में मेरी तरह माहिर कहां थी? मुझे जो देखना था, वह मैं देख ही चुका था। टहलके तो लौट आए लेकिन टहलने जाने की शामत ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। उस रात रुक्मिणी ने कोई विशेष बात तो नहीं की, लगातार सामान्य होने का अभिनय करती रही, लेकिन फिर भी अपनी जलन पूरी तरह से छुपा पाने में असफल ही रही। उसके विपरीत भद्रा पूरी तरह सामान्य थी। वैसे वह कुछ विशेष समझी भी नहीं थी। कई बार अनावश्यक समझदारी या होशियारी भी व्यर्थ के झंझटों का कारण बन जाती है। यही रुक्मिणी के साथ हुआ था। इससे तो भद्रा का भोलापन अच्छा था, कम-से-कम खुश तो थी वह।

...होगा! अभी तो रात गई बात गई जानकर मैं दूसरे दिन धनुर्विद्या का प्रयास करने हेतु जंगल जाने के लिए तैयार हो गया। आखिर यह हमारा नित्यकर्म था। लेकिन रुक्मिणी अब तक तैयार नहीं हुई थी। यही नहीं, उसने चलने से इन्कार भी कर दिया। मैं समझ गया कि उद्धव व सात्यकि का मजाक उसके जहन में घर कर गया है। हालांकि उसने बहाना तबीयत का बनाया था। लेकिन मैं उसकी जलन से अनजान तो था नहीं। ...और फिर हम तो वो आशिक हैं, जो दिल की बात जान लेते हैं दिल के धड़कने से ही। छोड़ो, अभी तो सच कहूं तो रुक्मिणी के इन्कार के बाद मेरा मन भी जंगल जाने का नहीं कर रहा था। यूं भी शस्त्रों में मुझे कोई विशेष रुचि तो थी नहीं। लेकिन जाने क्या सोचकर मेरा मन उसे सबक सिखाने का हुआ या कहूं छेड़ने का हुआ तो ज्यादा ठीक होगा। अब चाहे जो कहूं अभी तो उसे छेड़ने के लिए मेरा जंगल जाना आवश्यक था। तो भला मैं कब कर्तव्य-कर्म से पीछे हटा था? खासकर जिस कर्म से इतना आनंद मिलने वाला हो उससे तो पीछे हटने का प्रश्न ही नहीं उठता था। अत: ना सिर्फ मैं जंगल जाने हेतु तैयार हुआ, बल्कि जाते-जाते उसे छेड़ने के उद्देश्य से कहा भी कि तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं, कोई बात नहीं; आज अकेला ही सही ...पर हर हाल में धनुर्विद्या का लगातार अभ्यास जारी रखना आवश्यक है। इतना कहते-कहते मैं पूरे उत्साह से बगैर उसकी तरफ देखे निकल पड़ा। अगले तीन-चार दिन हमारा यही नित्यकर्म चला। वह कोई-न-कोई बहाना बनाकर मेरे साथ जंगल आना टालती रही, और दूसरी तरफ मैं उत्साह का नाटक करते हुए जंगल जाता रहा।

लेकिन यहां तो पासा ही उल्टा पड़ गया। उसे छेड़ने में तो कोई विशेष मजा नहीं आया, पर छेड़ने के प्रयास में उसे और उदास कर बैठा। परिणामस्वरूप बमुश्किल कुछ सम्भली रुक्मिणी एकबार फिर खोई-खोई रहने लगी। यह क्या हो गया? मैं तो बस उसे छेड़ना चाहता था, कोई उदास करना थोड़े ही चाहता था? आखिर कोई उपाय न देख मैंने उदास रुक्मिणी के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उस रोज से जंगल जाना ही नहीं, धनुर्विद्या का अभ्यास तक करना छोड़ दिया। इस प्रकार सात्यकि व उद्धव के एक मजाक ने मेरा धनुर्विद्या-अभ्यास बंद करवा दिया। दोनों दुष्टों ने मिलकर एक राजा को मजा हुआ धनुर्धर बनने से वंचित कर दिया।

खैर! यह सब करते-कराते अब मुझे द्वारका आए करीब छ:-सात महीने हो चुके थे। और कहने की जरूरत नहीं कि इस दरम्यान आवश्यक विश्राम व भरपूर आनंद दोनों मिल चुका था। द्वारका में भी सब ठीक-ठाक ही था। अनुशासन भी कामय हो चुका था। यूं भी अच्छा समय कटते देर कहां लगती है? अब तो द्रौपदी-स्वयंवर की तिथि ज्यादा दूर नहीं थी। तीन माह ही शेष रह गए थे। और निश्चित ही ऐसे में अभी से उस ''भव्य-कर्म'' ने मेरे मानस पर दस्तक दे दी थी। और इसके साथ ही मेरे चिंतन का प्रमुख हिस्सा एकबार फिर द्रौपदी-स्वयंवर में उलझकर रह गया था। क्योंकि आर्यावर्त की शांति के लिए इस स्वयंवर का मेरी योजनानुसार पार पड़ना अत्यंत आवश्यक था।

...अब वह तो ठीक है, पर इधर मेरे धनुर्विद्या त्यागने के बावजूद रुक्मिणी की उदासी पर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा था। वैसे रुक्मिणी अपनी ओर से व्यवहार सामान्य बनाये रखने का भरपूर प्रयास कर रही थी, लेकिन अंदर-ही-अंदर वह काफी परेशान रहने लगी थी। और जिसका असर सीधे-सीधे उसकी तबीयत पर पड़ रहा था। मुझे उसका इस कदर परेशान रहना अच्छा तो नहीं लग रहा था, लेकिन मैं कुछ विशेष कर भी तो नहीं सकता था। क्योंकि उसकी परेशानी ''अहंकार-जनित'' थी। और अहंकार के दु:ख को अहंकार की समाप्ति के बगैर नहीं मिटाया जा सकता है। यह स्पष्ट था कि रुक्मिणी द्रौपदी की सुंदरता से घबरा गई थी। इस बाबत उसको मेरे इरादे कभी विश्वसनीय नहीं लगे थे। ऊपर से मेरे इतने उत्साह से धनुर्विद्या के अभ्यास करने ने उसे और बेचैन कर दिया था। यह कम था तो स्वयंवर की कमान मेरे हाथ में थी। अत: कुल-मिलाकर उसे यकीन हो चला था कि मैं द्रौपदी से विवाह की योजना बना चुका हूँ। उसका मानना था कि यदि एकबार द्रौपदी जैसी सुंदर व प्रभावशाली व्यक्तित्व की औरत से मेरा विवाह हो गया, तो फिर मैं उस पर बिल्कुल ध्यान नहीं दूंगा। वह रानी होते हुए भी मात्र दासी बनकर रह जाएगी।

वैसे देखा जाए तो अपनी छोटी दृष्टि से उसने ठीक ही सोचा था। यूं भी आम मनुष्यों की महान व्यक्तियों के बाबत इससे ज्यादा जानकारी होती भी नहीं। उसी तर्ज पर निश्चित ही उसने सोचा होगा कि जो कृष्ण वृन्दावन की

गोपियों व कुब्जा जैसों पर भी मर मिटता है, उसका द्रौपदी की सुंदरता का दीवाना हो जाना क्या बड़ी बात है? चलो यह तो उसने अपनी बुद्धि व गणित के हिसाब ठीक ही सोचा था, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से इसका तात्कालिक परिणाम यह आया कि अब रुक्मिणी नियमित रूप से प्रद्युम्न को याद करने लगी। अब यहां मुझ प्रज्ञाशाली पुरुष को द्रौपदी से होने वाली जलन का प्रद्युम्न की याद से कोई संबंध समझ नहीं आ रहा था। और मेरी एक विशेषता थी कि जब बात मेरी समझ में नहीं आए तो मैं पूरी तरह सावधान हो जाया करता था। क्योंकि बात समझ के बाहर हो जाना "स्वाभाविक-प्रतिक्रिया" का द्योतक कतई नहीं। इसका सीधा अर्थ तो यह हुआ कि सामने वाले ने तुम्हारे मानस से चौपर खेलना शुरू कर दिया है। सो मैं रुक्मिणी की हर बात बड़ी सावधानी से सुनने लगा, पर बात समझ में फिर भी नहीं आ रही थी।

खैर; कुछ ही दिन की बात थी। मुझे ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। आखिर रुक्मिणी के दिल की बात उसकी जुबान पर आ ही गई। वह चाहती थी कि मैं किसी तरह प्रद्युम्न को खोजने जाऊं। यानी प्रद्युम्न के बहाने मुझे द्रौपदी-स्वयंवर से दूर रखना चाहती थी। उसकी योजना का पर्दाफाश हो चुका था। हालांकि मैंने उस पर जाहिर नहीं होने दिया कि मैं उसकी योजना समझ चुका हूँ। पर हां, उसकी उदासी दूर करने हेतु उसे समझाने का प्रयास अवश्य किया; आखिर वह मेरी प्राणप्यारी थी। भले ही उसकी गलत चाह पूरी नहीं कर सकता पर उसे उसकी चाह के गलत होने का एहसास तो करवा सकता हूँ।

...बस मौके की ताड़ में ही बैठा मैंने दूसरे दिन रात्रि विश्राम के समय उसे बड़ा लाड़ लड़ाया। प्रेम से उसका सर अपनी गोद में रख सहलाते हुए उसे समझाने के उद्देश्य से कहा- रुक्मिणी! सच कहूं तो प्रद्युम्न की याद तो मुझे भी बहुत आती है। आखिर वह हमारी पहली संतान है। फिर मैंने तो उसे देखा भी नहीं है। और जहां तक उसे खोजने का सवाल है, उसे खोजने मैं कहां जाऊं? यह कार्य हमारे गुप्तचरों का है। और वे पिछले डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास के बाद भी उसकी कोई थाह नहीं पा पाए हैं। यदि उसका पता चले कि उसे कौन उठाकर ले गया है तो फिर वह कितना ही बड़ा राक्षस या राजा क्यों न हो, मैं तत्क्षण युद्ध कर उसे वापस ले आऊं। लेकिन वर्तमान हालात में उसे खोजने की एक भी सही दिशा मेरे सामने नहीं है। और जब कर्म को कोई दिशा न मिले तो फिर उसे स्वीकारना ही बेहतर होता है। अत: मैं प्रद्युम्न को भूल चुका हूँ, बेहतर है तुम भी उसे भूल जाओ।

अब चूंकि मेरी बात सीधी व साफ थी, सो रुक्मिणी समझ तो गई; चुप भी हो गई; लेकिन सामान्य नहीं हो पाई। क्योंकि इस समय उसका गम कोई "प्रद्युम्न" तो था नहीं, उसका असली दर्द द्रौपदी थी, और जो अब भी पूरी मजबूती से खड़ी हुई थी। और उसकी मजबूरी यह थी कि वह उस बाबत मुझसे कोई बात कर नहीं सकती थी। क्योंकि हम दोनों ने अपने बीच बातचीत का एक स्तर कायम कर रखा था। उससे गिरने का तो सवाल ही नहीं उठता था। इधर मैं भी अपनी ओर से जान कर अनजान बना ही हुआ था। यानी कुल-मिलाकर मेरा और रुक्मिणी का रिश्ता समझदारी और ईमानदारी का था। उसने प्रद्युम्न का सवाल उठाया था तो इधर मैंने उस बात की अव्यवहारिकता प्रकट कर दी थी। परिणामस्वरूप हमारे व्यवहार का स्तर कायम रखते हुए उसने भी पलटकर कोई सवाल नहीं पूछा था। यूं भी बात काटने या पूछने जैसा कुछ था भी नहीं। बस बात वहीं समाप्त हो गई थी। पर क्योंकि इस समय वह कान घुमाकर पकड़ने की कोशिश कर रही थी, इसलिए समाधान नहीं पा रही थी। अब यह उसकी स्वयं जनित समस्या थी और उसके दु:ख उसे झेलने ही थे। मैं इसमें कुछ नहीं कर सकता था।

...इधर यह सब उलझन चल ही रही थी कि तभी अचानक एक दिन महाराजा द्रुपद का दूत "द्रौपदी-स्वयंवर" का निमंत्रण लेकर आया। हालांकि स्वयंवर अभी भी दो माह दूर था, पर स्वयंवर का महत्त्व देखते हुए यह समय कुछ नहीं था। उधर वह दूत अपने साथ महाराजा द्रुपद का एक व्यक्तिगत पत्र भी लेकर आया था, जिसमें मुझसे जल्द-से-जल्द आने की गुजारिश की गई थी। मैं भी समय की महत्ता जानता ही था। मैं इस बात से अनजान नहीं था कि पूरे आर्यावर्त का भविष्य इस पर टिका हुआ है। सो दूत क्या आया, तत्क्षण मेरा पूरा चिंतन रुक्मिणी से निकलकर "द्रौपदी-स्वयंवर" में उलझ गया। मेरे लिए वाकई यह स्वयंवर योजनानुसार पार पाड़ना एक बहुत बड़ी चुनौती थी। और मैं यह मानकर ही चल रहा था कि यह स्वयंवर मेरी कर्मठता का पूरा इम्तिहान लेकर ही सलटेगा। सो मेरा चिंतन चाहूं-न-चाहूं, स्वयंवर में उलझकर रह गया था। सौ बातों की एक बात यह कि द्रौपदी के विवाह का सौदा किसी जरासंध या अन्य किसी दुष्ट या शक्तिशाली राजा से न हो, यह निश्चित करना मैं अपना कर्तव्य समझता था। निश्चित ही यदि ऐसा कुछ हुआ तो उस राजा का हस्तिनापुर से युद्ध अटल हो जाएगा, क्योंकि द्रोण से बदला लेना ही तो इस विवाह की एकमात्र शर्त है। ऐसी हालत में पांडवों को भी अपने गुरु की रक्षा के लिए खुलकर सामने आना पड़ेगा। कौरवों के लिए भी इस युद्ध से दूरी बनाये रखना असंभव होगा। सबसे बड़ी बात तो यह कि अभी इन लोगों की मानसिकता इतनी विकसित नहीं थी कि वे अच्छे या बुरे गुरु का भेद कर सके। द्रोण को अपने हाल पर छोड़

सके।फिर हस्तिनापुर के भी कई हितैषी राज्य हैं। कर्ण तो है ही। दूसरी तरफ जरासंध के साथ भी पूरा आर्यावर्त है। अर्थात् यह तो ''महायुद्ध'' हो जाएगा। महाविनाश होगा। नहीं-नहीं, मेरे होते-सोते मैं इतना बड़ा महाविनाश नहीं होने दे सकता। मैं यह महान कर्म पार पाड़कर अपना मनुष्य जन्म सार्थक करने हेतु कटिबद्ध था। मैं अपनेआप प्राप्त हुए इस महान अवसर को गंवाना नहीं चाहता था।

बस कुल-मिलाकर इस विचार के साथ ही मैंने अपना अस्तित्व द्रौपदी-स्वयंवर से एक कर दिया। यह सब तो ठीक, पर असली बात यह कि इतना बड़ा कार्य पार पाड़ने हेतु भी मेरा स्वयंवर से एक माह पूर्व पहुंचना आवश्यक था। यानी आज से करीब बीसवें रोज मुझे निकलना पड़े ऐसा था। निकलना तो ठीक, शारीरिक कर्म है...पर मेरा स्वयं को मानसिक रूप से तैयार करना ज्यादा बड़ी चुनौती थी। उसके लिए मन, बुद्धि व चैतन्य से द्रौपदी-स्वयंवर में डूबना आवश्यक था। निश्चित ही आर्यावर्त के इतने दिग्गज राजाओं की उपस्थिति में स्वयंवर अपने मन-मुताबिक पार पाड़ना, ध्यान की परम ऊंचाई मांगता था। वैसे तो ध्यान में मेरा कोई सानी हो ही नहीं सकता था। और ध्यान का एक ही सिद्धांत है, उस कार्य को छोड़ सबकुछ भूल जाओ। बस क्षणभर में क्या द्वारका - क्या रुक्मिणी, सबको जहन से निकाल फेंका। अब मैं ''विराट-कर्म'' हेतु पूरी तरह तैयार था।

इधर द्रौपदी-स्वयंवर का निमंत्रण क्या आया, अपने साथ एक बिन-बुलायी मुसीबत भी ले ही आया। स्वयंवर के निमंत्रण-मात्र ने रुक्मिणी की बेचैनी में हजार गुना इजाफा कर दिया। यहां तक कि इस निमंत्रण को आए अभी दो-चार रोज ही बीते थे कि उसने मुझे चक्कर में लेने का एक अंतिम प्रयास और किया। उस रात वह मेरी मनपसंद साड़ी पहनकर ही तैयार हुई थी। उसने मेरी पसंद का छप्पनभोग भी तैयार किया था। यानी कि मुझे रिझाने व मुझसे बात मनवाने के तमाम हथियारों से वह लैस थी। इधर मैं नादान उसके कातिल इरादों से पूरी तरह अनजान था, मैं तो उल्टा इसे उसका हृदय परिवर्तन समझकर खुश हो रहा था। वैसे तो मैं बहुत चालाक था, लेकिन आपसी रिश्तों में कभी सावधान नहीं रहता था। सीधी बात है, चालाकी बाहर वालों से की जाती है, अपनों के साथ तो मजा भोलापन में ही है। और मैं भोला इतने दिनों बाद रुक्मिणी को इतना प्रसन्न देखकर मारे खुशी के झूम उठा था। प्रसन्नचित्त रुक्मिणी से बढ़कर मेरे लिए क्या हो सकता है? एक तो पीले रंग की रेशमी साड़ी पहनकर उसने मुझे यूं ही खुश कर दिया था, ऊपर से उसने अपने ही हाथों से मुझे छप्पन-भोग खिलाया। मैं तो सब चट कर गया। इतने दिनों बाद 'प्यारे' को 'प्यारी' का 'प्यार' मिल रहा था, कौन नियंत्रण रखे? ...अब खाते तो खा गया, पर तत्काल सुस्ती चढ़ गई। अभी मैं लेटा ही था कि रुक्मिणी ने मेरे पांव दबाना प्रारंभ कर दिया। रुक्मिणी में अचानक आए इस परिवर्तन को देख मुझे बड़ा संतोष हुआ। सोचा, चलो स्वयंवर का भयानक कर्म करते वक्त कम-से-कम मुझे रुक्मिणी की चिंता नहीं करनी पड़ेगी। अब मेरी सोच अपनी जगह थी, पर उधर रुक्मिणी तो बहुत गहरा सोच के बैठी हुई थी। कुछ देर बाद पांव दबाते-दबाते ही उसने बड़ी चिंता जताते हुए कहा- स्वामी आज आप काफी थके हुए नजर आ रहे हैं।

...मैं तो चक्कर ही खा गया। क्योंकि थकान का तो नामोनिशान नहीं था। फिर भी मैंने अपनी सकारात्मकता बनाये रखी, सोचा शायद यह उसका प्रेम होगा जो उसे मैं थका हुआ नजर आ रहा होऊंगा। सो, मैंने बड़े प्यार से उसका हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा- क्या बात करती हो प्रिये? द्वारका में पिछले आठ माह से आराम ही तो कर रहा हूँ?

...वह थोड़ा उदास होते हुए बोली- नहीं! मुझे लगता है आपको आराम की सख्त आवश्यकता है। ...अब यह क्या बात हुई? परंतु अभी इसके पहले कि मैं कुछ सोच-समझ पाऊं उसने फिर बोलना प्रारंभ किया - मैं सोच रही थी द्रौपदी-स्वयंवर में आप द्वारका की ओर से भैया को भेज दीजिये। व्यर्थ हर बार आपको कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है?

अब कहीं जाकर उसके पीले रंग की रेशमी साड़ी, छप्पन-भोग व पांव दबाने का रहस्य मेरी समझ में आया था। वह किसी तरह मुझे द्रौपदी के स्वयंवर में जाने से रोकना चाहती थी। सच कहूं तो मुझे उसके ऐसे प्रयास पर हंसी आ रही थी। लेकिन मैंने अपनी हंसी पर नियंत्रण रखा और पूरी गंभीरता बनाये रखते हुए कहा- प्रिये! तुम्हारी बात तो उचित है। परंतु स्वयंवर की पूरी जिम्मेवारी मैंने उठा रखी है। कब क्या करना है, सिर्फ मैं जानता हूँ। महाराजा द्रुपद सिर्फ मेरे भरोसे बैठे हुए हैं। तुम तो जानती हो कि मैं अपने पर विश्वास करने वाले का हर कार्य हर हाल में निपटाकर ही दम लेता हूँ।

...वैसे तो रुक्मिणी उत्तरहीन हो चुकी थी। फिर भी उसने हथियार पूरी तरह नहीं डाले थे। उसने एक अंतिम प्रयास करते हुए कहा- ठीक है। तो फिर आप भैया को भी अपने साथ ले जाइये। इससे आपका कुछ बोझ हल्का होता रहेगा।

...रुक्मिणी की सोच तो ठीक थी। यदि भैया साथ में रहे तो शायद मेरा द्रौपदी से विवाह करना आसान नहीं होगा। भैया निश्चित ही इसका विरोध करेंगे। लेकिन किसे कब कहां ले जाना है और कहां नहीं, भला इसमें मैं कोई चूक करने वालों में से थोड़े ही था? सच कहूं तो मुझे रुक्मिणी की घबराहट पर आश्चर्य हो रहा था। निश्चित ही यह उसके अविश्वास का द्योतक था। वहीं दूसरी तरफ मुझे मन-ही-मन हंसी भी खूब आ रही थी; फिर भी मैं अपनी ओर से गंभीर मुख-मुद्रा ही बनाये हुए था। यही नहीं, तत्काल उसी गंभीरता के साथ एक व्यावहारिक उत्तर भी दे डाला- प्रिये! तुम तो अच्छी तरह जानती हो कि वर्तमान हालातों में मेरा और भैया का एक साथ द्वारका छोड़ना उचित नहीं।

रुक्मिणी स्वयं राजपाट व राजनीति की अच्छी जानकार थी। अत: उसका व्यर्थ के सवाल उठाने का तो सवाल ही नहीं उठता था। एक तरीके से मेरे तर्कपूर्ण जवाबों के सामने वह उपाय-रहित हो चुकी थी। मैंने सोचा चलो जान छूटी। लेकिन नहीं; उसने तो कोई उपाय न देख ब्रह्मास्त्र ही चला दिया। वह बोली- लेकिन स्वामी! मैं गर्भवती हूँ। क्या आपको नहीं लगता कि मेरे और उस बच्चे की खातिर आपको द्रौपदी-स्वयंवर में जाना टालना चाहिए। कहीं हमारे इस बच्चे का हाल भी प्रद्युम्न जैसा न हो जाए।

लो! यह तो जालों का गुच्छा लेकर बैठी हुई है। ...तो क्या, मैं भी तो जाल काटने की विशिष्टता लेकर ही पैदा हुआ हूँ। अबकी उसे निरुत्तर करने हेतु अच्छाखासा दर्शन ही झाड़ दिया। मैंने कहा- प्रिये! तुम गर्भवती हो यह हमारे लिए ही नहीं, पूरी द्वारका के लिए एक खुशखबरी है। ...लेकिन उसका भविष्य क्या होगा, इसकी आज चिंता करना व्यर्थ है। और फिर मैं अपनी संतान के लिए पूरे आर्यावर्त पर युद्ध के बादल मंडराने दूं, ऐसा स्वार्थी कतई नहीं हो सकता। तुम तो अच्छे से जानती हो कि ऐसा कमजोर मोह मुझे अपने कर्तव्य-कर्मों से कभी नहीं डिगा सकता। ...अब कहीं जाकर रुक्मिणी ने मानसिक हार मान ली हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था। मन से भय तो नहीं गया था, पर उसे टालने के सारे उपाय व्यर्थ गए, यह स्वीकार लिया था। वैसे गर्भवती तो भद्रा भी थी। शायद अबकी द्वारका वापसी पर एक नहीं, दो-दो संतानों का मुंह देखने को मिलने वाला था। यूं तो यह भविष्य की बात थी, जिसे भविष्य पर ही छोड़ना उचित था।

कुल-मिलाकर एक तरफ जहां यह सांसारिक उलझनें चालू थी, वहीं दूसरी ओर मैं पांचाल जाने की तैयारियों में भी जुटा ही हुआ था। स्वाभाविक तौर पर मुझे इतने उत्साह से तैयारियां करते देख रुक्मिणी की हालत और पतली हुई जा रही थी। उधर धीरे-धीरे मेरे मन रुक्मिणी की असुरक्षा बिना उपाय का विषय होता जा रहा था। मैंने भी अपना ध्यान उस ओर से हटाकर पूरी तरह द्रौपदी-स्वयंवर में लगा दिया था। ...आखिर यही सब चलते-चलते प्रस्थान का दिन भी आ गया। मैं अपने साथ उद्धव व सात्यकि को भी ले जा रहा था। साथ में पचास सिपाही व सेवक तो ले ही जा रहा था। इधर मुझे द्वारका के द्वार तक छोड़ने नानाजी, माता-पिता, भैया व मित्रों के अलावा अन्य भी कई विशिष्ट लोग आए थे। इतनी सुबह-सुबह इतना जमावड़ा सचमुच उत्साहित करने वाला था। हालांकि यहां भी दाव यह कि भद्रा ने तो बड़ी प्रेमपूर्ण बिदाई दी, परंतु रुक्मिणी का प्रेम द्रौपदी की चिंता में कहीं गुम हो गया था। वह सचमुच व्यर्थ दु:ख पाल रही थी। पता नहीं; अहंकार मनुष्य को इतना कष्ट पहुंचाता है, फिर भी उससे यह अहंकार छूटता क्यों नहीं? समझने योग्य बात यह है कि यदि रुक्मिणी की सोच को सही माना जाए, तब तो द्रौपदी के द्वारका आने से रुक्मिणी से ज्यादा खराब हाल तो भद्रा का हो सकता था। तो भी भद्रा को कोई दु:ख नहीं था; क्योंकि उसका अहंकार कमजोर था। खैर, रूखा-सूखा ही सही पर रुक्मिणी बिदा करने तो आई थी। बस इस सकारात्मक सोच के साथ हमारी यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी।

---

[1]. भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-५६, श्लोक-१२

[2]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५५, श्लोक-१०२-१०८

[3]. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-३, श्लोक-२०

[4]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५२, श्लोक-२५-३१; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२३, श्लोक-९-१०

[5]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५६, श्लोक-१-९

[6]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५७, श्लोक-३१-३३

[7]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५७, श्लोक-३४-३६

[8]. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-३, श्लोक-२६

[9]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५६, श्लोक-१८-१९; गर्ग संहिता, द्वारका खंड, अध्याय-२, श्लोक-९-१०

[10]. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-१८, श्लोक-६५

[11]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५८, श्लोक-८०

[12]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५८, श्लोक-८१

[13]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५८, श्लोक-७९

[14]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५८, श्लोक-८३

[15]. भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-५२, श्लोक-२६-४३

[16]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-५९, श्लोक-४४; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-५४, श्लोक-५५; गर्ग संहिता, द्वारका खंड, अध्याय-६, श्लोक-६-९; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२६, श्लोक-६

[17]. भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-५४, श्लोक-३४-३५; गर्ग संहिता, द्वारका खंड, अध्याय-७, श्लोक-२७-२९; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२६, श्लोक-९-१०

[18]. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-३, श्लोक-६

[19]. महाभारत, आदिपर्व, जतुगृह पर्व, अध्याय-१४२, श्लोक-१-३

[20]. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व, अध्याय-६०, श्लोक-३७; भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-५५, श्लोक-२; गर्ग संहिता, द्वारका खंड, अध्याय-८, श्लोक-२३; विष्णु पुराण, अंश-५, अध्याय-२६, श्लोक-१२

[21]. महाभारत, आदिपर्व, जतुगृह पर्व, अध्याय-१५५, श्लोक-५-१०

[22]. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय-६, श्लोक-१६-१७

[23]. भागवत पुराण, स्कंध-१०, अध्याय-५८, श्लोक-५६-५७